साधारणीकरण
और
समानान्तर चिन्तन

लेखक :
डा० सुलेखचन्द्र शर्मा

१९८४

प्रकाशिका
देववाणी-परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहार, नयी दिल्ली-११००५९
(भारत)

16-1-85

१६-२-८५

୧୫.୧.୮୫

୧୬.୧.୮୫

२६.१.८५

साधारणीकरण
और
समानान्तर चिन्तन

लेखक :
डा० सुलेखचन्द्र शर्मा
एम०ए०, (हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी-उर्दू) पीएच० डी०,
साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ,
वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
देशबन्धु कालेज (सांध्य) (दिल्ली विश्वविद्यालय)
कालकाजी, नई दिल्ली-११००१९

१९८४

प्रकाशिका
देववाणी-परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९
(भारतम्)

साधारणीकरण और समानान्तर चिन्तन

(काव्यशास्त्रीय समीक्षा)

लेखक : डा० सुलेखचन्द्र शर्मा

प्रकाशिका : देववाणी-परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहार, नयी दिल्ली-११००५९

मुद्रक : देववाणी प्रिण्टर्स
उत्तम नगर, नयी दिल्ली-११००५९

संस्करण : प्रथम १९८४

मुद्रित प्रतियाँ : २५०

मूल्य : दो सौ रुपये मात्र रु० २००.००

वितरक : देववाणी-प्रकाशनम्
६ वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

Sādhāraṇīkaraṇa Aura Samānāntara Cintana

(Literary Criticism)

Author : Sharma, Dr. Sulekh Chandra

Publisher : Devavani Parishad, Delhi
6, Vani Vihar, New Delhi-110059

Printer : Dev Vani Printers
Uttam Nagar, New Delhi-110059

Edition : First, 1984

Copies Printed : 250

Price : Rupees Two hundred only Rs. 200-00

Distributors : Devavani Prakashanam
6, Vani Vihar, New Delhi-110059

प्रास्ताविकम्

'देववाणी-परिषद्, दिल्ली'-संस्थाया: सद्ग्रन्थप्रकाशनरूपमभ्येकमुद्देश्यमस्ति। तदनुसारमद्यावधि परिषदा अनेके ग्रन्था: प्रकाशिता:।

इदानीञ्च परिषदियम् एम० ए० (संस्कृत - हिन्दी - अंग्रेजी - उर्दू), पीएच०डी० (संस्कृत)-साहित्याचार्य-काव्यतीर्थ-प्रभृत्युपाधिभूषितेन दिल्लीविश्वविद्यालयस्याङ्गभूते सांध्ये देशबन्धुकालेजे वरिष्ठ हिन्दीप्राध्यापकपदमलङ्कुर्वता किञ्च स्व आजीवनसदस्येन डा० सुलेखचन्द्रशर्ममहाभागेन हिन्दीमाध्यमेन लिखितं **'साधारणीकरण और समानान्तर चिन्तन'** इत्याख्यं ग्रन्थं प्रकाशयन्ती हर्षमनुविन्दति।

भारतीयसंस्कृतेरनितरसाधारणं वैशिष्ट्यमिदमस्ति यत्सा अनेकत्वे एकत्वं साक्षाकर्तुं सदैवोत्सुका तिष्ठति। इदमेव वैशिष्ट्यं भारतीयकलासु, भारतीयदर्शनेषु, भारतीयकाव्येषु भारतीयकाव्यसिद्धान्तेषु चावलोकयितुं सुशकम्। साधारणीकरणसिद्धान्तो रससिद्धान्तश्चेत्युभावपि भेदेऽभेददर्शनस्यैव प्रवृत्ति पोषयत:। दु:खार्तानां, श्रमार्तानां, शोकार्तानां तपस्विनां च यदा स्वपरभावातीता आनन्दमयी स्थितिर्भवति तदा नूनं ते **'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ती'**त्यस्य साक्षादनुभवं कुर्वन्ति। यदवधि समाजे स्थिता: प्राणिन: पार्थक्यबुद्धि विहाय एकत्वं नानुभवन्ति तदवधि रसस्य आनन्दस्य वा कुतोऽनुभव: ? कवि: सृष्टिं करोति **'एकोऽहं बहु स्याम्'** इतीच्छया; सहृदयश्च रसं गृह्णाति **'बहुरहमेक: स्याम्'** इतीच्छया। अस्या: प्रक्रियाया अध्ययनं साधारणीकरणसिद्धान्तस्य प्रतानेन काव्यशास्त्रिभि: कृतम्। कैश्चित् **साधारणीकरण'**मिति पदं प्रयुञ्जानै: कैश्चिच्च तत्पदप्रयोगाभावेऽपि अनेकत्वे एकत्वानुभवात्मिकाया: साधारणीकरणावस्थाया: व्याख्यानं स्वस्वग्रन्थेषु कृतम्। न केवलं संस्कृते एवापितु संस्कृतेतरभाषास्वपि प्राच्यै: प्रतीच्यैश्चाचार्यै: साधारणीकरणप्रक्रियाया: तत्सदृशावधारणाया वा सविस्तरं प्रतिपादनं परीक्षणं च कृतम्। डा० सुलेखचन्द्रशर्ममहाभागेन संस्कृत-हिन्दी - बंगला - मराठी - अंग्रेजी - प्रभृतिभाषाणां ग्रन्थेषु विद्वद्भिर्विचारिता साधारणीकरणप्रक्रिया समीक्षिता। भारतीयकाव्यशास्त्रस्य पाश्चात्यसौन्दर्यशास्त्रस्य च गंभीराऽध्ययनेन डा० शर्मणा

योऽयं ग्रन्थो ग्रथितस्तेन काव्यशास्त्रस्य विद्वांसोऽध्येतारश्च नूनमुपकृता भविष्यन्तीत्याशास्यते । डा० शर्ममहाभागः ग्रन्थरचनार्थं सादरं वर्धाप्यते ।

विद्वांसः पाठकाः यत्र क्वचिज्जाता मुद्रणत्रुटीः संशोधयितुं सादरं प्रार्थ्यन्ते ।

विदुषां वशंवदः

(डा० रमाकान्त शुक्लः)
महासचिवः
देववाणी-परिषद्, दिल्ली

देववाणी-परिषदो नवमः संकल्पनादिवसः
२१.८.१९८४ ई०
६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

समर्पण

पूज्य पिताजी श्री पं० जयगोपाल जी शर्मा, जिनके अमोघ आशीर्वाद की स्नेहिल छाया में जीवन और साहित्य के प्रति आस्था अर्जित की, को सश्रद्ध समर्पित।

—सुलेख

भूमिका

कवि तथा सहृदय के स्वानुभूत परिवेश एवं काव्यात्मक उपादानों की मूल प्रकृति विशिष्ट एवं असाधारण ही होती है, अतः सम्प्रेषणात्मक स्तर पर वैशिष्ट्य का निषेध जहाँ उनकी मौलिक शक्ति को क्षीण कर साधारण भाव-वस्तु में परिणत कर देता है वहाँ असाधारण की आत्यन्तिक स्वीकृति भी कवि के अभिव्यक्त अनुभूति-परिवेश की पृथक् सत्ता के सहृदय के भाव-परिवेश में संक्रमित होने में अन्तराय उपस्थित कर सकती है।

शब्दार्थमयी सृष्टि में मूर्त होने वाले कवि के अनुभव-संसार से सहभोक्ता-अनुभोक्ता के स्तर पर सहृदय किस प्रकार संपृक्त होता अथवा प्रतिक्रिया करता है पाश्चात्त्य एवं पौरस्त्य काव्यशास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है। पाश्चात्त्य साहित्यशास्त्र में संक्रमण, संप्रेषण, तादात्म्य, मानसिक अन्तराल, प्रयोजनातीत अनुभूति, संवेदनात्मक समाहिति, वस्तुगत सहसम्बद्धता तथा निर्वैयक्तिकतामूलक सिद्धान्तों के वृत्त में इस समस्या पर विचार हुआ है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र ने बहुत पहले साधारणीकरण-सिद्धान्त की उद्भावना के द्वारा इस समस्या का अन्तरंग समाधान प्रस्तुत किया है। अतः, पाश्चात्त्य चिन्तन से सम्बद्ध एवं सापेक्ष नव्य चिन्तन के आलोक में तद्विषयक अवधारणाओं का अधिक तर्कसंगत आख्यान एवं मूल्यांकन किया जा सकता है। भारतीय दृष्टि आस्वाद को अद्वंद्वमयी चेतना मानती है किन्तु द्वंद्वात्मक समाहिति के अनेक अन्तःसूत्र भी साहित्यशास्त्रीय अवधारणाओं में अनुसंधेय हैं। साधारणीकरण की अवधारणा कवि तथा सहृदय के अन्तःसम्बन्ध को इसी द्वंद्वात्मक समाहिति के स्तर पर परिभाषित करती है। अभिधात्मक स्तर पर स्थिति एवं पात्र सहृदय की अन्तश्चेतना में प्रकृतिमुक्त किन्तु सामष्टिक अवचेतन में निहित आद्य बिम्बों के रूप में अवतीर्ण होते हैं। पारिस्थितिक प्रवाह में वे अपनी प्रकृति अर्जित करते हैं और उसी विभावन प्रक्रिया के समानान्तर प्रमाता भी क्रमशः आत्मानुसंधान करता हुआ अन्तःप्रक्रिया करता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रमाता एवं काव्य की इस द्वंद्वमयी चेतना को शास्त्रीय आधार पर विश्लेषित कर भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त

के साधारणीकरणविषयक सिद्धान्तों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इन सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि के रूप में प्रथम अध्याय में काव्य के मौलिक प्रयोजन, तथा साधारण शब्द के विविध निहितार्थों में साधारणीकरण के व्यापक स्वरूप को समाकलित करने की क्षमता का विश्लेषण किया गया है। सिद्धि, औचित्य, नाट्यधर्मी वृत्तियों एवं अनुभावन की विविध अवधारणाओं में साधारणीकरण के नियामक तत्त्वों का आख्यान हुआ है। अलंकार-शास्त्र में भाविक, व्याकरण में स्फोट तथा दर्शन में सामान्य की संकल्पना भी साधारणीकरण का पूर्वाभास देती है।

भट्टनायक से पूर्व भी कवि तथा सहृदय के अन्त:सम्बन्ध के नियामक तत्त्वों का विवेचन हुआ है। ऋग्वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, कालिदास, भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन एवं आनन्दवर्धन की विविध अवधारणाओं में इन अन्त:सूत्रों का आकलन किया गया है। ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में जहाँ जीवन मूल्यों के आदर्श की चरम प्रतिष्ठा हुई है, वहाँ कवि और काव्य के अन्त:सम्बन्ध को भी उन्हीं आदर्श मूल्यों की पृष्ठभूमि में परिभाषित एवं व्याख्यायित किया गया है। अत: कहीं प्रत्यक्षत: और कहीं परोक्ष रूप में वैदिक वाङ्मय में ऐसे प्रचुर संकेत उपलब्ध हैं, जिनमें साधारणीकरण की परवर्ती अवधारणा को व्याख्यायित करने की अनेक संभावनाएँ हैं।

गीता के विराट् रूप दर्शन में असाधारण तत्त्वों की समाहिति एवं विशृङ्खल चेतना का समीकरण, वाल्मीकि के शोक-श्लोकत्व में कारुण्य एवं आनन्दानुभूति के विरोधी तत्त्वों का सामंजस्य, अनुभावन तथा काव्यानुभूति के मानस प्रत्यक्ष के अनुषंग, कालिदास की करणविगम, समाधिगत तन्मयता तथा भावानुप्रवेश की अवधारणा, काव्यशास्त्रेतर चिन्तन में निहित भट्टनायक-पूर्व साधारणीकरण के अन्तर्वर्ती सन्दर्भों का प्रमाण देते हैं।

भरत की सामान्य गुण-योग, अनुकीर्तन, वृत्ति, सिद्धि, हृदय-संवाद तथा भाव-विषयक अवधारणाओं में नाटयार्थ की अनेकायामी अर्थच्छायाओं को ग्रहण करने की क्षमता का विवेचन है। ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों में दण्डी ने गुण-विवेचन में सहृदयसंवेद्य अन्तस्तत्त्व की ओर इंगित किया है। भामह के अनुसार वक्रोक्ति के द्वारा कवि का काव्य-परिवेश सहृदय की चेतना में विभावित होता है। उद्भट स्ववाचक शब्दों के द्वारा भी भावों के सामान्यीकृत होने की संभावना व्यक्त करते हैं। रति आदि शब्दों का प्रयोग असाधारण भावों को अमूर्तीकृत कर सामान्य स्तर पर ले आते हैं। वामन सूक्ष्म तथा अर्थ दृष्टि के सम्बन्ध में सहृदय अथवा भाव की संस्कार-सम्पन्नता

तथा एकाग्रता को स्वीकृति देते हैं। उद्भट एवं रुद्रट भी काव्यवस्तु के स्तर पर सहृदय के हृदय-संवाद के अनुरूप उपादान जुटाने के लिए सफल लोक-कमनीय चरित्रों को प्रबन्ध-सृष्टि के केन्द्र में रखते हैं। राजा परिवर्तनशील है किन्तु देवता अब भी वैसे ही हैं—काव्य का मौलिक बिम्ब प्रमाता की संस्कार-चेतना में अविकृत रहता हैं। ध्वनिकार के अनुसार सामान्यों की परिमितता के कारण नवीनता का विकास नगण्य है, किन्तु कवि सामष्टिक चेतना के बिम्बों का अभिव्यंजना के स्तर पर पुनरनुसंधान कर उन्हें विशिष्ट बना देता हैं। सहृदयों की मानसिकता में पुनरनुसंधानित होकर वे वैशिष्ट्य से मुक्त सामान्यीकृत संचेतना में प्रत्यावर्तित होते हैं।

लोल्लट अनुभूतियों के संश्लेष की स्वीकृति के माध्यम से प्रमातृगत निर्वैयक्तिकता को जिस मनोभूमिका का आभास देते हैं, उसका निर्माण अनुसंधान के सूत्रों से हुआ है। प्रमाता की मनोभूमिका में, अनुकार्य के बिम्ब में निहित सामष्टिक चेतना की जो पुनरुद्भावना होती है, वह मूलत: अनुकर्ता की उस द्वैत चेतना का ही प्रोद्भास है, जो एक स्तर पर अनुकार्य के सामष्टिक बिम्ब का अनुसंधान करती है तथा दूसरे स्तर पर प्रेक्षक की मनोभूमिका में भी अवतीर्ण होती है। शंकुक भी विरुद्ध बुद्धिजन्य रसानुभूति के स्वरूप की ओर इंगित करते हैं। चित्रतुरग-न्याय के आधार पर वे सामाजिक में विभावादि की कृत्रिमता की निषेध एवं स्वीकृतिपरक अनुभूति को व्याख्यायित करते हैं। चित्रगत अश्व प्रमाता के चित्त में स्थित आह्लादपरक अनुभूति में तभी समंजित हो सकता है, जबकि प्रयोजनातीत पूर्व ज्ञान के आधार पर उसका पुनरनुसंधान किया जाए। प्रेक्षक जैसे-जैसे अनुकर्ता में अवतरित अनुकार्य का अनुसंधान करता जाता है, वैसे-वैसे ही उसके विविध कोण प्रमाता की चेतना में अवतीर्ण होते जाते हैं। पात्र के इस अनेकमुखी व्यक्तित्व के क्रमिक अनुसंधान से ही नाटकीय तनाव की सृष्टि होती है तथा अनुसंधान का वृत्त प्रमाता की चेतना में पूर्ण होता है।

भट्टनायक का साधारणीकरणात्मा भावकत्व व्यापार भी एकान्त रूढ़ अथवा गतिहीन अवधारणा नहीं है। विभावादि के साधारणीकरण का आशय कृति की सर्जनात्मक संभावनाओं के अनुरूप चरित्र की उस गतिशील प्रकृति के उन्मीलन से है, जिसमें पात्र विशिष्ट संभावनाओं के अनुरूप क्रमश: अपनी प्रकृति को अर्जित एवं आचरण को परिभाषित करता है। अभिनव ने स्पष्टत: विशिष्टों के अन्त:प्रतिबिम्बन से उद्भूत होने वाले निर्विशेषीकरण की अवधारणा में कृति के अनुरूप पात्र की सर्जनात्मक संभावनाओं के

समानान्तर गतिशील प्रमाता के सामर्थ्य का बोध उद्‌भासित किया है। विश्वनाथ की साधारण्याभिमान की परिकल्पना भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ सामाजिक की ससीम मानसिकता में विराट् व्यापार के ग्रहण करने के सामर्थ्य को स्वीकृति दी गई है। इस प्रक्रिया में सामाजिक की ससीम मानसिकता में निःसीम चेतना की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा उद्‌भूत होती है। एक स्तर पर प्रमाता नायक अथवा पात्र की चेतना में अनुप्रविष्ट होता है, दूसरी ओर पात्र प्रमाता की चेतना के विविध स्तरों पर संक्रमित होने की प्रत्याशा जगाता है। रूप गोस्वामी ने भी विश्वनाथ की अवधारणा को स्वीकार किया है, किन्तु वे सामाजिक अथवा आस्वादयिता की विभावादि से समानुभूति के स्तर पर अपनी अवधारणा का विकास करते हैं। अर्वाचीन प्रमाता की अनुभूति का प्राचीन सामाजिकों के समान हो जाना ही साधारणीकरण है।

महिम ने भी प्रकारान्तर से साधारणीकरण की अवधारणा को अन्तःप्रतिबिम्बन सिद्धान्त के स्तर पर व्याख्यायित किया है। यह बात भिन्न है कि उन्होंने साधारणीकरण का उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार सहृदय का ग्रहणशील अन्तश्चेतन इसका दूसरा ध्रुव है। अतः जो रति आदि भाव काव्यार्थ में उद्‌भिन्न होते हैं, उन्हीं के प्रतिविम्ब प्रमाता के हृदय में संस्कार रूप में पूर्वतः विद्यमान रहे हैं, जो उनके साक्षात्कार से उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। नाट्यदर्पणकार ने अन्ययोगव्यवच्छेद के सिद्धान्त का सूत्रपात कर रसानुभूति के एक प्रमुख संदर्भ की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि काव्य, नाटक में एक की अनुभूति दूसरे व्यक्ति की अनुभूति का निषेध नहीं करती, फलतः लोक में जो रसास्वाद विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित होता है, काव्य में साधारणीकृत होता है। व्यक्ति-प्रमाता सामूहिक अनुभव-खण्ड का समान भोक्ता है। वह अयोगव्यवच्छेदन उसका आस्वाद करता है। विभावन की प्रक्रिया के अन्दर वह पात्रों की मूल प्रकृति का क्रमशः अनुसंधान करता हुआ स्वयं को ही क्रमशः उद्‌घाटित करता चलता है।

संस्कृत-काव्य-शास्त्रेतर भारतीय तथा पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र में साधारणीकरणविषयक अवधारणा की पुनर्व्याख्या हुई है। हिन्दी में आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण, मधुमती भूमिका तथा कवि की अनुभूति से साधारणीकरण की अवधारणाएँ मूलतः सहृदयगत एकतानता एवं अद्वैतानुभूति की दिशा में विकसित हुई है तो मराठी काव्य-शास्त्र ने आधुनिक मूल्यबोध की सार्थकता कवि तथा सहृदय की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में अन्वेषित की है।

सविकल्प समाधि, स्वायत्त तादात्म्य, सहानुभूतिपूर्वक ताटस्थ्य इत्यादि में द्वैतानुभूति की सहज स्वीकृति है। बगला में भावना एवं बुद्धिवादी अवधारणाएँ सामान्यीकरण की एकान्त स्वीकृति का विरोध भी करती है और परम्परित स्तर पर उसे स्वीकृति भी देती है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में औदात्त्य, समानुभूति, मानसिक अन्तराल, आसक्तिहीन आसक्ति, संक्रमण, संप्रेषण, निर्वैयक्तिकीकरण तथा विसंवादी अनुभूतियों के सामरस्य की अवधारणाएँ साधारणीकरण की अवधारणा को व्यापक आयामों में परिभाषित करती हैं।

रसाभास, अंगीरस, कविसमय, अतिप्राकृत तत्त्व, प्रख्यात कथानक तथा नायक प्रतिनायक के संदर्भ भी साधारणीकरण को अनेक कोणों पर परिभाषित करते हैं। नवम अध्याय के ये विवेच्य संदर्भ हैं। रसाभासपरक स्थलों में प्रमाता तात्कालिक विशिष्ट संवेदनों का आस्वाद तो करता है किन्तु रस के अभिव्यंजनात्मक सामरस्य से उन्हें विच्छिन्न पाकर उसका अनुभूतिगत सामंजस्य विश्रृङ्खल हो जाता है। जीवन के व्यापक बोध के मध्य विश्रृङ्खल चेतना को अनेक स्तरों पर साधारणीकरण की यह उत्तरकालिक स्थिति परिभाषित करती है। अंग रस की विसंवादी योजना में सामान्यता से मुक्त पात्र का अन्तश्चैतन्य उन्मीलित होता है जो अमानवीकरण के विरुद्ध व्यक्ति के मौलिक बिम्ब की प्रतिष्ठा करता है, अतः प्रमाता की चेतना भी काव्यानुभूति के विविध आयामों से साधारणीकृत होती है। अतिप्राकृत तत्त्वों के काव्यात्मक नियोजन सामूहिक अचेतन की अनेक प्रकल्पनाओं को प्रतीक रूप में अनूदित करते हैं, कवि-समय भी अतिप्राकृत तत्त्वों की भाँति सामष्टिक अर्द्धचेतन को आन्दोलित कर प्रमाता की राग-चेतना का विस्तार करते हैं। नायक समष्टि के संकल्प का प्रतीक होता है। आदर्श तथा अमानवीकृत दोनों संदर्भों में प्रमाता उससे तादात्म्य एवं निःसंगता के स्तरों पर समीकृत होता हैं।

एक सार्थक और श्रेष्ठ अवधारणा का निकष वह ऐतिहासिक बोध है जो अतीत एवं वर्तमान की सर्जनात्मक अन्तश्चेतना को परिवेश एवं युगधर्म के अनुरूप प्रासंगिक बनाता है। वस्तुतः चिन्तन के विकासक्रम में प्राचीन शास्त्रीय अवधारणाएँ अप्रासंगिक नहीं हो जातीं, युग-परिवेश की विज्ञान-सम्मत विवेक-दृष्टि का आधार पाकर नयी अर्थवत्ता ग्रहण करती हैं; उनके मूल स्वरूप की प्रामाणिकता एवं प्रासंगिकता के नये आयाम उद्घाटित होते

हैं। संविद् विकासेऽधिगता गमित्वम् (अभिनव)। विकासवाद, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद अथवा अस्तित्ववाद जैसी अवधारणाएँ पृथक् पृथक् एकांगी हो सकती हैं; किन्तु इनका समग्रतर बोध जब काव्य-परिवेश की पूर्व प्रतिष्ठापित अवधारणा के विश्लेषण की नयी विवेक-सोपान-परम्परा परिकल्पित करता है तो फिर यह कहने का अवकाश नहीं रह जाता कि अवचेतन के विश्लेषण, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, अस्तित्ववाद या आद्यप्ररूपीय योजना (Archetypal Patterns) का भट्टनायक या अभिनव के काव्य-चिन्तन से क्या सम्बन्ध है? रूप और वस्तु के द्वन्द्वात्मक एवं विरोधात्मक आचरण को केन्द्र में रख कर चलने वाली नव्यालोचन की पाश्चात्य अवधारणाओं या निरर्थक परिकल्पित स्थितियों में भाव-सत्य के अन्वेषण पर आधृत एब्सर्ड नाट्य चिन्तन के परवर्ती अनुषंगों को साधारणीकरण की प्राचीन स्वीकृत अवधारणा से समीकृत करना कितना सैद्धान्तिक है? वस्तुतः साधारणीकरण की आधारभूत अवधारणाओं की पुनः पुनः प्रतिष्ठा में योग देने वाली ये ऊर्ध्वोर्ध्व दृष्टियाँ ही हैं। काव्य के आभ्यन्तर स्तरों पर चलने वाले समानान्तर चिन्तन-क्रम को अवधारणा के यथार्थ बिन्दु पर केन्द्रित करने वाली ये चिन्तन श्रेणियाँ हैं जो अपनी मूलवर्त्ती संकल्पना की अपेक्षा प्रस्तुत अवधारणा के केन्द्र को आलोकित करने की दृष्टि से ही यहाँ अधिक प्रासंगिक हैं। अभिनव के शब्दों में :

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती।
अलं तदाद्यैः परिकल्पितानाम् विवेकसोपानपरम्पराणाम्॥

साधारणीकरण काव्य-शास्त्र की आधारभूत संकल्पना है; और इसके विकासमान केन्द्र को कुछ स्थूल मुद्राओं से हटाकर उत्तरोत्तर नये सूक्ष्म आयामों में परिष्कृत एवं अन्वेषित करने में ये दृष्टियाँ अनिवार्य योग दे सकती हैं।

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।

इस अध्ययन-रस की निष्पत्ति पिताजी के स्नेहिल अमोघ आशीर्वाद, गुरुओं के प्रकाश, मित्रों की प्रेरणा तथा आत्मीयजनों के स्नेह-संयोग से हुई है। डा० व्रजमोहन चतुर्वेदी (प्रोफेसर संस्कृत-विभाग दिल्ली-विश्वविद्यालय) प्रबन्ध के निर्देशक रहे हैं। उनके अनवरत प्रोत्साहन, परामर्श और सबसे बढ़कर निर्व्याज स्नेह के कारण यह कार्य सम्पन्न हो सका। मैं उनका हृदय से आभार व्यक्त करता हूं। अग्रजकल्प डा० सुरेन्द्रनारायण त्रिपाठी, मित्रवर डा० रमाकान्त शुक्ल, डा० सुन्दरलाल कथूरिया, डा० कृष्णदत्त शर्मा, श्री त्रिलोकचन्द घई तथा श्री श्यामजी पाण्डेय मेरे आलस्यावच्छिन्न चिदावरण

को दूर करने में निरन्तर सक्रिय रहे हैं। स्नेहास्पद डा० कृष्णावतार डा० विश्वनाथ छिब्बर, विजय तंखा, ओमप्रकाश शर्मा, नरेन्द्र अत्रि, मनोज शर्मा, पूज्या कृष्णा (अम्माजी) तथा प्रिय सावित्री, सुभद्रा, मिथिलेश एवं परिवार के अन्य आत्मीय जनों का स्नेह-सहयोग मुझे निरन्तर बल प्रदान करता है। अर्द्धांगिनी अंजू, एवं पुत्री दीप्ति मुझे 'वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भावो हि रसः' का अनवरत बोध कराती रही हैं। उक्त सबका मैं हृदय से आभारी हूँ।

देववाणी-परिषद् के प्रबुद्ध महासचिव डा० शुक्ल का मैं पुनः आभार व्यक्त करता हूँ। संस्कृत-साहित्य के अर्वाचीन चिन्तन में उनकी रचनात्मक भूमिका सर्जन-प्रकाशन के माध्यम से जो आकार ग्रहण कर रही हैं उसका स्पर्श प्रस्तुत प्रकाशन को मिला है। अन्त में जिन कृती सुधी मनीषियों के चिन्तन-क्रम में यह शोध-बोध विकसित हुआ है, उन्हें सश्रद्ध प्रणाम।

२१ अगस्त १९८४ ई० —सुलेख चन्द्र शर्मा

बी२/१४४, जनकपुरी, नई दिल्ली-११००५८

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ संख्या
प्रास्ताविकम् : डा० रमाकान्त शुक्लः (ग—घ)
समर्पण (ङ)
भूमिका : डा० सुलेखचन्द्र शर्मा (छ—ड)
(१) साधारणीकरण : प्रयोजन, व्युत्पत्ति और स्थानापन्न अवधारणाएँ (१—८२)
विषय-प्रवेश १-३
सहृदय की भूमिका का क्रम-विकास और साधारणीकरण ३-१२,
कवि की सर्जन-प्रक्रिया में साधारणीकरण के सूत्र १२-२२
साधारणीकरण : प्रयोजन और प्रतिपाद्य २२-३१
साधारणीकरण : व्युत्पत्ति एवं निहितार्थ ३१-३३
'साधारण' शब्द के विविध आयाम तथा साधारणीकरण की अवधारणा ३३-३९
साधारणीकरण की स्थानापन्न अवधारणाएँ ३९
वृत्ति ४०-४४
सिद्धि ४४-४९
भाव-अनुभावन ४९-५३
विश्रान्ति ५३-५८
भाविक ५८-६३
रसानुभूति की देशकालादि-भेद-शून्य संकल्पना ६३-६५
विशिष्ट और साधारण ६५-७०
जाति अथवा सामान्य की दार्शनिक परिकल्पना में साधारणीकरण के उत्स ७०-७३
साधारणीकरण और स्फोटदर्शन ७३-७६
औचित्य की अवधारणा में साधारणीकरण के उत्स ७६-८२
(२) भट्टनायक पूर्व साधारणीकरण के अन्तवर्ती संदर्भ (८३—१५६)
वेदों में साधारणीकरण की मूल संकल्पना के सूत्र ८३-९२
उपनिषद् ९२-९७

विषय	पृष्ठ संख्या
वाल्मीकि (रामायण)	९७-१००
श्रीमद्भगवद्गीता	१००-१०२
कालिदास	१०२-१०६
भरत	१०६-११०
ध्वनिपूर्ववर्ती अलंकारवादी आचार्यों की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा	११०-११३
भामह	११३-११७
दण्डी	११७-१२०
उद्भट	१२० १२२
वामनाचार्य	१२२-१२५
रुद्रट	१२५-१२८
आनन्दवर्द्धन	१२९-१३६
लोल्लट	१३६-१५०
शंकुक	१५०-१५६

(३) भट्टनायक की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा (१५७—२२०)

भट्टनायक (दशम शतक का प्रारम्भ) हृदयदर्पण	१५७-१५९
परिवेश	१५९-१६१
साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका	१६१-१६९
साधारणीकरण का विधि-पक्ष	१६९-१७३
अभिधा	१७३-१७९
लक्षण एवं अभिधा	१७९-१८६
भावना एवं भावकत्व	१८६-१८७
भावना व्यापार के अन्तः सूत्र	१८७-१८९
भावना का दार्शनिक आधार	१९०-१९३
काव्यशास्त्रीय सन्दर्भ	१९३-१९५
भट्टनायक के सन्दर्भ में काव्यप्रकाश के टीकाकारों की साधारणीकरण सम्बन्धी अवधारणाएँ	१९५-२००
रजस्तमोऽनुवेध तथा सत्त्वोद्रेक	२००-२०६
भोगव्यापार	२०६

विषय पृष्ठ संख्या

दार्शनिक पृष्ठभूमि २०६-२१२
विभावादिसाधारणीकरणात्मना' सीता की कान्तात्व में परिणति २१२-२१६
देवतादि का साधारणीकरण २१६-२२०

(४) अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा (२२१—२८२)

अभिनवगुप्त (अभिनवभारती-लोचन) २२१-२२४
अभिनव की समन्वयवादी अवधारणा २२४-२२८
काव्यास्वाद-प्रक्रिया २२८-२३०
साधारणीकरणविषयक अवधारणा २३०-२४०
वासना-संवाद एवं साधारणीकरण २४०-२४३
सामाजिकों में एकघनता एवं वासना-संवाद २४३-२४९
रसविघ्न और साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका २४९-२५०
सम्भावनाविरह २५०-२५१
स्वगत सुःख-दुख आदि की प्रतीति २५१-२५५
निजसुखादिविवशीभाव २५५-२५९
प्रतीत्युपायवैकल्य २५९-२६२
अप्रधानता २६२-२६५
संशययोग २६५-२६९
नाट्य में साधारणीकरण २६९-२७१
कथा और साधारणीकरण २७१-२७४
मुक्तक और साधारणीकरण २७४-२७७
नीतिकाव्य और साधारणीकरण २७७-२७८
इतिहास का साधारणीकरण २७८-२८२

(५) विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा (२८३—३२१)

विश्वनाथ (१४वीं शती का प्रारम्भ) साहित्यदर्पण २८३-२८७
साधारण्याभिमान २८७-२९२
अतिप्राकृत तत्त्व एवं साधारणीकरण २९२-३००

विषय पृष्ठ संख्या

पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शताब्दी का मध्य भाग)
रसगंगाधर ३०१-३०३
अनिर्वचनीयख्यातिबाद ३०३-३१७
अगम्यात्व-ज्ञान का प्रतिबन्धन ३१७-३२१

(६) साधारणीकरण-विषयक इतर अवधारणाएँ (३२२—४२६)

धनंजय (१०वीं शती) दशरूपक, धनिक, अवलोक ३२२-३३१
भोजराज (११वीं शती पूर्वार्द्ध) सरस्वतीकण्ठाभरण शृङ्गारप्रकाश ३३१-३३५
महिमभट्ट (१००० ई० के लगभग) व्यक्तिविवेक ३३५-३४३
रामचन्द्र गुणचन्द्र (१२वीं शती का पूर्वार्द्ध) नाट्यदर्पण ३४३-३४७
शारदातनय (तेरहवीं शती का मध्य) भावप्रकाशन ३४७-३५०
विद्यानाथ (१३वीं शती ई० का अन्तिम चरण) प्रतापरुद्रीयम् ३५१-३५४
रूपगोस्वामी (१६वीं शती का उत्तरार्द्ध) भक्तिरसामृतसिंधु ३५४-३५७

रसशास्त्रीय ग्रन्थ एवं साधारणीकरण

अल्लराज (१३४३ ई० के लगभग) रसरत्नप्रदीपिका ३५८-३६०
शिंगभूपाल (१३वीं शताब्दी का मध्य भाग) रसार्णवसुधाकर ३६०-३६४
भानुदत्त (१४८० से १५७० ई०) रसतरंगिणी ३६४-३६७
प्रभाकर (१६वीं शती) रसप्रदीप (रचनाकाल-१५९३ ई०) ३६७-३७०
भूदेव शुक्ल (१६६० ई०) रसविलास ३७०-३७२
विश्वेश्वर पाण्डेय (१८वीं शती का प्रारम्भ) रसचन्द्रिका ३७२-३७४
विद्याराम (१८वीं शती का प्रारम्भ) रसदीर्घिका (रचनाकाल-१७०६ विक्रम) ३७४-३७५
जगन्नाथ मिश्र (१८वीं शती का पूर्वार्द्ध) रसकल्पद्रुम (रचनाकाल-१७३५) ३७५-३७६
गंगाराम जडी (१८वीं शती का उत्तरार्द्ध) रसमीमांसा (१८०८ वि०सं०) ३७६-३७८
शिवराम त्रिपाठी—रसरत्नहारः ३७८-३७९
सौजन्यभूषणकवेरनुजः रसविवेकः ३७९-३८१

विषय पृष्ठ संख्या

अन्य आचार्यों के साधारणीकरण-विषयक संदर्भ :

राजशेखर (८८०-९३० के मध्य) काव्यमीमांसा ३८१-३८५
कुन्तक (१०वीं-११वीं शती) वक्रोक्तिजीवितम् ३८५-३८८
क्षेमेन्द्र (११वीं शती) औचित्यविचारचर्चा ३८८-३९२
मम्मट (११वीं शती उत्तरार्द्ध) काव्यप्रकाश ३९२-३९४
हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) काव्यानुशासनम् ३९४-३९५
सागरनन्दी (११वीं शती) नाटकलक्षणरत्नकोश ३९५-३९६
सवश्वर कवि (११०० ई०) साहित्यसारः ३९६-३९७
अग्निपुराण (१२०० ई०) ३९७-३९८
मंखुक(?) साहित्यमीमांसा (१८वीं शती) ३९८-३९९
वाग्भट्ट प्रथम (१२वीं शती) वाग्भट्टालङ्कारः वाग्भट्ट द्वितीय (१४वीं शती) काव्यानुशासन ३९९-४००
विजयवर्णी (१३वीं शती ई० का प्रारम्भ) शृङ्गारार्णवचन्द्रिका ४००-४०१
जयदेव (१३वीं शती मध्य) चन्द्रालोक ४०१-४०२
नरेन्द्रप्रभसूरि (१३वीं शती) अलंकारमहोदधि ४०२-४०३
विश्वेश्वर (१४वीं शती का पूर्वार्द्ध) चमत्कारचन्द्रिका ४०३-४०६
श्रीवत्सलांछन भट्टाचार्य (१३२३-१३८०) काव्यपरीक्षा ४०६-४०७
अमृतानन्द योगी (१४वीं शती) अलंकारसंग्रह ४०७-४०९
गंगानन्द कविराज (१६वीं शती)(१५०६-१५२६) कर्णभूषणम् ४०९-४१२
मधुसूदन सरस्वती (१६वीं शती का उत्तरार्द्ध) श्रीभगवद्भक्तिरसायन ४१२-४१३
आचार्य विश्वनाथदेव (१६वीं शती) साहित्यसुधासिन्धु (१५५२ ई०) ४१३-४१६
कामराज दीक्षित-काव्येन्दुप्रकाश (१६६०-१७१०) ४१६
विद्याधर (१४वीं शती पूर्वार्द्ध) एकावली ४१७-४१८
विद्याभूषण (१८वीं शती) साहित्यकौमुदी ४१८-४२०
चिरंजीव भट्टाचार्य (१८वीं शती का प्रारम्भ) काव्यविलास ४२०-४२१
छज्जूराम शास्त्री (२०वीं शती) साहित्यबिन्दु (संवत् १९५२) ४२१-४२२
हरिहरानन्दशास्त्री (करपात्र) भक्तिरसार्णव (वि० २०२५) ४२२-४२३
रेवाप्रसाद द्विवेदी—काव्यालंकारकारिका (१९७७ ई०) ४२३-४२४

विषय पृष्ठ संख्या
रमेशचन्द्र शुक्ल—रसदर्शनम् (१६८३ ई०) ४२४-४२६

(७) साधारणीकरण-विषयक संस्कृतेतर परवर्ती अवधारणाएँ (४२७—४८४)

साधारणीकरण की अवधारणा का परवर्ती विकास ४२७-४२६
आधुनिक युग : एक सर्वेक्षण ४२६-४४३
हिन्दी रसशास्त्रीय ग्रन्थ एव साधारणीकरण-विषयक अभिमत ४४३-४४८
दृष्टिभेद एवं साधारणीकरण ४४८-४५०
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा ४५१-४५७
आचार्य केशवप्रसाद मिश्र : मधुमती-भूमिका ४५७-४६०
डा० नगेन्द्र की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा ४६०-४७०
मराठी समीक्षा और साधारणीकरण: नरसिंह चिन्तामणि केलकर ४७०-४७२
द० के० केलकर ४७२-४७४
रा० श्री० जोग ४७४-४७६
के० ना० वाटवे-क्रीडोपपत्ति क्रीडारूप आत्माविष्कार आहार्य ज्ञानोपपत्ति ४७६-४७८
बगला-समीक्षा : सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त ४७८-४८०
सुधीरकुमार दास गुप्त ४८०-४८२
मोहितलाल मजूमदार ४८२-४८४

(८) पाश्चात्त्य चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में साधारणीकरण का विवेचन (४८५—५१५)

पाश्चात्त्य सौंदर्य-शास्त्र एवं काव्यशास्त्र में साधारणीकरण की अवधारणा के सूत्र ४८५-४६१
उदात्त तत्त्व (लोंजाइनस) तथा साधारणीकरण ४६१-४६३
समानुभूति (वर्नंनली) एवं साधारणीकरण ४६३-४६८
मानसिक अन्तराल (एडवर्ड बुलो) एवं साधारणीकरण ४६८-५०२
तालस्ताय का संक्रमण-सिद्धान्त और साधारणीकरण ५०२-५०६
रिचर्ड्स का सम्प्रेषण-सिद्धान्त तथा साधारणीकरण ५०६-५१०
इलियट का निर्वैयक्तिकता एवं मूर्त वस्तु-विधान का सिद्धान्त ५१०-५१५

विषय पृष्ठ संख्या

(९) साधारणीकरण-विषयक प्रतिपत्तियाँ (५१६—५९२)

रसाभास और साधारणीकरण ५१६-५२९
अंगी रस और साधारणीकरण ५२९-५३२
शान्त रस तथा साधारणीकरण की मौलिक चेतना में साम्य एवं वैषम्य ५३२-५३५
करुणत्व और आनन्दानुभूति ५३५-५४८
कविसमय और साधारणीकरण ५४८-५५२
नायक की परिकल्पना तथा साधारणीकरण ५५२.५६३
प्रतिनायक का सन्दर्भ और साधारणीकरण ५६३-५६६
दर्शकीय प्रतिक्रिया (आधुनिक सन्दर्भ) ५६६-५६८
त्रासदी और साधारणीकरण ५६८-५७०
प्रख्यात कथानक तथा साधारणीकरण ५७०-५७७
काव्येतर वस्तु तथा साधारणीकरण ५७७-५८०
काव्यानुभूति के विभिन्न स्तर ५८०-५८३
काव्यभाषा और साधारणीकरण ५८३-५८८
भाषा और भावकत्व ५८८-५९२

(१०) उपसंहार (५९३—६०८)

(११) सहायक ग्रन्थ-सूची (६०९—६२३)

[१]

साधारणीकरण : प्रयोजन, व्युत्पत्ति और स्थानापन्न अवधारणाएँ

विषयप्रवेश

अनादि काल से प्रेम अथवा पीड़ा की अनुभूति मानव की चिरन्तन जिजीविषा को परिभाषित करती रही है। वही अद्वैतमयी रागात्मक चेतना, वही अनुतापदग्ध हृदय का प्रस्फुटन, जगत् की शून्यता[1] और शून्य में भटकती उल्का सी प्रेमी की नियति। संख्यातीत संदर्भों में इस अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। कवि के विशिष्ट जीवनानुभवों में पुनरनुसंधानित एवं व्यक्तित्वान्तरित होकर जब यह पीड़ा कवि का अनुभूत सत्य बनती है तो कवि कल्पना के अभिव्यंजनात्मक प्रच्छादनों में रूपान्तरित होकर रूढ़ जड़ दृष्टि को खण्डित करती हुई यही अनुभूति मानवीय नियति को नये सिरे से व्याख्यायित करती है। कवि के स्तर पर जो व्यक्ति की अनुभूत विशिष्ट पीड़ा है, अभिव्यंजना के विशिष्ट बिम्बों में रूपान्तरित-पुनरनुसंधानित होकर वह समष्टि की वेदना बनती है। काव्य की रमणीयता का मर्म यही है। **कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसंधानात्मा।**[2]

---

[1] हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥३८॥
—उत्तररामचरितम् (लाहौर १९४०), पृ० १०२

[2] रसगंगाधर (का० वि० वि०), पृ० १६

काव्य की रमणीयता सामान्यता को स्वीकृत नहीं करती। यह सत्य है कि कवि आत्मानुभूत भावों और उनके प्रेरक कारणों को अन्यत्र आरोपित कर स्व तथा परानुभूत सामान्यानुभूति को ही शब्दार्थमयी सृष्टि में रूपान्तरित करता है,[1] किन्तु इन स्वानुभूत एवं परानुभूत संवेदनों की सर्वप्रतिपत्तिसाधारणता को वह किसी अति सरलीकृत पद्धति से अर्जित नहीं, अपितु अपने निजी वैशिष्ट्य एवं अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य में रूपान्तरित कर स्वरूप की दृष्टि से सीमित जीवन संदर्भों को अनुभूति के संख्यातीत संदर्भों के प्रति उन्मुक्त कर देता है।[2]

प्रमाता प्रेम की गलदश्रु-भावुकता की सामान्यता अथवा शृङ्गारिक अनुभूति के उस ऋजु एकायामी विस्तार से तादात्म्य नहीं करता जिसमें रति स्थायी भाव की सीधी सपाट सर्वजन-सामान्य अभिव्यक्ति हो, अपितु व्यभिचारि-भावों के जटिल अनेकायामी विसंवादी संदर्भों में उनकी पुनरुद्भावना उसकी राग एवं विवेक-चेतना को अधिक व्यापक स्तरों पर समाहित करती है।[3]

---

१. सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते, न विशेषात्मना। तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयद्भिः स्वपरानुभूतरूपसामान्यमात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानं च परिचितादिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते। तच्चानुभाव्यानुभवकसामान्यं सर्वप्रतिपत्तृसाधारणं परिमितत्वात्पुरातनानामेव गोचरीभूतम्।

(ध्वन्यालोक, पृ० ३५५)

२. उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं च वाच्यवैचित्र्यम्? वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः। वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते।

(वही, पृ० ३५६)

३. Through the vyabchihari bhava or sanchari bhava he could interpret permanent or the dominant state (sthayi-bhava) in as many ways as he liked and show the picture of the world with his particular view-point without departing from the overall structure of the aesthetic theory.

-Kapila Vatsyayan : Indian Aesthetics and Art Activity (article), P. 106

इस स्तर पर कवि, अनुकार्य अभिनेता (अभिव्यंजात्मक माध्यम) एवं भोक्ता सहृदय अपने विशिष्ट अनुभूति-अभिव्यक्ति परिवेश में रहकर भी एक दूसरे के अनुभव संसार में अन्तःप्रविष्ट होकर कैसे साधारणीकृत होते हैं—समस्या का उद्गम यही है।

कवि की सर्जन-प्रक्रिया में यदि लोकसामान्यता का वही पूर्वानुभूत विम्ब निहित है तो वाल्मीकि के अनन्तर कवियों की सहृदयगत रचनात्मक चेतना की प्रासांगिकता समाप्त हो जाती है[1] और यदि कवि असाधारण बिम्बों को ही अभिव्यंजना के केन्द्र में प्रतिष्ठित करता है तो उसकी अनुभूति की संप्रेषणीयता का आयाम सीमित रह जाता है। कवि तथा सहृदय की तन्मयता-निःसंगता का यह क्रीड़ाकौतुक[2] काव्यशास्त्र की इस गंभीर समस्या को दीर्घ काल से उत्तेजना प्रदान करता रहा है। सहृदय तथा कवि के इस अनुबन्ध की अनिवार्यता, स्वरूप और प्रक्रिया क्या है? यह प्रश्न सहृदय तथा कवि की मनोभूमिका के अनेक संदर्भों को समाहित करता हुआ ऐसे अवान्तर प्रश्नों के समाधान की प्रत्याशा भी जागृत करता है कि साधारणीकरण की शास्त्रीय अवधारणा की उद्भावना के पूर्व काव्यमनीषी किन संदर्भों में कवि-सहृदय के अन्तःसम्बन्ध की चिरन्तन समस्या का समाधान खोजते रहे हैं?

सहृदय की भूमिका का क्रम-विकास तथा साधारणीकरण की अवधारणा

काव्य कवि के अन्तश्चैतन्य की उद्भूति है। अभिव्यंजित होकर यद्यपि सहृदय से वह प्रत्यक्ष संवाद करता है, तथापि कवि की जीवनानुभूति और

---

[1] यतो यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते, किं कृतस्तर्हि महाकविनिबध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः। वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य कविव्यपदेश एव वा।

(ध्वन्यालोकः, पृ० ३५५-३५६)

[2] We can sympathize with a character despite an author's clear indications that we are not to do so, recognize this, and go on sympathizing. We are just as capable of juxtaposing and keeping in suspension feeling as we are ideas.

(-W. J. Slatoff, With Respect to Readers, P-39)

मनोभूमिका भी एक सीमा तक उसकी सम्प्रेषणीता की दिशा निर्धारित करती है। काव्यानुभूति को कवि और सहृदय की हृदय-संवादिता भी कहा जाता है। सहृदय की सापेक्षता में ही कवि की अनुभूति की सार्थकता है। यही नहीं, स्वयं कवि के व्यक्तित्व में भी अंततः सहृदय की मनोभूमिका का आकुंचन-प्रसारण होता रहता है। अतः कुप्पुस्वामी शास्त्री ने कवि और सहृदय के योग को पार्वती परमेश्वर के समान अभिन्न माना है।[1] आदि कवि भी जब अपने शोक की श्लोक रूप में परिणति देख कर उसकी पुनराशंसा करते हैं तो उनमें निहित सहृदय आलोचक[2] उनके कवि से युगपत् स्तर पर सक्रिय होकर शोक-श्लोक-समीकरण का पुनरनुसंधान करता है।

'पादबद्धोऽक्षरसमः तंत्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्तस्य प्रवृतो मे श्लोको भवतु नान्यथा ।'[3]

यह सहृदय कवि के अन्तश्चैतन्य में सदा विद्यमान रहता है। काव्य सृष्टि के अनन्तर वह कृति का अनुभावन तथा समीक्षक के स्तर पर उसका मूल्यांकन करता है। कालिदास की **आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्,**[4] **तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः**[5] जैसी आत्म स्वीकृतियों से स्पष्ट है कि एक सहृदय प्रमाता उनके अवचेतन में सदैव उपस्थित रहा है। अभिनव के अनुसार काव्य की सृष्टि-प्रक्रिया तथा आस्वाद प्रक्रिया में एक दृढ़ अन्तःसूत्र विद्यमान है। इसी भूमिका पर वे कवि सहृदय का समीकरण प्रस्तुत करते हैं।

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।

---

१. परस्परसमास्वादप्रथमानसतत्वयोः ।
कविताबुधयोर्यागं नमामि शिवयोर्यथा ।
(हाइवेज एण्ड बाइवेज आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत, मद्रास-१९४५, पृ० १)

२. . . in Valmiki, the creative artist and the art-critic were rolled up and harmoniously blended into one. Ibid p. 10

३. वा० रा० १-२-२८

४. अ० शा० १।२

५. रघुवंश १।१०

क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ।।[1]

स्पष्ट है कि काव्यानुभूति की द्विध्रुवीय प्रक्रिया में कवि तथा सहृदय का सापेक्ष अन्तःसम्बन्ध अनुभूति के स्वरूप और प्रकृति को निर्धारित करता है। सहृदय रसानुभूति का ग्रहीता एवं भोक्ता तो होता ही है, उसकी निर्णय क्षमता भी अंततः प्रबुद्ध रहती है। आशय यह है कि सहृदय काव्य एवं नाट्य के सारभूत प्रभावों को आत्मसात् करने वाला निष्क्रिय पात्र नहीं होता, उसका समग्र-व्यक्तित्व काव्य अथवा नाट्य-प्रयोग के क्षण में समुद्वेलित होता है। प्रयोग अथवा प्रस्तुति के बिना आस्वाद संभव नहीं है[2] और आस्वाद का अन्तिम भोक्ता सहृदय है तथा आस्वाद में घटित होने वाली साधारणीकरण प्रक्रिया का प्रस्थानबिन्दु भी सहृदय ही होता है, अतः आचार्यों ने यदि रसानुभूति का विवेचन करते समय सहृदय की मानसिकता, रुचि तथा आस्वाद की आपेक्षिक योग्यता का विवेचन किया है, तो कवि एवं नाट्यकार भी प्रयोग क्षण में सहृदय की आस्वादन-क्षमता को निवेदित करना अनिवार्य समझते हैं।[3] कालिदास के अनुसार सहृदय की आशंसा ही कवि के प्रयोग की सार्थकता का निकष है, उसकी व्यग्रता एवं कौतूहल के प्रति भी वे पूर्व सचेष्ट हैं। शूद्रक के अनुसार सामाजिक के औत्सुक्य को आहत करने वाला नाट्यश्रम व्यर्थ है।[4] अनर्घ-राघवकर्ता मुरारि के अनुसार तो सामाजिक की प्रीति रंगोपजीवियों (कवि एवं नट) की प्रियतमा होती है।[5] कवि की भावुकता एवं शास्त्रनिष्ठा नायक की जिस उदात्त मूर्ति को आकार देती है, उसकी कृतार्थता

---

१. ध्वन्यालोक लोचन (जगन्नाथ पाठक सं०) चौखम्बा-१९६५ पृ० १।

२. प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः।
(अभिनवभारती, भाग-१ (बड़ौदा), पृ० २९५)

३. आवर्जितानि च सकलसामाजिकमनांसि इति मे निश्चयः।
(नागानन्दम्, प्रथम अंक, पृ० ८ (चौखम्बा) १९४८

४. अलमनेन परिषत्कुतूहलविमर्दकारिणा परिश्रमेण।
(मृच्छकटिकम् (कलिकाता) १९१८, पृ० ३)

५. प्रीतिर्नाम सदस्यानां प्रिया रंगोपजीविनः।
(अनर्घराघवम्, १।३, चौखम्बा-१९६० पृ० ५)

भी सहृदयों के भावजगत् को आवेदित करने में ही है।[१] मुद्राराक्षस के कर्ता विशाखदत्त सहृदय के महत्त्व को आकलित करते हुए कहते हैं कि काव्य के विशेष बोध एवं अनुभावन में प्रवण सामाजिकों के सम्मुख नाट्य प्रयोग प्रस्तुत करने में ही कवि को परितोष है। भावक की मेधा एवं हृदय का योग पाकर सामान्य रचना भी प्राणवान हो उठती है।[२]

इस संदर्भ में कुछ अन्य उक्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं।

(क) परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा
प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्वस्तुपुरुषबहुमानात्।
शृणुत जना अवधानात्क्रियामिमां कालिदासस्य ॥[3]

(ख) कुसुमांजलिरपर इव प्रकीर्यते काव्यबन्ध एषोऽत्र।
मधुलिह इव मधुबिन्दून्विरलानपि भजत गुणलेशान् ॥
तदत्र कविपरिश्रमानुरोधाद्वा उदात्तकथावस्तुगौरवाद्वा
नवनाटकदर्शनकुतूहलाद्वा भवद्भिरवधानं दीयमानमभ्यर्थये।[४]

(ग) तत्तस्यैव राज्ञः सकलजनहृदयाह्लादिनो बहुमानात् अस्मासु
चानुग्रहबुद्ध्या यथावत्प्रयोगेण अद्य त्वया नाटयितव्यम् इति।
आवर्जितानि सकलसामाजिकानां मनांसीति मे निश्चयः।
श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वांछितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥[५]

---

१. उन्मीलत्कमनीयनायकगुणग्रामोपसंवलगन-
प्रौढाहंकृतयो लुठन्ति सुहृदां कण्ठेषु हारस्रजः।
(वही, १।५, पृ० ७)

२. यत्सत्यं काव्यविशेषवेदिन्यां परिषदि प्रयुंजानस्य ममापि सुमहान् परितोषः प्रादुर्भवति। चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।
(मुद्राराक्षसम्, १।३, (मेरठ) १९६२, पृ० ९)

३. विक्रमोर्वशीयम् १।२ (कालिदासग्रन्थावली, सं० रामप्रताप त्रिपाठी पृ० १४४)

४. वेणीसंहारम् १।५ (निर्णयसागर शाके १८४६) पृ० ५-६

५. रत्नावली नाटिका १।५ (चौखम्बा-१९५३) पृ० ९-१०

(तदवश्यमनेन गुणगणेन सामाजिकजनहृदयानन्दनजन्ययशोलाभाय प्रयतनीयम्)[1]

इन उक्तियों में काव्य (नाट्य) वस्तु की ग्राहिका सामाजिक की भावयित्री प्रतिभा तथा कवि, वृत्त, नेता तथा रस संबंधी कुछ सूत्र सहज ही अनसंधेय है।

१. पूर्व कवियों के रस प्रबन्धों का अवलोकन सहृदय की रसदृष्टि को अधिक प्रखर करता है।

२. काव्य वस्तु (वृत्त) की प्रख्यातता एवं उदात्तता तथा नायक का गौरव[2] सहृदय की आस्वादनप्रक्रिया को अधिक सरलता से उद्दीप्त करते हैं। साधारणीकरण की यह अपेक्षित भूमि है।

३. कवि की ख्याति तथा सहृदय की उसके प्रति पूर्वानुरक्ति भी काव्य अथवा नाट्य के साधारणीकरण में योग देती है **सकलजनहृदयाह्लादिनो बहुमानात्**)।

४. सहृदय में दोषग्राही दृष्टि की अपेक्षा गुणग्राही प्रतिभा उसकी ग्रहणशीलता एवं तन्मयीभवन के विकास में विशेष योग देती है **(परिषदप्येषा गुणग्राहिणी)**।

५. काव्य वस्तु के अभिनव प्रयोग के प्रति दर्शक में सहज कौतूहल एवं औत्सुक्य होता है, जो रसास्वाद की उपयुक्त मनोभूमिका निर्मित करता है।

सामाजिक की सौंदर्याभिरुचि एवं निर्णयक्षमता का भी काव्यस्वाद में अपेक्षित महत्त्व है। कालिदास ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है :-

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥[3]

इसमें संदेह नहीं कि काव्याभिव्यक्ति अथवा नाट्यप्रयोग का यह आवेदन विशेष वर्ग के प्रमाताओं को ही सम्बोधित था। ये प्रमाता आभिजात्य मूल्यों

---

१. -वही- (प्रकाश टीका) पृ० १०

२. गुणग्रामासंवादि नामापि हि महात्मनाम् (प्रसन्नराघवम् १।५, पृ० ८)

३. मालविकाग्निमित्रम् १।२ (कालिदासग्रन्थावली, पृ० २५२)

एवं संस्कारों में पोषित एक स्तर पर निष्णात काव्यसमीक्षक ही थे।[1] प्राचीन कवियों के प्रबन्धों के अध्ययन से उनका रसबोध विकसित था[2] तथा काव्य एवं नाट्य की वक्रतापूर्ण अभिव्यंजनाओं की सूक्ष्मताओं को समझते थे।[3] मूलतः शृंगार की सूक्ष्म तरल छायाओं के विविध स्पर्शों से वे परिचित थे,[4] किन्तु जीवन के उस विराट् सामान्य के प्रति उनमें कोई आसक्ति न थी, जो जन-चेतना की आशाओं आकांक्षाओं, पीड़ाओं और निराशाओं के छोटे बड़े द्वन्द्वों के रूप में उनके चतुर्दिक् विस्तृत था। यह सामान्य वर्ग मृच्छकटिकम् जैसे एकाध अपवाद को छोड़कर न तो वस्तु वृत्त में आता था और न सामाजिकों के सुसंस्कृत परिवृत्त में। विदूषक के रूप में इन नाटकों में एक ऐसे मात्र की परिकल्पना अवश्य है, जो कवि के अवचेतन में निहित उस आलोचक सामाजिक का समान-धर्मा है, जो आभिजात्य वर्ग के कृत्रिम आडम्बरपूर्ण आचरण पर यदा कदा व्यंग्य करता रहता है।

क्रमशः काव्यशास्त्र में दर्शन के अनुप्रवेश के कारण कवि-सहृदय की ऐसी आदर्शीकृत उदात्त परिकल्पना संस्कृत- आचार्यों के सामने मूर्त्त होने लगी, जिसके तन्मयीभवन की योग्यता की तुलना ब्रह्मसाक्षात्कार की पराकोटि में प्रतिष्ठित योगियों से ही की जा सकती है। आचार्य की कल्पना का यह योगि-प्रतिम प्रमाता लौकिक जीवन के हर्ष, विषाद, संकल्प कोलाहल से मुक्त दिव्य-भाव चेतना का प्रतिरूप था, जो एक स्तर पर शास्त्रनिष्ठ मेघा के अन्दर विकसित होकर भी परिनिष्ठित तर्क ज्ञान पर आधारित जीवन प्रणाली का निषेध करके चलता था तो दूसरे स्तर पर समाज के अपेक्षाकृत निम्न वर्ग की अभिव्यक्ति और अनुभूति के धरातल को भी हेय मानता था। प्रथम स्तर पर

---

१. मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः (नैषधीयचरितम् २२।१५० (नि० सा० १९५२) पृ० ९९५)

२. परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। (विक्रमोर्वशीयम् पृ० १४३)

३. निन्द्यन्ते यदि नाम मन्दमतिभिर्वक्राः कवीनां गिरः
तद्वैदग्ध्यवतां सतामपि मनः किं नेहते वक्रताम्।
(प्रसन्नराघवम् १।२० (सं० डा० रमाशंकर त्रिपाठी-१९७० पृ० २६)

४. त्वेतत्काव्यरसोर्भिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥
(नैषधीयचरितम् २२।१५२ पृ ९९७)

उसे मीमांसक एवं नैयायिकों के प्रौढ़ तार्किक चिन्तन की तुलना में काव्य चिन्तन की हीनताग्रन्थि से मुक्ति मिला[1] तो दूसरे स्तर पर सामान्य ग्राम्योक्ति और पामरानुभूति की अपेक्षा काव्यचिन्तन को अधिक परिष्कृत एंव सीमित रखने का विशेषाधिकार प्राप्त हुआ।

परिणामतः काव्यानुभूति आध्यात्मिक अन्तःदर्शन के रूप में परिभाषित की जाने लगी[2]। अभिनवगुप्त निरन्तर सहृदय में ऐसे संस्कार-विशेष की अपेक्षा रखते हैं, जो सांस्कृतिक एवं कलातात्त्विक आदर्शों का चरम प्रतिरूप हैं तथा विशेष कलात्मक अन्तर्दृष्टिसंपन्न नव-नव अर्थों का उन्मेष करने वाले सूक्ष्म-द्रष्टा दार्शनिक की मेधा का ही अन्तर्भावित रूप है। दर्शन का निषेध करके ही आचार्य ने दार्शनिक प्रतिमानों की अधमर्णता स्वीकार की है। दर्शन ने प्रमाता की सांस्कृतिक दृष्टि को भी विकसित किया। आधुनिक जनतांत्रिक कला-मूल्यों से एक सीमा तक विच्छिन्न रह कर भी आचार्य द्वारा निर्मित इन प्रमाताओं ने एक परिनिष्ठित कला-दर्शन का विकास किया है, जिसमें रुचि की उत्कृष्टता, हृदय-पक्ष की विशदता, लालित्यबोधक संस्कारों की प्रौढ़ता, उदात्त-प्रख्यात कथावृत्त के प्रति श्रद्धा तथा महिमान्वित चरित्रों के प्रभामंडल के प्रति भक्ति जैसे प्रतिमानों के अतिरिक्त कवि के कला-नैपुण्य तथा उसके तर्क-कौशल को परखने वाली निष्णात कला-दृष्टि भी अपेक्षित मानी गई। निश्चय ही प्रमाता की इस मनोभूमिका में कवि के समान ही जन्मजात संस्कार तथा काव्यानुशीलनाभ्यास दोनों का महत्त्व स्वीकार किया गया है।

भरत ने आदर्श नाट्यप्रेक्षक की परिकल्पना में इनमें से अनेक गुणों को अन्तर्भावित किया है। उल्लेखनीय यह है कि भरत की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक यथार्थपरक है, वे जीवन के सामान्य किन्तु व्यापक मूल्यों का निषेध करके नहीं चले हैं। आदर्श प्रमाता के अतिरिक्त सामान्य प्रमाता भी उनके पात्रों के दृष्टि केन्द्र में रहे हैं तथा तन्मयीभवन अथवा पात्रों से तादात्म्य

---

१. वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः, तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि स स्यात्।

(साहित्यदर्पणः, लक्ष्मी टीका सहित, चौखम्बा-१९६७, पृ० ७९)

२. सद्यःपरनिर्वृतये, विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। काव्यप्रकाशः, १/२ सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः। वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः। साहित्यदर्पणः -वही- पृ० ७१

के अतिरिक्त दर्शकीय प्रतिक्रिया के इतर कोणों की भी उन्होंने अवहेलना नहीं की है। उन्होंने स्वीकार किया है कि एक ही प्रेक्षक में समग्र गुण नहीं हो सकते। ज्ञान की सीमा नहीं है, मनुष्य की आयु सीमित है।[1] नाट्यसभा में उत्तम, मध्यम, अधम, तीनों कोटियों के प्रेक्षक मिश्रित होते हैं, उनकी रुचि तथा प्रवृत्तियां एक दूसरे से भिन्न होती हैं यथा अधम प्रेक्षक उत्तम पात्रों के अभिनय को हृदयस्थ नहीं कर सकते। वृद्ध बालकों और स्त्रियों की रुचि एक दूसरे से भिन्न होती है। तरुण काम में, विदग्ध समयोपयोगी तत्वों में विरागी मोक्ष की कथा में, अर्थलोभी अर्थप्रधान इतिवृत्त में, शूर वीर रौद्र और युद्ध से तथा वृद्ध जन धार्मिक आख्यानों में परितोष पाते हैं। बालक मूर्ख तथा स्त्रियाँ हास्य तथा नेपथ्य के दृश्यों का आस्वाद करते हैं।[2] वस्तुतः नाट्यानुभूति को ग्रहण करने वाले प्रेकक एक ही प्रकृति के नहीं होते, उनकी मूल प्रकृति, अर्जित संस्कार अभिरुचि तथा शील (अनुभूतिपरक आचरण) में पर्याप्त भिन्नता होती है।

क्रमशः प्रमाता की आदर्श परिकल्पना अधिकाधिक भास्वर होती गई। राजशेखर ने दुराराध्यता एवं मत्सरग्रस्तता की तीव्र आलोचना करते हुए[3] काव्यकृति के आस्वाद के लिये एक ऐसे विशिष्ट प्रमाता के अस्तित्व की संभावना व्यक्त की, जिसमें काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष अर्थात् अभिव्यक्ति एवं अनुभूति की सूक्ष्म अर्थच्छाया को आत्मसात् करने की नैसर्गिक एवं अर्जित प्रतिभा हो।[4]

संस्कृत काव्य का श्रोता-द्रष्टा प्रायः उन अभिजात गुणों से युक्त होता था जो काव्य को एक विशिष्ट कौशल तथा शास्त्रीय मेधा के द्वारा ही ग्रहण कर सकते थे स्वयं कवि का काव्य-परिवेश भी राजसभा तथा सामन्तीय शासन व्यवस्था के उपादानों से संगठित था। कवि एवं नाट्यकार अनुवंश परम्परा से उच्चकुलोद्भव अथवा ब्राह्मण वंश के थे। असवर्ण जाति के श्रमिकों तथा

---

[1] न चैते गुणाः सर्व एकस्मिन् प्रेक्षके: स्मृताः।
तस्माद्बहुत्वात् ज्ञानानामल्पत्वादायुषस्तथा॥
नाट्यशास्त्रम् (चौखम्बा-१९२९) पृ० ३१२

[2] -वही- २७/५९-६१ पृ० ३१२-१३

[3] मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात्।
(काव्यमीमांसा, चतुर्थोऽध्यायः पृ० ३४)

[4] विवेकानुसारेण ही बुद्धयो मध निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्।
(-वही- पृ० ३४)

शिल्पियों से उनमें कोई अनुभूतिक तादात्म्य नहीं था। नाटक भी प्रायः सामन्तीय परिवेश अथवा राजसभाओं में अभिनीत होते थे, जिनमें जन-सामान्य की उपस्थिति का कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलता। सभाओं और समाजों में कवियों की प्रतिद्वन्द्विता मूलतः शिल्प एवं संवेदना के विशिष्ट धरातल को ही परिभाषित करती है। प्रायः प्रतिष्ठित कवि भी तर्क-शास्त्र एवं काव्य शास्त्र की सूक्ष्म अभिज्ञता से सम्पन्न सहृदयों की अपेक्षा करते थे। वस्तुतः ध्वनितत्त्व के अनुसंधान के अनन्तर सामान्य सहृदयों की अपेक्षा ऐसे निष्णात प्रमाता काव्यास्वाद के वृत्त में अधिक महत्त्वपूर्ण होते गये, जो कवि के शब्दातीत अनुभव को आत्मसात् कर सकते थे। विद्वद् गोष्ठियों,^{3} सभाओं और समाज में ही इसी कोटि के सहृदय अपलब्ध हो सकते थे। सभाओं में प्रायः काव्य का क्षेत्र श्रृंगार की परिधि में सीमित रह गया। फलतः चमत्कार-पूर्ण उक्तियों अधिक उर्वर भूमि मिली। प्राचीन काव्यों में ऐसे समाजों एवं विद्वद् गोष्ठियों का उल्लेख मिलता है जिसमें निष्णात प्रमाताओं के सम्मुख काव्य प्रस्तुत किए गए। ये सहृदय दर्शन, व्याकरण, धर्म-शास्त्र तथा इतिहास के अध्येता सुशिक्षित नागरिक होते थे।

भरत ने नाट्यशास्त्र में सामान्य प्रेक्षक-वर्ग की संभावपा अवश्य व्यक्त की है, किन्तु परवर्ती चिन्तन यह साक्ष्य उपस्थित नहीं करता। भरत ने सहृदय की विशेषताओं का परिग्रहण करते हुए उनके अध्ययन मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य, भावनागत एकाग्रता तथा तन्मयीभवन-योग्यता के अतिरिक्त कवि-प्रयुक्त शब्दों के नैसर्गिक चारुत्व का उल्लेख किया है। भोज ने उसके लोकहृदय अर्थात् सार्वभौम मानव की मूलभूत एकता के परिज्ञान की ओर भी इंगित किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भरत से लेकर भोज तक सहृदय की मानसिक भूमिका में गुणात्मक अन्तर का संकेत मिलता है। सहृदय शब्द के विविध पर्याय काव्य के इस विशिष्ट अधिकारी के मूलभूत विकास को क्रमिक आयाम देते हैं। इन पर्यायों में सहृदय शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि ध्वनि-सिद्धान्त के अनन्तर यह शब्द रसज्ञता का उत्कृष्ट प्रतिमान बन गया है।

---

१. हृदयवतीष्विति हिअअलिआ इति प्राकृतकविगोष्ठ्यां प्रसिद्धासु त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु सप्रज्ञाका उच्यन्ते सहृदयाः।

(ध्वन्यालोक, तृतीय अध्याय (लोचन) पृ० ४६६ (बालप्रिया)

के अतिरिक्त दर्शकीय प्रतिक्रिया के इतर कोणों की भी उन्होंने अवहेलना नहीं की है। उन्होंने स्वीकार किया है कि एक ही प्रेक्षक में समग्र गुण नहीं हो सकते। ज्ञान की सीमा नहीं है, मनुष्य की आयु सीमित है।[1] नाट्यसभा में उत्तम, मध्यम, अधम, तीनों कोटियों के प्रेक्षक मिश्रित होते हैं, उनकी रुचि तथा प्रवृत्तियां एक दूसरे से भिन्न होती हैं यथा अधम प्रेक्षक उत्तम पात्रों के अभिनय को हृदयस्थ नहीं कर सकते। वृद्ध बालकों और स्त्रियों की रुचि एक दूसरे से भिन्न होती है। तरुण काम में, विदग्ध समयोपयोगी तत्त्वों में विरागी मोक्ष की कथा में, अर्थलोभी अर्थप्रधान इतिवृत्त में, शूर वीर रौद्र और युद्ध से तथा वृद्ध जन धार्मिक आख्यानों में परितोष पाते हैं। बालक मूर्ख तथा स्त्रियाँ हास्य तथा नेपथ्य के दृश्यों का आस्वाद करते हैं।[2] वस्तुतः नाट्यानुभूति को ग्रहण करने वाले प्रेकक एक ही प्रकृति के नहीं होते, उनकी मूल प्रकृति, अर्जित संस्कार अभिरुचि तथा शील (अनुभूतिपरक आचरण) में पर्याप्त भिन्नता होती है।

क्रमशः प्रमाता की आदर्श परिकल्पना अधिकाधिक भास्वर होती गई। राजशेखर ने दुराराध्यता एवं मत्सरग्रस्तता की तीव्र आलोचना करते हुए[3] काव्यकृति के आस्वाद के लिये एक ऐसे विशिष्ट प्रमाता के अस्तित्व की संभावना व्यक्त की, जिसमें काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष अर्थात् अभिव्यक्ति एवं अनुभूति की सूक्ष्म अर्थच्छाया को आत्मसात् करने की नैसर्गिक एवं अर्जित प्रतिभा हो।[4]

संस्कृत काव्य का श्रोता-द्रष्टा प्रायः उन अभिजात गुणों से युक्त होता था जो काव्य को एक विशिष्ट कौशल तथा शास्त्रीय मेधा के द्वारा ही ग्रहण कर सकते थे स्वयं कवि का काव्य-परिवेश भी राजसभा तथा सामन्तीय शासन व्यवस्था के उपादानों से संगठित था। कवि एवं नाट्यकार अनुवंश परम्परा से उच्चकुलोद्भव अथवा ब्राह्मण वंश के थे। असवर्ण जाति के श्रमिकों तथा

---

१. न चैते गुणाः सर्वे एकस्मिन् प्रेक्षकेः स्मृताः।
तस्माद्बहुत्वात् ज्ञानानामल्पत्वादायुषतथा।।
नाट्यशास्त्रम् (चौखम्बा-१९२९) पृ० ३१२

२. -वही- २७/५९-६१ पृ० ३१२-१३

३. मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात्।
(काव्यमीमांसा, चतुर्थोऽध्यायः पृ० ३४)

४. विवेकानुसारेण ही बुद्धयो मध निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्।
(-वही- पृ० ३४)

शिल्पियों से उनमें कोई अनुभूतिक तादात्म्य नहीं था। नाटक भी प्रायः सामन्तीय परिवेश अथवा राजसभाओं में अभिनीत होते थे, जिनमें जन-सामान्य की उपस्थिति का कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलता। सभाओं और समाजों में कवियों की प्रतिद्वन्द्विता मूलतः शिल्प एवं संवेदना के विशिष्ट धरातल को ही परिभाषित करती है। प्रायः प्रतिष्ठित कवि भी तर्क-शास्त्र एवं काव्य शास्त्र की सूक्ष्म अभिज्ञता से सम्पन्न सहृदयों की अपेक्षा करते थे। वस्तुतः ध्वनितत्त्व के अनुसंधान के अनन्तर सामान्य सहृदयों की अपेक्षा ऐसे निष्णात प्रमाता काव्यास्वाद के वृत्त में अधिक महत्त्वपूर्ण होते गये, जो कवि के शब्दातीत अनुभव को आत्मसात् कर सकते थे। विद्वद् गोष्ठियों,^{3} सभाओं और समाज में ही इसी कोटि के सहृदय अपलब्ध हो सकते थे। सभाओं में प्रायः काव्य का क्षेत्र शृंगार की परिधि में सीमित रह गया। फलतः चमत्कार-पूर्ण उक्तियों अधिक उर्वर भूमि मिली। प्राचीन काव्यों में ऐसे समाजों एवं विद्वद् गोष्ठियों का उल्लेख मिलता है जिसमें निष्णात प्रमाताओं के सम्मुख काव्य प्रस्तुत किए गए। ये सहृदय दर्शन, व्याकरण, धर्म-शास्त्र तथा इतिहास के अध्येता सुशिक्षित नागरिक होते थे।

भरत ने नाट्यशास्त्र में सामान्य प्रेक्षक-वर्ग की संभावपा अवश्य व्यक्त की है, किन्तु परवर्ती चिन्तन यह साक्ष्य उपस्थित नहीं करता। भरत ने सहृदय की विशेषताओं का परिग्रहण करते हुए उनके अध्ययन मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य, भावनागत एकाग्रता तथा तन्मयीभवन-योग्यता के अतिरिक्त कवि-प्रयुक्त शब्दों के नैसर्गिक चारुत्व का उल्लेख किया है। भोज ने उसके लोकहृदय अर्थात् सार्वभौम मानव की मूलभूत एकता के परिज्ञान की ओर भी इंगित किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भरत से लेकर भोज तक सहृदय की मानसिक भूमिका में गुणात्मक अन्तर का संकेत मिलता है। सहृदय शब्द के विविध पर्याय काव्य के इस विशिष्ट अधिकारी के मूलभूत विकास को क्रमिक आयाम देते हैं। इन पर्यायों में सहृदय शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि ध्वनि-सिद्धान्त के अनन्तर यह शब्द रसज्ञता का उत्कृष्ट प्रतिमान बन गया है।

---

१. हृदयवतीष्विति हिअअललिआ इति प्राकृतकविगोष्ठ्यां प्रसिद्धासु त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु सप्रज्ञाका उच्यन्ते सहृदयाः।
(ध्वन्यालोक, तृतीय अध्याय (लोचन) पृ० ४६६ (बालप्रिया)

के अतिरिक्त दर्शकीय प्रतिक्रिया के इतर कोणों की भी उन्होंने अवहेलना नहीं की है। उन्होंने स्वीकार किया है कि एक ही प्रेक्षक में समग्र गुण नहीं हो सकते। ज्ञान की सीमा नहीं है, मनुष्य की आयु सीमित है।[1] नाट्यसभा में उत्तम, मध्यम, अधम, तीनों कोटियों के प्रेक्षक मिश्रित होते हैं, उनकी रुचि तथा प्रवृत्तियां एक दूसरे से भिन्न होती हैं यथा अधम प्रेक्षक उत्तम पात्रों के अभिनय को हृदयस्थ नहीं कर सकते। वृद्ध बालकों और स्त्रियों की रुचि एक दूसरे से भिन्न होती है। तरुण काम में, विदग्ध समयोपयोगी तत्त्वों में विरागी मोक्ष की कथा में, अर्थलोभी अर्थप्रधान इतिवृत्त में, शूर वीर रौद्र और युद्ध से तथा वृद्ध जन धार्मिक आख्यानों में परितोष पाते हैं। बालक मूर्ख तथा स्त्रियाँ हास्य तथा नेपथ्य के दृश्यों का आस्वाद करते हैं।[2] वस्तुतः नाट्यानुभूति को ग्रहण करने वाले प्रेकक एक ही प्रकृति के नहीं होते, उनकी मूल प्रकृति, अर्जित संस्कार अभिरुचि तथा शील (अनुभूतिपरक आचरण) में पर्याप्त भिन्नता होती है।

क्रमशः प्रमाता की आदर्श परिकल्पना अधिकाधिक भास्वर होती गई। राजशेखर ने दुराराध्यता एवं मत्सरग्रस्तता की तीव्र आलोचना करते हुए[3] काव्यकृति के आस्वाद के लिये एक ऐसे विशिष्ट प्रमाता के अस्तित्व की संभावना व्यक्त की, जिसमें काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष अर्थात् अभिव्यक्ति एवं अनुभूति की सूक्ष्म अर्थच्छाया को आत्मसात् करने की नैसर्गिक एवं अर्जित प्रतिभा हो।[4]

संस्कृत काव्य का श्रोता-द्रष्टा प्रायः उन अभिजात गुणों से युक्त होता था जो काव्य को एक विशिष्ट कौशल तथा शास्त्रीय मेधा के द्वारा ही ग्रहण कर सकते थे स्वयं कवि का काव्य-परिवेश भी राजसभा तथा सामन्तीय शासन व्यवस्था के उपादानों से संगठित था। कवि एवं नाट्यकार अनुवंश परम्परा से उच्चकुलोद्भव अथवा ब्राह्मण वंश के थे। असवर्ण जाति के श्रमिकों तथा

---

१. न चैते गुणाः सर्व एकस्मिन् प्रेक्षकेः स्मृताः।
तस्माद्बहुत्वात् ज्ञानानामल्पत्वादायुषतथा॥
नाट्यशास्त्रम् (चौखम्बा-१९२९) पृ० ३१२

२. -वही- २७/५९-६१ पृ० ३१२-१३

३. मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचंयमत्वात्।
(काव्यमीमांसा, चतुर्थोऽध्यायः पृ० ३४)

४. विवेकानुसारेण ही बुद्धयो मध निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। (-वही- पृ० ३४)

शिल्पियों से उनमें कोई अनुभूतिक तादात्म्य नहीं था। नाटक भी प्रायः सामन्तीय परिवेश अथवा राजसभाओं में अभिनीत होते थे, जिनमें जन-सामान्य की उपस्थिति का कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलता। सभाओं और समाजों में कवियों की प्रतिद्वन्द्विता मूलतः शिल्प एवं संवेदना के विशिष्ट धरातल को ही परिभाषित करती है। प्रायः प्रतिष्ठित कवि भी तर्क-शास्त्र एवं काव्य शास्त्र की सूक्ष्म अभिज्ञता से सम्पन्न सहृदयों की अपेक्षा करते थे। वस्तुतः ध्वनितत्त्व के अनुसंधान के अनन्तर सामान्य सहृदयों की अपेक्षा ऐसे निष्णात प्रमाता काव्यास्वाद के वृत्त में अधिक महत्त्वपूर्ण होते गये, जो कवि के शब्दातीत अनुभव को आत्मसात् कर सकते थे। विद्वद् गोष्ठियों,[3] सभाओं और समाज में ही इसी कोटि के सहृदय अपलब्ध हो सकते थे। सभाओं में प्रायः काव्य का क्षेत्र शृंगार की परिधि में सीमित रह गया। फलतः चमत्कार-पूर्ण उक्तियों अधिक उर्वर भूमि मिली। प्राचीन काव्यों में ऐसे समाजों एवं विद्वद् गोष्ठियों का उल्लेख मिलता है जिसमें निष्णात प्रमाताओं के सम्मुख काव्य प्रस्तुत किए गए। ये सहृदय दर्शन, व्याकरण, धर्म-शास्त्र तथा इतिहास के अध्येता सुशिक्षित नागरिक होते थे।

भरत ने नाट्यशास्त्र में सामान्य प्रेक्षक-वर्ग की संभावपा अवश्य व्यक्त की है, किन्तु परवर्ती चिन्तन यह साक्ष्य उपस्थित नहीं करता। भरत ने सहृदय की विशेषताओं का परिग्रहण करते हुए उनके अध्ययन मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य, भावनागत एकाग्रता तथा तन्मयीभवन-योग्यता के अतिरिक्त कवि-प्रयुक्त शब्दों के नैसर्गिक चारुत्व का उल्लेख किया है। भोज ने उसके लोकहृदय अर्थात् सार्वभौम मानव की मूलभूत एकता के परिज्ञान की ओर भी इंगित किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भरत से लेकर भोज तक सहृदय की मानसिक भूमिका में गुणात्मक अन्तर का संकेत मिलता है। सहृदय शब्द के विविध पर्याय काव्य के इस विशिष्ट अधिकारी के मूलभूत विकास को क्रमिक आयाम देते हैं। इन पर्यायों में सहृदय शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि ध्वनि-सिद्धान्त के अनन्तर यह शब्द रसज्ञता का उत्कृष्ट प्रतिमान बन गया है।

---

१. हृदयवतीष्विति हिअअललिआ इति प्राकृतकविगोष्ठ्यां प्रसिद्धासु त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु सप्रज्ञाका उच्यन्ते सहृदयाः।

(ध्वन्यालोक, तृतीय अध्याय (लोचन) पृ० ४६६ (बालप्रिया)

आनन्दवर्द्धन के अनुसार रसादि के प्रति समर्पित होने की नैसर्गिक शक्ति ही सहृदयता है जो शब्दों के विशिष्ट व्यंजकत्व को आत्मसात् कर सकती है। क्रमशः मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ इत्यादि ने सहृदय के हृदय-पक्ष को अधिकाधिक परिभाषित किया तथा वैयाकरण श्रोत्रिय इत्यादि में सहृदयता की क्षीणता को रेखांकित किया।[1] अभिनव ने सहृदय के लिए विमलप्रतिभानशाली अधिकारी शब्द का प्रयोग किया है[2] जिनके मूल में भावना अथवा कल्पनाजन्य वह विशेष शक्ति प्रत्याशित है, जिसे मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति कहा गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हृदय-संवाद की भूमिका भी कवि तथा सहृदय के इसी सहज नैर्मल्य की ओर इंगित करती है। सहृदय के लिए दूसरा पर्याय सामाजिक है। सामाजिक में एक विशिष्ट समष्टि चेतना, भाव-वैदग्ध्य की अभिज्ञता तथा वक्रोक्ति-निपुणता अपेक्षित है, जिसमें हृदय-पक्ष के साथ विचारपक्ष एवं रागतत्त्व के साथ मननशीलता भी अपेक्षित मानी गयी है। क्रमशः प्रेक्षक की भूमिका में सामाजिक में सहृदयता के साथ सुमनस्कता तथा प्रमातृपक्ष का अध्याहार हो जाने से प्रेक्षकों के युग और परिवेशजन्य व्यक्ति-वैशिष्ट्य को भी दिशा मिली।

कवि की सर्जन प्रक्रिया में साधारणीकरण के सूत्र

काव्यानुभूति सर्वप्रथम कवि में अन्तर्भावित होती है एवं उसका अन्तिम अनुभोक्ता सहृदय होता है, किन्तु रचना-प्रक्रिया से मुक्त हो कर कवि भी अपने काव्य का आस्वादयिता होता है। सर्जन-प्रक्रिया में भी उसके तथा अन्तःस्थ सहृदय के मध्य एक संयोजक सूत्र गतिशील रहता है। संभवतः इसी कारण सरस्वती (कविता) को 'ब्रह्मा' (कवि)[3] की जननी, भोग्या एवं पुत्रा तीनों कहा गया है।

---

१. वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः। तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि सा स्यात्।

साहित्यदर्पणः (लोचन), पृ० ७७

२. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः।

नाट्यशास्त्र, भाग-१ (अभिनवभारती) पृ० २८०

३. कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति ब्रह्मणो वचनमिति।

(अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३, पृ० १७५)

विचारणीय पक्ष यह है कि कवि की चेतना से मुक्त होकर बाह्य अभिव्यक्ति के लिए प्रयास करती हुई काव्यानुभूति कवि के अवचेतन में किस प्रकार विकसित एंव गतिशील होती है तथा कवि के एक विशिष्ट मानसिक संस्थान अथवा रचनात्मक परिवेश की इस वैयक्तिक उद्भूति में वे वैश्वसूत्र किस प्रकार अन्वित होते हैं, जिनसे व्यष्टिबद्ध अनुभूति का सार्वभौमीकरण हो जाता है।

काव्यसृष्टि कवितेतर और बाह्य सृष्टि से इस अर्थ में भिन्न है कि वह कवि के आत्म तत्त्व और वस्तु तत्त्व से अतिरिक्त व्यंजना का दोहन करती है। यह अतिरिक्त व्यंजना काव्य सृष्टि को वैश्व सूत्रों से अन्वित करती है।[1] काव्य जगत् कवि की उन स्मृति, आकांक्षाओं, स्वप्नों एवं संवेदनों में स्वयं आकार ग्रहण करता है, जो कवि की आभ्यंतर तृष्णा को सम्मूर्तित करते हैं। यह तृष्णा निर्विकल्पक, परिवेशमुक्त, वायवी अथवा अतीन्द्रिय साधना नहीं है, यह अनिवार्यतः उन सार्वभौम मानव मूल्यों तथा सम्भाव्य परिवेश के प्रति कवि की आन्तरिक तृषा है, जिसके सम्मुख भट्टनायक योगियों की निर्विकल्प समाधि को भी बौद्धिक कर्मकाण्ड से अधिक मूल्य नहीं देते।

'वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥'[2]

योग की समाहित-मनस्कता प्रयोजनातीत नहीं होती, वह एकोन्मुखी एवं आत्मकेन्द्रित होती है। जबकि काव्यसृष्टि के मूल में एक पूर्ण जगत् के लिए अदम्य दुर्वार तृषा निहित है।[3] परिवेश के प्रति एक सांवेगिक विक्षुब्धि

---

१. Let us agree then that the poet is different from the non-poet in that he makes greater demand on his own, unknown then any one else and that he brings to light certain riches which are accordad a universal value. (Karl Shapiro, Poets at work (Ed. Charles D Abbot)

२. ध्वन्यालोक ११६ पर लोचन पृ० ९३ (चौखम्बा-१९६५)

३. Sir Henry Newbolt in an admirable essay treats poetry as a transfiguration of life heightaned by the home-sickness of the spirit for a perfect world, . . . The home-sickness of the poet may be homesickness for beauty, or for permanence, (On Postry And The Modern Man (Robert Lynd) AUS P. 83)

जिसमें विक्षिप्ति एवं समाहिति की एक अद्भुत क्रीडावृत्ति लीलायित होती रहती है। भरत ने इसी भूमिका को क्रीडनीयक संज्ञा से अभिहित किया है तथा इसकी अभिनवकृत व्युत्पत्ति में काव्य सर्जन का अन्तःसूत्र निहित है। 'क्रीड्यते चित्तं विक्षिप्यते विह्रियते येन'।

संभावित सूत्र यह है कि एक समग्रता की आकांक्षा, जिसमें चरम मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, कवि के अन्तश्चेतन में तब तक निरन्तर सक्रिय रहती है, जब तक वह किसी आदर्श बिम्ब में रूपायित हो कर विश्व मानव को समग्रता की परिकल्पना को मूर्त रूप नहीं दे देती। आदि से काव्य के उद्भव का सूत्र लेकर कहें तो नारद से आदर्श महामानव के विषय में उनकी पृच्छा उसी तृषा की परिचायिका है, जो प्रजातीय मूल्यों के सनातन बिम्ब के रूप में उनके अधिमानस में निरन्तर उद्वेलित होती रही है।

'को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥'
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान् कः कः तमर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥'[२]

सर्जनप्रक्रिया का यह प्रथम सोपान है, जिसका उद्गम मानव की अनादि वासना के उन मिथकीय आयामों में निहित है, जिनकी चेतना स्रष्टा को निरन्तर कौतूहलयुक्त एवं पर्युत्सुक बनाती है। 'परं कौतूहलं हि मे (बा०का० १/५)/मानव चेतना में निहित आद्य प्ररूप (आर्किटाइपल पैटर्न) अथवा प्रजातीय मूल्य नायक अथवा देव-पुरुष की जिज्ञासा में सम्मूर्तित हो कर एक ऐसे मनोमय सम्भाव्य अथवा चरम-आदर्श को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं, जिसमें मानव-चेतना का समग्र बोध निहित रहता है।[१] कहने की आवश्यकता नहीं कि आदि कवि का कौतूहल स्वतः

---

१. अभिनव भारती (पूर्ववत्) पृ० १७५ ।

२. बाल्मीकि-रामायण पृ० २५ (गोरखपुर)

३. Hence if we look at the quest-myth as a pattern of imagery, we see the hero's quest first of all in terms of its fulfilment. This gives us our central pattern of archetypal imagges, the vision of innocence which sees the world

उद्रिक्त क्षणों की अभिव्यक्ति है—एक सहज पर्युत्सुकीभाव जिसमें समग्रता की प्राप्ति की आकांक्षा निहित है तथा जिसे हेनरी न्यूवोल्ट ने अतीत की आसक्ति कहा है।[1] इसमें स्थूल परिवेश से मुक्ति की, एक इतर संभाव्य की छटपटाहट निहित है। कालिदास में भी यह पर्युत्सुकी भाव निहित है। एक क्षीण रम्यता का स्पंदन युगयुगान्त के संस्कार-पुंज अथवा सामूहिक अवचेतन में निहित शाश्वत बिम्बों को उद्वेलित कर भौतिक सुख में आकण्ठ निमग्न व्यक्ति को भी एक पूर्णतर जीवन, अतीत के एक संभाव्य आदर्श की प्राप्ति के प्रति पर्युत्सुक बना देता है।[2] **'तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि'** में स्मृति वह साक्षात्कारात्मक स्मृति है, जिसके मूल में अलौकिक उत्कण्ठा का आस्वाद निहित है।

अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा, पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात्। अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति।' अभिनव के अनुसार कवि का यह अन्तश्चेतन उस प्रतिभा का ही अपर पर्याय है, जो अतीत एवं अनागत के स्पन्दनों को प्रत्यक्षायमाण कराती है।[3] जुंग ने इस स्मृति को सामूहिक अवचेतन का प्रोद्भास कहा है।

उक्त विवेचन के आधार पर अब यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि कवि आद्य प्रजातीय मूल्य-मानकों के माध्यम से नायक अथवा जिस किसी आदर्श बिम्ब को रूपायित करता है वह उसकी मानवीय आकांक्षा का ही प्रतिरूप होता है। उसमें एक समग्रतर मानवीय बोध का पर्युत्सुकीभाव निहित होता है। प्रमाता उस बिम्ब के मूल में निहित जीवन के समग्रतर बोध का अनुसंधान करता है। यह बोध मानव चेतना तथा मानव नियति की सामान्य आकांक्षा का ही प्रतीक है, जिसे कवि अन्तर्मन में आत्मसात् कर एक सामान्य अनुभूति को काव्यानुभूति में परिणत कर देता है। प्रमाता उस बोध को संवेदनशील अन्तर्दृष्टि से ग्रहण करता है, जिसकी वह अन्यथा

---

in terms of total human intelligibility. -Northrop Frye (The Archetypes of Literature) Twentieth Century Criticism p. 242.

१. - - - the home-sickness for beauty or for permanence or even for the past. op. cit. p. 83.

२. अभिज्ञानशाकुन्तल (काले) बम्बई, १९२० ५/२ पृ० ४१५।

३. अभिनवभारती पृ० ४७३।

उपेक्षा कर चुका होता है ।[1] कवि जहां मानव के अननुभूत क्षेत्र को काव्य का विषय बनाता है, उसके मूल में भी मानव की आदिम वासना से संस्कृत यही अन्तदर्शन सक्रिय होता है, जो मानव मूल्यों के ध्वंस एवं विक्षोभ को एक विराट् चेतना में रूपान्तरित एवं उदात्तीकृत कर गहरी अर्थवत्ता सम्प्रेषित करता है । वस्तुतः कवि अपने व्यक्ति-निष्ठ अन्तश्चैतन्य को समष्टि की चिन्मयी सत्ता में व्यक्तित्वान्तरित कर कर जिस भाव-सत्य का अनुसंधान करता है, उसमें अनिवार्यतः कवि की व्यक्तिगत सत्ता के अतिक्रमण[2] का प्रयास तथा युग की अखण्ड चेतना को निर्विशेष स्तर पर ग्रहण करने का भाव निहित रहता है । सामष्टिक अन्तश्चैतन्य कवि में अनुभावित हो कर युग की उन अनभिव्यक्त इच्छाओं को सम्मूर्तित एवं उद्बुद्ध करता है, जिस की पूर्ति की एक अनवरत आकांक्षा प्रत्येक व्यक्ति में उद्वेलित है । कहने की आवश्यकता नहीं कि युग चैतन्य की अनुभूति कवि हृदय में सम्प्रेषित एवं रूपान्तरित हो कर पुनः समष्टि की ओर सम्प्रेषित होती है । सूर्य के समान कवि भी युग-चैतन्य से ही प्रेरणा एवं अनुभूति ग्रहण कर पुनः उसी ओर अपनी अनुभूति को प्रत्यावर्तित करता है । 'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः (रघुवंश १/१८) । समष्टि और व्यष्टि के अन्तः संबंध की यह चिन्मय धारा सहृदयों के मध्य आनुभूतिक समानता का प्रेरणा उत्स है ।

निश्चय ही कवि का एक निजी आनुभूतिक जगत् भी है, जिसमें वैयक्तिक आग्रह कृति के अनुभूति परिवेश के समानान्तर गतिशील रहती है, किन्तु कवि उनका अतिक्रमण कर मानव वेदना के केन्द्र की ओर निरन्तर अग्रसर होता जाता है । वस्तुतः कवि वैविध्यपूर्ण अनुभूतियों के एक विशिष्ट

---

[1] This material is psychically assimilated by the poet, raised from the common place to the lavel of poetic experiencs and given and expression which forces the reader to greater clarity and depth of human insight by bringing fully into his consciousness what he ordinarily evades and overlooks (C. G. Jung (Psychology and Literature) A modern Book of Esthetics (p. 142)

[2] Great poetry draws its strength from the life of mankind. and we completely miss its we try to derive it from personal factors. Ibid p. 142)

अभिनव अनुभूति-केन्द्र में परिणत होने का माध्यम मात्र होता है। इलियट के अनुसार कवि के भोक्ता मन एवं स्रष्टा अन्तर्मन का पार्थक्य ही अनुभूतियों को अधिक प्रभावी स्तर पर आत्मसात् एवं रूपान्तरित कर सकता है। इलियट ने कवि के अन्तर्मन की तुलना उस प्लेटिनम खण्ड से की है जो गैस के अम्ल में परिणत होने में एक उत्प्रेरक मात्र का कार्य करता है।[1] उल्लेखनीय यह है कि इस संदर्भ में इलियट ने जिसे व्यक्तित्व से पलायन कहा है, कालिदास ने उसे समाधि शब्द से अभिहित किया है। काव्य उपादानों के आन्तरिक व्यक्तित्व और उनके सन्निवेश में कवि के अन्तर्व्यक्तित्व का प्रत्याक्षेप उनके स्वाभाविक आचरण में व्यवधान उपस्थित करता है। कवि की मेधा वस्तु की आन्तरिक व्यंजना को उन्मीलित करती है। नर्तकी के अंग गीत पर अपने आचरण का आरोप नहीं करते अपितु उसी के आभ्यंतर अर्थ को अनूदित करते हुए उसमें अन्तर्निहित हो जाते हैं। यही तन्मयत्व है, जिसमें विषय अथवा प्रदर्शित भावों में व्यक्तित्व अन्तर्लीन हो कर रागबन्धता को प्राप्त होता है।

'अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव'[2]

---

[1] The analogy was that of the catalyst. When the two gases previously mentioned are mixed in the presence of a filament of platinum, they form sulphurous acid. This combination takes place only if the platiunm is present, nevertheless the newly formed acid contains no trace of platinum, and the platinum itself is apparently unaffected; has remained inert, neutral and unchanged. The mind of the poet is the shred of platinum. (T. S. Eliot, The Sacred Wood, London-1953 p. 54)

[2] मालविकाग्निमित्रम् २/८ (कालिदासग्रन्थावली-सं० रा० प्र० त्रिपाठी इलाहाबाद, पृ० २७४)

यह कलाकार के अन्तर्व्यक्तित्व का विषय में अनुप्रवेश है।[1] नृत्य में महत्ता नर्तकी के अंगों के सौष्ठव अथवा विन्यास और गति की नहीं है, उन भावोपादानों की है, जो उनके माध्यम से संयोजित एवं अभिव्यक्त होकर विचित्र अप्रत्याशित अनुभूति में संघनित होते हैं। भरत ने प्रयोक्ता अथवा कलाकार के इस भावानुप्रवेश को भावानुकीर्तन कहा है, जिसे अभिनव की शब्दावली की सहायता से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। यह प्रयोक्ता के व्यक्तित्व का काव्योपादानों के मध्य प्रच्छादनपरक उन्मीलन है। काव्य सामग्री के प्रति कवि व्यक्तित्व का अन्तःसमर्पण और उसके अन्तश्चैतन्य का उन्मीलन ये दोनों ही तत्त्व सर्जन-प्रक्रिया तथा आस्वाद के मर्म को उद्घाटित करते हैं। एक स्तर पर कवि अथवा सहृदय विभाव अथवा कारण सामग्री की आन्तरिक अपेक्षाओं की व्यंजना से तदाकार होता है तो दूसरे स्तर पर उन आन्तरिक अपेक्षाओं का पुनरनुसंधान करता हुआ माध्यम रूप में प्रयुक्त अपनी अस्मिता की पुनः प्रतिष्ठा करता है।

'तेन रंजकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वस्वभावेन प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनित-संस्कारसहाये, सहृदयसंस्कार-सचिवे हृदयसंवाद-तन्मयीभवनसहकारिणि सामाजिके योऽनुव्यवसायो जन्यते ... तन्नाट्यम्'[2]

यहाँ आकर इस प्रश्न का भी समाधान मिल जाता है कि परिवेश का एक क्षीण स्पन्दन कवि के संकल्प एवं सचेतन अहम् को तिरस्कृत करता हुआ उपचेतन के गहन अन्तराल में छिपी अदम्य पीड़ा, तृषा और वासना को कैसे उद्वेलित करता है। क्रौंचद्वन्द्व की ललित पीड़ा में तन्मय वाल्मीकि का सचेतन मन उनके अवचेतन में निहित पीड़ा, त्रास एवं करुणा को निषाद के क्रूराचरण के संस्पर्श के द्वारा अभिशाप के मूर्त बिम्ब में रूपायित करता है। प्रजातीय आदर्शों के उस बिम्ब को मूर्त रूप देने की, जो मुनि की पृच्छा में

---

१. (तु) The poet can not reach the impersonality without surrendering himself wholly to the work to be done. (Eliot, op. cit p. 59)

यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्वादनुप्रविष्टः। (अभिनवभारती, पृ० ४८६)

२. अभिनवभारती पृ० १६५

आकार ग्रहण कर रहा था, यह विसंवादी पीठिका है।[1] एक ओर पृच्छा का यह बिम्ब उसके मनश्चक्षुओं में उभरता है **'आत्मवान् को जितक्रोधः'** तो दूसरी ओर है **कालाग्निसदृशः क्रोधे'** (बा० का० १/१८)। इन दोनों बिम्बों की समाहिति होती है—**'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः** (बा० का० २/१५) में। यह सर्जन-प्रक्रिया का अभिव्यंजना-पक्ष है, जिसमें विसंवादी धरातलों से उद्‌भूत बाह्य विरोधाभास एक आभ्यंतर अन्विति के लिए उद्‌बुद्ध होता है। यह भाषा के विसंवादी धरातल पर उस अनुभूति का अन्तर्भावन है, जिसमें परिवेश का स्पन्दन कवि के संस्कारावस्थित आदर्श-बिम्ब को आघात तथा उसे कवि व्यक्तित्व से मुक्ति दे कर जीवन के घात-प्रतिघातों में रूपायित होने के लिए मुक्त कर देता है। अब रचना कवि के अन्तर्निहित आदर्श बिम्ब के ही धरातल पर नहीं, अपनी आन्तरिक अपेक्षाओं के आधार पर भी विकसित होती है। रचना का व्यक्तित्व स्रष्टा के व्यक्तित्व से स्वतंत्र हो कर एक स्तर पर कवि की संवेद्य अनुभूति तथा परिभुक्त यथार्थ का विस्तार करता है तो दूसरे स्तर पर उन आन्तरिक अपेक्षाओं के अन्दर से कवि की अनुभूति भी चिन्तन एवं कल्पना से पुनःसंस्कृत हो कर जीवन तत्त्वों के पुनरनुसंधान के लिए उन्मुक्त होती है। कवि और प्रमाता की अन्तःक्रिया शब्दबद्ध कृति के सारभूत प्रभाव को वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता के अन्तःसन्तुलन के अन्दर से अब जिस दिशा की ओर उन्मुख करती है, उसमें कवि के चेतन उद्‌देश्य और परिवेश से गृहीत जीवनानुभवों का द्वन्द्व गतिशील होता है। यह द्वन्द्व कवि के भाव-परिवेश अर्थात् कृति के अर्थ-स्पन्दन को बाह्य परिवेश से जोड़ने वाले भाषिक बिम्बों के अनवरत संघर्ष के कारण विरोधात्मक आचरण[2] सा करता हुआ कृति को लौकिक आनुभूतिक परिवेश की सापेक्षता में नयी अर्थवत्ता प्रदान करता है।

---

१. The truth which the poet utters can be approached only in terms of paradox,
(Cleanth Brooks, The Well Wrought Urn, Great Britain 1949 p. 1)

२. The reader may ask: where, then does the poem get its power? It gets it, it seems to me, from the paradoixcal situation out of which the poem arises. (Cleanth Brooks op. cit. p. 3)

उक्त विवेचन में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि 'मा निषाद' के विसंवादी धरातल पर प्रजातीय मूल्यों के अनुसंधान से गृहीत राम के उदात्त चरित्र के अन्तःप्रतिबिम्बित होते ही उस शोकप्रेरित श्लोक की संवेदना - भूमि गुणात्मक स्तर पर परिवर्तित हो जाती है । क्रौंच-द्वन्द्व की ललित क्रीड़ा से उद्बुद्ध कवि की सौंदर्य-चेतना आघात पाकर जिन विविध संवेदनाओं को संश्लिष्ट करती है, वे पारदर्शी अस्तित्व में ढल जाती हैं और उनके मूल में विश्व के विराट् मानस में घटित होने वाली संख्यातीत शोषण, यंत्रणा एवं पीड़ा की गाथाएँ झिलमिलाने लगती हैं। क्रूरता के विरुद्ध आक्रोश का स्वर शोकानुभूति का अतिक्रमण करता हुआ चेतना के गहन स्तर पर संक्रमण कर जाता है । यही काव्य की ऊर्ध्व गति है, जिसे ध्वनिकार ने प्रतीयमान अर्थ कहा हैं ।

यह अनुभूति लौकिक शोक का अतिक्रमण करती हुई शब्दसंकेतों की सीमा का उल्लंघन कर प्रमाता की चेतना में एक विशिष्ट अनुभूति के रूप में संक्रमित होती है । यही कवि तथा सहृदय की आस्वाद-चेतना की समान भूमि है । **'तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यंजकत्वादिति ... श्लोकरूपतां प्राप्तः'**[1] आशय यह है कि श्लोक की यह अतिभूमि शोक की निरावृत स्थिति से भिन्न अनेक संवादी विसंवादी अनुभूतियों की संश्लिष्टि है, जिसकी परिणति एक विशेष मूल्य अर्थात् रमणीयता के पुनरनुसंधान में होती है। **अहो गीतस्य माधुर्यम्** (४/१७) में परिणति का यही स्वर है ।

कवि की भूमि में इस अनुभूति का आयाम अधिक व्यापक है । उल्लेखनीय यह है कि कवि के अन्तश्चेतन में निहित आदर्श बिम्ब में प्रतिफलित होकर जब शोक की अन्तर्धारा ऊर्जस्वित बनती है, तो वह उस महत् बिम्ब (चरित्रगत आदर्श) को मानवीय आदर्श की क्रियाशीलता में (घटना और चरित्रगत अपेक्षाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया में) मूर्त्त होने के लिए मुक्त कर देती है । अब राम कवि की अनुभूति के प्रतिरूप नहीं, उसके अनुभव-खण्ड के सहभोक्ता हैं । वे पारिस्थितिक द्वन्द्व की अपेक्षाओं के अनुरूप आचरण

---

[1] ध्वन्यालोकलोचन पृ० ८७

करते हैं । कवि अपनी अनुभूति और विचारों के अनुरूप उन्हें जो संवेदनाएँ देता है, वे परिस्थितिगत अनुभूति के प्रवाह में गुणात्मक स्तर पर तीव्र, मध्यम या परिवर्तित हो जाती हैं । अब वे **आत्मवान् को जितक्रोधः** आदर्श के निष्प्राण विम्ब मात्र नहीं रहते । समय पर वे भाषिक छद्म का आश्रय भी ले सकते हैं, परोक्ष में कैकेयी से भयभीत तथा पत्नी सीता के आचरण पर शंकालु हो सकते हैं । बाली निश्चय ही पशु नहीं था, सुग्रीव का भ्राता था, जिसे वे अपने संदर्भ में लक्ष्मण के समकक्ष रखते थे । **'सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा'** (कि०का० १९/२६) । अतः बाली से यह कहना भाषिक छद्म ही है, जो पारिस्थितिक विडम्बना की अनिवार्य परिणति है ।

> 'यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः ।
> तस्मात् त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर ।
> अयुध्यन् प्रतियुध्यन् वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि ।' (कि०का० १८/४०)

सीताहरण को **दैवसम्पादितो दोषः** कहकर भी रावणांकपरिक्लिष्टा होने मात्र से राम द्वारा सीता की पवित्रता का निषेध उनके सहज मानवीय आचरण की सीमा, उनके प्राकृत व्यक्तित्व का उन्मेष है । सीता के शब्दों में **' किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं शोकदारुणम् । रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव'** ।। (यु०का० ११६/५) । कहने का आशय यह है कि सर्जन-प्रक्रिया में गतिशील होते ही काव्य-विम्ब अनिवार्यतः वे नहीं रहते, जिन्हें कवि अपने अभिप्राय के स्तर पर उद्घोषित कर चुका है ।

काव्य का सारभूत प्रभाव अपने परिणत रूप में इतना निर्वैयक्तिक होता है कि कवि को उसकी प्राक्चेतना भी नहीं होती । शैली का कथन है कि उत्कृष्ट कविता कवि की मूल संकल्पना का अत्यन्त क्षीण आभास देती है ।[1]

---

[1] When composition begins inspiration is already on the decline and the most glorious poetry that has ever been communicated to the world is probably a feeble shadow of the original conception of the poet·
Shelley, A Defence of Poetry, The Great Critics, New York-1951, p· 573

मिल्टन ने मानव के सम्मुख ईश्वरीय नियमों का औचित्य प्रतिपादित करना[1] अपने काव्य का उद्देश्य घोषित किया है, किन्तु कथाप्रवाह के दुर्द्धर्ष आवेग में शैतान का चरित्र ही ईश्वर की अपेक्षा अपने औचित्य को अधिक नैतिक स्तर पर प्रतिपादित करता है । शैली के अनुसार मिल्टन की प्रतिभा का यह जीवन्त प्रमाण है कि उसने उस चरित्र को मानव प्रकृति की भूमिका में महाकाव्य की अपेक्षाओं के अनुरूप स्वतः विकसित होने दिया ।[2] वैश्व नियमों के अनुरूप उसके गतिशील आचरण में परवर्ती प्रमाताओं को सहानुभूतिपरक तादात्म्य का अनुभव होता है ।

साधारणीकरण—प्रयोजन और प्रतिपाद्य

काव्यानुभूति यदि एक स्तर पर कवि की कल्पना एवं अनुभूति का मूर्त स्वरूप है, तो दूसरे स्तर पर सहृदय के आत्मास्वाद की मनोमयी भूमिका भी है । अतः शब्दार्थमयी सृष्टि में मूर्त होने वाले कवि के अनुभव-संसार से सहृदय सह-भोक्ता-अनुभोक्ता के स्तर पर किस प्रकार संपृक्त होता एवं अनुक्रिया करता है, काव्यास्वाद का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है । कवि की मनोमयी सृष्टि एवं व्यक्तिगत संस्कारों का विशिष्ट परिवेश उसका निजी अनुभव-जगत् है । इसी के समानान्तर सहृदय के निजी अनुभव-जगत् की भी अपनी विशिष्ट शक्ति एवं सीमाएँ हैं । अतः सहज ही यह

---

१. Milton's Devil as a moral being is as far superior to his God, as one who perseveres in some purpose which he has conceived to be excellent in spite of adversity and torture (Ibid, P. 573)

२. This bold neglect of a direct moral purpose is the most decisive proof of the supremacy of Milton's genius. He mingled as it were the elements of human nature as colours upon a single pallet, and arranged them in the composition of his great picture according to the laws of epic truth, that is according to the laws of that principle by which a series of actions of the external universe and of intelligent and ethical beings is calculated to excite the sympathy of succeeding generations of mankind.

Ibid. p. 573-74

प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी प्रेरणा एवं मौलिक एषणा है, जो कवि के निजी अनुभव-संसार में सामाजिक को अन्तःप्रवेश के लिए आमंत्रित करती है।

कवि की अनुभूति एवं कल्पना जिन प्रख्यात अथवा उत्पाद्य पुरुष एवं नारी पात्रों के माध्यम से आकार ग्रहण करता है, उन पात्रों से भी उसका कोई पूर्व-निश्चित रागात्मक अथवा बौद्धिक सम्बन्ध नहीं होता। ये पात्र अपने रागद्वेष एवं व्यक्तिगत दुर्बलताओं से पीड़ित सामान्य मानव पात्र भी हो सकते हैं और अतिप्राकृत, अलौकिक कृत्यों के आलोकवलय में गरिमामंडित, दिव्य अमानुषी अथवा राजसी पात्र भी। फिर सामाजिक अपने संकीर्ण भावजगत् का अतिक्रमण कर उनके अलौकिक-जगत् से तादात्म्य के लिए क्यों और कैसे अनुप्रेरित हो सकता है ? उसकी अनुभूति का क्षेत्र विरल है और उसकी अपनी बौद्धिक एवं भावात्मक दुर्बलताएँ है।[1] आराध्य पात्रों के माहात्म्यसंकीर्तन से उत्पन्न उनकी विराटता का अनुभूति और अपनी लघुता की प्रतीति[2] उनके राग-विराग की मधुर उदात्त अनुभूतियों में संभागी होने के लिए कैसे निमंत्रित कर सकती है ? इन आराध्य-युग्मों की प्रणयचर्या का मनोमय आस्वाद तो सहृदय प्रमाता के लिए और भी गहरी मानसिक यातना सिद्ध हो सकता है। फिर सामान्य प्रणयीयुग्म की भी प्रणयचर्या में द्वाभ्यां तृतीय बनने की विडम्बना[3] झेलने के लिए सहृदय आग्रहपूर्वक कैसे तत्पर हो सकता है ? उसकी यह तत्परता निष्क्रिय प्रक्रिया है या सक्रिय विगलितवेद्यान्तर आनन्दानुभूति ? इस आनन्दानुभूति का आस्वाद भ्रममूलक है अथवा वास्तविक ? - जैसे प्रश्न समाधान के लिए जिन अवधारणाओं की ओर इंगित करते हैं, साधारणीकरण की अवधारणा उन्हीं प्रश्नों एवं अवधारणाओं की विकासमान भूमिका से जन्म लेती है। काव्यानुभूति आत्मगत प्रतीति नहीं है, इस तथ्य के समानान्तर इन प्रश्नों पर विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

---

[1] न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात् (ध्वन्यालोकलोचन, सं० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा, १९६५, पृ० १९२)

[2] अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। (वही, पृ० १९२)

[3] प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। (वही, पृ० १९२)

काव्यसृष्टि के आदिकाल से कवि एवं सहृदय के विडम्बनापरक अन्तः संबंध की ओर कवि और विचारकों की दृष्टि गई है। नाट्यशास्त्र में ही वैयक्तिक आग्रहपरक अर्थात् रागात्मक एवं द्वेषमूलक आस्वादचेतना के संभावित विघ्नों के विरुद्ध एक निर्वैयक्तिक पूर्वाग्रहमुक्त आस्वादचेतना के विकास की संभावनाएँ दृढ़ हुईं। तटस्थ एवं आत्मगत प्रतीतियों की परिधि को अतिक्रमित करने वाली लोकातिक्रान्त सौंदर्यचेतना की नाट्यशास्त्र में आग्रह के साथ प्रतिष्ठा हुई। ध्वजमह के अवसर पर देवताओं द्वारा दैत्यों पर विजय प्राप्त करने की नाट्यात्मक प्रस्तुति के क्षण में वहाँ एकत्र दैत्य विक्षुब्ध हो उठते हैं। **अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्याः ते तत्र संगताः**[1]। विक्षोभ का मूल कारण उस नाट्य-प्रयोग को दैत्यों द्वारा आत्मगत परिधि में व्याख्यायित करना है। देवताओं की विजय-भावना का प्रदर्शन उनके मन में नाट्यगत वस्तु-स्थिति के प्रति संदेह की भावना जगाता है। फलतः आस्वाद-चेतना एक गतिशील स्थिति की अपेक्षा जड़-स्थिति के रूप में उनके सम्मुख परिभाषित होती है। कवि (ब्रह्मा) तथा भिन्न प्रवृत्ति के प्रमाता (दैत्य) एक दूसरे पर पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टि का आरोप लगाते हुए[2] काव्य की सर्जना एवं आस्वाद का अन्तःस्फूर्ति के साथ अभिनन्दन नहीं कर पाते। वे काव्यानुभूति को निजी परिवेश के विशिष्ट धरातल पर ही अभिव्यक्त एवं ग्रहण करते हैं। अभिनव के शब्दों में असाधारणता के कारण द्रष्टा की उदासीनता तथा कवि के लिए नियत व्यक्ति के वर्णन तक सीमित रहने में अनौचित्य का परित्याग संभव नहीं हो पाता। अतः काव्य की मूल प्रकृति नहीं उभर पाती।' असाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्। कवेश्च नियत-वर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यैवासम्पत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात्।'[3]

कवि (ब्रह्मा) प्रमाता (दैत्यों) को सार्वभौम बोध के प्रति आश्वस्त करता है, अतः विशिष्ट पात्र अथवा स्थिति के प्रति काव्य-वस्तु की संकीर्ण प्रतिबद्धता का निषेध करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। नाट्य-प्रदर्शन देवों अथवा दैत्यों के चरित्र-प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं हैं, इसमें विश्वमात्र के समष्टिभाव का अन्तर्दर्शन है। कवि की यह आश्वस्ति प्रमाता

---

[1] नाट्यशास्त्रम्, भाग-१ (ओ० आई० बड़ौदा—१९५६ पृ० २८)

[2] वही-१/१०३ पृ० ३३

[3] वही पृ० ३५

को अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से मुक्त हो कर नाट्यानुभूति के क्षण में विशुद्ध अनुभूति मात्र रहने के लिए प्रेरित करती है।

'नैकान्तोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' ।।[1]

हृदय की यह मुक्तावस्था ही रसदशा है;[2] साधारणीकरण की अवधारणा का उत्स हृदय की यही मुक्तावस्था है। वैयक्तिकता के विरुद्ध यह समष्टि-मूलक भाव-चैतन्य की प्रतिष्ठा है । क्रमानुसार इस अवधारणा की प्रेरक दृष्टियों को इस प्रकार आकलित किया जा सकता है।

श्रेष्ठ काव्य की मूल प्रकृति विशिष्ट एवं असाधारण होती है।[3] कवि की अनुभूति एवं कवि-निबद्ध पात्र मूलतः असाधारण रूप में ही अभिव्यंजित होते हैं। किन्तु उनमें एक समष्टि-सत्य भी निहित रहता है। सर्जन समष्टि-सत्य का कविव्यष्टि के स्तर पर पुनरनुसंधान है। अतः प्रमाता के स्तर पर उसका पुनः समष्टिगत अनुभूति में रूपान्तरित होना आवश्यक है। इस व्यक्तित्वांतरण के अभाव में प्रमाता उस अनुभूति को असाधारण अथवा परगत मान कर तटस्थ एवं उदासीन रहेगा- रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात् ।[4]

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि कवि विशिष्ट नियत व्यक्ति के अन्तरंग जीवन को यथावत् प्रस्तुत नहीं करता, वह समष्टि-चेतन के स्तर पर उसका पुनरुद्भावन करता है। अन्यथा व्यक्तिविशेष की जीवनचर्या अथवा

---

१. नाट्यशास्त्रम्, भाग-१ १/१०७ पृ० ३५

२. चिन्तामणि (रामचन्द्र शुक्ल) प्रयाग, १९५८, पृ० १४१

३. The more of this personal character that a work possesses, the more harmonious its details and their combined expression the more clearly each part communicates the impression of the artist, ...the better wlll be its chance of obtaining sooner or later the admiration of the world.
(Eugene Veron, A Modern Book of Esthetics Melvin Rader, New York—1966) p. 55

४. ध्वन्यालोकलोचन, (चौखम्बा) पृ० १९०-९१

प्रणयव्यापार तक स्वयं सीमित रखने के कारण वह अनौचित्य का परित्याग न कर सकेगा -कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यैवासम्पत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात् मुख्यदृष्टौ प्रयोक्तृदृष्टौ वा लौकिकमिथुनदृशीव सांसारिकहर्षक्रोधायितापत्तेः ।[2] यूं मूल में व्यक्तिविशेष प्रेरक उत्स के रूप में हो सकता है,[2] किन्तु रूप-विन्यास में अन्तर्भावित होने के कारण उसका व्यक्ति-संदर्भ मानसिक अन्तराल एवं कल्पनात्मक प्रतिक्रिया के कारण आवृत हो जाता है । जैसे कि कवि मयूर के 'गतप्राया रात्रिः' के बाणभट्ट द्वारा चौथे चरण की पूर्ति से निर्मित श्लोक में मानिनी नायिका से अनुनय करते हुए रतिमुग्ध प्रेमी का सामान्यीकृत चित्र ही उभरता है,[3] किन्तु मयूर-पुत्री की दृष्टि से उसका वैयक्तिक चित्रण होने के नाते यह वर्णन अनौचित्य की सीमा में आता था । फलतः वह उससे हृदय-संवाद स्थापित नहीं कर सकी । अभिप्राय यह है कि जब तक एकान्त वैयक्तिक, विलक्षण या विचित्र चित्रण न हो, रूप-विन्यास में ढलते ही उसका व्यक्तिसंदर्भ गौण पड़ जाता है । किन्तु जो कवि अत्यन्त विलक्षण या व्यक्तिगत सृष्टि करते हैं, उनसे तादात्म्य स्थापित करना संभव नहीं होता ।[4] साधारणीकरण की अवधारणा ही ऐसे काव्य की अनुभूति के परिष्कार में योग देती है । सहृदयों तक अपने काव्य को सम्प्रेषणीय बनाना ही कवि के अभिव्यंजनात्मक वैशिष्ट्य का चरम लक्ष्य है । सम्प्रेषणीयता के

---

१. नाट्यशास्त्रम् भाग-१, पृ० ३५

२. A fictitious interest is often imparted to a novel when it is clear that the personages are portraits of well known individuals.
(H.M. Paull, Literary Ethics, London-1928, p. 245)

३. गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी सीदत इव ।
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव ।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो ।
कुचप्रत्यासत्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम् ॥
(सुभाषितरत्नभाण्डागारम्, निर्णयसागर-१९५२, पृ० ३०६)

४. Impressions that are too particular, eccentric feelings,... It may become impossible for us to arrive at its real merit.
Eugene Veron, op. cit. p. 55

अभाव में कवि का अनुभूत संवेद्य उसकी व्यक्तिगत अनुभूति बन कर रह जाता है[1]। सहृदयों तक काव्य को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए ही श्रीहर्ष को अपनी अनुभूति एवं अभिव्यंजना के विलक्षण उपादानों को मर्यादित करना पड़ा था।[2] काव्यवस्तु से प्रमाता तादात्म्य कर सके, कवि की यह चरम आकांक्षा है। समानधर्मा की आकांक्षा में भवभूति कल्पांत तक प्रतीक्षा करने को तत्पर थे। प्रकारान्तर से यह प्रमाता के अनुभूतिगत साक्ष्य के विश्लेषण की भूमिका है।

साधारणीकरण की अवधारणा ही लौकिक प्रत्याक्षानुभूति से विलक्षण प्रमाता की रसानुभूति का विश्लेषण कर सकती है। साधारणीकरण के निषेध का अर्थ अनुकार्य तथा अनुकर्ता के व्यापार का लौकिक धरातल पर ग्रहण करना है। उनके प्रत्यक्षीकृत दर्शन से लज्जा, ईर्ष्या, घृणा जैसी लौकिक अनुभूति ही उद्‌बुद्ध हो सकेंगी :— **सांसारिकहर्षक्रोधायितापत्तेः ।** लौकिक अनुभूति की स्वात्मगतता एवं परगत अवस्था दोनों ही कोटियाँ सामाजिक में रसबोध की दृष्टि से बाधक हैं। अपने प्रणय-व्यापार का प्रकाशन हो अथवा दूसरे की रति का दर्शन, दोनों ही लज्जाजनक हो सकते हैं :- 'रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडातंकादिर्भवेत् परगतत्वेन त्वरस्यतापातः ।[3] वस्तुतः लोकानुभूति को काव्यानुभूति में रूपान्तरित किए बिना अनुभूति का निर्वैयक्तिक आस्वादन नहीं किया जा सकता। अभिव्यंजनात्मक उपादानों के

---

१. C.F. He who in the work of art aims to be moved by the fate of John and Mary, or of Tristan and Issult, and readjusts to them his spiritual perception will not be able to see the work of art.

(Gasset, The Dehumanization of Art, op. cit. p. 412)

२. अलौकिकोल्लेखशेखरितं जल्पं करोति यं कोऽपि न बुध्यते। ततोऽतिविद्ययापि लोकागोचरभूतया खिन्नः पुनर्भारतीं प्रत्यक्षीकृत्याऽभणत्।मातः ! अतिप्रज्ञापि दोषाय ते जाता। बुध्यमानवचनं मां कुरु।

(शिवदत्त शर्मा, नैषधीयचरितम्, निर्णयसागर-१९५२ भूमिका पृ० २)

३. (क) (साहित्यदर्पणः, लोचनाख्याव्याख्यासमलंकृतः १९३८, पृ० ८०)

(ख) यदि स्वकीयत्वेन विभावादयः प्रतीयेरन् तर्हि इतरसामाजिकसन्निधौ स्वरतिप्रकाशोऽनुचित इति लज्जा एव स्यात् रसास्वादस्तु दूरे एव।

(विज्ञप्रिया, पृ०वही)

द्वारा लौकिक सामग्री का प्रकृत स्वरूप आच्छादित हो जाता है। तथा सहृदयता के संस्कार एवं हृदय-संवाद के कारण सामाजिक में तन्मयीभाव उत्पन्न होता है। 'तेन रंजकसामग्रीसव्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वस्वभावेन **प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन ... हृदयसंवाद-तन्मयीभवनसहकारिणि सामाजिके योऽनुव्यवसायो जन्यते ... तन्नाट्यम्।**[1] कहने का आशय यह है कि रत्यादि एवं विभावादि काव्य नाट्यादि में साधारणीकृत हो कर ही आस्वाद्य होते हैं।[2] लोकानुभूति प्रयोजनीयता से युक्त होती है। काव्य में प्रयोजनातीत हो कर ही वह अहैतुक आनन्द प्रदान करती है। प्रमाता वर्तमान चरित्र की भाँति किसी चरित्र की नियति से अपना संबंध जोड़ता है[3] तो उसकी अनुभूति का स्वरूप सांसारिक हर्ष क्रोध से भिन्न नहीं होता। साधारणीकृत हो कर ही वह इस अनुभूति को अतिक्रान्त कर सकता है। पात्रों की सत्ता को वास्तविक एवं वर्तमान मान कर पात्रों के भावों से उद्वेलित हुआ जा सकता है, किन्तु अन्तश्चैतन्य से तादात्म्य नहीं किया जा सकता। इसके लिए उनका अनुभावन (साधारणीकरण) अपेक्षित है।[4] कवि के मानस पुत्रों की वास्तविकता एवं वर्तमानता शब्द-सृष्टि में रूपायित हो कर संभावित क्रियाकारिता अथवा प्रयोजनीयता से मुक्त हो जाती है। वे विशेष रूप में प्रतीत न हो कर द्रष्टामात्र से साधारणीकृत हो कर उपस्थित होते हैं। अभिनव के शब्दों में **वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मकस्वालक्षण्यपर्यवसानम्। न च तेषां वर्तमानता इत्यपगता**

---

१. अभिनवभारती सम्पादक-आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली-१९७३, पृ० १९५

२. रत्यादयोऽपि साधारण्येनैव प्रतीयन्ते...विभावादयोऽपि प्रथमतः साधारण्येन प्रतीयन्ते। साहित्यदर्पणः (उपर्युक्त) पृ० ७९-८०

५. अभिनवभारती (उपर्युक्त) पृ० १८३

३. In order to enjoy the equestrian portrait of Charles V by Titian it is an unavoidable condition that we should not see there Charles V in person, authantic and living. (Gasset Rader op. cit. p. 412)

४. ... in the former, we live with Charles V; in the latter, we contemplate an artistic object as such. (Ibid.)

तावद्विशेषबुद्धिः ।[1] इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह भी है कि पात्र को जीवित वास्तविक व्यक्ति के रूप में ग्रहण करना वास्तविक सौंदर्यानुभूति से भिन्न दिशा है।[2] भवभूति के राम चित्रवीथिका में संचरण करते हुए वर्तमान चेतना से मुक्त न हो पाने के कारण चित्रों की कलात्मक अभिव्यंजना से साधारणीकृत नहीं हो पाते।

सीता—हा आर्यपुत्र, एतावत्ते दर्शनम् ।

रामः—अयि विप्रयोगत्रस्ते चित्रमेतत् ।

सीता—दुर्जनोऽसुखमुत्पादयति ।

रामः—वर्तमान इव मे जनस्थानवृत्तान्तः प्रतिभाति । विरमविरमातः
परं न क्षमोऽस्मि प्रत्यावृत्तः पुनरिव स मे जानकीविप्रयोगः ।[3]

वस्तुतः काव्यबोध अनुभूति की स्वयं को अतिक्रमण करने की प्रक्रिया है। अतीत एवं वर्तमान, वास्तविक और अवास्तविक, नैतिक एवं अनैतिक, प्रख्यात एवं उत्पाद्य, मम एवं पर, विशेष एवं सामान्य के द्वन्द्व को अतिक्रान्त करके ही प्रमाता काव्य-वस्तु से तादात्म्य कर सकता है। यह तादात्म्य एकान्त भावात्मक एवं बौद्धिक प्रतिक्रिया नहीं है। इसमें वैज्ञानिक एवं गणितीय नियमों से कवि के प्रतिपाद्य का मूल्यांकन या अनुभावन नहीं किया जाता। प्रमाता के स्तर पर यह सामष्टिक अवचेतन में निहित उन आद्य-बिम्बों का पुनः अनुसंधान है, जो वाह्य स्थूल इतिवृत्त के आवरण के नीचे सूक्ष्म भाव-सत्यों को उद्घाटित करते हैं। प्रमाता स्थूल अलौकिकता या अतिप्राकृत तत्त्वों से भ्रान्त नहीं होता, वह उनमें निहित निर्वैयक्तिक चेतना से सम्पृक्त होता और काव्यार्थ का उद्भावन करता है। अतः संदर्भ यह नहीं रहता कि वाल्मीकि ने वानरों के द्वारा पत्थरों से या व्यास ने अर्जुन के बाणों से समुद्र बँधवा दिया। केन्द्रीय सत्य यहाँ मानव की उस अदम्य जिजीविषा का अन्वेषण है, जो कवि एवं प्रमाता की सर्जनात्मक शक्ति को एक साथ गतिशील बनाकर आन्तरिक सामंजस्य के लिए प्रेरित करती है। अतः नैयायिक धर्मकीर्ति की यह शिकायत व्यर्थ है कि तराजू पर तोल कर प्रस्तुत किये गये उनके वागर्थ, वाल्मीकि एवं व्यास की अत्युक्तियों की तुलना में

---

१. अभिनवभारती (उपर्युक्त) पृ० १८३

२-३. उत्तररामचरितम् (सं० काणे, सन् १९६२) पृ० २०-२१

लोक-हृदय से संवाद स्थापित करने में असमर्थ रहे।[1] काव्यानुभूति केवल जड़ीभूत तत्त्वों का अनुकरण नहीं है, उन्हें गतिशील भावसत्य में रूपायित करने की दिशा है। व्यष्टि-भाव के समष्टि चेतना के स्तर पर अनुसंधान से ही व्यष्टि यथार्थ में निहित उस आन्तरिक सत्य का उन्मीलन होता है, जिसे सीतादि विशिष्ट पात्रों (व्यष्टि यथार्थ) में कान्तात्व (भावसत्य) की सामान्य उपस्थिति से संकेतित किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि मानव चेतना की मूल प्रेरणा सदसद् विवेचन की संकीर्ण सीमा से मुक्त उस चिदानन्दमयी अनुभूति में निहित है, जिसका वैविध्यमूलक यथार्थ के मूल में पुनः पुनः अनुसंधान किया जाता है। निःसन्देह इस पृष्ठ भूमि में काव्यानुभूति के उस मौलिक परिप्रेक्ष्य को निर्मित किया जा सकता है, जिसमें कवि एवं सहृदय सामष्टिक अन्तश्चेतन्य की एक ही धारा में संतरण के लिए प्रेरित होते हैं। भवभूति ने प्रकारान्तर से इसी सत्य के भावात्मक एवं समीक्षात्मक उन्मीलन का प्रमाण दिया है।

'म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ।।[2]

ये विशिष्ट राम के विशिष्ट सीता व्यष्टि के प्रति प्रणयोद्गार मात्र नहीं हैं। यद्यपि टीकाकार के अनुसार इसमें 'ममेत्यध्याहारः'[3] है तथापि काव्यानुभूति की वलवती प्रेरणा मानवी के उस चिरन्तन ममेतर स्वरूप की प्रतिष्ठा में निहित है, जो इन्द्रिय और मन की जड़ग्रन्थियों को भेद कर निरन्तर चैतन्यमयी सूक्ष्म संवेदनाओं में विकसित होती जाती है। वहिर्मुखी चेतना के विरुद्ध मानवी के अन्तश्चैतन्य का सर्जनात्मक आग्रह उस आन्तरभाव

---

[1] शैलैर्बन्धयति स्म वानरहृतैर्वल्मीकिरम्भोनिधिं
व्यासः पार्थशरैस्तथापि न तयोरत्युक्तिरुद्भाव्यते ।
वागर्थौ च तुलाधृताविव तथाऽप्यस्मत्प्रबंधानयं
लोको दूषयति प्रसारितमुखस्तुभ्यं प्रतिष्ठे नमः ।।
(मध्यकालीन बोध का स्वरूप पृ० ७३ से उद्धृत)

[2] उत्तररामचरितम् (उपर्युक्त) १/३६ पृ० २३

[3] वही, संजीवनी पृ० २४

सत्य को उन्मीलित करता है, जिसमें कवि, पात्र और प्रमाता के व्यक्तित्व का विलय हो जाने से वैयक्तिक संवेग उपशमित हो जाते हैं और समष्टि चैतन्य का आविर्भाव होता है। यह बोध नारी की संवेदना को ही नहीं, कविता मात्र की उस रागात्मक संभाव्य भूमि को भी आयत्त करता है, जो व्यस्तता से मूर्छित, जग के राग-विराग और पूर्वाग्रह से म्लान चैतन्य को प्रयोजनातीत आनन्द से संस्कृत कर शब्दरूपात्मक ऐन्द्रिय अनुभूति को अनुभूति मात्र के संश्लिष्ट मनोमय रूप में अन्तर्भावित करती है। अभिनव ने शिव-वन्दना के रूप में कविता की इसी हृदय-संवादमूलक भूमिका का स्तवन किया है।

'साधारणीकरण'-व्युत्पत्ति एवं निहितार्थ

साधारणीकरण शब्द के मूल में च्वि प्रत्यय है। अतद्रूप के तद्रूप होने, अर्थात् किसी पदार्थ को उस गुण या विशेषता से युक्त करने में जो उसमें पूर्वतः अनुपस्थित हो च्वि प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। पाणिनि के अनुसार कृ भू अस् धातु के योग में विकल्प से, विकार रूप को प्राप्त प्रकृति के अर्थ में वर्तमान विकारवाचक शब्द से स्वार्थ में च्वि प्रत्यय होता है :- **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः** ५/४/५० । इस सूत्र पर वार्तिक है :- **'अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्'** (वा ३३४०) इस सूत्र की व्याख्या है :- **विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात्स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे ॥**[1]

जब वस्तु का मौलिक स्वरूप विकाररूप को प्राप्त हो कर उसके परिणत रूप से अभिन्न हो जाता है, तब च्वि प्रत्यय का योग रहता है। उल्लेखनीय यह है कि जो वस्तु इस रूप में परिणत होती है, उसकी मौलिक संकल्पना ही नवीन संकल्पना में परिणत होती है। वेलेन्टाइन का विवेचन इस प्रक्रिया को अधिक स्पष्टता से व्याख्यायित करता है।[2] इस संदर्भ में सूत्रस्थ

---

१. सिद्धान्तकौमुदी (शंकरराम शास्त्री, मद्रास मैलापुर-१९२९) पृ० ६३४

२. It should be stated that the 'attainment'. is the attainment of becoming that the thing previously was not. When something out of which something else originates arrives at the state of being that very thing so produced the affix CHWI, without altering the sense, may optionally come.-Laghukaumudi (1967) p. 367

'संपद्यकर्तरि' भी ज्ञातव्य है। इस प्रक्रिया में वस्तु के प्रकृत स्वरूप से उसका विकृत स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण एवं संवेद्य है। यही साध्य है : **प्रकृति विकाररूपेण सम्पत्तिरिति लभ्यते**।[1] इसी प्रकार का प्रयोग है उन्मनीकरण, अर्थात् **अनुन्मना: उन्मना: संपद्यते तं करोतीत्यर्थ:**। अत: जो वस्तु मूल रूप में असाधारण है, उसे साधारण बनाने के अर्थ में साधारणीकरण पद प्रयुक्त होता है। **असाधारण: साधारण: संपद्यते तं करोतीति**, साधारणीकरोति। संरचना की दृष्ट से च्वि प्रत्यय के परे होने पर साधारण के अवर्ण का 'अस्य च्वौ ७/४/३२ सूत्र के आधार पर ईत्व हो जाता है। **(अवर्णस्य ईत्स्यात् च्वौ)** अत: रूपसिद्धि का प्रकार यह होगा :- साधारण शब्द से अभूततद्भाव में कृ धातु के योग से च्वि होता है। साधारण+च्वि+करण। च्वि का लोप तथा 'अ' को 'ई' हो जाने पर साधारणीकरण शब्द निष्पन्न हुआ।

इस सदर्भ में कृष्णीकरण का समानान्तर प्रयोग द्रष्टव्य है। इसमें 'कृष्ण' उस परिवर्तित वर्तमान वस्तु या पात्र को द्योतित करने वाला माध्यम या करण है, जिसने 'कृ' धातु से संयुक्त होकर अपनी पूर्ववर्ती स्थिति से भिन्न नवीन दिशा अथवा दशा ग्रहण कर ली है अर्थात् जो पदार्थ पहले कृष्ण न था वह कृष्णत्व से अनुरंजित कर दिया गया है। कृष्णत्व उसका सहजात गुण न होकर अर्जित, आगन्तुक या आरोपित धर्म है। यदि अभिनेता वेषादि परिवर्तन के द्वारा कृष्ण की भूमिका में अवतरित होता है तो अकृष्णता उसकी प्रकृति तथा कृष्णत्व उसका संपद्यमान विकार है और वह स्वयं माध्यम रूप उपकरण है, जिसमें अतीत का अंश लुप्त है तथा वर्तमानता कृष्णत्व के रूप में अभिन्न होकर उद्भूत हो रही है।[2]

---

[1] येन रूपेण प्रागभूतं यद्वस्तु तस्य तद्रूपप्राप्तावित्यर्थ:।

सिद्धान्तकौमुदी, पृ० ६३४

[2] वस्तुत: अकृष्ण: सन् वेषादिना कृष्णभावं प्राप्नोतीत्यर्थ:······अत्र वस्तुत: अकृष्णो नट: प्रकृतिभूत:। स तावत्कृष्णभावं विकारं प्राप्नुवन् सम्पद्यमानत्वात् सम्पद्यकर्ता भवतीति तत्राभेदारोपमवलम्ब्य वर्तमान: विकारभूतकृष्णवाचक: शब्द:।

सिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा), पृ० ६३४

यह आकस्मिक नहीं कि अभिनव भी नट में नटत्व तथा कृष्णत्व के बोध के द्वंद्वात्मक संदर्भ को साधारणीकरण की भूमिका में उपस्थित करते हैं। प्रमाता की विशेष बुद्धि वर्तमान काल में ही उद्‌बुद्ध होती है तथा अतीत के माध्यम से इसकी अर्थक्रिया क्रमशः धूमिल होती जाती है, अतः जब प्रमाता कृष्ण रूप को नट में अध्यवसित देखता है, तो दोनों चेतनाओं के संघर्ष से क्रमशः पात्र का वैशिष्ट्य लुप्त हो जाता है तथा निर्विशेष तत्त्व की अनुभूति होती है।[1]

'साधारण' शब्द के विविध आयाम तथा साधारणीकरण की अवधारणा

साधारणीकरण सिद्धान्त 'साधारण' शब्द की आधार भूमि पर विकसित हुआ है दर्शन और साहित्य के अनेक अनुषंगों को अपनी परिधि में आयत्त करता हुआ यह शब्द एक असाधारण अर्थ गरिमा भी समाहित किये हुए है। यह विषय की प्रकृति का ही निर्धारण नहीं करता, काव्याभिव्यक्ति की सीमा में निहित प्रमाता तथा काव्य-विषय के तादात्म्य एवं द्वन्द्व को भी आलोकित करता है।

'साधारण' का व्यापक और प्रसिद्ध अर्थ निर्विशेष है। निर्विशेष का अभिप्राय है वस्तु की विभेदक प्रकृति का तिरोधान तथा व्यक्ति विशेष का जाति सामान्य में पर्यवसान। प्राचीन आलंकारिकों ने सीतादि व्यक्तिविशेष के कामिनी रूप में पर्यवसान की ओर इंगित कर 'साधारण' शब्द के इस प्रमुख अर्थ को ही साधारणीकरण की सीमा में नियंत्रित किया है।[2] किन्तु, कुछ ऐसी भी अर्थच्छायाएँ 'साधारण' शब्द में अन्तर्भुक्त या संयुक्त हैं, जो उसके विविध आयामों को अधिक बृहत्तर संदर्भों में परिभाषित करती हैं।

---

[1] प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः···तस्मिन् हि सति, ······ प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात् रूपान्तरस्य चारोपितस्य······स्वरूपे विश्रान्त्यभावात् सत्ये तदीयरूपनिह्नवमात्रे एव पर्यवसानात्।
(अभिनवभारती, दिल्ली, १९७३, पृ० ४७५)

[2] साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः। (काव्यप्रदीप, पृ० ६६)

धारणा--साधारण की व्युत्पत्ति है—**सह धारणया**--(ब० स०) सधारण+अण[1] स्पष्टतः धारणा शब्द के निहितार्थ भी इस अवधारणा में समाहित हैं। धारणा धृ धातु से निष्पन्न है। (धृ धारणे–धृ+णिच्+युच+टाप्) धारणा के द्वारा मन को धारण किया जाता है। (धारणेत्युच्यते चेयं धार्यते यन्मनस्तया). (याज्ञ० ३/२०१) प्रमाता की भावमग्नता का अर्थ द्योतित करने के लिए[2] भी इसका गर्भिताशय ग्रहण किया जाता है। काव्यानुभूति की सीमा में यदि इसकी व्याख्या करें तो यह वह हृदयसंवादात्मिका वृत्ति है जो काव्येतर व्यापारों (वेद्यान्तर सम्पर्क) से मन को खींचकर काव्यवस्तु में स्थिर करती है। कहने का आशय यह है कि काव्यास्वाद में धारणा वृत्ति का योग असंदिग्ध है। **धारणा मनसो वृत्तिः**। मनु के अनुसार धारणा मन के किल्विष पापों का विनाश करती है। **प्राणायामैः दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् (मनुस्मृ० ६/७२)**

समानान्तर तथ्य यह है कि काव्यास्वाद प्रक्रिया में भी मानसिक मलों का अत्ययन-विसर्जन अत्यन्त आवश्यक है। अभिनव के अनुसार काव्य का प्रथम कर्तव्य-कर्म यही है कि प्रमाता स्वगत-परगत की भावना से मुक्त होकर कल्मषरहित होता है। **''निविडनिजमोहसंकटताकारिणा (भट्टनायक) विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणनिर्विघ्नप्रतीति'** इत्यादि पद-समुच्चयों में काव्यास्वाद की यही प्रक्रिया ध्वनित है। शारदातनय के अनुसार जीवात्मा राग, विद्या कला-तत्त्वों से दुःख मोहादि कलुषित जगत् का भोग करता है। ये तीनों तत्त्व प्रमाता के आत्मस्थ होकर कला से आत्मा को अभिज्वलित तथा विद्या से अविद्या-आच्छन्न चैतन्य के ज्ञान को अभिव्यक्त कर राग अर्थात् सुखत्व के बोध में पर्यवसित हो जाते हैं।[3]

---

१. आप्टे, संस्कृत-हिन्दी-कोश (१९६६) पृ० १०९५

२. परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् (रघुवंश ८/१८)

३. रागविद्याकलासंज्ञैः पुंसस्तत्त्वैस्त्रिभिः स्वतः। प्रवृत्तिगोचरोत्पन्ना बुद्ध्यादिकरणैरसौ भोगं निष्पाद्य निष्पाद्य वासनात्मेव तिष्ठति। दुःखमोहादिकलुषमपि भोग्यं प्रतीयते। यत्सुखत्वाभिमानेन स राग इति कथ्यते। विद्या नामेति तत्त्वं यद् रागोपादानमुच्यते। तथाभिव्यज्यते ज्ञानं पुरुषस्य विपश्चितः। चैतन्यस्य मलेनैव संरुद्धस्य स्वभावतः।

(भावप्रकाशनम्, बड़ौदा, १९६८, पृ० ५२-५३)

धारणा में एकाग्रता अथवा मन के नियमन का बोध भी निहित है। मेधातिथि के अनुसार **शमयमादिभि: नियमादिविषयदर्शनाभिलाषेण प्रकृष्यमाणम् मनो धार्य्यते तत्रैव स्थाने नियम्यते** (मनुस्मृ० ६/७२ की व्याख्या)। पंतजलि के अनुसार **वस्तुनि प्रदेशे वा चितस्य स्थिरीकरणम् धारणेत्यवधार्यते।**

गीता में, विषयों की उपलब्धि के समस्त द्वारों को संयमित तथा मन को संकल्प-विकल्प से रहित हृदय में अवरुद्ध करने के अनन्तर योग धारणा में प्रवृत्त हुए साधक का विवेचन भी मानसिक एकाग्रता की इसी भूमिका की ओर इंगित करता है।[1]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'धारणा' में ध्यान-समाधि के अर्थ-संदर्भ संयुक्त हैं। कालिदास ने भी प्रकारान्तर से काव्य-सर्जन के क्षण में करणविगम की अनिवार्यता तथा समाधिस्खलन के विघ्न की ओर संकेत किया है। ध्यान प्रत्यय में भी एकतानता का भाव निहित है—तत्र प्रत्ययैरेकतानता ध्यानम्। मम्मट के शब्दों में यह स्थिति **'उन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभाव'**[3] की है। ब्रह्म में मनोधारणा की स्थिति के समानान्तर प्रमाता भी पर-ब्रह्मसविध काव्यवस्तु के साक्षात्कार से आत्म-परामर्श भी भूमिका में अवतरित होता है। अभिनव के अनुसार **इति तु प्रतिभानपरपर्यायासाक्षात्कारस्वभावेयम्**[3] इस संदर्भ में यह उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा कि धारणा ध्यान-समाधि का यह त्रिक भट्टनायक के अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व के आरोहक्रम का पूर्वाभास देता है।

अभेद भावमूलक प्रतिपत्ति—सर्वसाधारण द्वारा बिना किसी भेदभाव के जिस वस्तु का अनुभव या आस्वाद किया जा सके, वह वस्तु भी साधारण है बृहदारण्यक में आत्मा के एकत्व के प्रतिपादन के लिए साधारण अन्न का प्रतीक ग्रहण किया गया है। समस्त भोक्ताओं के लिए जो अभेदपूर्वक कल्पित किया गया है वह साधारण अन्न है। साधारण अन्न की व्याख्या इस प्रकार

---

१. सर्वद्वाराणि संयम्य मनोहृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मन: प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता, शांकरभाष्य, गोरखपुर सं० २०२८) पृ० २१७

२. काव्य-प्रकाश: (झलकीकर, पूना १९२१) पृ० ९२

३. नाट्यशास्त्रम् (भाग-१, बड़ौदा) पृ० २८०

की गई है—**तत् साधारणमन्नं यददिदमद्यते मिश्रं ह्येतत्** (बृ० १/५/२) यहाँ 'साधारण' का अर्थ है मिश्रित आचरण। जो सब प्राणियों के द्वारा निर्विशेष भाव से मिल कर भोगा जाता है, वही भोक्तृसमुदाय का साधारण अन्न है।[1] शंकराचार्य ने स्पष्टतः **'सर्वभोक्तृसाधारणत्व'**[2] पद का प्रयोग किया है, जो साधारणीकरण की मूल संकल्पना से विलक्षण साम्य रखता है।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जो इस 'साधारण' अर्थात् समस्त प्राणियों के सम्मिलित अन्न का आस्वाद करता है, वह पाप से मुक्त नहीं होता।[3] इसकी व्याख्या में आचार्य शंकर स्मृति तथा गीता की इन पंक्तियों को उद्धृत करते हैं—**आत्मार्थं पाचयेदन्नं** (स्मृति) **'अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'** (गीता ३/२२) यह अन्न मिश्र अर्थात् सब का स्वधन होने (सर्वभोज्य होने) के कारण एक व्यक्ति के उपयोग के लिए नहीं है। मात्र आत्मार्थं उसका भोग पीड़ाकर है। **'सर्वभोज्यत्वादेव यो मुखे प्रक्षिप्यमाणेऽपि ग्रासः परस्य पीडाकरो दृश्यते'**[4]।

यह आकस्मिक नहीं कि भट्टनायक ने भी स्वगत प्रतीति को काव्यास्वाद में बाधक ही प्रमाणित किया है। **स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्**।[5] अभिनव के अनुसार भी **'स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासंभवं तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा तत्सदृशार्जिजीषया वा तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया वा**

---

१. इदमेवास्य तत्साधारणमन्नम् इत्युक्तम्। अस्य भोक्तृसमुदायस्य किं तत् ? यदिदमद्यते भुज्यते सर्वैः प्राणिभिरहन्यहनि, तत्साधारणं सर्वभोक्त्रर्थमकल्पयत्पिता सृष्ट्वान्नम्।

(बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य, गोरखपुर, सं० २०२६, १/५/१ का भाष्य, पृ० ३२७)

२. वही पृ० ३२६

३. स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रं ह्येतत्। (वही-१/५/२, पृ० ३२३)

४. वही - पृ० ३२८

५. नाट्यशास्त्रम्, भाग-१, पृ० २७६

प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः ।[1] वस्तुतः वैश्व अनुभूति को अन्तर्भुक्त किये बिना काव्यानुभूति को अपनी सुख दुःख की सीमा में देखना पीड़ाकर अनुभूति ही है । ममत्व परत्व आदि की संकीर्णा बुद्धि का परित्याग करके ही काव्यार्थ का वास्तविक आस्वाद किया जा सकता है ।[2] आचार्य शंकर कहते हैं कि 'यह मेरा हो' इस प्रकार सब की आशा उस पर केन्द्रित रहती है । अतः दूसरों को पीड़ा पहुंचाये बिना उसे खाया भी नहीं जा सकता ।[3] कहने का आशय यह है कि सर्वभोक्तृसाधारण अन्न (काव्यार्थ) स्वगतपरक फलविषयक एषणा से भिन्न नहीं है । जैसा ऊपर कहा गया है, अभिनव के मत में भी यह स्वगतप्रतीति आत्म-रक्षा-संपादन जैसे विघ्नों से आकीर्ण है । काव्यार्थ अथवा नाट्यार्थ का आस्वाद सामष्टिक चैतन्य के स्तर पर ही किया जा सकता है ।

यहां यह भी उल्लेखनीय कि काव्यार्थ अथवा नाट्यार्थ इन्द्रियार्थ पर्यवसायी एवं इन्द्रिय-सन्निकर्षजन्य किन्तु लौकिक ज्ञान से रहित मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति है । यह मूलतः इन्द्रियों के व्यापार से विलक्षण मानस-व्यापार है । अतः काव्य अथवा नाट्य में शारीरिक सुखोपभोग मात्र की सामग्री खोजने वाले काव्यार्थ का पूर्ण आस्वाद प्राप्त नहीं कर सकते । इसी के समानान्तर आचार्य शंकर की यह व्याख्या भी द्रष्टव्य है--**य एतत्साधारणं सर्वप्राणभृत्स्थितिकरं भुज्यमानमन्नमुपास्ते तत्परो भवति…… शरीरस्थित्यर्थान्नोपभोगप्रधानो नादृष्टार्थकर्मप्रधान इत्यर्थः स एवंभूतो न पाप्मनोऽधर्माद्व्यावर्तत-न विमुच्यत इत्येतत् ।'**[4] यह उक्ति इस अवधारणा से अंशतः साम्य रखती है कि काव्यार्थ भाव्यमान होकर ही चर्व्यमाण होता है ।

---

१. वही पृ० २८०

२. परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥
(साहित्यदर्पण: ४/४३, सं० जीवानन्द, १९३४, पृ० ८३)

३. 'ममेदं स्यात्' इति हि सर्वेषां तत्राशा प्रतिबद्धा । तस्मान्न परमपीडयित्वा ग्रसितुमपि शक्यते । (बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य पृ० ३२८)

४. बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य, पृ० २२९-३०

यह आकस्मिक नहीं कि भरत ने भी काव्यार्थ अथवा नाट्यार्थ की उपमा अन्न के आस्वाद से ही दी है—**नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः।**[1] सुमनस् पद स्पष्टतः इन्द्रिय-सन्निकर्ष मात्र का अतिक्रमण कर काव्यार्थ को मानसी प्रतीति के रूप में ही परिभाषित करता है। **'सर्वेन्द्रियपरं मनः।'** अभिनव भी **एकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता।**[2] के द्वारा इसी मानसी प्रतीति की ओर इंगित करते है। इससे यह भी स्पष्ट है कि 'साधारण' में सर्वसाधारण का भोक्तृत्वभाव मात्र ही पर्याप्त नहीं है। यह भोक्तृत्व-धारणा अर्थात् मानसी प्रतीति पूर्वक ही युक्तियुक्त है।

उभयात्मक प्रतीति

'साधारण' शब्द का एक अर्थ उभयात्मक भाव भी है। यथा—**यदुभयोः साधारणमुभयत्रोदारविशेषतो नायिकायाः सुविश्रब्धं दूतकर्म** (कामसूत्रम्)[3] यहाँ नायक-नायिका के मध्य उदार दौत्यकर्म को साधारण बताया गया है। यदि इस संदर्भ को कवि तथा सहृदय के अन्तः संबंध के स्तर पर व्याख्यायित करें, तो यहाँ कवि नायक प्रतिम है तथा सहृदय नायिका की भूमिका में है। दोनों के मध्य मैत्री कराने का साधारण कर्म काव्य का है। **'नायकस्य नायिकायाश्च मैत्र्या वर्तमानत्वात्साधारणं'।**[4] काव्य की इस भूमिका को विश्वनाथ ने जिस साधारणीकृतिः व्यापार के द्वारा व्याख्यायित किया है, उस पर अतिरिक्त टिप्पणी करते हुए जीवानन्द का कथन है—**नायकसामाजिकसम्बन्धिनं करोति उभयसम्बन्धित्वेन प्रतिपादयतीति साधारणीकृतिः साधारणीकरणं, सामाजिकस्य नायकादिवान्योऽन्यमभिन्नत्वप्रत्यायनमिति यावत्'।**[5] वस्तुतः काव्य सहृदय का ही अधिक विश्वस्त है, अतः कामसूत्रकार ने दौत्यकर्म के विवेचन में प्रकारान्तर से काव्य की सहृदयनिष्ठ सिद्धि की ओर भी इंगित किया है। इसी संदर्भ में **साधारणो भूषणभूष्यभावः** (कु० सं० १/४३) **साधारणोऽयं परिणयः** (श० ३)। जैसे प्रयोग भी

---

१. नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) पृ० २८८

२. वही पृ० २८९

३. कामसूत्रम् (चौखम्बा, १९६४) १/५/३५ पृ० १७९

४. यशोधरविरचित 'जयमंगला' व्याख्या - कामसूत्रम्, पृ० १७९

५. जीवानन्द विद्यासागर (साहित्यदर्पणः), पृ० ८२

द्रष्टव्य हैं। यहाँ भी आशय यही है कि प्रणयभाव दोनों में समान रूप से सम्पृक्त है। आलंकारिकों ने कवि एवं सहृदय की समानभावापन्नता को साधारणीकरण के वृत्त में ही निरूपित किया है। स्वयं भरत ने भी **'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते'** के द्वारा कवि की सार्थकता अपने अन्तर्गत भाव को सहृदय की वासना में भावित करने में ही स्वीकार की है। अभिनव गुप्त ने भी **'सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि सहृदयाख्यं विजयते'** के द्वारा यह प्रमाणित किया है कि काव्यार्थ की मौलिक सार्थकता कवि-प्रमाता के हृदय संवाद में ही निहित है। यही कवि सहृदय का भूषण-भूष्यभाव है।

विरुद्धों में सामंजस्य

साधारण शब्द में वह अर्थ भी निहित है, जिसे रिचर्ड्स ने विरुद्धों की समाहिति तथा ब्रेख्त ने प्रमाता की द्वैधी चेतना कहा है।[1] यथा उत्कण्ठा साधारणं परितोषमनुभवामि।' (श० ४/५४)

यह अनसूया की उक्ति है। जीवानन्द के शब्दों में **शकुन्तलायाः पतिलाभभावितया यादृशो हर्षः भवति, अस्माभिः विरहिता भविष्यतीति च तथा विषादः, इति उभयम् अनुभवामि।**[2] यहाँ उत्कण्ठा मिश्रित (अथवा सदृश) विषाद में परस्पर विरुद्ध अनुभूतियों का जो सामंजस्य प्रतीयमान है, वह अर्वाचीन नाट्यालोचन एवं नव्यालोचन का मूल सूत्र है।

साधारणीकरण की स्थानापन्न अवधारणाएँ

साधारणीकरण की महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय उपलब्धि यह है कि यह अवधारणा काव्य अथवा नाट्य में अभिव्यंजित कवि के विशिष्ट भाव-बिम्बों (पात्रों) के साथ सहृदय की व्यष्टिनिष्ठ आस्वादचेतना के अन्तःसम्बन्ध का व्यावहारिक एवं शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत करती है। भट्टनायक की इस उद्भावना ने काव्यशास्त्र के इस प्रस्थान बिन्दु को प्रथम बार दार्शनिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक एवं सौंदर्यशास्त्रीय तार्किक निष्कर्षों से अन्वित करके काव्यानुभूति एवं अभिव्यक्ति की केन्द्रीय समस्या के रूप में प्रस्तुत किया। निश्चय ही उनका प्रौढ़ प्रामाणिक चिन्तन पूर्ववर्ती सुनिर्दिष्ट तद्विषयक चिन्तन क्रम का साक्ष्य देता हैं। एक स्तर पर

---

१. द्र० पृ० ४७ टि०।

१. जीवानन्द विद्यासागर (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कलिकाता-१९१४, पृ०१८९)

हृदय-संवाद, चर्वणा, विश्रान्ति जैसी प्रमातृगत चित्तवृत्ति की समाधिमूलक उद्भावनाओं में इस अवधारणा के वैकल्पिक सूत्रों का समाहार हुआ है तो दूसरे स्तर पर औचित्य, वृत्ति, प्रवृत्ति, एवं सिद्धि की प्रकल्पनाओं में साथारणीकरण के नियामक तत्त्वों का व्यावहारिक तथा एक सीमा तक सरलीकृत विश्लेषण प्राप्त होता है। ये अवधारणाएँ प्रायः नाट्यास्वाद के व्याख्यान क्रम में विकसित हुई हैं तथा प्रकारान्तर से साधारणीकरण की केन्द्रीय युक्ति को ही व्याख्यायित करती हैं। अतः इन्हें छोड़ कर चिन्तन के पूरे विकासक्रम को ग्रहण करना अनुपयुक्त है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन अवधारणाओं में तार्किक निष्कर्ष मूलतः काव्य अथवा नाट्यानुभूति के निर्विशेषीकृत संदर्भों के केन्द्र में ही अन्वेषित हुए हैं। इनके आधार पर भरतादि पूर्वाचार्य काव्य की छद्मानुभूति को अत्यन्त सहज रूप में वास्तविक अनुभूति से पृथक् करने में सफल हुए हैं। यह बात भिन्न है कि इन अवधारणाओं के मूल में दार्शनिक विप्रतिपत्तियों का अबाधित समावेश न होकर सम्पूर्ण अनुभूति के नाट्यगत सम्प्रेषण तथा प्रमातृगत ग्रहणशीलता के सामान्य आधार पर व्याख्यायित करने का आग्रह है, जिसकी परिणति नैतिक अथवा दार्शनिक वर्जना से मुक्त रूपगत विशेषताओं की स्वीकृति में हुई है।

साधारणीकरण की अवधारणा के पूर्वाभास के संदर्भ में यहाँ क्रमशः वृत्ति, सिद्धि, औचित्य एवं विश्रान्ति की अवधारणाओं का विवेचन प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा।

वृत्ति

मानव की नानारूपात्मक संख्यातीत प्रवृत्तियों एवं चित्तवृत्तियों का काव्यात्मक अथवा नाट्यात्मक निरूपण न संभव ही है और न एकान्त काम्य ही। अतः कवि एवं प्रयोक्ता भिन्नताओं के मध्य एकत्व के अनुसंधान के लिए मानवीय व्यवहार में अनुस्यूत साम्य के अन्तःसूत्रों का विधान करते हैं। प्रवृत्ति के स्तर पर इनका सम्बन्ध मानवीय आचरण के नाट्यरूपायन से तथा वृत्ति के स्तर पद अभिव्यंजनात्मक व्यापारों के व्यापक विस्तार से है।[1]

---

[1] यस्माल्लोको बहुविधभाषाचारादियुक्तः कस्तं प्रतिपदं वक्तुं शक्नुयात् शिक्षितुमभ्यसितुं वाप्र योक्तुं, द्रष्टुं वा, चित्तवृत्तिप्रधानं चेदं नाट्यमितितदेवं वक्तुं न्याय्यम् (अभिनवभारती भाग-२, पृ० २०७)

वृत्ति में प्रवृत्ति भी समाहित हो जाती है। नाट्यवस्तु को अभिनेता जिन कायिक अथवा वाङ्मयी अभिव्यंजनाओं के माध्यम से मूर्त्त करते हैं, उनमें मानवबोध के क्रियाकलापों तथा जीवन शैलियों का व्यापक प्रतिनिधित्व अपेक्षित होता है। परिवेश तथा कालविशेष में एक प्रकृति के मनुष्य भिन्न वेशभूषा-भाषा के होते हुए अंशतः समान ही आचरण करते हैं। नाट्यप्रयोक्ता सार्वत्रिक तत्त्वों का चयन कर विविध मनोभावों के अनुकूल उनको इस प्रकार अनुवर्तित करता है कि उनके द्वारा प्रमाता को मानव-आचरण की भिन्नताओं में एकत्व का सहज ही बोध हो जाता है। भरत ने नाट्यमाताओं के रूप में इन वृत्तियों का व्यापक विवेचन किया है, जिनके आधार पर नाट्यवस्तु के उपस्थापन में निहित साधारणीकरण के प्रयोग-पक्षीय तत्त्वों का अनुसंधान किया जा सकता है।

वृत्ति का अर्थ है व्यवहार अथवा विन्यास-क्रम। व्यवहारो वृत्तिरुच्यते[1] चेष्टा विन्यासक्रमः[2] सात्वती, कैशिकी और आरभटी वृत्तियाँ पृथक्-पृथक् या संकलित होकर भावविशेष को आकार देती हैं। प्रत्येक मानव चेष्टा में वाचिक मानसिक अथवा कायिक तत्त्व अनुस्यूत रहते हैं[3] किन्तु एक तत्त्व की प्रधानता होने पर इतर तत्त्व मात्र उपस्कारक ही होते हैं। इस प्रकार तीनों तत्त्व संवलित होकर उस वृत्तितत्त्व का निर्माण करते है, जो नाट्यार्थ को प्रतीकात्मक अथवा प्रतिनिधानात्मक स्तर पर मानवमात्र की समान भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देता है। अभिनव का कथन है कि वाच्यार्थ के रूप में कवियों के हृदय में अवस्थित इन वृत्तियों से भी काव्य उत्पन्न होते हैं, तथापि प्रयोग-योग्यता की अधिकता के कारण अभिनेय काव्य में ही इनकी प्रत्यक्ष भावनानुकूलता अधिक अभिव्यंजित होती है। **यद्यपि सर्वेषामभिनेयानभिनेयानां च काव्यानां वृत्तय इष्टा मातर इव, ताभ्योऽपि वाच्यरूपत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते। तथापि प्रयोगं प्रयुज्यमानत्वात्प्रयोगयोग्यत्वमभिसन्धाय वृत्तिभ्यो विनिस्सृतमभिनेयकाव्यं प्रत्यक्षभावनायोग्यवृत्तिचतुष्टयाभिधायकत्वं दशरूपसामान्यलक्षणमित्यर्थः।**[4]

---

[1] ध्वन्यालोक ३/३३, पृ० ४४३ (चौखम्बा-१९६५)

[2] काव्यमीमांसा पृ० ९

[3] अभिनवभारती भाग-३, पृ० ९१

[4] अभिनवभारती, १८/४ की व्याख्या, नाट्यशास्त्रम् द्वितीय भाग, सं०-मधुसूदन शास्त्री, सं० २०३२, पृ० १४३७

आशय यह है कि वृत्तियों के प्रयोग से कवि अथवा नाट्यकार उन शैलियों एवं पद्धतियों का चयन करता है, जो सामान्य जीवन में भिन्न भिन्न वर्गों में उपलब्ध होती है, क्योंकि एक वर्ग विशेष में वाणी मन एवं शारीरिक व्यापारों में एक सी प्रवृत्ति लक्षित होती है। उनमें एक सामान्य लालित्य एवं वैचित्र्यक्रम का अनुप्रवेश रहता है। उतम प्रकृतियों के समग्र व्यापार सौष्ठवमय तथा ऊर्जस्वित व्यक्तियों के सोत्साह एवं गतिशील होते हैं।[1]

भरत ने वृत्ति और प्रवृति के माध्यम से उन अनुकरणमूलक विभिन्न प्रकारों का ही वर्णन किया है, जिनमें विभिन्न जीवनशैलियों में निहित सामान्यता के उपादानों का उद्घाटन होता है।[2] पात्रों की ये कायिक, मानसिक चेष्टाएँ यद्यपि समस्त लोक में व्याप्त एवं प्रवाहित हैं, तथापि विशिष्ट हृदयावेश से युक्त होकर नाट्य में आविर्भूत होती है। अभिनव के शब्दों में - ‘यद्यपि कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः ताश्च समस्तलोकव्यापिन्योऽनिशं प्रथमताप्रवृताः प्रवाहेन वहंति। तथापि विशिष्टेन हृदयावेशेन युक्ता वृत्तयो नाट्योपकारिण्यः।[3]

तथ्य यह है कि लौकिक अनुभूति के क्षण में स्त्री-पुरुषों में कुछ सामान्य प्रतिक्रियाएँ होती हैं। काव्य अथवा नाट्य में अनुकृत तथा विशेष रसों के अनुकूल सम्पादित होकर ये अलौकिक रूप से चमत्कारकारिणी हो जाती है। निष्कर्षतः आचरणगत संरचनाओं में सार्वभौम तत्त्व का अनुसंधान वृत्ति है।[4] इसमें जीवन की विविध पद्धतियों के अनुकरण को सामान्य रीति या पद्धति के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ प्रवृत्तिगत प्रान्तीय विभिन्नताओं के होते हुए भी एक विशिष्ट स्थिति में स्त्री की प्रतिक्रिया अनिवार्यतः एक जैसी ही होगी। एक व्यक्ति से प्रेम करती हुई स्त्री उसे देखने के लिए उत्सुक हो सकती है और प्रियदर्शन की लालसावश सुन्दर वेशभूषा धारण कर

---

१. तत्र कस्यचिल्लालित्यवैचित्र्यक्रमस्यानुप्रवेशः।
यत्र उत्तमप्रकृतीनां सौष्ठवमय एव सर्वो व्यापारः। (वही पृ० ७८)

२. -वही- पृ० ७७

३. अभिनवभारती, भाग-३ (बड़ौदा) पृ० ८२-८३

४. This universal feature when echoed in a behaviour pattern is known as vritti. S.S. BARLINGAY
(Indian Aesthetics and Art Activity, Simla-1968, p. 15)

सकती है। वह वेशभूषा प्रान्तानुरूप परिवर्तित हो सकती है, यहाँ तक कि व्यक्ति के अनुरूप भी उसका परिवर्तन हो सकता है, परन्तु इस विभिन्नता के मूल में दृष्टिकोण अनिवार्यतः एक ही होता है क्योंकि यह सार्वत्रिक या समानलक्षण होता है।[1]

वस्तुतः वृत्तियों की प्रकल्पना के मूल में वैयक्तिक विविधताओं से विनिर्मुक्त उस सामाजिक स्वरूप की उद्भावना की मूल संकल्पना निहित है, जो नाट्य-व्यापार में प्रयुक्त हो कर सहृदयों की चित्त-वृत्तियों को एक सी प्रतिक्रियाओं के लिए प्ररोचित करती है। प्रमाता व्यक्तिगत विभिन्नताओं को त्याग कर उनके सार्वत्रिक रूप को ग्रहण करता है, साधारणीकरण की भूमिका भी यही है,[2] किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है वृत्ति अथवा प्रवृत्ति मूलतः नाट्य-वस्तु और उसके प्रस्तुतीकरण की मूल प्रकृति से अधिक सम्बद्ध है, प्रमाता की समान-अनुवर्त्तिता की केवल आंशिक प्रतीति ही इसमें निहित है। अतः वृत्तियों की अवधारणा साधारणीकरण की प्रक्रिया का केवल पूर्वाभास देती है, उसकी स्थानापन्न नहीं है। इसमें प्रमातृगत समान भावानुभूति का यह मनोवैज्ञानिक तत्त्व अवश्य निहित है कि वैविध्य में एकत्व के अनुसंधान से प्रमाता की विशृंखल चित्त-वृत्तियाँ समाहित होती हैं। मानव की समान लक्षणा चेष्टाओं के चयन प्रतिनिधित्व एवं प्रतीकात्मक निरूपण का प्रभाव प्रमाता में संक्रमित होकर उसे भी मानवीय आचरण के मूलभूत एकत्व में सहभोक्ता बनने को निमंत्रित करता है।[3] वृत्तियों का

---

[१] सुरेन्द्र बार्रालिंगे, सौंदर्य तत्त्व और काव्यसिद्धान्त, दिल्ली-१९६३, पृ० १२३

[२] The sadharanikarana applies not only in the case of how a phenomenon is exhibited but also in the case of what is exhibited ...We eliminate the individual variations and confine ourselves to the common features.
(S. S. Barlingay, Ibid p. 16)

[३] These characters of aesthestic experiences can thus be shown to be very natural consequences of the diversity of their components. But that so many different impulses should enter in is only what may be expected in an experience whose groundplan is a balance of opposites. I. A. Richards 'Principles of Literary Criticism' India- (1967, p. 198)

का विनियोग मानवीय आचरण की संभाव्यता के प्रति प्रमाता को आश्वस्त करता है।[1] वृत्तियों का क्षेत्र मूलतः नाट्य प्रयोग से सम्बद्ध है, किन्तु प्रमाता की अन्तश्चेतना को भी ये संयोजित हो कर सम्प्रेषणीयता का अतिरिक्त आयाम देती हैं। फिर भी वृत्ति की मौलिक संकल्पना में स्थूल समानता का ही संकेत निहित है। नट (अनुकर्ता) अनुकार्य की वर्गगत विशेषताओं के मूलभूत संदर्भों का चयन करता है और अभिनय के माध्यम से उनका प्रतिनिधान अथवा प्रतीकीकरण करता है। प्रतीकीकरण में ज्ञानात्मक पक्ष की अपेक्षा क्रिया पक्ष पर अधिक बल है, जिसका सम्बन्ध विविध कालिक एवं स्थानिक वृत्तियों के समीकरण से है। आस्वाद की भूमिका में यह तत्त्व समंजित हो कर भाव रूप में परिणत होते हैं। डा० बार्लिंगे का कथन है कि वृत्ति की साधारणीकरण से सम्बद्ध भूमिका का सम्बन्ध केवल नाट्य-प्रदर्शन से नहीं, अपितु उस वस्तु से भी है, जो उस प्रदर्शन के माध्यम से सम्प्रेषणीय बनायी जाती है। यदि राम का चरित्र प्रदर्शित किया जाता है तो वह अनिवार्यतः मूल राम का अनुकरण नहीं है, अपितु व्यापार चयन की प्रक्रिया इसमें गतिशील रहती है।[2] कहने का आशय यह है कि वृत्तियों के क्षेत्र में वस्तु, अभिनय तथा प्रमातृगत अनुक्रियाओं का व्यापक परिवेश आता है, किन्तु मूलतः वृत्तियों की परिकल्पना का क्षेत्र नाटककार की अपनी अनुभूति का सीमित परिवेश ही है, जो साधारणीकरण की व्यापक भूमिका का आंशिक ही स्पर्श कर सकता है। यह तथ्य अवश्य निर्विवाद है कि साधारणीकरण की परवर्ती परिकल्पना में वृत्तियों की अवधारणा के अन्तःसूत्र विद्यमान रहे हैं।

सिद्धि

काव्यगत अभिव्यंजना एवं नाट्य-प्रयोग का संधिबिन्दु सहृदय की भावात्मक प्रतिक्रिया में निहित है, किन्तु काव्यात्मक अभिव्यंजना में कवि और सहृदय का अन्तःसम्बन्ध शब्दमयी सृष्टि में ही घटित होने के कारण

---

१. ...the essential idea behind such variations is the same because it is universal. (S. S. Barlingay, op. cit. p. 15)

२. After all, we do know many human tendencies and probabilities and base all our conduct on some sense of the predictability of human reactions to it.
(Marjorie Boulton, The Anatomy of Drama, p. 94)

परोक्ष एवं अंशतः मनोमय ही रहता है। इसकी अभिज्ञता का तत्कालीन प्रमाण केवल कवि का द्विधाविभक्त सहृदयनिष्ठ अन्तर्व्यक्तित्व ही होता है। नाट्य-प्रयोग में सहृदय (प्रेक्षक) की अनुभूतिक संरचना इस अर्थ में विशिष्ट अथवा पृथक् होती है कि प्रयोग सिद्धि के प्रत्यक्ष निर्णायक सहृदय प्रेक्षक की वाङ्मयी एवं शारीरी अभिव्यक्तियाँ प्रयोग की सफलता अथवा उपलब्धियों का तत्काल साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। ये सहृदयगत प्रतिक्रियाएँ एक प्रकार से काव्यानुभूति एवं नाट्य-प्रयोगों की उपलब्धियों को पृथक् अर्थ देती एवं भिन्न संदर्भों में स्थापित करती हैं, किन्तु काव्य एवं नाट्य दोनों की मूल प्रकृति को कभी इतना पृथक् अथवा एकान्त विशिष्ट नहीं माना गया कि उन्हें सम्पूर्ण दो भिन्न अवधारणाएँ कहा जाए। तथ्य यह है कि नाट्य-प्रयोग की सिद्धि की अवधारणा से काव्यात्मक सिद्धियों की अवधारणाओं एवं उद्भावनाओं को बल मिला तथा नाट्य एवं काव्य का समीकरण प्रस्तुत हुआ। इसका एक परिणाम यह हुआ कि काव्य की अमूर्त उपस्थापना तथा अनेक अर्थों को वहन करने वाली प्रतीकात्मक अभिव्यंजना का नाटक में अन्तःप्रवेश हुआ और आस्वादन की मूल प्रकृति अधिक सूक्ष्म एवं मनोमयी होती गई। साथ ही नाटक के अभिनय व्यापार के काव्यात्मक संयोजन की संभावनाओं का भी काव्य की आस्वाद प्रक्रिया के स्वरूप विवेचन पर प्रभाव पड़ा। फलतः दोनों संदर्भ इतने अभिन्न एवं संश्लिष्ट हो गए कि नाट्य-प्रयोग की अपेक्षाओं एवं उसके अन्तर्भावन की सम्पूर्ण अर्थवत्ताओं का प्रक्षेपण काव्य सृष्टि की प्रतीकात्मक तथा अमूर्त अभिव्यंजना पर परम्परागत रूप से कर दिया गया।

भरत का तत्त्व-चिन्तन मूलतः नाट्य-प्रयोग को केन्द्र में रख कर चला है तथा काव्य की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना की मूल प्रकृति को उन्होंने पृथक् अर्थ अथवा मूल्य नहीं दिया है। अतः भरत द्वारा प्रस्तुत नाट्यानुभूति की चरम अनुभूति के बोध की पीठिका के रूप में भिन्न एवं व्यापक अर्थवता रखती है। भरत ने इस प्रक्रिया को सिद्धि शब्द से अभिहित किया है। साधारणीकरण की पृष्ठ-भूमि में सिद्धि की यह प्रकल्पना कविता में निहित प्रेषणीयता के तत्त्वों का पूर्वाभास देती है। तद्विषयक परवर्ती समानान्तर चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में प्रेषणीयता के ऐतिहासिक बोध की दृष्टि से भी उनकी संकल्पना महत्वपूर्ण है। द्रष्टव्य यह है कि भरत ने रसानुभूति के समानान्तर नाट्य-प्रयोग (मंचीय प्रस्तुति) की प्रेक्षकगत चरमानुभूति को लक्ष्य में रख कर सिद्धितत्त्व का विशिष्ट एवं पृथक् उल्लेख किया है :—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः ।
सिद्धिस्वरास्तथातोद्यं गानं रंग च संग्रहः ॥[1]

वस्तुतः वृत्ति-प्रवृत्तियों का पर्यवसान भी सिद्धिप्रयोग में ही होता है। नाट्यप्रयोग का लक्ष्य सिद्धि ही है। 'यस्मात्प्रयोगः सर्वोऽयंसिद्ध्यर्थं संप्रतिष्ठतः'[2] इस सिद्धि का संबंध एक स्तर पर मंचीय अभिव्यक्ति से है दूसरे स्तर पर प्रेक्षकों और प्रशासनिकों की नानाविध प्रतिक्रियाएँ भी इसी के अन्तर्गत हैं। नाट्य-सिद्धि की दो कोटियाँ है—वाङ्मयी तथा सत्त्वांगसमुद्भव अर्थात् शारीरी। पुनः इन सिद्धियों के दो प्रकार हैं—दैवी तथा आसुरी। प्रथम दैवी सिद्धि में रंग-मंडप शान्त तथा गम्भीर एव निःशब्द प्रेक्षकों के भावातिशय युक्त वातावरण से परिपूर्ण होता है। प्रेक्षकों की सुरुचि एवं सांस्कृतिक दृष्टि दैवी वातावरण के निर्माण में योग देती है। भरत ने दैवी सिद्धि को भावातिशयोपेता तथा समग्रशान्तिस्वरूपा दो प्रकार की कहा है, जिसमें अंशतः परवर्ती रस-चिन्तन का पूर्वाभास स्पष्ट है।

'या भावातिशयोपेता सत्त्वयुक्ता तथैव च।
नैव शब्दो न च क्षोभो न चोत्पातनिदर्शनम् ।
सम्पूर्णता च रंगस्य सा सिद्धिर्दैविकी स्मृता।''[3]

मानुषी के दस भेद हैं। स्मित, अट्टहास, अतिहास, साधु, अहोकष्टम्, प्रवृद्धनाद, सरोमांचपुलक, अभ्युत्थान और चेलांगुलीदान। ये वस्तुतः विविध भावों के अनुरूप प्रेक्षकों की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हैं, जिनमें शिष्ट हास्य के प्रयोग पर प्रेक्षकों के मन्दस्मित से लेकर विदूषकों की उपाहासास्पद आंगिक चेष्टाओं पर प्रेक्षकों के अट्टहास तक का विधान है। धार्मिक संदर्भों के उत्कृष्ट अभिनय पर प्रेक्षकों का परितोष यदि साधु शब्द से व्यक्त होता है, तो शृंगार, वीर तथा अद्भुत के भावों पर दर्शक का भावावेश अहो शब्द में प्रतिध्वनित होता है। करुणा में अश्रुपूरित नेत्रों के साथ 'कष्टम्'

---

[1] नाट्यशास्त्रम् (सं० बटुकनाथ शर्मा, बलदेव उपाध्याय) चौखम्बा-१९२९ पृ० ६९ (६/१०)

[2] वही—(२७/१) पृ० ३०८

[3] वही—(७/१६-१७) पृ० ३०९

की ध्वनि तथा विस्मय के प्रकाशन पर उच्चस्वर में प्रवृद्धनाद प्रेक्षकों की मुक्त-कण्ठ से की हुई प्रशंसा का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।[1]

उत्कृष्ट अभिनय पर भावावेश में प्रेक्षक आन्तरिक आह्लाद एव प्रशंसा को रोमांच, पुलक अथवा अभ्युत्थान मूलक शारीरिक चेष्टाओं से ही नहीं वस्त्राभूषण आदि के अर्पण से भी व्यक्त करते हैं। वस्तुतः प्रेक्षकगत वाक्चेष्टाओं तथा शारीरी अनुक्रियाओं की स्थूल अभिव्यंजनाएँ प्रकारान्तर से नाटक की विशिष्ट भावाभिव्यक्ति की मूल प्रकृति तथा उसके सम्प्रेषण की सामर्थ्य को प्रमाणित करती है। प्राचीन वाङ्‌मय में अभिनय एव काव्य पाठ के विशिष्ट परिदृश्यों में प्रेक्षक एव श्रोताओं की वाङ्‌मयी तथा चेष्टामूलक अनुक्रियाओं का उल्लेख इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि कवि एवं प्रस्तोता ने भाव सृष्टि के अनुरूप अभिव्यंजनात्मक उपकरणों का उत्कृष्ट संयोजन किया है। मुनि-मण्डली में लव-कुश द्वारा रामायण का गायन मुनियों में ऐसी ही अनुरूप भाव-चेष्टाओं को उद्बुद्ध करता है, जिनसे काव्य में निवद्ध शृंगार करुणादि भावों में उपयुक्त सम्प्रेषण की क्षमता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है :—

तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे वाष्पपर्याकुलेक्षणाः ।
साधु साध्विति तावूचुः परं विस्मयमागताः ।
ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः ॥
प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायमानौ कुशीलवौ ।
अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ॥[2]

ऋषियों की प्रशंसा काव्यार्थ में निहित उन सम्प्रेषणीय तत्त्वों की ओर स्पष्ट रूप से इंगित करती है जो अतीत की घटनाओं को प्रत्यक्ष-सी दिखा कर सहृदयों को तन्मय एव देशकालातीत चेतना में एकाग्र कर सकती हैं।[3]

स्पष्टतः आस्वाद की यह चरम भूमिका **साक्षादिव हृदये निविशमानं, चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानम्** से भिन्न नहीं है। भरत ने दैवी सिद्धि को

---

१. नाट्यशास्त्रम् (चौखम्बा, १९२९) २७/१०-११, पृ० ३०९
२. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण (गोरखपुर सं० २०२४) १/४/१५-१७ पृ० ३७
३. चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् -वही-१/४/१८, पृ० ३७

भावातिशयोपेता कहा है। इसमें अंशतः परवर्ती साधारणीकरणमूलक चिन्तन का पूर्वाभास स्पष्ट हे । प्रयोग से परितुष्ट होकर मुनि लव-कुश को कलश वस्त्रादि के दान से भी पुरस्कृत करते हैं।

'प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ ।
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद् ददौ ताभ्यां महायशः ।।'[1]

वस्तुतः मानुषी एवं दैवी सिद्धि का अन्तर प्रेक्षकों की संस्कृत-असंस्कृत प्रकृति की अपेक्षा नाटक अथवा काव्य के विशिष्ट रसात्मक स्थलों की प्रभावानुभूति अथवा चरमानुभूति से विशेष सम्बद्ध है। ऋषि विशुद्ध अन्तःकरण वाले काव्य के अधिकारी श्रोता थे। वाल्मीकि ने ऋषीणां भावितात्मनाम् कहा है जिसमें अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः का ही अर्थ निहित है। वस्तुतः वाष्पपर्याकुलेक्षणाः तथा साधु साध्विति तथा प्रत्यक्षमिव दर्शितम् में दैवी अथवा मानुषी सिद्धि के विविध आयामों की ओर ही संकेत है, प्रेक्षकों के संस्कृत या असंस्कृत व्यक्तित्व की व्याख्या नहीं है । सिद्धि में प्रेक्षकगत अतार्किक अथवा अर्द्धचेतन भावनोत्तेजक प्रक्रियाओं से लेकर संविद्विश्रान्ति की भावातिशयोपेता तक की सभी प्रक्रियाओं का समाहार है। सिद्धि का क्षेत्र आस्वाद की सूक्ष्म, स्थूल, दोनों अभिव्यक्तियों तक विस्तृत है, जिसमें प्रेक्षकीय वाङ्मयी आनन्दात्मक अभिव्यक्ति तथा रोमांच पुलक आदि सात्त्विक स्फुरण के साथ काव्यार्थ के अन्तर्भावन की सूक्ष्म प्रक्रिया भी चलती रहती है। डा० बारलिंगे का कथन है कि नाट्य-प्रदर्शन का मूल उद्देश्य सिद्धियों की प्राप्ति ही था, किन्तु अभिनव गुप्त ने सिद्धि और रस तत्त्व का समीकरण कर प्रेषणीयता की अपेक्षा आनन्द-तत्त्व पर आधृत आस्वादन पक्ष को अधिक महत्त्व दिया। क्रमशः सिद्धि-तत्त्व रस और आनन्द के समीकरण के कारण विस्मृत हो गया। रस का यह परवर्ती रूप भरत निरूपित सिद्धि तत्त्व में भी अन्तर्भूत है।[2] आनन्द-तत्त्व के रस की मूल प्रकृति के रूप में विकसित हो जाने के कारण रस ही सिद्धि का स्थानापन्न बन गया। वस्तुतः तथ्य यह है कि सिद्धि में प्रेक्षकगत भावातिशयता को नाट्यास्वाद के अन्तिम तथ्य के रूप में विश्लेषित किया गया है। जो एकान्ततः

---

[1] वाल्मीकीयरामायण १/४/२०-२१ पृ०३७

[2] डा० सुरेन्द्र बारलिंगे (सौंदर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त, पृ०-१३०)

नाट्य-प्रयोग से सम्बद्ध होने के कारण काव्यार्थ तथा सहृदय के अन्त:सम्बन्ध की की मनस्तात्त्विक भूमिका का विश्लेषण करने में असमर्थ है। फलतः आरोप, अध्यवसाय अथवा अनुमान के आधार पर काव्यार्थ तथा आस्वाद के समीकरण का समाधान पाने की जिस मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक परम्परा का सूत्रपात हुआ साधारणीकरण के सिद्धान्त में उसे अभीप्सित लक्ष्य मिल गया। काव्यार्थ तथा सहृदय के अद्वैत की सिद्धिपरक भूमिका की यह अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और व्यापक परिणति है। सिद्धि भी भावोपेता है, किन्तु यह नाट्यार्थ की प्रकृति से सम्बद्ध है तथा सहृदय की भावात्मक स्थिति की सटीक व्याख्या प्रस्तुत नहीं करती। उसमें अंशत: नाट्य प्रयोग का अभिनय पक्ष भी असंपृक्त नहीं है जो रंगमंच के उपकरण, आतोद्यगान तथा अभिनेता के अभिनय कौशल के कारण आस्वाद को अतिरिक्त आयाम देता है। कभी-कभी अभिनेता का अभिनय-कौशल तथा विशिष्ट भूमिका में उसकी अभिनय प्रतिभा का स्थापित विम्ब भी प्रेक्षकों से अनुकूल प्रतिक्रिया आमंत्रित कर सकता है। अतः नाट्यगत सिद्धि की पूर्णता के होते हुए भी नाटक साधारणीकरण की दृष्टि से असफल सिद्ध हो सकता है। नाटक में वागंगसत्त्वोपेतान् भावाभिनयसम्बद्धान् में भाव से आशय नाटकगत प्रयोगों के अन्तर्भावन से है, किन्तु '**कवेरन्तरगंतं भावं भावयन् भाव उच्यते**[1]।' में भाव शब्द कवि के आन्तरिक मनोभावों की शब्दार्थमयी सृष्टि को केन्द्र में रखता है। सिद्धि का प्रमुख सम्बन्ध प्रथम से तथा साधारणीकरण का अनिवार्य संबंध द्वितीय से है। अतः यह कहना अंशतः ही ग्राह्य है कि सिद्धि काव्यार्थ तथा कलात्मक आस्वाद का समीकरण है।[2] इसमें रंगमंच-प्रतीकों की मध्यस्थता स्थिति को पराश्रित बना देती है। साधारणीकरण में काव्यार्थ तथा आस्वाद का प्रत्यक्ष समीकरण है, जो भावात्मक उद्बुद्धि के साथ बौद्धिक जागरूकता से भी अन्वित है।

भाव-अनुभावन

भाव अथवा अनुभावन का एक पक्ष काव्यार्थ से सम्बद्ध है तथा दूसरा पक्ष प्रमातृगत काव्यानुभूति के अन्तर्भावन की परिधि में आता है। भरत ने

---

[1] नाट्यशास्त्रम् (चौखम्बा-१९२९) पृ० ७९

[2] At one end there is kavyartha or the poetic creation, at the other end there is the artistic enjoyment or siddhi which connects the stage with appreciator.

(S.S. Barlingay, Indian Aesthetics and Art Activity, p. 24

भाव शब्द की व्युत्पत्ति में इन दोनों सन्दर्भों का उपयोग किया है। **अत्राह-भावा इति कस्मात् ? किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः।**[1]

भाव की व्युत्पत्ति भू धातु से है, जिसका अभिप्राय है काव्यार्थ की वस्तुगत सत्ता। इस व्युत्पति का स्पष्ट सम्बन्ध काव्य की उस रचना-प्रक्रिया से है, जिसमें काव्यार्थ विभावों द्वारा रूपायित हो कर वाचिक, आंगिक अभिनयपरक अनुभावों के द्वारा संवेद्य स्थिति को प्राप्त करता है। भावयन्ति से आशय सहृदय के हृदय में व्याप्त होने अथवा काव्य वस्तु के आस्वादन से है।[2] इस प्रकार भाव शब्द में दोनों अर्थ संयुक्त हो कर सम्प्रेषणीयता की मौलिक विशेषता की ओर इंगित करते हैं।

काव्यार्थ कवि के अनुभव परिवेश का वह संघनित रूप है, जो विभावों में परिणत होते ही व्यक्तिनिरपेक्ष एवं देशकालातीत होकर अभिव्यंजित हो जाता है। इसकी अभिव्यंजना में बहिर्व्याप्त एवं संवेद्य होने की स्वाभाविक शक्ति निहित है। भरत का कथन है कि कवि के अन्तर्गत भाव को भावित करने के कारण ही भाव को भाव संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसी के समानान्तर तथ्य यह भी है कि भाव ही सहृदय के चित्त में कवि के अनुभव परिवेश को संक्रमित करते हैं।

'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।
नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥[3]

यहाँ हमारा उद्देश्य भाव-प्रक्रिया के इस अंश का विवेचन करता है। जो काव्यवस्तु से भिन्न कवि तथा सहृदय की अनुभूति प्रक्रिया के अन्तः संबधों को द्योतित करता है। इस प्रक्रिया में जैसा ऊपर कहा गया है, भावों में कवि के अनुभूत परिवेश को अभिव्यंजित तथा सहृदय के स्तर पर संवेद्य बनाने की आंतरिक क्षमता को स्वीकृति दी गई है। भरत ने भाव को सम्प्रेषणीयता का एक विशिष्ट आयाम दिया है, गन्ध मुक्त होते ही जैसे

---

[1] नाट्यशास्त्रम्, मधुसूदन शास्त्री, वाराणसी-१९७१, पृ० ७८३

[2] भावयन्ति आस्वादनं कुर्वन्ति हृदयं व्याप्नुवन्तीति।
वही-अभिनवभारती पृ० ७८६

[3] नाट्यशास्त्रम् (चौखम्बा-१९२९) ७/२, ३ पृ० ७९-८०

स्वतः वातावरण में अभिव्याप्त हो जाती है, उस प्रकार कवि के हृदयगत भाव अभिव्यंजित होते ही स्वतः सहृदय के अन्तकरण में अभिव्याप्त हो जाते हैं। **'भावितो वासितः कृत इत्यर्थान्तरम्। लोकेऽपि सिद्धम् अहो ह्यन्योन्य-गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितम्।'**[1]

अभिनव ने भरत द्वारा निर्दिष्ट इस भावप्रक्रिया में ही साधारणीकरण की मूल अवधारणा का अनुसंधान किया है। **'उक्तमेव मुनिना, न त्वपूर्वं किंचित्। तथा ह्याह 'काव्यार्थान् भावयन्ति' इति। तत्काव्यार्थो रसः।'**[2]

प्रकारान्तर से अभिनव का यह कथन इस तथ्य का भी द्योतक है कि भाव की अवधारणा में ही सहृदय की अनुभावन प्रक्रिया के सूत्र निहित हैं। अतः विचारणीय अंश यह है कि भाव की आभ्यन्तर योजना में वे कौन से नैसर्गिक गुण अथवा तत्त्व निबद्ध हैं, जो कवि के भावों को भावित अथवा संक्रमित करने में स्वाभाविक योग देते हैं। इसी से सम्बद्ध दूसरा विवेच्य संदर्भ यह है कि वह प्रक्रिया अंशतः अथवा सम्पूर्णतः साधारणीकरण की प्रक्रिया से किस अर्थ में भिन्न अथवा समरूप है। शास्त्रीय परिधि में ये संदर्भ भाव की रसात्मक परिणति के अन्तर्गत विवेच्य हैं। इस संदर्भ में भरत का स्पष्टीकरण है, **'एवं ते विभावानुभावसंयुक्ता भावा इति व्याख्याताः।'**

आशय यह है कि कवि का अनुभूति-परिवेश लौकिक अनुभवों से ही समृद्ध होता है, किन्तु उसके द्वारा भावित एवं पुनर्भावित होकर वे लौकिक प्रयोजनीयता अथवा क्रियाकारिता से मुक्त हो जाते हैं। क्रमशः अनुभूतियों की योजना अधिक संघनित होती जाती है। एक स्तर पर आकर यह अनुभूति संघात अपने मूलभूत व्यावहारिक स्वरूप से गुणात्मक स्तर पर भिन्न हो जाता है, व्यक्ति संसर्ग से मुक्त होकर यह संघात काव्यार्थ में पर्यवसित हो जाता है। यह भाव के निष्क्रिय अस्तित्व (भवन) का सक्रिय आवेगात्मकता (भावन) में रूपान्तर है। इस स्थिति में भावों की बाह्य सत्ता नहीं रहती। नाट्यस्तर पर वे अभिनयन में तथा काव्य के धरातल पर शब्दार्थमयी सृष्टि में प्रतीकात्मक आचरण करने लगते हैं।[3]

---

[1] नाट्यशास्त्रम् (चौखम्बा-१९२९) पृ० ७९

[2] नाटयशास्त्रम् (मधुसूदन शास्त्री) पृ० ६५२

[3] भावाभिनयनं कुर्याद्विभावानां निदर्शनैः। तथैव वानुभावानां भावात् सिद्धि प्रकीर्तिता॥ नाट्यशास्त्रम्, २५/३८

निष्कर्ष यह है कि कवि प्रथम स्तर पर अपने अनुभूति-परिवेश का अन्तर्भावन करता है, जो एक प्रकार से कवि के भाव-जगत् में वस्तुजगत् का पुनरनुसंधान है। वस्तु की बाह्य सत्ता के लुप्त हो जाने से वह एक अनुभूति मात्र रह जाता है, जिसमें तन्मयीभवन के स्तर पर कवि का हृदय-संवाद घटित होता है।[1] अभिनव ने आदि कवि के संदर्भ में उक्त प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा है- **'स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः...रसपरिपूर्णकुम्भोच्छलनवच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च ।**[2]

यह प्रक्रिया रस से परिपूर्ण कुंभ के उच्छलित रूप जैसी है (रस परिपूर्णकुंभोच्छलनवत्) ।

यह अभिव्यक्ति कवि से विनिर्मुक्त होकर सहृदयमात्र से संवाद स्थापित करती है। यह हृदय-संवाद की भूमिका अनुभूतियों के सामान्यगुण योग से निष्पन्न होती है। सामान्य गुण योग से आशय यह है कि जब एक केन्द्रीय अनुभूति में विविध अनुभूतियाँ संश्लिष्ट हो जाती हैं, तो उनकी विशिष्ट सत्ता लुप्त हो जाती है, वे अनुभोक्ता की वैयक्तिक सीमा से मुक्त होकर सामान्यीकृत हो जाती हैं। सामान्यगुणयोग से भरत का आशय अंशतः अनुभावन व्यापार के संदर्भ में भी समझः जा सकता है। अनुभावन में अनुभूतियों का संश्लेष इस प्रकार होना चाहिए कि वह स्वगत और परगत प्रतीतियों से भिन्न हो। यदि अनुभूति एकायामी है तथा निजी प्रयोजनीयता एवं रागद्वेष की अन्तःपरिधि में आबद्ध है अथवा तटस्थ और रागहीन है[3] तो संवेद्य अर्थ के अनुरूप भाव-योजना में योग न दे सकेगी। सामान्यगुण योग की अनुपस्थिति में वह अनुभूति विशिष्ट और असामान्य ही बनी रहेगी।[4]

असुरों के क्षोभ निराकरण के प्रसंग में प्रयुक्त अनुभावन शब्द से ब्रह्मा का यही अभिप्राय है—**'नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम् ।**[5]

---

[1] योऽर्थो हृदयसंवादो तस्य भावः रसोद्भवः ।
नाट्यशास्त्रम् ७/७, पृ० ८०

[2] ध्वन्यालोकलोचन, १/५ की वृत्ति पृ० ८७ (चौखम्बा, १९६५)

[3] दे० अभिनवभारती, (दिल्ली), पृ० १८१

[4] नाट्यशास्त्रम्, १/१०३, पृ० ८

अनुभावन शब्द की विशिष्ट प्रासंगिकता इस स्तर पर है कि कवि और सहृदय के अन्तः सम्बन्ध के समझने की सतत समानान्तर व्याख्या यात्रा का यह प्रस्थानबिन्दु है । यह नायक की भावना व्यापार (अनुभावन) की अन्तःयात्रा से ही साधारणीकरण की व्यापक अवधारणा तक पहुँचता है । अनुभावन व्यापार में लौकिक यथार्थ को काव्यार्थ में परिणत कर सम्प्रेषणीय बनाने की कलात्मक प्रक्रिया का आख्यान निहित है । **'एभ्यश्च सामान्य गुणयोगेन रसाः निष्पद्यन्ते'** तथा **'कवेरन्तर्गत भावं भावयन् भाव उच्यते'** इत्यादि कारिकाएँ काव्यार्थ के साधारणीकृत भावन की पीठिका प्रस्तुत करती हैं । अभिनव की व्याख्या का आधार पाकर तो ये संदर्भ स्पष्टतः साधारणीकरण की ओर लक्ष्योन्मुख प्रतीत होते हैं । **कवेः वर्णनानिपुणस्य यः साधारणः अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयो न तु अलौकिकविषयजो रागस्तमेव देशकालादिभेदाभावात्सर्वसाधारणीभावेन भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन् भावश्चित्तवृत्तिलक्षण एवोच्यते ।**[1]

तत्संबंधी परवर्ती चिन्तन में भरत के 'भावित' एवं अनुभावन शब्दों के निहितार्थों का व्यापक उपयोग हुआ है । राजशेखर की भावयित्री प्रतिभा की अवधारणा इसकी प्रमाण है । 'भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री । सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति ।'[2] धनंजय ने 'भाव' शब्द में निहित सहृदय के अन्तःकरण को भावित करने की नैसर्गिक अन्तःशक्ति का संकेत दिया है ।

सुखदुःखादिकैर्भावैस्तदभावभावनम् अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तदभावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावि । स्पष्ट है कि काव्यार्थ के सम्प्रेषण की दिशा में ये परिभाषाएँ कोई कलात्मक संकेत नहीं देती तथापि साधारणीकरण के सीमान्त तक ले जाने वाले काव्यार्थ के अनुभावन की पीठिका में इन निहितार्थों का उपयोग अवश्य हुआ है ।

विश्रान्ति

शैव-दर्शन में विश्राम का अर्थ आत्म-स्वरूप से प्रत्यावर्त्तन है । भैरव सृष्टि-क्रम में अपनी अविकृत मूल प्रकृति में विश्रान्त रहने के कारण विश्राम

---

[1] नाट्यशास्त्रम् (अभिनवभारती सहित), वाराणसी-१९७१, पृ० ७९०-९१

[2] काव्यमीमांसा, पृ० ३४

कहलाते हैं । 'सृष्टिक्रमेण यथा अविकृतानुत्तरध्रुवरूपविश्रान्तो भैरवभट्टारकः सकलकलाजालजीवनभूतः सर्वस्य आदिसिद्धोऽकलात्मकः, स एव प्रसरात्मनारूपेण विसर्गरूपतामश्नुवानो, विसर्गस्यैव कुण्डलिन्यात्मक-ह-शक्तिमयत्वात् । (परातृंशतिवृत्तिका ५५-६) ।[1] विश्रान्ति का अर्थ संहार भी है । संहार बाह्यतः मृत्यु से अन्वित है, संहार के अनन्तर जीवात्माएँ संसार के श्रम से मुक्त होकर विश्रान्ति पाती हैं ।[2]

इन दोनों संदर्भों में बाह्य विस्तार से मुक्त उस आत्मलीनता की व्यंजना है, जिसमें बाह्य-स्वरूप आत्म-स्वरूप में विश्रान्त होता है । प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में भी यह शब्द अपने आभ्यन्तर स्वरूप से तादात्म्य अर्थात् बहिर्मुखी स्वरूप के आभ्यन्तर स्वरूप में विलीन होने का अर्थ द्योतित करता है । इसी भूमिका में परम शिव की चित् एवं आनन्द से युक्त स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है ।[3]

उत्पलाचार्य के अनुसार प्रकाश का आत्मा में विश्रान्त होना ही अहंभाव है । इसे विश्रान्ति इसलिए कहते हैं कि इसमें समस्त लौकिक अपेक्षाएं निरुद्ध हो जाती हैं ।

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः ॥[4]

---

१. अभिनवगुप्त (डा० कान्तिचंद्र पाण्डे, चौखम्वा-१९६३) पृ० ७४९ से उधृत ।

२. ……Samhara though ostensibly associated with death and destruction involves giving rest (visranti) to selves from the strenuaness of samsara.

(K. Sivaraman, Saivism-1973, p. 155

३. सर्वेषां दर्शनानां-समस्तानां नीलसुखादिज्ञानानां याः स्थितयः-अन्तर्मुखस्वरूपा विश्रान्तयस्तास्तद्भूमिकाः-चिदानन्दघनस्वात्मस्वरूपाभिव्यक्त्युपायाः । तथा हि यदा यदा बहिर्मुखं रूपं स्वरूपे विश्राम्यति, तदा तदा बाह्यवस्तूपसंहारः, अन्तःप्रशान्तपदावस्थितिः, तत्तदुदेष्यत्संवित्संतत्यासूत्रणम् ।

(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० १९-२०, कश्मीरग्रन्थावली, १९११)

४. वही, पृ० ५०

निष्कर्षत:—

१. विश्रान्ति चित्त की तल्लीनता की भूमिका है।[1]

२. इसमें लौकिक विषयों से प्रत्यावर्तित होकर मन आत्मतत्त्व (संवेद्य-तत्त्व में) समाहित होता है।

३. सांसारिकता से परिश्रान्त मन आत्म-परामर्श में विश्राम ग्रहण करता है।

४. यह प्रमाता का अपने आभ्यन्तर स्वरूप से तादात्म्य है।

५. यह एक चेतन एवं आनन्दमयी क्रिया है, जिसमें संवित् सकल रागद्वेषपरक प्रयोजनीय विषयों से विनिर्मुक्त होकर आत्मलाभ करता है तथा इसमें बाह्य संसर्गों की चेतना के स्थगित हो जाने से समस्त विषयानुभूति आत्मलीन हो जाती है।[2]

अभिनव ने चमत्कार, निर्वेश, रसन आदि विविध पर्यायों के अन्तर्गत विश्रान्ति का रसानुभूति की चरम दशा के स्तर पर उल्लेख किया है। समग्र रागद्वेषादि विघ्नों से विनिर्मुक्त यह संवित्ति ही समापत्ति अथवा लय की पर्याय विश्रान्ति है। **सकलविघ्नविनिर्मुक्त-संवित्तिरेव चमत्कार-निर्वेश-रसन-आस्वादन योग-समापत्ति-लय-विश्रान्त्यादि शब्दैरभिधीयते।**[3]

काव्यानुभूति के स्तर पर यह अभ्यास एवं संस्कार-सम्पन्न प्रेक्षक के श्रान्त मन तथा लौकिक दु:ख से परिखिन्न हृदय की विविध प्रक्रियाओं की निरुद्धता अर्थात् उसकी विशृंखल चेतना की समाहिति है।

---

[1] Resting of all objective experience within oneself is what is mean by I-feeling....because of the cancellation of all relational consciousness, and of dependence on anything outside oneself.
(Jaideva Singh, Pratyabhijnahradayam, 1977 p. 109).

[2] And quiething down it is called because perception of the universe is impeded
(Bear and Kurt-Adyar-1938) p. 93.

[3] अभिनवभारती, (दिल्ली-१९७३) पृ०, ४७३

भट्टनायक ने रससूत्र की व्याख्या में विश्रान्ति शब्द का प्रयोग संवेद्यान्तरता को नियन्त्रित कर अवधान-केन्द्र में समाहित करने वाली एकाग्रता अथवा तन्मयता के अर्थ में किया है, जो अनिवार्यतः चेतन एवं आनन्दमयी क्रिया है। **'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन'**[1]।

यहाँ सत्वोद्रेक से आशय अवधान की विघातक उन प्रतिक्रियाओं के नियंत्रण से है, जो संवेद्य में अवरोध उपस्थित करती है।[2] इसका विधेय पक्ष प्रकाश शब्द से द्योतित है, अर्थात् जितना ही यह उद्रेक प्रखर होगा, उतनी ही अवरोधक चित्तवृत्तियाँ नियंत्रित होंगी।

भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने आत्म-विश्रान्ति अथवा विश्रान्ति का उल्लेख प्रायः उस वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य मानसिक दशा के लिए किया है, जिसमें भौतिक अथवा लौकिक आकर्षणों एवं उपादानों से उपरत होकर चित्तवृत्ति संवेद्य-विषय में एकाग्र होती है। विश्रान्ति (वि+श्रम्+क्तिन्) का का शाब्दिक अर्थ है, इतर पदार्थों से निराकृत होकर, किसी बिन्दु पर निरुद्ध अथवा एकाग्र होना।

इसमें श्रम के विगत होने का जो भाव निहित है, वह इसकी अर्थच्छाया को प्रगाढ़ करता है। भरत ने विश्रान्ति का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

'दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।[3]

यहाँ स्पष्टतः अभिनव ने विश्रान्तिजननम् से क्लेश, श्रम तथा खेद से मुक्ति प्रदान करने वाला अर्थ ग्रहण किया है, जो प्रस्तुत संदर्भ में प्रासंगिक है। यथा—**तत् प्रेक्षाकाणां दुःखेन व्याध्यादिकृतेन, श्रमेण अध्वक्लेशादिजेन, शोकेन बन्धुमरणादिकृतेन, आर्त्तानां पीडितानां, तथा तपस्विनां अनवरत-**

---

[1] अभिनवभारती, (दिल्ली १९७३) पृ०, ४६५

[2] This leads to the problem of distruction, the interference that is offered by stimuli which are not in harmony with a goal, and the resulting failure to maintain full fixation upon matters relevant to the goal.

(Gardner Murphy, Psychology-1968, p. 141)

[3] नाट्यशास्त्रम् १/१११, ११२ पृ० ९

कृच्छ्रचान्द्रायणाद्याचरणकलितदौर्बल्यातिशयपरिखिन्नहृदयानां विश्रान्तिजननं दुःखप्रसरणविघातकं, प्रतिहतदुःखानां चाह्लादधृत्यादिकारणं यथायोगम् ।''[1]

द्रष्टव्य यह है कि श्रम अथवा खेदमुक्ति का यह स्थूल अभिप्राय क्रमशः सूक्ष्म होता हुआ आह्लाद तथा धृति जैसे सूक्ष्म अनुभूतिपरक प्रत्ययों में परिणत हो गया है। खेद अथवा श्रम के अपनोदन, दुःख-निरोध, धृति, आह्लाद तथा चित्तवृत्ति की तल्लीनता के समीकरण के द्वारा अभिनव विश्रान्ति की अर्थच्छाया को अधिक प्रगाढ़ करते हुए उसे रसानुभूति के दार्शनिक सीमान्त तक ले आते हैं। इस समीकरण का आधार पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। ध्यान की एकाग्रता मूलतः वातावरण के प्रति समायोजन की प्रक्रिया का ही अंग है। इस क्षण में मानसिक क्रिया तीन परिपार्श्ववर्ती क्षेत्रों में विभक्त रहती है:—पूर्ण चेतना का केन्द्रीय क्षेत्र, धुंधली चेतना का मध्यवर्ती क्षेत्र और पूर्णतः अचेतन क्रियाओं वाला बाह्य क्षेत्र। चेतना का मध्यवर्ती क्षेत्र संवेद्य तत्त्व के अतिरिक्त इतर वस्तुओं का भी बोध करा कर सुखद दुःखद अनुभूति की अन्तर्धारा प्रवाहित करता है, किन्तु अवचेतन के अनेक आन्तरिक तत्त्व, जिनमें रुचि तथा अभ्यासजन्य संस्कार अथवा स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रमुख है, प्रतिकूल तत्त्वों के निरोध में चेतन मन की सहायता करते हैं तथा अवधान को विशृंखलित न होने देकर विशिष्ट प्रतिक्रियाओं में केन्द्रित करते हैं। यह अवधान का लौकिक धरातल है, जिसमें चयन, तत्परता तथा रुचि का महत्त्व है। अभिनव ने चेतना के केन्द्रीय क्षेत्र में नाट्य-प्रयोग के दृश्य-विधान को रखकर विघ्नबहुला प्रतीतियों को अवधान के बाह्य सीमान्त में रखा है, जो निरन्तर अवधान के केन्द्र में आने के लिए प्रयत्न करती रहती हैं। द्रष्टव्य यह है कि इन विघ्नबहुल प्रतीतियों का विवेचन करते हुए वे सर्वत्र ध्यान की एकाग्रता की अनिवार्यता की ओर इंगित करते हैं। यथा—अपने व्यक्तिगत सुख दुःखादि के कारण विवश व्यक्ति रसास्वाद में ध्यान को एकाग्र नहीं कर सकता।[2] गुणालंकार आदि अप्रधान वस्तु में रुचि रखने के कारण प्रमाता की अनुभूति नाट्यानुभूति में विश्रान्त नहीं हो

---

१. अभिनवभारती (प्रथमोऽध्यायः) पृ० २१०

२. निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति।
अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३, पृ०, ४७६

सकती ।[1] अविश्रान्ति मूलतः दुःखकर अनुभूति है, और रसास्वाद में निर्विघ्न विश्रान्ति का योग अनिवार्य है । अतः केवल निर्विघ्न विश्रान्ति रूप होने के कारण शोकानुभूति के आस्वादन में स्त्रियों को भी हृदय की विश्रान्ति प्राप्त होती है ।[2] कहने का आशय यह है कि विश्रान्ति की यह भूमिका साधारणीकरण के परिकर वृत्त में ही है, जो वेद्यांतर-शून्य अनुभूति के निर्माण में योग देती है ।

भाविक

काव्यार्थ के सम्प्रेषण में एक मुख्य तत्त्व परोक्ष का प्रत्यक्ष की भाँति अनुभावन है । भाविक अलंकार साधारणीकरण की अवधारणा के समानान्तर काव्यवस्तु के अन्तर्भावन का प्रत्यक्षपरक आख्यान प्रस्तुत करता है जो इस तथ्य को रेखांकित करता हैं कि रस-चिन्तन के अतिरिक्त अन्यत्र भी अलंकार-शास्त्र में ऐसे संकेत उपलब्ध हैं जिनमें साधारणीकरण की अवधारणा का उत्स खोजा जा सकता है ।

भामह ने भाविक अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ।।
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता ।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ।।'[3]

उद्भट भी लगभग इसी की आवृत्ति करते हुए कहते हैं—

'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः ।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचानाकुल्येन भाविकम् ।।'[4]

---

१. अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति ? तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात् ।
(अभिनवभारती दिल्ली-१९७३ वही- पृ०, ४७७)

२. एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिः । अन्तराय-शून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् । वही—पृ०, ४७८

३. काव्यालंकार (संपादक—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना-१९६२) पृ० ८५

४. काव्यालंकार-सार-संग्रह (संपादक डा० राममूर्ति त्रिप्राठी, प्रयाग, १९६६) पृ० ४०७

इसमें भाविक अलंकार को प्रबन्धविषयक गुण कहा गया है, जिसमें अतीत और भावी वर्तमान की भाँति प्रत्यक्ष दिखाये जाते हैं। इस प्रकार की प्रतीति का कारण है—अर्थ की चित्रता, उदात्तता और अद्भुतता, कथा की अभिनेयता तथा शब्दों की स्वच्छता। उद्भट के अनुसार वाणी की प्रसन्नता तथा अर्थों की विलक्षणता उसके निष्पादक तत्त्व हैं। इनकी उपस्थिति से कवि के शृंगारादि रसयुक्त विशिष्ट अर्थ या भाव को सहृदय श्रोता कवि की ही भाँति शीघ्रतापूर्वक काव्य के प्रतिविम्ब की तरह आत्मसात् कर लेता है।[1] उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि कवि एवं श्रोता, दोनों का सम्मिलन हो जाने से कविसंबंधी भाव सामने नाचता-सा प्रतीत होता है।

'तदेवं एवंविधहेतुनिबंधन कविश्रोतृभावद्वितयसंमीलनात्मकं भाविकं द्रष्टव्यम्। अत एव चात्र कविसंबंधिनो भावस्य श्रोतृभावाभेदाध्यवसितस्य पुरःस्फुरद्रूपस्य विद्यमानत्वाद्भाविकव्यपदेशः।'[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनव की साधारणीकरणविषयक अवधारणा का अन्तर्भाव भाविक के स्वरूप में प्रत्यक्ष लक्षित होता है। मम्मट की शब्दावली है **'सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् रसः।**[3]

दण्डी ने भी भामह के समान भाविकत्व को प्रबन्ध गुण कहा है और यद्यपि उनके कथन में **प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते** की क्षीण प्रतिध्वनि है, किन्तु कवि की अनुभूति पर विशेष बल देकर उन्होंने भाविकत्व की अवधारणा को एक विशिष्ट आयाम दिया है और इस दृष्टि से प्रत्यक्षतः उनकी संकल्पना साधारणीकरण की अवधारणा का स्पर्श करती है।

---

[1] तस्यां हि सत्थां कवेः संबंधी यो भाव आशयः शृंगारादिरससंवलितचतुर्वर्गोपायभूतविशिष्टार्थोल्लेखी स कविनेव सहृदयैः श्रोतृभिः स्वाभिप्रायभेदेन तत्तत्काव्यप्रतिबिम्बरूपतया साक्षात्क्रियते।

(-वही- इन्दुराज की व्याख्या) पृ० ४०७

[2] काव्यालंकार-सार-संग्रह (लघुवृत्ति) पृ० ४०८

[3] काव्य-प्रकाश (झलकीकर) पृ० ९२

'तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः ॥'[1]

यद्यपि **कवेरभिप्रायः** से कवि का क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं है, किन्तु प्रबन्ध की समाप्तिपर्यन्त जो काव्य में आद्योपान्त भाव अनुस्यूत रहता है तथा जिसमें आधिकारिक एवं प्राकरणिक वृत्तों में परस्परोपकारित्व की व्यंजना निहित है, वही कवि भाव है ऐसा प्रतीत होता है।[2] परवर्ती चिन्तन में दण्डी की इस अवधारणा को स्थान नहीं मिला तथा मूल बल अतीत और भविष्यत् के भावों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति पर ही रहा।[3] भाव शब्द में भावना की अन्तर्ध्वनि है। जैसे योगी समाधि में अतीतानागत का प्रत्यक्षीकरण करता है, उसी प्रकार सहृदय भी भाव-साक्षात्कार करते हैं। यथा--**योगिभिर्भावनाया बलात् अतीतानागतं वस्तु प्रत्यक्षीक्रियते, तथैव काव्यार्थविद्भिरपि तस्याः प्रत्यक्षायमाणत्वम्। तस्या एव बलात् भूता भाविनश्च भावाः पदार्थाः अप्रत्यक्षा अपि प्रत्यक्षा इव क्रियन्ते, तद् भाविकम्।** (आनन्दकविः)[4] रामायण के ऋषि श्रोता भी रामायण के पाठ को सुनकर उसके प्रत्यक्षायमाणत्व का स्तवन करते हैं **'चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्'** अनर्घराघव में भी कवि को ऋषि अथवा योगी की उस भूमिका पर स्वीकार किया गया है, जो अतीत और भविष्यत् को अपनी अन्तर्दृष्टि से मूर्त करने में योग देती है।

'अविद्याबीजविध्वंसादयमार्षेण चक्षुषा।
कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानमवीविशत् ॥'[5]

कहने का आशय यह है कि भाविक में यद्यपि प्रत्यक्षायमाणत्व की स्थूल संकल्पना ही प्रारम्भ में निहित थी, किन्तु क्रमशः कवि के अभिप्राय के संयुक्त हो जाने से उसमें सूक्ष्म अन्तर्दर्शन की व्यंजना उभर आयी। प्रतिहारेन्दुराज

---

१. काव्यादर्श (सम्पादक-रामचन्द्र मिश्र) चौखम्बा, १९५८ पृ० २२०

२. परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्
(वही, पृ० २२०)

३. यथा-प्रत्यक्षा इव यद् भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः। तद् भाविकम्।
(काव्यप्रकाश, सं० गजेन्द्र गडकर, १९३९, पृ० ९०)

४. काव्यप्रकाश (गजेन्द्र गडकर) पृ० ५७२ से उधृत।

५. अनर्घराघवम् २/३४ (चौखम्बा सं० २०१७) पृ० ९१

ने रसानुभूति के सारतत्त्व के रूप में भाविक का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि भाव उदात्त होने चाहिए, और अभिव्यक्ति पारदर्शी, तभी सहृदय का मन काव्य में प्रतिबिम्बत कवि के अभिप्राय को आत्म-सात् कर सकता है। इस प्रकार भाविक का क्षेत्र रसानुभूति की साधारणीकरण प्रक्रिया से एकान्त विच्छिन्न नहीं रह जाता। दण्डी का **कवेरभिप्रायः** भामह के प्रत्यक्षमाणत्व से युक्त होकर भट्टनायक के भावना-व्यापार को स्पर्श करता है।[1] यही सामंजस्य क्रमशः प्रतापरुद्रीय, अलंकारसर्वस्व इत्यादि[2] में उपस्थित होकर भाविक अलंकार के स्वरूप को भावना व्यापार के स्तर पर अधिकाधिक स्पष्टता से व्याख्यायित करता है।

भामह एवं दण्डी की परम्पराओं को आत्मसात् करता हुआ रुय्यक का विवेचन प्रतिहारेन्दुराज की व्याख्यासरणिपर भट्टनायक के भावना व्यापार तक पहुंच जाता है। रुय्यक भी प्रतिहारेन्दुराज की भाँति कवि तथा सहृदय के समीकरण की ओर संकेत करते हैं। कविगत भाव अथवा आशय श्रोता में प्रतिबिम्बित होता है तथा भावचिन्तन का श्रोता की भावना में पुनः पुनः अनुसंधान होता है। **'कविगतो भाव आशयः श्रोतरि प्रतिबिम्बित्वेनास्तीति, भावो भावना वा पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं सोऽत्रास्तीति।'**[3] रुय्यक के अनुसार प्रत्यक्षता वस्तु में नहीं प्रमाता की सापेक्षता में व्यक्त होती है। लौकिक प्रत्यक्ष ही काव्य में योगियों के भावनारूप अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में परिणत होकर काव्य-मर्मज्ञों द्वारा अनुभूत होता है। रसवत् अलंकार से उसका भेद स्पष्ट करते हुए रुय्यक कहते हैं कि रस में अभेदानुभूति होती है तथा विभावादि

---

१. वी० राघवन (सम कनसेप्ट्स आफ अलंकारशास्त्र, अडयार, १९४२) पृ० ११८

२. न च भूतभाविनोः प्रत्यक्षवद्भासो विरुद्धः। अत्यद्भुतवस्तुवर्णनया भाविकानां हृदि भावनोदयात्। तथा च भावनया पुनश्चेतसि निदर्शनात् प्रत्यक्षायमाणत्वं घटत एव। यथा पान्थस्य कामिनीभावनया तस्याः प्रत्यक्षायमाणत्वम्। कविगतो भावः आशयः श्रोतरि प्रतिबिम्ब त्वेनास्तीति, भावो भावना वा पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं सोऽत्रास्तीति। प्रतापरुद्रीयम्, मद्रास-१९७० पृ० ३१०

३. अलकार सर्वस्व-संजीविनी (सं० रामचन्द्र द्विवेदी, दिल्ली-पटना, १९६५ पृ० ३२८

का साधारण रूप में अद्वैत स्तर हृदय-संवाद होने से इसका स्वरूप भूतभावी पदार्थों की तटस्थप्रतीति से भिन्न है।[1]

स्वभावोक्ति में भी लौकिक वस्तु में विद्यमान सूक्ष्म अभिव्यंजना रहती है, अतः साधारण रूप में देशकालादि के नियंत्रण से मुक्त हृदय-संवाद होता है किन्तु भाविक में वस्तुओं की स्फुट रूप से तटस्थ प्रतीति होती है।[2] किन्तु जैसा कि राघवन ने स्पष्ट किया है कि इस स्तर पर भाविक की स्थिति स्वभावोक्ति और रसवत् से नहीं है। भाविक के संदर्भ में भी साधारणीकरण घटित होता ही है। रुय्यक साधारणीकरण की स्थिति का रसवत् में अन्तर्भाव करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में वह उत्तरकालिक स्थिति है[3] किन्तु मूलतः सारभूत प्रभाव की दृष्टि से उसमें कोई विशेष भिन्नता लक्षित नहीं होती; क्योंकि प्रबन्ध-विषय की मूलतः उत्तरकालीन अनुभूति, मात्र वैचित्र्य की अनुभूति नहीं है। यही कारण है कि भामह और दण्डी इसके प्रबन्धविषय गुण को दृष्टि में रख कर कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते और भट्टि सम्पूर्ण बारहवाँ सर्ग इसके स्वरूप कथन की व्यंजना में लगाते हैं। टीकाकार ने जयमंगला में उक्त वर्णन के सारभूत प्रभाव में पात्रों की मूल प्रकृति तथा अभिव्यंजना के वैशिष्ट्य के समीकरण की ओर इंगित किया है। **‘इत उत्तरं प्रहस्तरावणविभीषणमातामहकुम्भकर्णादीनां वचनप्रबन्धेषु चित्राद्भुतार्थत्वं द्रष्टव्यम्। स्वविनीतता सुबोधता शब्दानाकुलता चेत्येतदुभयं कथायामेव मन्त्रनिर्णयाख्यायां द्रष्टव्यम्।**[4] हेमचन्द्र के अनुसार भी मुक्तकों की अपेक्षा

---

[1] नाप्ययं पुरःस्फुरद्रूपतया सचमत्कारं प्रतीते रसवदलंकारः। रत्यादिचित्तवृत्तीनां तदनुषक्ततया विभावादीनामपि साधारण्येन हृदयसंवादितया परमा तज्ञानिवत्प्रतीतौ तस्य भावात्।
वही- पृ० ३३२-३३

[2] नापीयं सूक्ष्मवस्तुस्वभाववर्णनात्स्वभावोक्तिः। तस्यां लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णने साधारण्येन हृदयसंवादसंभवात्। इह च लोकोत्तराणां वस्तूनां स्फुटतया ताटस्थ्येन प्रतीतेः।
वही- पृ० ३३४

[3] साधारण्यप्रतीतौ स्फुटप्रतीतिनिमित्तक औत्तरकालिकौ रसवदलंकारः स्यात्। वही- पृ० ३३३

[4] राघवन (-वही-) पृ० १२० से उधृत।

अभिनेय काव्यों (नाटकों) में ही इसका आस्वादन अधिक चमत्कारपूर्ण होता है :—**'भाविकं तु भूतभाविपदार्थप्रत्यक्षीकारात्मकर्मभिनेयप्रबन्ध एव भवति। यद्यपि मुक्तकादावपि दृश्यते, तथापि न तत् स्वदते।'**[1] उपर्युक्त विवेचन का आशय यह है कि भट्टनायक के पूर्व भामह और दण्डी ने भाविक अलंकार के माध्यम से साधारणीकरण की अवधारणा के मूलभूत तत्त्वों की आधारभूत व्याख्या प्रस्तुत की है। परवर्ती टीकाकार एवं आचार्य यथा प्रतिहारेन्दुराज तथा रुय्यक आदि ने उक्त अवधारणा से प्रेरणा ग्रहण कर भाविक अलंकार की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उससे यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है कि भाविक के मूल भाव में भट्टनायक की भावनाव्यापारविषयक अवधारणा के बीज निहित हैं। भट्टनायक ने 'दोषाभाव-गुणालंकारमयत्व' का साधारणीकरण के हेतुरूप में उल्लेख किया है, **चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं, कथायाः स्वभिनीतता शब्दानाकुलता, व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद्** इत्यादि में इसके बीजाणु निहित हैं **प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते** की तुलना स्पष्टतः **साक्षादिव हृदये निविशमानः, चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानः** से की जा सकती है। भूत-भावी की वर्तमानगत परिणति में देशकाल की अपरिमितता का स्पष्ट संकेत है। यह बात अवश्य है कि प्रतिहारेन्दुराज तथा रुय्यक ने इस संदर्भ में जिस शब्दावली का व्यवहार किया , वह अभिनवगुप्त के विवेचन की ही एक सीमा तक ऋणी है। यथा **सहृदयैः श्रोतृभिः स्वाभिप्रायभेदेन तत्तत्काव्यप्रतिबिम्बरूपतया साक्षात्क्रियते।**[2]

फिर भी भाविक अलंकार के मूल में निहित 'भाव' शब्द काव्यास्वाद की प्रक्रिया में निहित कवि के अभिप्राय की व्याप्ति का संकेत अवश्य देता है, जिसकी प्रेरणा के मूल में भरत की उक्ति भी रही है **कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।**

रसानुभूति की देशकालादि भेद शून्य संकल्पना

भारतीय दर्शन में ब्रह्म की संकल्पना देशकालातीत अनुभूति के रूप में है। इस अनुभूति-क्रम में संवेदना वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान-विज्ञान के सोपानों पर क्रमिक आरोहण करती हुई सूक्ष्मतर एवं परिणाम की दृष्टि

---

[1] काव्यानुशासन पृ० २६३

[2] काव्यालंकार-सार-संग्रह (लघुवृत्ति) पृ० ४०७

से व्यापकतम होती जाती है। संवेद्य (ब्रह्म) के अतिरिक्त अन्य अनुभूतियों का क्रमिक तिरोधान हो जाने से वह अनुभूति अखंड सम्पूर्ण चेतना के रूप में कालातीत आयाम में उभरती है। इस निरतिशय अनुभूति को छान्दोग्य उपनिषद् में भूमा कहा गया है। **'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।'**[1]

भूमातत्त्व में द्रष्टा, द्रष्टव्य से भिन्न विषय का इन्द्रियों से साक्षात्कार नहीं करता। **'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।'**[2]

आचार्य शंकर के अनुसार **'नान्यत् पश्यति'** से तात्पर्य ज्ञानेन्द्रियजन्य लौकिक अनुभूतियों के अभाव से है, जिसमें आत्मानुसंधान की प्रक्रिया चलती रहती है।[3]

भूमा की संकल्पना की अनिवार्य परिणति देशकालादिभेदशून्य ब्रह्म की संकल्पना में हुई, जिसका स्पष्ट तात्पर्य वेद्यान्तर चेतना से रहित अखण्ड आत्मानुभूति है। आचार्य शंकर के शब्दों में **'यद्यपि दिग्देशकालादिभेदशून्यं ब्रह्म सत्, एकमेवाद्वितीयमात्मेवेदं सर्वमिति।'**[4]

ब्रह्म की देशकालातीत चेतना भारतीय दर्शन की आधारभूत संकल्पनाओं में से है। रसानुभूति में देशकालादि वैशिष्ट्य की निवृत्तिमूलक अवधारणा को इससे व्यापक प्रेरणा मिली। **'प्रत्येकं सामाजिको देशकालविशेषणापरामर्शन'**[5] **तथा हि आहार्यविशेषादिना निवृत्ते तद्देशकालचैत्रमैत्रादिनटविशेषप्रत्यक्षे, विशेषलेशोपक्रमेण च विना'**[6] इसके प्रमाण हैं।

ब्रह्म की देशकालातीत अनुभूति सम्बन्धी अवधारणा में यह तथ्य भी निहित है कि ब्रह्म की सर्वव्यापि चेतना केवल अनुभूति के द्वारा ही ग्राह्य

---

[1] छान्दोग्योपनिषद् (गोरखपुर-२०२८) ७/२३/१, पृ० ७८५
[2] - वही - ७/२४/१, पृ० ७८६
[3] - वही - शांकरभाष्य पृ० ७८७
[4] छा० ८/प्रथमखण्डआरंभ, पृ० ८०३
[5] हिन्दी अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३, पृ० १८७
[6] - वही - पृ० १९३

है। उसकी बाह्य सत्ता नहीं है मात्र चिदानन्द ही इसका रूप है। भर्तृहरि के अनुसार—

> ‘दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
> स्वानुभूत्यैकसाराय नमः शान्ताय तेजसे ॥’[1]

ब्रह्म के त्रिकालातीत स्वरूप की व्यंजना करने वाले संदर्भ सजातीय अवधारणाओं में भी विकसित हुए हैं। ‘यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव (माण्डूक्य)

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रह्म की अनेकरूपा अवधारणाओं को काल के मूर्तिमान स्वरूप के स्तर पर परिभाषित कर कालातीत चेतना को ही प्रकारान्तर से व्याख्यायित किया गया है। यथा—**रुद्रस्य कालात्मकपरमेश्वरस्य,[2] रोदयति सर्वमन्तकाले इति रुद्रः संहर्ता देवः,[3] प्रकृतिः पुरुषश्च नित्यो कालश्च[4]**

> **‘क्रमाक्रमात्मा कालश्च सर्वः (परः) संविदि वर्तते ।**
> **काली नाम परा शक्तिः सैव देवस्य गीयते ॥’[5]**
> **‘एष कालो हि देवस्य विश्वाभासनकारिणी ।**
> **क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः ।**
> **एतदीश्वररूपत्वं परमात्मनि यत्किल ।**
> **तत्प्रमातरि मायीये कालतत्त्वं निगद्यते ॥[6]**

विशिष्ट और साधारण

किसी कलाकृति अथवा साहित्य-सृष्टि की प्रशंसा अंशतः इस आधार पर की जाती है कि उसकी चरित्र-सृष्टि में सार्वभौम तत्त्व अनुस्यूत हैं अथवा उसमें युग-जीवन के ऐसे सर्वांगीण चित्र उपस्थित किए गये हैं, जिनमें समष्टि-

---

१. भर्तृहरिशतक १/१

२. ऋग्वेदे ६/२८/७

३. अथर्ववेदे १/१९/३

४. प्रपंचसारे १/२१

५. तन्त्रालोकः (श्रीनगर-१९२२) ४/६/७

६. - वही - ४/३८-४० श्लोक

जीवन का व्यापक परिवेश मूर्त हो उठा है। इसी के समानान्तर किसी कृतिकार की विशिष्ट उपलब्धि असामान्य एवं असाधारण चित्रों अथवा चरित्रों के वैचित्र्यमूलक दृश्य बिम्ब अंकित करने पर ही निर्भर है। शेक्सपीयर, जिसके नाटकों में युगान्त-व्यापी जीवन का सार्वभौम चित्रण है, अपनी विशिष्ट देशकालातीत प्रतिभा के लिए समादृत हुआ है। डा० जानसन की क्लासिकी दृष्टि शेक्सपीयर की प्रतिभा का यही निकष निरूपित करती है। शेक्सपीयर के चरित्र शेष संसार से असम्पृक्त अथवा विशिष्ट स्थानिक प्रवृत्तियों से परिचालित, अस्थायी रीतियों और शैलियों की सीमा में परिबद्ध चरित्र नहीं हैं, वे साधारण मानवता की संतति हैं तथा मानवमात्र को उत्तेजित करने वाले सामान्य आवेगों से प्रेरित हो कर सामाजिक से इस प्रकार हृदय-संवाद स्थापित करते हैं कि मानवमात्र की जीवन प्रणाली गतिशील हो उठती है।[१]

वस्तुतः सामान्य तथा असामान्य, साधारण एवं विशिष्ट व्यष्टिनिष्ठ एवं समष्टिनिष्ठ चित्रण की सापेक्ष स्थिति के निर्धारण की कोई सुनिश्चित सीमा काव्य-मनीषियों ने अभी स्थापित नहीं की है। किन्तु, सामान्यता का एक अर्थ मानव के जीवन मूल्यों की ऐसी व्यापक प्रतिष्ठा भी है, जिनका अनुसंधान, पुनरनुसंधान आदि काव्य से लेकर अद्यावधि साहित्य में अनवरत होता रहा है। सामान्यता का अर्थ पात्रों और संस्थितियों के संरचनात्मक सूत्रों का मध्यमान नहीं है। सामान्यता का आकलन मानव प्रकृति की संभावनागत विशेषताओं के उस यथार्थमूलक संश्लेषण के आधार पर किया जाना चाहिए, जिसमें मानव समुदाय के प्रतिनिधि प्रतीक चरित्र सम्भावित परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अंकित किए जाते हैं। इस प्रतिनिधान में यथार्थ के स्थूल अंकन की अपेक्षा दृश्य जगत् के अन्तःव्यापार का पुनर्भावित कलात्मक उद्घाटन होता है। इसमें कवि-प्रतिभा जगत् के स्थूल संदर्भों के मूल में निहित मानव के सारभूत तत्त्व (जीवन के भाव सत्य) में अन्तः प्रवेश करती है।

---

[१] His persons act and speak by the influence of those general passions and principles by which all minds are agitated.
(Johnson, Preface to Shakespear, Literary Criticism, p. 320).

सामान्यता की सर्जनात्मक तथा अनुभूतिपरक प्रासंगिकता की पुष्टि में विशुद्ध अध्यात्म दर्शन से लेकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों के अभिमत प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मार्क्स और एंजिल्स ने यथार्थवादी चित्रण की व्यापक प्रासंगिकता काव्योचित तथा परिवेश के प्रति जागरूक सम्भाव्यमूलक परिस्थितियों में प्रतिनिधि चरित्रों के प्रस्तुतीकरण में ही निर्दिष्ट की है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह चित्रण यथार्थ का अनुकरण मात्र नहीं होना चाहिए, अपितु वस्तु-सत्य के मूल में निहित भाव-सत्य के अनुसंधान की ओर भी प्रेरित होना चाहिए। इस अवधारणा में युग की आदर्श प्रवृत्तियों की मूल संकल्पना भी स्वीकृत है, जिसमें जीवन के युगातीत एवं देशातीत सत्य के अनुसंधान की प्रक्रिया गतिशील रहती है। सामान्य की प्रतिष्ठा एक व्यापक काव्य-मूल्य ही नहीं, मानव के मौलिक अन्तस्तत्व की सार्थक प्रतिष्ठा भी है। इस अवधारणा को कालिदास के रघुवंश के प्रतीक चरित्र अग्निमित्र के परिप्रेक्ष्य में देखना अप्रासंगिक न होगा।

कालिदास का अग्निमित्र गुप्त-युग की ह्रासशील विलास-मोह-मदिरा में आत्म-विस्मृत सामन्ती युग का प्रतिनिधि मानक चरित्र मात्र नहीं है, उसमें अतीत और वर्तमान की अभिसंधि पर खड़े भविष्योन्मुख मानव की अन्तश्चेतना रूपायित हुई है जो इन्द्रियों के ज्वलित आवेग में परिश्रान्त क्षयिष्णु दीपक[2] की तरह ध्वंसोन्मुख, किन्तु चिरन्तन जीवन के लिए व्याकुल सम्भावनाओं को व्यक्त करती है। कालिदास ने बीज को भीतर छिपाये हुए अन्तः प्रसूधरित्री के अंकुरण तथा गर्भ को धारण किये हुए सम्राज्ञी के प्रसव की प्रतीक्षा करती प्रजा के पर्यत्सुकी-भाव में मानव की चिरन्तन जिजीविषा का बिम्ब ही रूपायित किया है। **'तं भावार्थं प्रसवसमयाकांक्षिणीनां प्रजानामन्तर्गूढं क्षितिरिव नभो बीजमुष्टिं दधाना।'**[3] ये भविष्य शिशु उस

---

१. Realistic representation, Marx and Engels emphasised, is by no means a mere copy of reality, but a way of penetrating into the very essence of phenomenon.

(Marx Engels-On Literature and Art, Preface p. 23)

२. व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पंकशेषमिव धर्मपल्वलम्।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम्॥
(रघुवंश १९/५१ पृ० २४७)

३. वही- १९/५७ (कालिदासग्रन्थावली) पृ० २४८

मानव आस्था का ही प्रतीक है, जो सामष्टिक चेतना के विविध ऐन्द्रिय, भौतिक स्तरों का अतिक्रमण करती हुई आध्यात्मिक बोध में पर्यवसित होती है।

अग्निवर्ण के विशिष्ट चरित्र में कालिदास ने जीवन की क्षयिष्णु प्रवृत्ति तथा मानव की चिरन्तन जिजीविषा को मूर्त किया है। यह वैशिष्ट्य में मानव के साधारणीकृत बिम्ब का ही पुनरनुसंधान है। कालिदास की इस प्रतीकात्मक अवधारणा में यह तथ्य भी निहित है कि पतन के सीमान्त पर पहुँचने से पूर्व ही भविष्य की कला-दृष्टि एवं सौंदर्य-साधना को भौतिकेतर मूल्यों की ओर उन्मुख हो जाना चाहिए। बीज को भीतर छिपाये हुए पृथ्वी के प्रतीक के माध्यम से भौतिकता के अन्तराल से फूटते आध्यात्मिक क्षण की ओर कवि ने काव्यात्मक संकेत किया है। इलियट का विचार है कि कला को नकारात्मक अथवा ह्रासशील मूल्य स्तर निर्णीत करने से पूर्व ही सौंदर्यानुभूति को आध्यात्मिक बोध के स्तर तक विकसित कर देना आवश्यक है। इलियट का यह अभिमत कालिदास की संकल्पना को परिवेश की युगानुकूल व्याख्या के स्तर पर समीकृत करता है। इस बिन्दु पर अब यह निरूपित करना भी प्रासंगिक हो जाता है कि स्थूल इतिवृत्त के मूल में निहित सामान्य का अनुसंधान साधारणीकरण व्यापार का ही प्रतिरूप है। इसका एक सूत्र सामान्य से जुड़ता है तो दूसरा जीवन की सार्वभौम संकल्पना से।

निःसंदेह सामान्य की सभी अर्थ संकल्पनाओं को सार्वभौम काव्यसिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता, किन्तु उन प्रत्ययों का आकलन अवश्य किया जा सकता है, जो इस सार्वभौम चेतना को किसी न किसी स्तर पर मूर्त करने में योग देते हैं। सामान्य की उस व्यापक संकल्पना को साधारणीकरण की अवधारणा में प्रमाता के भाव-बोध तक सीमित किया गया है। काव्यास्वाद की यह प्रकृत भूमि है, किन्तु इस अवधारणा के मौलिक स्वरूप में सामान्य के कुछ अन्य अर्थ संदर्भ भी अनुस्यूत हैं, जिनका आकलन काव्य-शास्त्र की विविध अवधारणाओं के अन्तर्गत हुआ है। इन प्रत्ययों का समाकलन साधारणीकरण की अवधारणा को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से आवश्यक है। ये प्रत्यय निम्नलिखित हैं—१. सामान्य अथवा सार्वत्रिक भाव अनेक मस्तिष्कों अथवा मानस भूमियों को समान भाव बिम्ब सम्प्रेषित करते हैं। यथा—'राम' संज्ञा की प्रथम संकल्पना विविध मस्तिष्कों में समान बिम्ब उत्कीर्ण करेगी। यहाँ तक की नितान्त व्यक्तिनिष्ठ रोमानी गीत का

भी प्रथम प्रभाव समान ही होगा। २. सभ्यता के बाह्य संस्कारों से अप्रभावित कुछ आदिम अवधारणाएँ प्रायः सरल अथवा प्राकृतिक मानस क्षेत्रों में समान प्रभाव अंकित करती है। जातिवाचक संख्यातीत संज्ञाए भी जो वर्ग विशेष के प्रतिनिधि गुणों को मूर्त करती हैं, सामान्यता की ही द्योतक हैं, जैसे दार्शनिक वैयाकरण इत्यादि। इस अवधारणा में क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। दार्शनिक की अपेक्षा मनुष्यता का भाव अधिक सूक्ष्मतर है। तथा प्राणी अधिक सूक्ष्मतर और व्यापक है। सामान्यता का एक प्रत्यय वस्तुओं के सारतत्त्व में भी निहित है। यथा—राम में निहित रामत्व, मानवत्व को भी समाहित करता है। यदि कोई प्रत्यय अधिक व्यापक और इतर वस्तुओं को समाहित करने वाला है तो वह भी सामान्य के अन्तर्गत ही स्वीकार्य होगा। इनमें अवधारणा क्रमशः व्यापकतर होती जाती है। उदाहरणार्थ 'अस्तित्व' में औदात्य, विशालता इत्यादि की धारणाएँ समाहित हो सकती हैं। वैज्ञानिक नियम भी सामान्यता की कोटि में ही आएंगे। गुरुत्वाकर्षण शक्ति का सिद्धान्त सार्वभौम सिद्धान्त है। प्रत्येक जीवित प्राणी के अन्दर संचेतना होती है, यह उक्ति सार्वभौम सत्य की ओर इंगित करती है। ३. इसी प्रकार जो प्रत्यय पूर्णता, आदर्श तथा वास्तविकता की चरम दशा की व्यंजना करता है, वह एक विशिष्ट संभावना अथवा सामर्थ्य को व्यक्त करने के कारण सामान्य कहा जायगा। ब्रुक ने नव्य क्लासिकी चिन्तन की प्रमुख अवधारणाओं के संदर्भ में सामान्यता की इन कोटियों की विवेचना की है।[1] उनका कथन है कि ये अवधारणाएँ तार्किक और वैज्ञानिक सामान्यों को स्पष्ट करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु काव्यगत सामान्य का कोई स्वरूप इनसे नहीं उभरता। यह कहना आवश्यक है कि नव्य क्लासिकी काव्य-धारणा मूलतः वैशिष्ट्य की अपेक्षा सामान्य पर बल देती है। इस संदर्भ में कतिपय अन्य अवधारणाओं पर विचार कर लेना भी प्रासंगिक होगा। अलौकिक शक्तियों तथा सार्वभौम व्यवस्थाओं में सामान्यों का अस्तित्व पाया जाता है। इस संदर्भ मे लोक-मानस में सामान्य की अवधारणा के कतिपय बिन्दुओं की ओर संकेत करना आवश्यक है।

न्याय, सौंदर्य आदि की अवधारणाएँ मानसिक अस्तित्व रखती हैं, किन्तु इन्हीं के समानान्तर बाह्य पदार्थ जैसे पेड़, मकान आदि का अस्तित्व

---

[1] द्रष्टव्य लिटरेरी क्रिटिसिज्म, ए शार्ट हिस्ट्री (१९६७) पृ० ३३१ से ३३३ तक

अपेक्षाकृत मूर्त होता है। दोनों ही सामान्य कोटि में हैं, किन्तु सौंदर्य और न्याय को जहाँ आचरण से परिभाषित किया जा सकता है, वहीं मेज, कुर्सी पेड़ इत्यादि का निर्माण केवल संकल्पनात्मक अवधारणाओं से नहीं किया जा सकता।

जाति अथवा सामान्य की दार्शनिक परिकल्पना में साधारणीकरण के उत्स

स्पष्टत: साधारणीकरण की परिकल्पना को आकार देने में सामान्य अथवा जाति की उस दार्शनिक अवधारणा का भी योग है, जो सामान्य और असामान्य के द्वन्द्व न्याय के आधार पर विकसित हुई है। पाश्चात्य तथा भारतीय चिन्तन में इस विषय पर पर्याप्त ऊहापोह हुआ है कि सामान्य की सत्ता यथार्थ (वस्तुगत) है अथवा उसका अस्तित्व मात्र काल्पनिक है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, अद्वैत वेदान्त, तथा अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में सामान्य के स्वरूप तथा उसके संज्ञानात्मक बोध पर सत्ता-मीमांसीय दृष्टि से पर्याप्त विचार हुआ है। गो, मनुष्य में एक जातिगत सामान्य है, जिसकी विशेष से भिन्न सत्ता है। कुछ ऐसे समान गुण तथा सम्बन्ध हैं, जिनकी हमारे अनुभूति क्षेत्र में पुन: पुन: आवृत्ति होती है। सदृश गुण तथा सदृश पदार्थ एवं समान परिस्थितियाँ संख्यातीत रूप में घटित होती रहती हैं। ये आवृत्तियाँ समानधर्मिता पर आधृत हैं तथा इन्हीं समानधर्मिताओं के आधार पर चेतना के विविध वस्तुनिष्ठ तथा आत्मनिष्ठ आयामों को श्रेणी-बद्ध किया जाता है। निश्चय ही इस आवृत्ति बोध में मानसिक क्रियाएं समाहित हैं, किन्तु ये आवृत्तियाँ मन की संकल्पना मात्र नहीं हैं, इनका एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ भी है।

मीमांसक, जाति को सब तत्त्वों का मूलाधार मानते हैं। 'श्वेत' शब्द केवल व्यक्ति श्वेत मात्र को व्यंजित नहीं करता, अपितु श्वेतत्व के सारतत्त्व की ओर इंगित करता है जो सभी श्वेत पदार्थों में निहित है गति भी इसी प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति की गति का बोधक नहीं है, अपितु गतिशील तत्त्वों की सर्वव्यापी गति का बोध कराता है। इस प्रकार वाक्यपदीय के अनुसार जाति का अस्तित्व गो आदि के रूप से भिन्न शब्दों में व्याप्त है। इसी जाति को प्रातिपदिकार्थ अथवा धात्वर्थ भी कहते हैं। यही जाति सभी

पदार्थों में स्थित संविद्रूपी सत्ता है।[1] भर्तृहरि के अनुसार अनेक व्यक्तियों में विद्यमान रहने वाली क्रिया अर्थात् क्रिया समुद्देश भी जाति है।[2] जाति की परिकल्पना गो व्यक्तियों में अनुस्यूत सत्ता, अर्थात् गोत्व के रूप में महासामान्य की प्राक्कल्पना की ओर इंगित करती है। गो की सत्ता गोत्व से भिन्न नहीं है, इसके अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध से उसे प्रतिभासित नहीं किया जा सकता।[3] इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि साधारणीकरण में विभावादि को सम्बन्ध वैशिष्ट्य से शून्य कर के साधारण कर लेने की परिकल्पना इसी सम्बन्धशून्यता के समानान्तर विकसित हुई है। यथा **'आश्रयभूतैः संबन्धिभिर्भिद्यमाना कल्पितभेदा गवाश्वादिषु सत्तैव महासामान्यमेव जातिः।'**[4] **'अन्यसबंन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांशपरिहारेणोपस्थादनं साधारणीकरणम्।'**[5]

स्पष्टतः जाति की अवधारणा साधारणीकरण की संकल्पना से एक सीमा तक संयुक्त है, किन्तु यह अवधारणा व्याकरण, मीमांसा अथवा न्याय की दार्शनिक उपपत्तियों पर आधारित है। साहित्य-शास्त्र को इन अवधारणाओं का उपजीवी होना पड़ा है। अभिव्यक्ति का सीधा संकेत द्रव्यों की अपेक्षा उनके सार्वभौम जाति तत्त्व में होता है। इसी के समानान्तर इस तथ्य पर भी दृष्टि जाती है कि शकुन्तला अपनी विशिष्टताओं से संयुक्त विशिष्ट नारी अवश्य है, किन्तु उसमें एक नारीत्व भी विद्यमान है जो उस जैसे अनेक चरित्रों में विद्यमान है। इसी प्रकार प्रेम, क्रोध विशिष्ट

---

[1] संबन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥ (वाक्य० ३/१/३३)
तां प्रातिपादिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥ (वाक्यप० ३/१/३४)
(सर्वदर्शनसंग्रहे, पृ० ६०५)

[2] जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम् इति क्रियासमुद्देशे (वा० प० ३/८) सर्वदर्शनसंग्रहे पृ० ६०६

[3] गोत्वादिकमपरं सामान्यं परमार्थतस्ततो भिन्नं न भवति । गोसत्तैव गोत्वं, नापरमन्वयि प्रतिभासते । -वही- पृ० ६०५

[4] -वही- पृ० -वही-

[5] काव्यप्रकाश (बालबोधिनी) पृ० ९१

व्यक्तियों से सम्बद्ध होते हैं, किन्तु वे सामान्यता का भाव भी व्यक्त करते हैं। इस प्रकार साधारणीकरण भाषा में निहित जाति तत्त्व अथवा सामान्यीकृत चेतना की स्वीकृति देता है।[1]

न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि ने सामान्य की विविध संकल्पनाएं प्रस्तुत की हैं। वेदान्त में महासामान्य की परिकल्पना है, अन्य सामान्य उसी में अधिष्ठित हैं। नैयायिकों ने विशेषों में समरूपता का अनुसंधान कर जाति तत्त्व की प्रतिष्ठा की है। जैन दर्शन के अनुसार यह भिन्नता और अभिन्नता की सापेक्ष स्थिति है। मनुष्यत्व व्यक्ति विशिष्ट तत्त्व से भिन्न नहीं है, अपितु उन्हीं में अभिव्याप्त तत्त्व है। प्रमाता अमूर्त प्रत्यय के रूप में उनकी संकल्पना तो कर सकता है, किन्तु अमूर्तता को किसी स्वतन्त्र संकल्पना में परिवर्तित नहीं कर सकता। बौद्धों के अपोहवाद में सत्य का अंश यह है कि सभी जातिगत प्रत्यय बौद्धिक प्रत्यय हैं तथा उनका साक्षात्कार विशिष्ट गतिशील विशेषों के आधार पर होता है, जिन्हें स्वालक्षण्य कहा गया है। पाश्चात्य चिन्तन में भी सामान्य की सत्ता का विवेचन हुआ है। प्लेटो के अनुसार आकार बोध आद्य प्ररूपों के स्तर पर मानव मन में संस्कार रूप में निबद्ध है। समग्र अनुभूति संस्कार इन प्ररूपों से युक्त हैं। ये रूप ही विविध-विविध रूप में अभिव्यक्त होते हैं।[2] अरस्तु की दृष्टि में अनुभूतिगत शृंखला में ही सामान्य का प्रत्यक्ष होता है, यह एक प्रकार से प्रत्यभिज्ञानरूप है जो जन्मान्तरसंस्कार के रूप में अन्तःसम्बन्धों का परिज्ञान कराता है।[3] वस्तुतः जाति अथवा सामान्य की संकल्पना एक सार्वभौम तत्त्व (मनुष्यत्व) में आस्था व्यक्त करती है। मनुष्य में चेतन, भावुक, बौद्धिक आदि अनेक अस्तित्व-स्तर हैं और जब हम साधारणीकरण करते हैं तो कुछ स्तर से उठाये तत्त्वों को दूसरे स्तरों से संयुक्त कर देते हैं।

मीमांसा में 'सामान्य' के विवेचन को साधारणीकरण के समानान्तर देखा जा सकता है। 'घट' शब्द वक्ता अथवा श्रोता की भिन्न मनोदशा का वाचक है। अतः यदि 'घट' शब्द से वही भाव व्यक्त हुआ होता जो

---

१. तारापद चक्रवर्ती, इण्डियन एस्थेटिक्स, पृ० १६४

२. The problem of Universals in Indian Philosophy, P. 352

३. -वही- पृ० ३६५

वक्ता के मन में है तो श्रोता के मन में उन भावों को जागृत करने में वह सफल नहीं हो सकता था, क्योंकि श्रोता का घट प्रत्यय भिन्न है किन्तु श्रोता घट के प्रत्यय को इसलिए ग्रहण कर पाता है कि घट शब्द विशिष्ट से भिन्न सामान्य भाव का वाचक है। जब वक्ता 'शकुन्तला' का उच्चारण करता है तो उसकी धारणा श्रोता की धारणा से भिन्न होती है, किन्तु दोनों में एक समान धारणा भी उद्वेलित होती है। साधारणीकरण भाषा की इसी आन्तरिक क्षमता का बोध कराता है।

साधारणीकरण और स्फोट दर्शन

लौकिक जगत् के कार्यकारण विभाव-अनुभाव में पर्यवसित होकर प्रमाता के अन्तश्चैतन्य में बुद्धिस्थ तथा अमूर्तीकृत होते हैं। यह तथ्य स्फोट सिद्धान्त से अंशतः गृहीत है। विभाव-अनुभाव भावना के द्वारा अन्तर्भावित होकर जब अमूर्त एवं साधारणीकृत होते हैं तो प्रकारान्तर से काव्यार्थ का बौद्धिकीकरण हो जाता है। क्योंकि अर्थ मूलतः बौद्ध होने के कारण ज्ञान का विषय है। आशय यह है कि बाह्य जगत् के अनुभव बहिर्जगत् की कार्यकारण-शृंखला से मुक्त होकर (बोद्धा की बुद्धि में अवस्थित होकर) निर्वैयक्तिक धरातल पर अनुसंधेय होते हैं।

स्फोट की संकल्पना मूलतः अद्वैत की संकल्पना है। यद्यपि पंतजलि के महाभाष्य में स्फोट दर्शन का प्रथम विशिष्ट विवेचन हुआ है, तथापि उससे पूर्व प्राप्तिशाख्य ग्रन्थों में तथा स्फोटायण आदि आचार्यों के अभिमतों में इसके बीजाणु विद्यमान हैं। स्फोट के मूल में परब्रह्म की स्थिति, अभिव्यक्ति लयान्विति तथा स्पन्दन की शक्ति की संकल्पना निहित है। अ इ् उ ण् वर्ण-समाम्नाय समस्त रूपात्मक जगत् का आदि कारण है। नामरूपात्मक विश्व इसी का परिणाम या विवर्त है, अतः तत्त्वदर्शन एवं व्याकरण के अन्तः सम्बन्ध के द्योतन में स्फोट दर्शन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। व्याकरण की मौलिक संकल्पनाओं की आधार भूमि पर भी काव्यशास्त्रीय अवधारणाएं प्रतिष्ठित हुई हैं। ध्वनि तथा व्यंजना के समान साधारणीकरण की संकल्पना को भी इन से बल मिला है। इसी प्रकार अद्वैत-दर्शन की चेतना को अन्तर्भुक्त कर यह दर्शन ब्रह्म-सत्ता तथा वर्ण-सत्ता के अदृश्यमान संदर्भ को साधारणीकरण से अन्वित करने में प्रेरक सिद्ध होता है। ब्रह्म-सत्ता उपाधि भेद से गोत्व आदि के रूप में प्रतिभासित होती है। उसी प्रकार

अदृश्यमान निरवयव स्फोट तथा स्मृति परवर्ती वर्णों के संस्कारों को प्रेरित कर एक समूहालम्बनात्मक अनुभूति के रूप में रूपायित होती है। पूर्व-पूर्व वर्णों की अनुभूति जिस समूहालम्बनात्मक नित्य अनुभूति के रूप में उद्भासित होती है, उसकी गति दृश्यमान अनित्य संदर्भों तक ही सीमित नहीं है।

'पूर्वपूर्वाऽनुभूजन्यभावना सचिवेऽन्तिमे ।
चेतसि स्फुरति स्फोटो रत्नतत्त्वमिव स्फुटम् ।। (वाक्यपदीयम्)

इस संदर्भ में स्फोट दर्शन की प्रमुख अवधारणाओं को इस प्रकार आकलित किया जा सकता है—स्फोट दर्शन पूर्वानुभवजनित संस्कारों को स्वीकृति देता है। वक्ता, विवक्षा तथा श्रोता की ग्राह्यता के मध्य विचार तथा भाव का सेतु इसी संस्कारनिष्ठा तथा पूर्वजन्मानुबंधि वासना से निर्मित होता है। साधारणीकरण में वासना-संवाद तथा हृदय-संवाद की अवधारणा इसी जन्मानुबंधि संस्कार की भूमि पर प्रतिष्ठित हुई है। दुष्यन्त शकुन्तला का क्रमशः कान्त-कान्ता भाव में पर्यवसान भी बाह्य नामरूपात्मकता की अन्तिम भाव-सत्य में परिणति है। यह तथ्य स्फोट-दर्शन की मूल संकल्पना से भिन्न नहीं है। जैसा कि पतंजलि आदि का कथन है गौ में एकत्व का आधार विविध वर्ण समूहों के द्वारा एक सारभूत तत्त्व की ही अभिव्यक्ति है। **'गौरित्येकं पदमिति नानावर्णातिरिक्तैकपदावगतेः सर्वजनीनत्वात्। न ह्यसति बाधके पदानुभवः शक्यो मिथ्येति वक्तुम्। पदार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यापि स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः।'**[1] भिन्न-भिन्न प्रयत्नों से उच्चरित एक निरवयव स्फोट सावयव संदर्भों में मूर्त होता है। जिन वर्णों से स्फोट व्यक्त होता है, उन्हीं का अध्यास स्फोट से होता है, अर्थात् जिस प्रकार वर्ण अपने से पूर्व वर्ण से तादात्म्य स्थापित करता है, उसी प्रकार कान्तात्व में इतर विरुद्ध संवेदनाएँ संयुक्त होकर एक समग्र अन्तश्चैतन्य का बोध कराती हैं। जैसे मालती आदि शब्द से कान्ता मात्र की तथा रावण आदि शब्द से शत्रु मात्र का बोध होता है। यह बोध क्रमशः पूर्व अनुभूति से परवर्ती अनुभूति का तादात्म्य ही है। स्फोट सिद्धि में अनुमान भी कारण है, अन्तिम वर्ण के उच्चारण काल तक समस्त वर्ण पूर्ण वर्ण से अन्वित होकर अनुभूति का क्रमिक बोध कराते हैं। इसी प्रकार मालती सीतादि शब्दों से कान्तात्व का बोध विशिष्ट भाव के क्रमिक तिरोधान के अनन्तर ही होता है। आचार्य शंकर ने इस

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रह (चौखम्बा-१९६४) पृ० ५९३-९४

क्रमिक बोध को असंलक्ष्यक्रम बोध के स्तर पर परिभाषित करते हुए पिपीलिका पंक्ति का उदाहरण दिया है।[1] यह शब्द के अन्तर्भावन की समूहालम्बनात्मक प्रक्रिया ही है। नानात्व में एकत्व का अनुसंधान भी प्रमाता की चेतना को विशृंखल अनुभूति से मुक्त कर मौलिक अन्तःसूत्र अथवा भाव सत्य के अनुसंधान के लिए प्रेरित करता है। भर्तृहरि का कथन है कि भिन्न-भिन्न पदों में प्रयुक्त वर्ण तथा भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रयुक्त समान भाव वाला पद मूलतः एक ही रहता है। अवस्था देशकालादि भेद से उसमें बाह्य भेद अवश्य लक्षित होता है, किन्तु अन्तश्चैतन्य के स्तर पर उसकी पृथक् सत्ता लुप्त हो जाती है। पद उस अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र होते हैं, मुख्यतः तो वक्ता की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की ही होती है।

> 'पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते ।
> वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते ।।
> पदे न वर्णा विद्यन्ते, वर्णेष्ववयवा न च ।
> वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।।[2]

स्फोट दर्शन का एक सूत्र ध्वन्यर्थ से भी जुड़ता है। जिस प्रकार प्रदीप पूर्व विद्यमान घटादि की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार वर्ण अथवा पद पूर्व विद्यमान वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। व्यंजना की यही स्थिति है। काव्यार्थ भी प्रमाता की बुद्धि में स्थायी के विभावादि के सम्पर्क से उन्मीलन की प्रक्रिया ही है तथा सीतादि में कान्तात्व भाव का अनुसंधान भी प्रमाता तथा काव्यार्थ के अन्तर्भावन की प्रक्रिया ही है। आनन्दवर्द्धन[3] तथा मम्मट[4]

---

[1] सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पंक्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति । शांकरभाष्य १/३/२८ (संस्कृत व्याकरण-दर्शन पृ० ४६५ से उद्धृत)

[2] वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्डम् १/७३ (सं० सत्यकाम वर्मा, नई दिल्ली-१९७०) पृ० ७१

[3] कारिका-१ की वृत्ति ।

[4] बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यंजनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।
(काव्यप्रकाश, बालबोधिनी-१९२१) पृ० १९

ने ध्वनि की स्वीकृति के लिए स्फोट-दर्शन का ऋण स्वीकार किया है। प्रकारान्तर से यह इस तथ्य की भी स्वीकृति है कि काव्य का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य अथवा कवि की शब्दार्थ रूप में अभिव्यक्त अनुभूति एकान्ततः आगन्तुक अथवा अर्जित अनुभूति नहीं है। वह एक पूर्व विद्यमान अनुभूति का ही पुनरनुसंधान है।

औचित्य की अवधारणा में साधारणीकरण के अन्तःसूत्र

परिस्थिति-विशेष में पात्रों का अपने मौलिक स्वरूप के अनुरूप व्यवहार औचित्य की विशिष्ट भूमिका है। पूर्वराग की सामान्य स्थिति में सीता अथवा शकुन्तला का प्रणय-मुग्धा कामिनी की भाँति आचरण करते हुए देखना प्रमाता के स्तर पर एक प्रत्याशित भावदशा का ही साक्षात्कार है, जो उसकी शृंगाररस में मग्न चित्त-वृत्तियों को विश्रृंखलित होने से बचाता है। सीता, दमयन्ती अथवा शकुन्तला की प्रणयभूमिकाएँ अपने विशेष संदर्भ एवं परिवेश में भिन्न हो सकती हैं तथा उनके प्रणयोद्गार प्रबल, सूक्ष्म अथवा संकोच-मिश्रित उद्गारों में अभिव्यंजित हो सकते हैं, किन्तु प्रणय के प्रथम अंकुरण की मर्यादा-मिश्रित कामचेतना उनमें रतिमुग्धा कान्ताभाव की जो औचित्यपूर्ण सूक्ष्म संयोजना करती है, वह उनको व्यक्ति वैशिष्ट्य से मुक्त कर कामिनी मात्र की सामान्य भूमिका में प्रतिष्ठित करती है। औचित्य की यह भूमिका ही साधारणीकरण की मूल भूमिका है। 'साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः'[1] सामान्य-उपस्थिति का अर्थ है औचित्यपूर्ण उपस्थिति, जिसमें कामिनी के गौरवपूर्ण वैशिष्ट्य का सहज स्वाभाविक धरातल उद्घाटित होता है। प्रेमास्पद के प्रथम दर्शन के ये संकोचमिश्रित उद्गार इसका साक्ष्य देते हैं।

सीता—विकसितपेशलोत्पलोत्पलःशरुंजश्यामलो
महेशसौभ्यशेखरस्फुरत्सोमकोमलः ।
लतागृहे कोऽयमनङ्गरूपखण्डनो
विलोचनयोर्ददाति मे सुखं शिखण्डमण्डनः ॥[2]

---

[1] काव्यप्रदीप (निर्णयसागर) पृ० ६६

[2] प्रसन्नराघवम् २/२१ (रमाशंकर त्रिपाठी द्वारा सम्पादित) १९७०, पृ ११०

सीता—किमिति सज्जतेऽस्मिन् लोचनानन्दे मे दृष्टिः ।[1]

शकुन्तला—किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य वनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृता ।[2]

दमयन्ती—कथाप्रसंगेषु मिथः सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ।।[3]

तद्विपरीत एक स्वच्छन्दचारिणी का मुखर प्रणय-प्रस्ताव सहृदयों को, अपने मनश्चक्षुओं में प्रतिष्ठापित कामिनी अथवा कान्ताभाव के अदृश्य प्राण-तत्त्व के विपरीत आचरण करता हुआ प्रतीत हो सकता है। यथा शूर्पणखा की यह उक्ति वास्तविकता का भिन्न स्वरूप उन्मीलित करती है।

'अस्य रूपस्य ते युक्तां भार्याऽहं वरवर्णिनी ।
मया सह सुखं सर्वान् दण्डकान् विचरिष्यसि ।।'[4]

यह भी जीवन का एक पक्ष है, किन्तु कान्ताभाव की समग्र वास्तविकता का प्रतिनिधि स्वर नहीं है। इसमें सीता शकुन्तलादि की उक्तियों में उद्भावित प्रणयतत्त्व की वह सप्राणता एवं अखंड चेतना नहीं है, जो सहृदय की वृत्तियों को तदाकार एवं समंजित करती है। अरस्तु का कथन है कि चरित्र में औचित्य पर दृष्टि केन्द्रित रखनी चाहिए। पुरुष में एक 'विशेष प्रकार का शौर्य अपेक्षित होता है, किन्तु नारी में विवेकशून्य प्रगल्भता, चातुर्य अथवा शौर्य अनुचित है।[5]

इसका आशय यह है कि पात्र की निर्विशेष मूल-प्रकृति का अनुसंधान साधारणीकरण की जिस सीमा में आता है, उसका निर्धारण औचित्य ही करता है। साधारणीकरण की नियामक शक्ति औचित्य है। परिस्थिति एवं

---

[1] महावीरचरितम् अंक-१, पृ० १५
[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम् पृ० २८ (काले-१९२०)
[3] नैषधीयचरितम् ५/३५, निर्णयसागर-१९५२, पृ० २२
[4] वाल्मीकीय रामायण (अरण्य) १८/७, पृ० ५३४ (गोरखपुर सं०२०२४)
[5] There is a type of manly valour; but valour in a woman, or unscrupulous cleverness, inappropriate.
(Aristotles's Theory of Poetry and Fine Art Ed. S.H. Butcher, The Poetics, U.S.A. 1951 p. 53).

पात्र की अन्तःप्रक्रिया के व्यापक सम्बन्ध सूत्रों को प्रमाता तक सम्प्रेषित करने में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अतः आकस्मिक नहीं कि साधारणीकरण की उद्भावना से पूर्व उसकी अवधारणा के अपेक्षित अन्तःसूत्रों का आकलन औचित्य की भूमिका पर भी होता रहा। भरत के अनुसार लोक से प्रमाणित होने की सम्भावना ही औचित्य है। लोक-स्वभाव से उत्पन्न होने के कारण नाट्य के प्रयोग में लोक ही प्रमाण भूत है।

'लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।।'[1]

यह कथन प्रकारान्तर से इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि विशिष्ट व्यष्टिगत भूमिका में भी पात्र का आचरण समष्टिगत व्यवहार की सामान्य भूमिका द्वारा निर्णीत होता है। नारी का कामिनीत्व ही नहीं गृहिणी, सचिव सखी प्रिय शिष्या का विविध कोटिक भावतत्त्व भी साधारणीकृत होकर सहृदय से हृदय-संवाद स्थापित करता है।[2] उसकी अनेक अवस्थाओं का यह चित्रण भी स्पष्टतः लोक की सामान्य दशा के अनुसरण से भिन्न व्यापार नहीं है।[3]

भरत ने जैसा हमने अन्यत्र उल्लेख किया है, वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के विवेचन में साधारण्य अथवा सामान्य में निहित औचित्य का आख्यान किया है।[4] वृत्ति का आशय है समस्त लोक में व्याप्त भावनाओं का अनेक अनुरूप चेष्टा-विन्यास अथवा व्यवहारों के द्वारा विशिष्ट रूपायन। अभिनव के शब्दों में यद्यपि कायवाङ्मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः ताश्च समस्तलोकव्यापिन्योऽनिशं प्रथमताप्रवृत्ताः प्रवाहेन वहंति। तथापि विशिष्टेन हृदयावेशेन युक्ता वृत्तयो नाट्योपकारिण्यः।'[5]

---

१. नाट्यशास्त्रम् २६/११३, (चौखम्बा-१९२९) पृ० ३०७

२. सामाजिकविषयत्वेन व्याचक्षते हृदयसंवादयोग्यता तात्पर्येण।
पृ० १३४ (ना० शा०)

३. नाट्यशास्त्र, १/१०९, पृ० ९

४. This universal feature when echoed in a behaviour pattern is known as vritti.
(S. S. Barlingay op. cit. p. 15)

५. अभिनवभारती भाग-३, पृ० ८२-८३

कहने का आशय यह है कि क्षेमेन्द्र, जिसे वस्तुओं की आन्तरिक अनुरूपता (सदृशं किल यस्य यत्) कहते हैं, वह वस्तु अथवा पात्र में सामान्य स्थिति का सन्निवेश ही है, जिसके कारण पात्र अपनी विशिष्ट कालिक स्थानिक अथवा मानसिक संभावनाओं के बीच सार्वभौम प्रतिमानों के अनुरूप आचरण के लिए प्रेरित होते हैं। इस प्रक्रिया में पात्र की व्यक्तिगत भिन्नताओं का लोप हो जाता है और उनकी सार्वभौम विशेषताएं उद्भावित हो जाती हैं।[१] स्पष्टतः इस सार्वभौमता का आधार पात्र की प्रकृति का औचित्य ही है। होरेस के अनुसार इसका सम्बन्ध चरित्रों की स्वरूप रक्षा से है। संस्कृत नाटकों का भीम अथवा ग्रीक नाटक का अखिलेश (एकलीज) का मौलिक स्वरूप शौर्य, आवेग, रोष एवं हिंस्र प्रवृत्तियों से संगठित है।[२] उन प्रवृत्तियों के उद्घाटन के द्वारा ही ये चरित्र सार्वभौम स्तर पर संवेद्य होते हैं। भोज द्वारा उद्धृत यशोकर्मा का यह अभिमत भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य है कि पात्रों के उद्गार उन पात्रों की प्रकृति के अनुरूप होने चाहिएं। **'औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता।'**[3]

आनन्दवर्द्धन ने विभावौचित्य के सन्दर्भ में प्रकृत्यौचित्य का जो विशद विवेचन किया है, उसमें भट्टनायक के **विभावादिसाधारणीकरणात्मा** के प्रकृत सूत्र की व्यापक आधार भूमि संघटित हुई है।

तत्र विभावौचित्यं तावत्प्रसिद्धं। भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृतिर्हि उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी। तां यथायथमनुसृत्यासंकीर्णः स्थायी भाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग् भवति।[४]

---

[१] We eliminate the individual variations and confine ourselves to the common features. This is the sadharani karana of Abhinavagupta.

(S. S. Barlingay, op. cit. p. 16)

[२] If perchance you write of the famed Achilles, make him energetic, wrathful, inexorable, fierce; no laws will he grant to have application to him self; there is nothing which he will not think must be associated with arms.

(Horace—Epistle to the Pisos, The Great Critics, P. 118)

[३] शृंगारप्रकाश, भाग-२, पृ० ४११

[४] ध्वन्यालोक पृ० १८६ (सं० डा० नगेन्द्र-१६६२)

बिभावादि के साधारणीकरण का आशय यदि परिहृत विशेषत्व ही है **'विभावादिव्यापारमहिम्ना सीतात्वादिपरिहारेण स्त्रीत्वादिनेव ज्ञानतात् अथवा मालत्यादिशब्देभ्यो योषिन्नमात्रप्रतीतौ रावणादिशब्देभ्यो शत्रुमात्रप्रतीतौ च।'**[1] तो पात्रों की सामान्य स्वरूपावस्थिति की स्थूल संकल्पना को सूक्ष्म अर्थच्छायाओं की उस व्यापक आधारभूमि में यथार्थ स्तर पर ग्रहण किया जा सकता है। सामान्येनोपस्थिति का अर्थ है प्रकृत्यौचित्य। मनुष्य की मूल प्रकृति को कथा के केन्द्रीय भाव की विशिष्ट सापेक्षता में उद्घाटित करना ही विभावादि का साधारणीकरण है। यदि कथा के विकास क्रम में मानव प्रकृति की मौलिक दुर्बलता का उन्मीलन अपेक्षित है, तो उस पर दिव्य आदर्श का कृत्रिम आवरण चढ़ाकर उसकी मूल संकल्पना (स्थायी भाव) को विकृत करना अप्रासंगिक है। नारी-स्वभाव की सहज शंकालु प्रवृत्ति का एक पक्ष लक्ष्मण के प्रति सीता की कटूक्ति में भी व्यक्त हुआ है।

'सुदुष्टस्त्वं वने राम मेकमेकोऽनुगच्छसि।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा॥'[2]

आनन्दवर्द्धन का कथन है कि मानवोचित प्रकृति के उन्मीलन के अवसर पर अनावश्यक रूप से दिव्य संदर्भों को नहीं जोड़ना चाहिए। **'किन्तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम्।'**[3] कहने का आशय यह है कि प्रस्तुत संदर्भ में सीता के स्वरूप की मानवी मर्यादा यही है। वाल्मीकि ने इसी रूप में इसका आख्यान किया है। कहने के लिए इसे सीता की मूल प्रकृति के विरुद्ध आचरण कहा जा सकता है, किन्तु पारिस्थितिक प्रभाव में वह जो मूल प्रकृति अर्जित करती है, प्राकरणिक संदर्भ में वही उसके औचित्य की मर्यादा है। कान्तात्व अथवा नारीत्व के विविध कोणों में से कोई एक कोण केन्द्रीय भाव की सापेक्षता में ही उद्घाटित होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि प्रणयचर्या के सूक्ष्म-प्रबल, आवृत-अनावृत अनेक रूप हो सकते हैं। उनके उन्मीलन के क्षण में नारी सामान्य प्रणयमुग्धा कामिनी के रूप में उपस्थित

---

१. साहित्यसुधासिन्धु, पृ० ६३, प्रतापरुद्रीयम् पृ० २६०
२. वा० रा० (अरण्यकाण्ड, ३८/२४) पृ० ५६४
३. ध्वन्यालोक पृ० १६०

होती है, किन्तु कामिनीत्व का औचित्य भी उस मूल प्रकृति के संदर्भ में ही है, जिसे वह प्रतिपाद्य के अनुरूप अन्तःसंस्कार तथा परिवेशजन्य भावबोध के स्तर पर क्रमशः अर्जित एवं उद्घाटित करती है। ध्वनिकार का कथन इस संदर्भ को अधिक प्रासंगिक स्तर पर विश्लेषित करता है—**न च संभोगश्रृंगारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकार, यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यंते। तस्मादुत्साहवद्रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम्।**'[1]

वस्तुतः आनन्दवर्द्धन ने औचित्योपनिषद् को रस-निष्पति के परम उपनिषद् के रूप में उसी प्रकार प्रतिष्ठित किया है, जैसे उनके परवर्ती भट्टनायक ने साधारणीकरण को। **'प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।'**[2]

यहाँ ध्वनिकार ने उपनिषत् शब्द का अत्यन्त सार्थक प्रयोग किया है। शंकर के अनुसार उपनिषद् की व्युत्पत्ति सद् धातु से है, जिसका अर्थ अत्यन्त अवसादन है।[3] साधारणीकरण एवं औचित्य का यह अत्यन्त व्यापक समीकरण है। रस की वेद्यान्तर प्रतीतियों का उच्छेदन करने में ही दोनों की इतिकर्तव्यता है। दोनों ही विघ्नबहुल प्रतीतियों से भिन्न स्तर पर प्रमाता के हृदय-संवाद की भूमिका निर्मित करते हैं। उपनिषद् का एक व्युत्पत्तिगत अर्थ उपनिगमन भी है। ब्रह्म (रस-काव्यार्थ) के निकट प्रमाता का अभिगमन औचित्य की भूमिका पर ही संभव है।

स्पष्टतः औचित्य साधारणीकरण की प्रेरक एवं नियामक शक्ति है। अभिनव ने विभावादि के औचित्य को रसादि का नियामक माना है। यथा—वत्सराज के प्रेम वंध को विभावादि के औचित्य से करुण विप्रलम्भ आदि की भूमिकाओं में व्याप्त दिखाकर कवि कथानक-वैचित्र्य को भी साधारणीकरण की औचित्य-मूलक भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है। वस्तुतः निर्विशेषत्व की भूमिका भी औचित्य की प्राक्कल्पना के बिना संभव नहीं

---

१. वही- पृ० १९२

२. ध्वन्यालोक (सं० डा० नगेन्द्र, वाराणसी-१९६२) पृ० १९०

३. सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्। (बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य, पृ० ३०, गोरखपुर, सं० २०२९)

है, जैसा कि पंडितराज का कथन है कि रस प्रतीति से पूर्व नायक-नायिका आदि के साधारणीकृत हो जाने से ही पूज्य बुद्धि का लोप नहीं होता, अपितु औचित्य की भूमिका पर ही साधारणीकरण की संकल्पना संभव है, अन्यथा माता-पिता के प्रेम-वर्णन में सहृदयों को रस की प्रतीति होने लगेगी। 'न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम्। यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्। अन्यथा स्वमातृविषयकपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः।'[1]

---

[1] रसगंगाधरः (प्रथमाननम्, चौखम्बा-१९७०) पृ० २१४

[२]

भट्टनायक-पूर्व साधारणीकरण के अन्तर्वर्ती सन्दर्भ

वेदों में साधारणीकरण की मूल संकल्पना के सूत्र

साधारणीकरण की मूल संकलपना में जीवन-मूल्य ही क्रमशः काव्य-मूल्यों में संक्रमित हुए हैं। काव्यार्थ अथवा नाट्य-प्रयोग के समय सामाजिकों की एक जैसी वासना, एवं चित्तवृत्तियों में एक घनता की प्रतीति मूलतः सख्य भाव की प्रेरणा भूमि में ही अंकुरित होती है। एक ही नाट्यार्थ में विविध प्रमाता तन्मय तथा एकीभूत होकर वैयक्तिक संसर्गों से मुक्त तथा सामष्टिक भाव से आन्दोलित होते हैं - नानात्व तथा असाधारणत्व के मूल में एक ही मूल तत्त्व का अनुसंधान मानव-मात्र में निहित एक ही राग तत्त्व को परिभाषित करता है। वैयक्तिक चेतना में परिमित होने के कारण मानव की अनुभूति व्यक्तिबद्ध तथा असाधारण होती है, किन्तु व्यक्ति-संसर्ग से मुक्त होकर वह व्यापक हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति का देशकाल से अनुविद्ध वैशिष्ट्य तिरोहित हो जाता है तथा प्रमाता स्व-पर की चेतना से मुक्त अनुभूति का निर्विशेष भाव से अन्तर्भावन करता है। व्यक्तिपरक राग-द्वेष स्व-पर भाव से मुक्ति में विशेष बाधक हैं, अतः निर्विघ्न प्रतीति रूप में काव्यवस्तु अथवा बोध्य विषय को ग्राह्य बनाने के लिए सुख-दुःखाकार प्रत्ययों से उत्पन्न पाप और कल्मष से मुक्ति आवश्यक है। काव्यार्थ का सम्प्रेषण उभयमुखी प्रक्रिया है, जिसमें कवि तथा सहृदय, दोनों ही एक अन्तःसूत्र में आबद्ध होते हैं। कवि भी सहृदय के समान वैयक्तिकता से विनिर्मुक्त होकर ही सहृदय की अन्तश्चेतना में अपने राग-तत्त्व को प्रवाहित

कर सकता है। कवि तथा सहृदय को अन्तःसूत्र में जोड़ने वाली वस्तु काव्यार्थ है, जिसका सौंदर्य मानव-मात्र के अन्तश्चेतन में समान रूप से प्रतिष्ठित होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त सभी मूल्य एक सीमा तक जीवन-मूल्यों से प्रेरित हैं, जिनमें मानव मात्र के ऐक्य तथा परस्पर रागद्वेष से मुक्त निर्मल अन्तःकरण की आवश्यकता अनुभव की गई है।

ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में जहाँ जीवन-मूल्यों के आदर्श की चरम प्रतिष्ठा हुई है, वहाँ कवि और काव्य के अन्तः सम्बन्ध को भी उन्हीं आदर्श मूल्यों की पृष्ठभूमि में परिभाषित एवं व्याख्यायित किया गया है। अतः कहीं प्रत्यक्षतः और कहीं परोक्षरूप में वैदिक वाङ्मय में ऐसे प्रचुर संकेत उपलब्ध हैं, जिनमें साधारणीकरण की परवर्ती अवधारणा को व्याख्यायित करने की अनेक संभावनाएँ अनुसंधेय है। सर्व प्रथम उन जीवन मूल्यों की ओर इंगित करना आवश्यक है, जिन्होंने सामाजिक मात्र की अनुभूति को एकतानता एवं एकघनता प्रदान की है। सख्य भाव से प्रेरित सामष्टिक भाव ही वह प्रेरणा-भूमि है, जिसमे सौंदर्यानुभूति अथवा जीवन के किसी क्रियात्मक क्षण में मानव समनस्क एवं एकतान होते है। समान हृदय, द्वेष रहित समान मन, समान मन्त्रणा तथा इच्छा कर्म एवं ज्ञान में समान भावापन्नता ऋग्वेद का चरम प्रतिपाद्य है।

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
(ऋ० १०/१९१/४)

समानो मन्त्र समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
(ऋ० १०/१९५/३)

मानव मात्र में सहज तादात्म्य की अवरोधक शक्ति है—रागद्वेष तथा स्वार्थपरकता पर आधृत संकीर्णता। अभिनव ने इसी को 'सुखदुःखसंविदामास्वादे परमो विघ्नः' कहा है। अथर्ववेद में द्वेष को समानमनस्कता का अवरोधक तत्त्व कहा गया है। अतः कामना की गई है कि

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमपि हर्यत वत्सं जातमिवाध्न्या ॥
(अथर्व० ३/३०/१)

यजुर्वेद में मन की मलिनता किस प्रकार बाह्य इन्द्रियों की चंचलता में परिणत हो कर एकाग्रता को भंग करती हैं, इसका प्रार्थनापरक उल्लेख है :

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः ।
अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्य सुव ।। (५/११)

अथर्ववेद में भी पाप को वशवर्ती बनाकर कुटिलता को आर्जव या सारल्य में परिणत करने की प्रार्थना की गई है 'अव मा पाप्मन् सृजवशीसन् मृतयासिनः ।' ऋग्वेद के अन्त में संज्ञानसूक्त में भी हृदय-संवाद तथा मानसिक समाहिति का आख्यान है । 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।'

प्रमाताओं की मानसिक अन्विति का एक रूप समग्र विश्व में ओत-प्रोत मूल तत्त्व के अनुसंधान में निहित है, जिसका सार यह है कि एक मूलतत्त्व कवियों द्वारा अनेक रूपों में कल्पित किया गया है, उसे अनेक नामों से अभिहित किया गया है, किन्तु वह मानव मात्र में अन्तर्यामी रूप से सक्रिय है ।

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्त बहुधा कल्पयन्ति ।
(ऋग० १०/११४/५)
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ।
(ऋग्० १/१६४/४६)

इस संदर्भ में कतिपय उन मूल्यों के उल्लेख के बाद, जिन्होंने साधारणीकरण की अवधारणा के लिए वातावरण तैयार किया है, उन मूल्यों की ओर संकेत करना प्रासंगिक है, जिन्होंने काव्यशास्त्र की अपेक्षाकृत अधिक वस्तुनिष्ठ दृष्टि को प्रभावित किया है । उपर्युक्त मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में इन काव्य-सिद्धान्तों की उद्भावना अप्रत्याशित नहीं कही जा सकती ।

ऋग्वेद में वाक् का अत्यन्त व्यवस्थित विवेचन है । यह वाक् वक्ता और श्रोता की आनन्दानुभूति के रूप में स्वाद[1] को प्रतिमान के स्तर पर अन्वेषित करती है । सुप्रयुक्त संतुलित भाषा में एक विशिष्ट सौंदर्य का आविर्भाव

---

१. धेहि चित्तं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।
स्वादमानं वाचः, सु-दिनत्वमह्नाम् । (ऋग् २/२१/६)

हो जाता है, जो वक्ता और श्रोता को सहभोक्ता के स्तर पर परस्पर सख्य भाव[1] से उद्वेलित कर देता है। वाणी स्वयं को ज्ञाता पुरुष के सम्मुख उसी प्रकार समर्पित कर देती है, जैसे पत्नी स्वयं को अपने अभीष्ट पति के सम्मुख निरावृत करती है।[2] अधिकारी श्रोता के अभिमुख वाणी स्वतः प्रवाहित होती है, किन्तु एक ओर तो कवि अथवा वक्ता के हृदय में इसका सम्यक् अन्तर्भावन अपेक्षित है, दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि कवि का संवेद्य तत्त्व राग तथा विवेक के माध्यम से छन कर वक्ता तक सम्प्रेषित हो। वस्तुतः कवि का संवेद्य सरिता के समान प्रवहमान हो कर प्रमाता तक संक्रमित होता है।[3] ऋग्वेद का कवि सहृदय के अन्तर्भावन तथा सम्प्रेष्य वस्तु के मधुर तथा काम्य चरित्र से पूर्णतः अभिज्ञ है। सहृदय तक सम्प्रेष्य वस्तु लालित्यपूर्ण होती है तथा मनीषी कवि उसे अनेकविध व्यक्त करते हैं।[4] कवि के समान प्रमाता के लिए भी अपेक्षित है कि वह काव्यार्थ के मर्म का ज्ञाता तथा आस्वाद के क्षण में सांसारिक विघ्नों से मुक्त विशुद्ध संविद् रूप हो। काव्य के मर्म से अपरिचित प्रमाता काव्य को साक्षात् देखता हुआ भी नहीं देखता (उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्) निरुक्तकार के शब्दों में 'योऽर्थज्ञ इत सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।'[5] वाणी के सम्यक् भावन के अनन्तर ही प्रमाता अर्थ का द्रष्टा बनता है। सम्यक् अन्तर्भावित अभिव्यक्ति में यह सामर्थ्य स्वतः रहता है कि वह एक

---

१. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते; भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि॥
(ऋ० १०/७१/२)

२. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वा शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।
(ऋ० १०/७१/४)

३. सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
(ऋग्वेद, ४/५८/६)

४. सहस्रधारे विवते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः
सहस्रधारः परिषिच्यते हरिः पुनानो वाचम्।
(ऋग्वेद, ९/८६/३३)

५. निरुक्तम् (राजवाड़े, पूना, १९४०), पृ० २७

साथ विविध लोकों और महाभूतों को उत्पन्न करती हुई, सम्पूर्ण विश्व को अभिव्याप्त करती है।

ऋग्वेद में प्रकीर्ण उक्त संकेतों के आधार पर कुछ निष्कर्ष सहज ही निकाले जा अकते हैं, कवि और पाठक के बीच भावमय सम्बन्ध का यहाँ स्पष्ट संकेत है। काव्य के अन्तर्भावन के लिए कल्मष-रहित ज्ञान अर्थात् रजस् तमस् से विनिर्मुक्त सत्त्वोद्रेक आवश्यक है तथा सौन्दर्य के साक्षात्कार से प्रमाता विशुद्ध तन्मयता की स्थिति को प्राप्त होता है। वर्ण्य विषय की उत्कृष्टता काव्य को स्वतः अमर[1] बना देती है। विषय जितना ही अन्तर्भावित तथा व्यापक होगा, प्रमाताओं के पारस्परिक वैषम्य को दूर कर काव्यास्वाद को सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक बनाने में उतना ही योग देगा। वाणी हृदयरूपी समुद्र से उद्भूत होकर शत्रु, मित्र, मध्यस्थ, सभी को एक भाव धारा में निमग्न करती है। '**एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।**'[2] वागाम्भृणी सूक्त में प्रतीकात्मक रूप में ऋग्वेद के कवि ने वाणी की व्यापकता का अन्वेषण किया है। कवि की अनुभूति की सघनता में परिणत हो कर कविता का प्रतिपाद्य मानव चेतना में आद्योपान्त अनुस्यूत हो जाता है।[3] वह जहां सौंदर्यबोध को उद्बुद्ध करती है, वहाँ जीवन-चेतना को प्रेरित भी करती है।[4] विश्व रूप में वह सर्वव्यापक है[5] तथा जो उसका अन्तर्भावन करता है, उसे वह अन्तर्दर्शन में समर्थ ऋषि तथा ब्राह्मण बना

---

[1] सतो नूनं कवयः संशीशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
(ऋग्वेद, १०/५३/१०)

[2] ऋग्वेद ४/५८/५

[3] तां मा देवा व्यदधुः पुरत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ बहुभावेन प्रपंचात्मनावतिष्ठमानाम् भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातानि आवेशयन्ती
(ऋ० १०/१२५/३)

[4] अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥
(-वही- १०/१२५/६)

[5] अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
(-वही- १०/१२५/८)

देती है। मानव मात्र में विचार तथा भावों के वीजाणुओं की सृष्टि करने वाली वाणी ही है।[1]

वाणी में मन का अनुसरण करने की क्षमता की कामना प्रत्येक वक्ता के मन में होती हैं। किन्तु वह मौलिकता और यथार्थपरकता से ही आती है। सभी प्रमाता कविता के मर्म को एक ही स्तर पर आत्मसात् नहीं करते, उनकी संवेदना में ऐक्य होते हुए भी बोध में तारतम्य पाया जाता है।[2] फिर भी कवि की वाणी में यह सामर्थ्य होती है कि वह ओज, सोद्देश्यता एवं व्यंजकता आदि गुणों के द्वारा सहस्ररूपा हो कर संख्यातीत मानसिक गुणों में संक्रमित हो जाती है। आशय यह है कि ऋग्वेद का कवि काव्यास्वाद की उस मूल भूमिका से परिचित है जो काव्यवस्तु की विशिष्टता को सार्वभौम सार्वकालिक चेतना में अनूदित कर कवि के संवेद्य को श्रोता तक सम्प्रेषणीय बनाती है।

वेदों में अभिव्यक्त काव्य सम्बन्धी अवधारणाओं की मौलिक प्रकृति भी वासना-संवाद और प्रमाताओं के अनुभूतिगत ऐक्य को प्रमाणित करती है। वैदिक गीतों में बाह्य रूप-व्यापारों तथा आत्म-निष्ठ रागात्मकता का लालित्य मूलक सामंजस्य हुआ है। एक स्तर पर इनमें भावुक प्रेरणा का उन्मेष दिखाई देता है तो दूसरी ओर प्राकृतिक आदिम सौंदर्य का मानवीय अनुभूति में संवेद्य रूप प्रतिबिम्बित हुआ है। ये प्रकृति-बिम्ब मूलतः आदिबिम्ब हैं, जो अनादिकाल से मानव की अनादि वासना को झंकृत करते आये हैं। 'तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।' के आद्य बिम्ब मूलक सिद्धान्त पर सुप्रतिष्ठित होने के कारण ये मानव-चेतना को सहज ही साधारणीकृत करते हैं। यथा—

'एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ॥'

(ऋक् १/११३/७)

---

१. मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यो प्राणिति य ई शृणोत्युक्तम्, (१०/१२५/४)

२. अक्षण्णवन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसभा बभूवुः। (ऋ० १०/७१/७)

ये विम्ब निश्चय ही अनादि वासना पर आधृत होने के कारण मानव की अकृत्रिम प्रीति और उल्लास को उद्बुद्ध करते हैं। इन विम्बों के साथ प्रमाता का तादात्म्य रसानुभूति को तीव्र करता है। एक दूसरे तथ्य की ओर दृष्टि डालने से तादात्म्य की अवधारणा और भी सुस्पष्ट रूप में सामने आती है। ऋग्वेद में व्यक्त सौन्दर्य मूलतः विराट् तत्त्व का प्रोद्भास है। प्रमाता की असीम चेतना विराट् सत्ता की निःसीम दिव्य चेतना में समाहित होकर अपनी संकुचित रागदशा से उन्मुक्त हो जाती है। प्राकृतिक शक्तियों के असाधारण अनन्त विस्तार तथा अलौकिक ऐश्वर्य मानव चेतना में विमुग्धता तथा अनन्तता की अनुभूति जगाते हैं।[1] अतः अब यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि ऋग्वेद का कवि काव्य के विराट् प्रभाव से अभिज्ञ था, जो कवि और प्रमाता को प्रीति और आह्लाद के अन्तःसूत्र में अनुस्यूत करता है।

ऋग्वेद में कवि तथा कविकर्म की अत्यन्त व्यापक कल्पना उन्मीलित हुई है। कवि, दक्ष, सोम, अग्नि तथा सूर्य का समीकरण प्रस्तुत करके ऋग्वेद ने उस सर्जन-भूमिका को व्यापकता से परिभाषित किया है, जो सौंदर्याधायक वस्तु के साक्षात्कार से उत्पन्न विविध मनोभूमिकाओं को रेखांकित करती है। दक्ष के प्रतीक के रूप में कवि-कर्म का क्रान्तदर्शी रूप व्यक्त हुआ है। दक्ष (मन) द्वारा कवि जन्म लेता है तथा अनेक धाराओं एवं प्रजाओं से सम्बद्ध होकर वह उस मनुष्य की सेवा करता है, जो उसके सख्य में रमणशील होता है। **'यः सोम सख्ये तव रारणदेव मर्त्यः। तं दक्षः सचते कवि'** (ऋ० १, ९१, १४)। वेद में सोम को कवि नाम पदवी से भी अभिहित किया गया है।

'ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनाम् ऋषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणामह स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेमन्॥

(पृ० ९/९६/६)

सोम, कवि एक होकर भी नाना काव्यों की सृष्टि करने वाला तथा काव्य के द्वारा अनेक रूपो में अवतरित होकर अनेकविध अभिव्यक्ति का जनक

---

[1] अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः॥
(ऋ० १/३५/४)

है । 'सोम सुमेधा, गातुविद्, विश्वदेव होकर अपने नित्य स्थान (नित्यं सदः) को प्राप्त होता है, वही समस्त काव्यों में रमणशील (**विश्वेषु काव्येषु रन्ता**) होता है । सोम कवि काव्यों को अपने 'नृम्ण' से ओतप्रोत करता है, सभी काव्यों का अभिसृजन मधुरमद की धारा द्वारा करता है, तथा समस्त प्रिय काव्यों (प्रियाणि काव्या विश्वा) को प्रत्यक्ष करता हुआ (अभिचक्षाणः) गतिशील होता है ।'[1] सोम कविकृत या कवि की मेधा का प्रतीक है । **अरुषो जनयम् गिरः सोमः व्यक्त आयुषक् । इन्द्रं गच्छन् कविक्रतुः ।।** (ऋ० ९, २६, ५) अग्नि की कवि-भूमिका का उल्लेख अध्वर या यज्ञ के प्रसंग में है । वह भी अपनी कव्यता से मनोमय प्रज्ञाओं को जन्म देता है, जिसके कारण वह धारणकर्ता कहलाता है । अग्नि को भी कविक्रतु अर्थात् कवि की प्रतिभा का प्रतीक कहा गया है,[2] जो अंधकार में लीन प्रकाश को उन्मीलित करती हैं । अग्नि भी अपनी नाना रूपात्मक अभिव्यक्तियों से विश्वजनीन भावों को आत्मसात् करती है । ऋषि कहता है कि दीप्तिवान् वैश्वानर कवि ने अपनी महिमा से द्यावापृथ्वी को व्याप्त किया हुआ है ।[3] इन्द्र भी कवि है, जो सूर्य द्वारा द्यावा (पृथिवी) को प्रकाशित करके अद्रि को तोड़कर गाय अथवा ज्ञानरश्मियों को मुक्त करता है तथा चेतना को प्रकाशित करता है ।[4] इन्द्र (कवि) अपनी भाव चेतना से संवृद्ध होकर सहृदयगत रसानुभूति की कोटि को परिभाषित करता है । उषणा की शक्ति का आधार पाकर इन्द्र के अश्व अधिक तीव्रता से आगे बढ़ते हैं ।[5] कवि का तत्त्व एक विराट् रूप सच्चिदानन्द की परिकल्पना में भी निहित है, जो अपनी ज्ञान क्रिया इच्छा की नानारूपता से देवों में परिणत हो जाता है ।[6] **'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ।'** (यजु० ३२/८) यह काव्य सृष्टिमात्र के रूप में अभिव्यक्त होकर पुनः पुनः अनुसंधानित

---

[1] फतहसिंह, (भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका (दिल्ली-१९६७) पृ० ७३)

[2] अग्निर्होता कविक्रतुः (ऋ० १, १, ५)

[3] वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदामः ।
यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्ताद्रुत देवः परस्तात् ।।
(ऋ० १०/८८/१४)

[4-5] यं ते काव्य उशना मन्दिनं दाद्वृत्रहणं पार्यं ततक्ष वज्रम् ।
(ऋ० १/१२१/१२)

[6] भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका पृ० ७७

होकर नवता को प्राप्त होता है। **'देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान:'** (ऋ० ८, ५५, ५)। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद में कवि के द्वारा अनेक रूपों के धारण करने अथवा विविध रूपों में समभिव्यक्त होकर कल्याणरूप एवं प्रीतिकर प्रभावों की सृष्टि करने का अनेकश: उल्लेख है, जिसमें प्रकारान्तर से यह तथ्य भी निहित है कि सौंदर्य-चेतना से अभिभूत प्रमाता की चेतना काव्य-वस्तु से गृहीत विविध अनुभूतियों को अखण्ड रूप में समंजित करती है। जिस तरह कवि विविध रूपों को प्रतिक्षण धारण करता है **'विश्वा रूपाणि प्रतिमुच्यते कवि'** प्रमाता भी उन रूपों से अनुरंजित होता है। **'सं रूपैरज्यते हरिः'** (ऋ० ९/३४/४)। प्रमाता के स्तर पर ऋषि परम पुरुष की दिव्यानुभूति के साक्षात्कार से अमृतत्त्व की जिस कोटि में पहुँच जाता है वह साधारणीकरण की समानान्तर भूमिका है।

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णः तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥'[1]

साधारणीकरण रसानुभूति का व्यापार और परिणाम है। रस शब्द वेद में विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[2] वनस्पति के सारभूत द्रव[3] तथा विविध ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य आस्वाद और आह्लाद के रूप में भी उनका सीमित प्रयोग हुआ है। सोमरस के आस्वादमूलक अर्थ में उन्माद, शक्ति तथा आह्लाद-परक व्यंजनाएँ भी अन्वित हुई हैं तथा क्रमशः सामाजिकनिष्ठ आह्लाद का पर्याय बन गया जो अभिनव और उसके परवर्ती रस-चिन्तकों की अवधारणा का मेरुदण्ड है। स्वयंभू ब्रह्म, आत्मास्वाद में तृप्त विषयांतर-सम्पर्क से शून्य प्रयोजनातीत निष्काम भूमिका में स्थित है। **अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥** (अथर्व० १०, ५, ४४) यह मनोमय आह्लाद अथवा आत्मास्वाद की भूमिका साधारणीकरण की भूमिका है। अन्यत्र वाणी के सारभूत प्रभाव तथा श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यता के स्तर पर भी रस का अर्थ-विकास हुआ है।

---

१. यजु० ३२/१८

२. सोमो अर्षति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसम् (९, २३, ५) यो नो रसं दिप्सति पित्वो ७, १०४, १० (अन्न का सार) जम्भे रसस्य वावृधे (१, ३७, ५) यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयतेह न (१०, ९, २) (उदक के अर्थ)

३. मध्वो रसो सुगमस्ति (५-४३-४) दधानः कलशे रसम् (९-६३-१३)

'धनंजयः पवते कृतव्यो रसो विप्रः कविः काव्येन' यहाँ कवि और काव्य के प्रसंग में रस का उल्लेख मिलता है। यहाँ कर्मठ, मेधावी, कवि एवं रस-रूप सोमदेव को काव्य-कर्म के द्वारा पवित्र होने वाला कहा गया है। इस मंत्र में काव्य के द्वारा कवि को रस रूप कहने से जो काव्य, कवि और रस का संबन्ध प्रतिपादित होता है, वह कालान्तर में काव्य और रस के सम्बन्ध का आधार बना है।[1] इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वैदिक कवि काव्य के सारभूत प्रभाव के रूप में भी रस का उल्लेख करता है। **'पावमानिरयो अध्येति ऋषिभिः संभृतं रसं तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं।'** के उल्लेख में रसं कर्म के साथ अधीति शब्द के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि यहाँ कवि 'रस' से गीतों के सारतत्त्व का अर्थ ग्रहण करता है। यही बीज काव्यरस की परवर्ती अवधारणा के रूप में अंकुरित हुआ।[2]

उपनिषद्

औपनिषदिक चिन्तन की मूल उपलब्धि लौकिक ऐन्द्रिय अनुभूति को अतिक्रान्त करने वाली आध्यात्मिक अनुभूति के विविध आयामों का उद्घाटन है। इस अनुभूति को मूलतः आत्मदर्शन के स्तर पर व्याख्यायित किया गया है।[3] परासत्ता के साक्षात्कार से हृदय-ग्रन्थि के भेदन[4] के अनन्तर उद्भूत होने वाले आत्माह्लाद का यह स्वरूप ही निविडनिजमोहसंकटता-जन्य सत्वोद्रेक एवं प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति जैसी अवधारणाओं की भूमिका बना। साधारणीकरण की यह प्रकृत भूमि है। नानानामरूपात्मक स्थूल व्यापारों में एक ही भाव-सत्य के पुनरनुसन्धान की भूमिका भी औपनिषदिक

---

[1] डा० जयमन्तमिश्र, काव्यात्म-मीमांसा, चौखम्बा, वाराणसी, १९६४ पृ० ५

[2] द्र० The Rgvedic Foundations of Classical Poetics. P. 59

[3] यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
(ईशावास्योपनिषद्, मंत्र-६ पृ० २६)

[4] भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
(मुण्डकोपनिषद्, २/२/८ ईशादि नौ उपनिषद्, गोरखपुर, पृ० २१७)

चिन्तन की ही ऋणी है।[१] वैशिष्ट्य की प्रतिबद्धता से मुक्त होकर ही आत्मा निर्विशेष आनन्द प्राप्त करता है। आचार्य शंकर के अनुसार '**सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति सततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते।**'[२] समानान्तर तथ्य है कि लौकिक प्रणयीयुगल के प्रेमालाप के साक्षात्कार से उत्पन्न लज्जा जुगुप्सा का अवकाश विशिष्ट में ही है, निर्विशेष में नहीं है।

संकुचित स्वार्थ-वृत्ति से मुक्त हृदयदशा साधारणीकरण व्यापार का सहज परिणाम है। यह अमृतत्व की परिकल्पना उपनिषद् का निष्यंद है। इसी के समानान्तर आकाशाख्य ब्रह्म[३] की संकल्पना भी साधारणीकरण की अवधारणा को वल देती है। बाह्याकाश एवं सहृदय के हृदयान्तर्गत आकाश का सामरस्य ही साधारणीकरण की भूमिका है—**यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश।**[४] आचार्य शंकर के अनुसार हृदयाकाश में निहित सूक्ष्मत्व एवं सर्वगत्व ही उसे बाह्य आकाश (अर्थात् परिवेशगत सौंदर्य) से संयुक्त करता है। अतः उस आकाशसंज्ञक तत्त्व का ही अन्वेषण करना चाहिए।[५] आन्तरहृदयाकाश की यह परिकल्पना कुमारस्वामी[६] के अनुसार सौंदर्यानुभूति का मर्म प्रस्तुत करती है।

अमृतत्व की अभिलाषा मूलतः आत्म-विस्तार की उस प्रक्रिया का चरम रूप है[७] जो देशकाल से परिमित संवित् को जीवन के उस अखिल विराट्

---

१. एको वशी सर्वभूतानान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति। (कठोपनिषद्, २/२/१२, पृ० १२८)
एषु सर्वेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्य्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।
(कठोपनिषद्, १/३/१२, पृ० १०९)

२. ईशावास्योपनिषद्, १/६ का शांकर भाष्य (गोरखपुर), पृ० २६

३. वेश्मनोऽन्तराकाश आकाशाख्यं ब्रह्म
(छान्दोग्योपनिषद् शांकरभाष्य ८/१/१, पृ० ८०६)

४. वही- पृ० ८०९

५. आकाश इवाशरीरत्वात्सूक्ष्मत्व सर्वगतत्व-सामान्याच्च।
(शांकरभाष्य पृ० ८०६)

६. ट्रांसफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट, पृ० १७४

७. येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां।
(बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/३, पृ० ५४६)

विस्तार में परिभाषित करती है, जिसमें आकाश की तरह सब कुछ ओतप्रोत है।

'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥'[1]

यही आत्मदर्शन की दिशा है, जिसके विषय में आचार्य शंकर कहते हैं— 'अमृतोऽहं ब्रह्म विद्वान् सन्; अज्ञानमात्रेण तु मर्त्याऽहमासम्, तदपगमाद् विद्वानहममृत एव॥'[2] चिदावरणभंग की परिकल्पना को इस अवधारणा से बल मिला तथा संवित्, प्रकाश एवं आनन्द के समीकरण से परवर्ती रस चिन्तन की पृष्ठभूमि निर्मित हुई है। ब्रह्मानन्द-सहोदर-रस की चरम परिणति आनन्दात्मक है यह अवधारणा स्पष्टतः उपनिषद् के चिन्तन की उपजीवी है। आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द में ही प्राणी उत्पन्न और विलीन होते हैं।[3] यह आनन्दानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं है असत् प्रकल्पना के भाव-सत्य में उन्मीलन से उद्बुद्ध होती है। यह स्वयंप्रकाश्य (सुकृत) रस रूप आनन्द है। इसी आनन्द को प्राप्त कर जीवात्मा (सहृदय) आकाश के समान व्यापक आनन्द रूप ब्रह्म (कवि की साधारणीभूत संवित्) से तदाकार होता है।[4] परवर्ती रस चिन्तन इस अवधारणा का साक्ष्य उपस्थित करता है।

संस्कृत-रस-चिन्तन ने आत्मानुभूति (ब्रह्म साक्षात्कार) एवं काव्यानुभूति को बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से प्रस्तुत कर ही साधारणीकरण के निषेध एवं विधिपक्षीय अनेक सूत्रों को समाहित किया है। काव्यानुभूति में संवेदनान्तर

---

१. वही- ४/४/१७, पृ० १०८६

२. वही, पृ०, वही

३. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।
तैत्तिरीयोपनिषद्, पृ० ३३९

४. यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः।
रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति।
को ह्येवान्नत्कः प्राण्यात् यदेश आकाशो
आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयति।
(तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली २, अनु० ७, पृ० ३२१)

का समुद्गम परम विघ्न है ।[१] यह स्थिति उपनिषद् की आत्मोपलब्धि की तलस्पर्शी है। प्रिया से आलिंगित पुरुष को जिस प्रकार आस्वादेतर बाह्य एवं आभ्यन्तर वस्तु का बोध नहीं रहता, उसी प्रकार काव्यार्थ (परमात्मतत्त्व) से परिष्वक्त प्रमाता (जीव) की संवेदानन्तर अनुभूति स्थगित हो जाती है ।[२]

आत्मा ही हृदय में स्थित है, इस अनुभूति का ज्ञाता स्वर्गलोक अर्थात् हृदयस्थ ब्रह्म को प्राप्त करता है ।[3] काव्यात्मतत्त्व (रस) के आस्वाद की हृदयपरक व्याख्या का यह प्रेरक सूत्र है। कवि-हृदय अथवा साधारणीकृत काव्यार्थ से समापत्ति ही सहृदयता है ।[४] चित्तवृत्ति में हृदय-तत्त्व की प्रधानता ही ब्रह्मानुभूति को वेद्यान्तरस्तर पर परिभाषित करती है ।[५] काव्यार्थ का साक्षात्कार अथवा साधारणीकरण भी हृदय के धरातल पर ही होता हैं ।[६] हृदयाकाश की अवधारणा तो स्पष्टतः प्राण-तत्त्व की समग्रता से उन्मीलित सौंदर्य-तत्त्व को परिभाषित करती है। इसी अनुक्रम में अधिकारी सहृदय में विवेकशीलता संयतचित्तता की संकल्पना भी उपनिषद् के मुमुक्षु की मानसिकता के समानान्तर ही विकसित हुई है ।[७]

---

१. अभिनवभारती, भाग १, पृ० २८०

२. तद्यथा प्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन नान्तरम् ।

(बृह० उ०, ४/३/२१, पृ० ९६८)

३. स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्त हृदयमिति तस्मात् हृदयमहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति ।

(छान्दो० ८/३. पृ० ८२९)

४. सहृदयत्वं हृदयस्य हि कवि-हृदय तादात्म्य-समापत्तियोग्यतैव उत्कर्षः ।

(अभिनवभारती, भाग २, पृ० ३३९)

५. तस्मादस्मिन् हृदयपुण्डरीके वेश्मन्युपसंहृतकरणैर्बाह्यविषयविरक्तै··· ब्रह्मोपलभ्यते ।

(छा० उ० शांकरभाष्य, पृ० ८०६)

६. काव्येऽपि हृदय एव तावत्साधारणीभावो विभावादीनां जातः ।

(अभिनवभारती, भाग १, पृ०, ३६)

७. यस्तु विज्ञानवान भवति समनस्कः सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति ।

(कठ० अ० १, वल्ली २, श्लो० २)

प्रेक्षक जहाँ एक स्तर पर तन्मयभाव से नाट्यानुभूति का आस्वाद करता है वहाँ विवेकपरता के कारण उस तन्मय-क्षण का द्रष्टा भी होता है।[1] परस्पर सख्य भाव से एक ही आत्म तत्त्व में आश्रित इस द्वैधी चेतना का बिम्ब भी औपनिषदिक चिन्तन से बाह्य नहीं है।[2]

उपनिषदों का प्रतिपाद्य मूलतः ब्रह्म-जीव के अद्वैतपरक सम्बन्ध की आनन्दानुभूति है अतः काव्य-वस्तु में सहृदय की चित्तवृत्ति की तदाकारिता की संकल्पना को जहाँ इस अवधारणा से प्रेरणा मिली वहाँ साधारणीकरण के अन्य सूत्र भी समाहित हुए। स्पष्टतः इस आनन्द तत्त्व की मूल प्रेरणा अनेकत्व की चिरप्रार्थित आकांक्षा[3] है। साधारणीकरण की प्रेरणा भी यही है। इसके अतिरिक्त काव्यानुभूति की देशकालातीत चेतना, काव्य में निबद्ध पात्रों के वैशिष्ट्य के तिरोधान प्रमाता की ममत्व परत्व के संसर्गों से मुक्ति, वर्ण्य विषय से एकाग्रता के क्षण में इतर वस्तुओं की अनुभूति का अभाव, वर्ण्य विषय के प्रति प्रमाता मात्र में एक ही भाव का उदय, आश्रय से तादात्म्य, सर्वभाव की उपलब्धि[4], एवं समान भोक्तृत्व की अवधारणा उपनिषत्तत्त्वों का अनेक स्तरों पर अनुसरण करती है।

---

१. Are we to lose ourselves in her agony and at the same time not so. Our actual emotion will come from recognizing and feeling the double process.

Brecht, (Quoted from Dark Comedy, P. 252)

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।

(श्वेश्वतरोपनिषद्, ४/६)

३. सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति (तैत्तिरीय २/३)
सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी (बृहदारण्यक २/४/२)

४. (क) तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वंभविपयन्तो मनुष्या मन्यन्ते।)
(बृहदारण्यकोपननिषद्, १/४/९, पृ० २४०)
(ख) तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत।
(वही- १/४/१०, पृ० २४३)

इस संदर्भ में छान्दोग्य की असंभेद की अवधारणा भी उल्लेखनीय है।[1] साधारणीकरण के समानान्तर इसमें वासना-संवाद की भूमिका प्रस्तुत हुई है। भूमा की संकल्पना तो स्पष्टतः साधारणीकरण की सार्वभौमीकृत व्याख्या उपस्थित करती है। आकाशाख्य ब्रह्म, संस्तव, सम्प्रसाद एवं असंभेद की अवधारणाएँ भी साधारणीकरण के अन्तर्वर्ती संदर्भों का ही पूर्वाभास देती हैं। सम्प्रसाद का अर्थ है जाग्रत एवं स्वप्नकालीन विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य अनुभूति से भिन्न सुषुप्तिकालीन चेतना[2] जिसमें जीव देहात्म बुद्धि का अतिक्रमण कर अपने स्वरूप से युक्त होता तथा सम्यक् आनन्द की अनुभूति करता है।[3] स्पष्टतः यह चेतना सर्वसाधारणी होने पर भी अधिकारी सहृदय में ही उद्बुद्ध होती है।[4]

बाल्मीकि (रामायण)

आदि कवि ने सौंदर्यबोध के अनेक आयामों के माध्यम से काव्य-शास्त्रीय सूत्रों का पूर्वाभास दिया है। काव्य-शास्त्रीय दृष्टि मूलतः समाहितमनस्कता के विविध कोणों को भाव तथा कला-पक्ष के स्तरों पर अनूदित करती है। काव्यार्थ पुनः पुनः अनुसंधान अर्थात् अन्तर्भावन के द्वारा आस्वाद्य बनता है। स्वयं कवि भी उस अन्तर्भावन के द्वारा रचना-क्षण से मुक्त होकर उसका आस्वाद कर सकता है, किन्तु व्यक्तित्व की संकीर्ण रेखाओं की विलीनता यहाँ भी आवश्यक है, अन्यथा राग-द्वेष से युक्त होने के कारण काव्य का

---

१. अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय।
(छान्दोग्योपनिषद्, ८/४/१, पृ० ८३६)

२. सुषुप्तकाले स्वेनात्मना सता सम्पन्नः सन्सम्यक् प्रसीददीति जाग्रत्स्वप्नयोर्विषयेन्द्रियसंयोगजातं कालुष्यं जहातीति।
(छान्दोग्योपनिषद्, पृ० ८३१-३२)

३. अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत।
(वही, पृ० ८३१)

४. सम्प्रसादशब्दो यद्यपि सर्वजन्तूनां साधारणस्तथाप्येवंवित्स्वर्गं लोकमेतीति।
(वही, पृ० ८३२)

भावन अनिवार्यतः आनन्दमयी अनुभूति को प्रेरित नहीं कर सकता। आदि-कवि की प्रथम काव्य प्रेरणा लौकिक शोकानुभूति की श्लोकत्व में उद्भावना के रूप में उद्बुद्ध होती है। इस प्रेरणा का प्रथम रूप लौकिक कारुण्य ही है। निषाद द्वारा काम-मुग्ध क्रौंचपक्षी की दुर्दशा देखकर ऋषि की लौकिक करुणा ही प्रथम क्षण में जागृत होती है। **'ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत।'**[1] किन्तु जब यह शोक अथवा कारुण्य **'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः'** के श्लोकत्व में परिणत हो जाता है, तो कवि के लौकिक शोक तथा बाह्य व्यक्तित्व की रेखाएँ क्रमशः धूमिल पड़ती जाती हैं तथा क्रमशः काव्यार्थ अन्तर्भावन के द्वारा पुनः पुनः अनुसंधान में परिणत हो कर आस्वाद्य बन जाता है। अतः उसकी लोकोत्तर धरातल (श्लोकत्व) में परिणति पाकर ऋषि को आह्लाद होता है। **'प्रतिजग्राह संतुष्टस्तस्य तुष्टोऽभवन्मुनिः**[2]**।'** पुनः पुनः अन्तर्भावन के द्वारा क्रमशः वह श्लोक आह्लाद में परिणत हो जाता है। उनके शिष्य प्रसन्न हो कर, परमविस्मित होकर, उस श्लोक का गान करने लगे।

'तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः श्लोकमिमं पुनः।
मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः[3] **॥**

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि लौकिक भाव अभिव्यंजनात्मक उपकरणों से समन्वित होकर ही आनन्द की सृष्टि करता है। अतः वाल्मीकि कहते हैं :—

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥[4]

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि अभिव्यंजनात्मक उपकरण काव्यार्थ को पाठक तक सम्प्रेषित करने के माध्यम ही नहीं हैं, वे काव्य-वस्तु की मूल प्रकृति को भी परिभाषित करते हैं। भट्टनायक ने दोषाभाव-गुणालंकारमयत्व को विभावादि के साधारणीकरण का प्रवेश-द्वार निर्दिष्ट किया

---

[1] वाल्मीकीय रामायण, गोरखपुर सं० २०१४, (बालकाण्ड २/१३) पृ० ३१।

[2] -वही- २/१६, पृ० ३२

[3] -वही- २/३६, पृ० ३३

[4] -वही- २/१८, पृ० ३१

है । उदार दृष्टि वाले वाल्मीकि भी राम के उदार चरित्र के प्रतिपादन के लिए समाक्षर श्लोक की ही अनिवार्यता अनुभव करते हैं ।

'उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमैस्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः ।।'[1]

काव्यानुभूति लोकानुभूति का अन्तर्भावन अवश्य है, किन्तु **'निजसुखादिविवशीभावः'** तथा **'स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः'** जैसे विघ्न इस अन्तर्भावन में व्याघात उपस्थित करते हैं । **'स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसम्भावनादवश्यंभावी विघ्नः'** । ब्रह्मा के सम्मुख श्लोक को दोहराते समय जैसे ही वाल्मीकि के मन में शाप के अनौचित्य अथवा क्रौंची के शोक का ध्यान आता है, वे पुनः आत्मगत शोक में निमग्न हो जाते हैं ।

'शोचन्नेव पुनः क्रौंचीमुपश्लोकमिमं जगौ ।
पुनरन्तर्गतमना भूत्वा शोकपरायणः ।'[2]

इस संदर्भ में यह तथ्य भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है कि **'शोकः श्लोकत्वमागतः'** में कवि ने कारुण्य की व्यंजना को आनन्दानुभूति में पर्यवसित कर विरुद्धों के सामंजस्य से उद्भूत होने वाले रसानुभव की ओर भी इंगित किया है । आदि कवि साहित्य में विरोधी तत्त्वों में के समन्वय से विचलित न हुए थे । शोक की व्यंजना करने वाला छन्द प्रसन्नता का कारण हो सकता है, वह जानते थे ।[3]' करुणत्व से आनन्दानुभूति के चिरन्तन विवाद को वाल्मीकि ने अभिव्यंजनात्मक धरातल पर सुलझाया है । जो करुण-कथा श्रोताओं को शोक से भाव-विह्वल कर देती है, वह अभिव्यंजनात्मक वैशिष्ट्य के धरातल पर आनन्दभूति भी जगाती है । लव-कुश का गायन सुन कर ऋषियों की आँख अश्रुपूरित हो जाती हैं, किन्तु उनके रसार्द्र हृदय गायन के माधुर्य पर मुग्ध भी होते हैं ।

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः ।[4]

---

१. वा० रा० १/२/४२ पृ० ३३
२. -वही-२/२१ पृ० ३३
३. डा० रामविलास शर्मा (सम्पादकीय-समालोचक पृ० ३)
४. वा० रा० १/२/१५-१७ पृ० ३७

काव्य पाठ से उद्बुद्ध प्रमाता की चेतना का वाल्मीकि ने प्रकारान्तर से इस प्रकार उल्लेख किया है—

> **'चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।**
> **प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथाभावमगायताम् ।।'**[१]

कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य-विषय का नेत्रों के सम्मुख स्फुरित सा प्रतीत होना काव्यास्वाद की चरम भूमिका है । साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि काव्य-सर्जन के लिए तो रजस् तमोगुण से विमुक्त शुद्ध अन्तःकरण[२] आवश्यक है ही, प्रमाता के लिए भी भावितात्मा (शुद्धान्तःकरण) अपेक्षित है,[३] जिससे पाठक अथवा श्रोता तन्मयता प्राप्त कर विस्मय विमुग्ध तथा प्रीतिमान होता है ।[४] पाठकीय प्रतिक्रिया अनेक रूपों में व्यक्त होती है । काव्य के माधुर्य की अनुशंसा तथा उसके प्रतिदान में दिया हुआ उपहार भी आस्वादस्वीकृति का बाह्य प्रमाण है ।[५] काव्यास्वाद की पराकोटि में सब कुछ मनश्चक्षुओं के सम्मुख प्रत्यक्ष होने लगता है । काव्यास्वाद अथवा सौंदर्यबोध के लिए वाल्मीकि जिसे भावितात्मा विशेषण का विशेष प्रयोग करते हैं, वह परवर्ती रस-चिन्तन का आधार बना है ।

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता में विराट्रूप की अभिव्यक्ति मूलतः कवि की अनेक रूपों में समभिव्यक्त चेतना का ही प्रतिरूप है, जिसे वह आत्मयोग के द्वारा व्यक्त करता है । **'रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः । नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।'**[६] से स्पष्ट है कि कवि एक सामष्टिक मौलिक भावना को संख्यातीत रूपों में उद्भावित करता है । ध्वनिकार ने कवि द्वारा सामान्य अनुभूति को आनन्त्य तथा वैशिष्ट्य प्रदान करने का उल्लेख करते हुए कहा

---

[१] -वही- २/१८ पृ० ३७

[२] तस्य चिन्तमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः (-वही- २/४ पृ० ३६)

[३] तौ कदाचित् समेतानामृषीणां भावितात्मनाम् (-वही- ४/१४ पृ० ३७)

[४] ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः (४/१६ पृ० ३७)

[५] प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ । (४/२० पृ० ३७)

[६] श्रीमद्भगवद्गीता ११/५, पृ० २६१
(शांकर भाष्य, गोरखपुर, सं० २०२८)

है—'यथावस्थितमपि तावदुपनिबध्यमानमनन्ततामेव काव्यार्थस्यापादयति ।'[1] कवि का यह विराट् रूप ही वह तेजोमय, मौलिक तथा अत्यन्त व्यापक विश्वात्मक रूप है, जो सम्पूर्ण जगत् की चेतना को अभिव्याप्त करके स्थित है[2] और प्रत्येक प्रमाता के लिए एक अभूतपूर्व अनुभव उद्बुद्ध करता है। उस अनुभव को आत्मसात् करने के लिए लौकिक प्रयोजनों से संस्कृत प्रतिभा की अपेक्षा विमल, अहैतुकी नवनवोन्मेषशालिनी भावयित्री प्रतिभा अपेक्षित है। लौकिक, प्राकृत अथवा संकीर्ण चेतना से उस काव्यानुभूति का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता।

'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥[3]

विराट् सौंदर्य के साक्षात्कार से उद्बुद्ध प्रमाता की चेतना का भी गीता में अत्यन्त मनोवैज्ञानिक वर्णन है। सौंदर्य प्रमाता की दृष्टि को सामरस्य एवं सामंजस्य की गति देता है,[4] किन्तु विरुद्धों का अत्यधिक अनुप्रवेश प्रमाता की गति को विक्षुब्ध भी करता है। रेनसम और क्लीन्थ ब्रुक्स जैसे नव्य समीक्षकों ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है। विरुद्धों के समंजित होते ही प्रमाता की विकीर्ण चेतना समरस हो जाती है। विराट् रूप के दर्शन से अर्जुन की चेतना प्रारम्भ में विशृंखलित होती है। इसका कारण यह है कि प्रमाता के स्तर पर वह अपने विभक्त भाव-परिवेश में निहित सामंजस्य का अनुसंधान नहीं कर पाता।[5] अतः चित्तवृत्तियों के समाहित न होने के कारण उसके चित्त को विकलता तथा व्यथा प्राप्त होती है। 'दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।'[6] असाधारणता का अत्यधिक अनुप्रवेश प्रमाता की चेतना को विकीर्ण कर देता है। अभिनव ने भी अलोक-

---

१. ध्वन्यालोक (आचार्य विश्वेश्वर द्वारा व्याख्यायित) सं० २०१९ पृ० ३५५

२. इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्यामि सचराचरम्।
(वही, पृ० २६२)

३. वही, ११/८, पृ० २६२

४. दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः प्रकृतिं गतः ॥ (११/५१, पृ० २८२)

५. तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। (११/१३, पृ० २६४)

६. ११/२४, पृ० २६६

सामान्य वस्तु के साक्षात्कार से खंडित होने वाली मानसिकता के लिए लोक-सामान्य वस्तु के प्रयोग की आवश्यकता पर बल दिया है। **'संवेद्यमसम्भावयमानः संवेद्यसंविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः। तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यात रामादिनामधेयपरिग्रहश्चोपायः।**'[1] इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि स्वगतप्रतीति से प्रमाता जब रसास्वाद की भूमि की ओर उन्मुख होता है, तो उसकी विश्रृंखल चेतना प्रारम्भ में विक्षुब्ध और उद्विग्न होती है, किन्तु क्रमशः विश्रृंखल अवयवों में एक्य का अनुसंधान कर चित्तवृत्तियाँ समंजित और विश्रान्त होती हैं। शंकर ने विभक्त चेतना से क्रमशः समंजित चेतना की ओर उन्मुख होते हुए अर्जुन की मानसिकता का उल्लेख किया है। **'येभ्यो मम पराजयशंका आसीत् सा च अपगता यतः'** उस विराट् रूप दर्शन में सम्बन्ध-सम्बन्धी की चेतना पूर्णतः लुप्त प्रतीत होती है। **'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः'** तथा **'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः'** जैसी पंक्तियाँ लौकिक सम्बन्धों से प्रमातृ-चेतना की मुक्ति की ओर इंगित करती हैं। कहने का आशय यह है कि गीता का विराट् रूप-दर्शन संदर्भ सौंदर्यानुभूति की उस भूमिका की ओर इंगित करता है, जो असाधारण तत्त्वों की समाहिति तथा विश्रृंखल चेतना के संश्लिष्ट होने की मूल संकल्पना को निकट से स्पर्श करती है। गीता में अन्यत्र ऐसे प्रचुर संकेत उपलब्ध हैं, जो जड़ संबंधों से मुक्त चैतन्य के उद्बुद्ध और उल्लसित होने की इन्द्रीयातीत दशा को ओर इंगित करते हैं। यथा—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धियो बुद्धेः परतस्तु सः।।

कालिदास (ईसा की चतुर्थ शती से पूर्व)

काव्यार्थ का अन्तर्भावन स्रष्टा और भोक्ता, दोनों के धरातल पर मानसिक समाहिति की प्रत्याशा जगाता है। कलाकार तो रूपों के समुच्चय से मानसी सृष्टि करता ही है, प्रमाता भी चेतना के परिष्कार की भूमि पर उसे ग्रहण करता है।[2] कालिदास ने दोनों ही स्थितियों को सिसृक्षा अथवा

---

[1] अभिनवभारती (दिल्ली-१९७३) पृ० २७४

[2] चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
(अभिज्ञानशाकुन्तलम् २/९ कलिदासग्रन्थावली पृ०

पुनः सिसृक्षा का विलास माना है, जो समाधिस्थ मन की प्रक्रिया है।[1] सौंदर्यबोध अथवा काव्यबोध में सबसे बड़ी बाधा रागद्वेष-मूलक तामसी भावना है, अतः शिवरूपी कवि तमस् का अतिक्रमण करके ही '(तमः पारे व्यवस्थितः) कविता की सृष्टि कर सकता है। कवि तम के पार रहने वाला ज्योति केन्द्र है और प्रमाता के धरातल पर भी वह तामसी शक्ति को परास्त कर कविता के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सकता है। सौंदर्य के साक्षात्कार से तमोवृत्ति दब जाती है, किन्तु जिस स्रष्टा अथवा भोक्ता मन की समाधि शिथिल है, वह न तो सर्जन ही कर सकता है और न आस्वाद ही, क्योंकि रज अथवा तमोगुण के प्रभाव से सत्त्व गुण शिथिल भी हो सकता है।[2]

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि काव्यार्थ से प्रमाता की संवादिता का सूत्र मूल पात्र की प्रकृति से कहीं न कहीं अवश्य जुड़ा है। कथ्य अथवा सम्प्रेष्य वस्तु की प्रकृति के संदर्भ में ही कवि के सर्जन कौशल अथवा सहृदय की सम्प्रेषणीयता के मौलिक स्वभाव की परीक्षा हो सकती है। अतः कालिदास ने **'तम् वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना'**[3] तथा **चित्ते निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगाद्,** जैसे स्थलों पर कला या काव्य की सर्जन प्रक्रिया में निहित मानसिक समाहिति का स्पष्ट उल्लेख किया है। समाधिस्थचित्त ही अनुरूप भावाभिव्यंजन में तथा प्रमाता भाव-ग्रहण में समर्थ हो सकता है। पूर्ण समाहिति की क्षमता के अभाव में सर्जन-प्रक्रिया तथा आस्वाद-प्रक्रिया दोनों किस प्रकार व्याहत हो सकती हैं, इसका मार्मिक विवेचन राजा अग्निमित्र द्वारा मालविका के चित्र-दर्शन में चित्रकार की उक्त शिथिल समाधि के विवेचन में उपलब्ध है। मालविका के मौलिक बिम्ब तथा चित्रकार द्वारा अंकित बिम्ब की तुलना करने पर राजा को यह प्रतीत होता है कि चित्रकार उस मौलिक बिम्ब को आत्मसात् करने में असमर्थ रहा है। प्रकारान्तर से इसमें यह भी व्यंजना निहित है कि स्वगत प्रतीति के स्तर पर उस चित्र की

---

१. कथं नु विषयावृत्तकौतूहलः निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं
(विक्रमोर्वशीयम् १/१० -वही- पृ० १४६)

२. चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥
(मालविकाग्निमित्रम् २/२, कालिदासग्रन्थावली, पृ० २७१)

३. रघुवंश १/२६, कालिदासग्रन्थावली, पृ० ५

त्रुटियों की समीक्षा में अनुरक्त राजा चित्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति से पूर्ण तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका। 'कांतिविसंवादि मे हृदयम्' में जहाँ प्रमाता की रसानुभूति के विघ्न की ओर संकेत है, वहाँ 'सम्प्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता' स्रष्टा की मनोभूमिका में तन्मयता की शिथिलता की ओर इंगित करता है। वस्तुतः काव्येतर अथवा कला से बाह्य प्रश्नों से उलझाने वाला संकल्प-विकल्पात्मक मन विचार-वितर्क के द्वारा काव्यास्वाद की वास्तविक भूमिका तक नहीं पहुँच सकता। अग्निमित्र की मनोभूमिका की यह सीमा है। शाकुन्तलम् में दुष्यन्त के द्वारा कालिदास ने कहलाया है कि प्रमाता के लिए कृती अर्थात् सर्जनशील मनीषा ही अपेक्षित है, जो वाक्यज्ञान की अपेक्षा काव्यार्थ की अन्तर्भावना में तन्मयता से उद्भूत होती है।

मेघदूत में यक्ष कलास्वाद अथवा कला-सर्जन के क्षण में अनासक्त नहीं रहता। स्वगतप्रतीति उसके मार्ग में बाधक है। प्रिया का चित्र खींचकर वह स्वयं को उसके चरणों में निपतित दशा में चित्रित करना चाहता है, किन्तु उभरते हुए आँसू दृष्टि पर छा जाते हैं :

'अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे।
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥'[1]

कालिदास ने उन भाव-दशाओं का भी उल्लेख किया है, जिनमें प्रमाता स्वयं को विस्मृत कर भाव में अनुप्रवेश ही नहीं करता, अपितु उसमें सात्त्विक भाव भी उत्पन्न होते हैं। तन्मयता की स्थिति में वह कलात्मक स्थिति के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करता है। चित्र को यथार्थ समझ कर दुष्यन्त 'यथा लिखितानुभाव' की अवस्था में संक्रमित हो जाता है तथा उसमें सात्त्विक भाव उद्बुद्ध हो उठते हैं। यह समाधिस्थ भाव से भिन्न कोटि की तन्मयता है। यद्यपि कलासंदर्भ में अनासक्ति का भाव ही श्रेष्ठ माना गया है, किन्तु कालिदास ने ऐसे अनेक संकेत दिए हैं, जहाँ प्रमाता तन्मयता की स्थिति में चित्र में उल्लिखित भावों के साथ पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में यथार्थ और कल्पना का भेद भुला बैठे हैं।

कालिदास ने काव्यार्थ अथवा सौन्दर्य-वस्तु के साथ प्रमाता के भाव तादात्म्य का विवेचन करते हुए भावानुप्रवेश शब्द का भी प्रयोग किया है।

---

[1] उत्तरमेघ-४७ पृ० ४४४

यह भूमिका साधारणीकरण की भूमिका की ही तलस्पर्शी है। अन्यत्र उन्होंने 'रागवन्ध' शब्द का प्रयोग किया है, जो भाव अन्य विषयों से मन को विरक्त कर काव्य में प्रदर्शित भाव में अनुप्रविष्ट हो जाए, वह रागवन्ध है। परिव्राजिका, मालविका के नृत्य में रस की तन्मयता का अनुभव करती हुई कहती है कि इसके नृत्य ने भावों में ऐसा मग्न कर दिया कि मन किसी अन्य विषय की ओर उन्मुख नहीं हो सकता।[1] यही रस की वेद्यान्तर-शून्य स्थिति है। कालिदास ने अन्यत्र करणविगम शब्द का प्रयोग किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इसका अर्थ चित्तवृत्तियों को बाहरी विषयों की ओर से मोड़ कर अन्तर्मुखी करना है। **'करणविगमा-दूर्ध्वमुद्धूतपापाः'** का आशय है कि 'शिव के चरणन्यास का दर्शन करने से श्रद्धावान् मनुष्य को इन्द्रियों को वहिर्व्यापार से मोड़ कर अन्तर्मुखी करने की शक्ति प्राप्त होती है।'[2] वस्तुतः करणविगम में साधारणीकरण की अन्तर्ध्वनि भी निहित है कि रसानुभूति की अवस्था में प्रमाता का मन बाह्य इन्द्रिय-विषयों से विरत हो कर अन्तर्मुखी होता है। कालिदास यह मानते हैं कि यह अन्तर्मुखी व्यापार या भावन व्यापार बाह्य रूप से धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर अग्रसर होता है। काव्य में वर्णित भाव विभाव द्वारा भावनीय वन कर स्थायिभावों द्वारा वासित होते हैं।

कालिदास ने ऐसे प्रचुर संकेत दिए हैं, जिनसे लौकिक स्मृति एवं अलौकिक रसानुभूति का भेद स्पष्ट होता है। दुष्यन्त शकुन्तला के चित्र को देख कर तन्मयता की स्थिति में उसकी मानस-मूर्ति से अन्तःसाक्षात्कार करता है। यह लौकिक तथा अलौकिक स्मृति का संधि-स्थल है। क्रमशः लौकिक स्मृति क्षीण हो जाती है और वह तन्मयता की लोकोत्तर भूमि पर पहुँच जाता है, किन्तु जैसे ही उसे कलात्मक अभिव्यंजना की कृत्रिमता का बोध होता है, उसकी तन्मयता भंग हो जाती है।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन ।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥'[3]

---

[1] मालविकाग्निमित्रम् २/८, वही, पृष्ठ २७४

[2] कालिदास की लालित्य योजना (राजकमल दिल्ली, १९७०, पृ० १०८)

[3] अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६/२१ पृ० ११०

इस तन्मयता की शृंखलित स्थिति को ही अभिनव ने **स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः** कहा है। लौकिक अनुभूति को जब स्रष्टा या प्रमाता पूर्णतः अन्तर्भावित कर लेता है, तो वह कलासृष्टि और कलास्वाद का आधार बनती है। वाल्मीकि का शोक श्लोक की लोकोत्तर भूमि में परिणत होकर लौकिक क्लेश तथा अप्रीतिकर अनुभूतियों से मुक्त हो जाता है। कालिदास ने शोक-श्लोक के उस समीकरण का निर्देश किया है, जिसके आधार पर आनन्दवर्द्धन ने रसानुभूति की ध्वनिपरकता का विवेचन किया। **'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।'** आशय यह है कि बाह्य अनुभूति रागद्वेष माध्यस्थ आदि भावों से मुक्त हो कर ही काव्यानुभूति में परिणत होती तथा साधारणीकृत होती है। अनेक स्थलों पर कालिदास ने इन लोकोत्तर अभिव्यंजनाओं की भाव-मूलक विवृतियों का उल्लेख किया है। यथा **मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती'**। इसी संदर्भ में शाकुन्तलम् के अभिनव द्वारा उद्धृत उस प्रसिद्ध श्लोक[1] का भी उल्लेख आवश्यक है, जिसके आधार पर अभिनव ने वासनासंवाद की आधारशिला रखी है। सौंदर्य के साक्षात्कार से द्रष्टा भावरूप में स्थिर वासना-संस्कारों में एक प्रकार की झंकृति अनुभव करता है, जिसे कालिदास ने पर्युत्सुकीभाव कहा है। यह स्मृति लौकिक स्मृति से भिन्न अबोधपूर्वा निर्विशेष स्मृति होती है, किन्तु यह एकान्त बुद्धि-शून्य नहीं होती, इसमें विवेक और रागचेतना का स्पर्श रहता है, जो कलावस्तु की मूल प्रकृति को कलातत्त्व और प्रमाता के भावतत्त्व के स्तर पर अभिव्यंजनागत अपेक्षाओं के अनुरूप अनुसंधानित करती हैं।

भरत

भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य अथवा नाट्यानुभूति से प्रेरित प्रमातृगत अनुभूति के विश्लेषणपरक ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनमें साधारणीकरण की अवधारणा में निहित कतिपय तत्त्वों का स्थूल आख्यान उपलब्ध है। भरत के अनुसार विभावों की सापेक्षता में भावित किये जाने वाले भाव कहलाते हैं ये भाव अभिनेता के द्वारा शिक्षाभ्यास से उद्भावित किये जाते हैं। कवि के निगूढ़ भावों को दर्शकों के प्रति बोधगम्य बनाने में भाव-प्रदर्शन की बड़ी

---

[1] -वही- ५/२ पृ० ७५

प्रबल भूमिका है। क्योंकि ये अनेकविध अभिनयों से युक्त रसों का भावन करते हैं। भाव की व्युत्पत्ति है **विभाव्यते अनेन इति विभावः**। विभावितम् विज्ञातम् समानार्थक हैं।[1] भरत के अनुसार भावों में कवि के अभिप्राय को व्यक्त करने की मौलिक क्षमता निहित है। साधारणीकरण शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वे इस तत्त्व का सजग संकेत देते हैं। आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा कवि के अन्तःकरण में स्थित भाव साधारणीकृत होकर आस्वादन की योग्यता प्राप्त करते हैं।

'वागंगमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥'[2]

सत्त्व शब्द यद्यपि यहाँ सात्विक भावों का वाचक है, तथापि भट्टनायक ने रजस् तमस् से स्पृष्ट द्रवीभाव विस्तार तथा विकासरूप सत्त्वगुण के प्राधान्य तथा तज्जन्य प्रकाश, आनन्दमय साक्षात्कार एवं विश्रान्तिरूप अनुभव की जो अवधारणा प्रस्तुत की है, उसका मूल संकेत भी इसमें निहित है।

ये भाव ही रसाभिव्यक्ति के मूल हेतु हैं तथा इन्हीं के सामान्य गुणों के संयोग से रसादि निष्पन्न होते हैं। सामान्य-गुण-योग से भरत का क्या आशय है यह तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु प्रकारान्तर से सामान्य-गुण-योग में साधारणीकरण शब्द की अन्तर्ध्वनि अवश्य विद्यमान है। टीकाकारों तथा आलोचकों ने इसी संदर्भ में इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा—साधारणीकरण सिद्धांत के वीज नाट्यशास्त्र आदि में भी मिल जाते हैं यथा—**'एभ्यश्च सामान्यगुणायोगेन रसा निष्पद्यन्ते'** अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है।[3] **सामान्यगुणायोगेन** का अर्थ है–इन विभिन्न भावों के द्वारा इनके माध्यम से रस प्रतीति करवाना अर्थात् विशिष्ट या व्यक्तिनिष्ठ भावों को साधारणीकरण की भूमि पर प्रतिस्थापित कर बोधगम्य या प्रतीतियोग्य बनाना।'[4] **भरतनाट्यमंजरी के संपादक**

---

[1] बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रिताः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः।
(ना० शा०, चौखम्बा, १९२९- ७/४ पृ० ८०)

[2] -वही- पृ० ८०

[3] रस-सिद्धान्त (डा० नगेन्द्र) पृ० १९३

[4] नाट्यशास्त्र (टीकाकार बाबूलाल शुक्ल चौखम्बा, १९७२) पृ० ३७६

जी० के० भट्ट ने भी सामान्यगुणयोग का अर्थ साधारणीकरण ही किया है।[1] इन विप्रतिपत्तियों का विवेचन अन्यत्र किया जायगा। यहाँ यही अभीष्ट है कि भरत भाव में हृदय-संवादिता का मौलिक गुण स्वीकार करते हैं। भाव सम्पूर्ण शरीर में शुष्क काष्ठ में अग्नि की भाँति शीघ्रता से व्याप्त हो जाता है।

> योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
> शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥[2]

अन्यत्र नाट्यशास्त्र में ऐसे प्रचुर संकेत उपलब्ध हैं, जिनमें साधारणीकरण संबंधी परवर्ती चिन्तन के सूत्र सहज ही सुलभ हो जाते हैं। भट्टनायक के सत्त्वोद्रेकसंबंधी सिद्धांत का उल्लेख अभी किया गया है अर्थात् रस सत्त्वगुण के प्राधान्य से प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार रूप में अनुभूत किया जाता है। भरत की निम्नलिखित व्याख्या में यह संकेत विद्यमान है '**इह हि नाट्यधर्मिप्रवृता सुखदुःखकृता भावास्तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्याः यथा सरूपाः भवन्ति॥**'[3] सात्त्विक भावों की उत्पत्ति मन की एकाग्रता का परिणाम है। इस सत्त्व के कारण कवि अनुकर्ता, अथवा प्रमाता पात्र के सुख-दुःख को अपने सुख दुःख के रूप में स्वीकार करता है। अनुकर्ता सुख-दुःखात्मक भावों का प्रदर्शन इसी कारण करता है कि सम्प्रेष्य भाव सत्त्व द्वारा अधिकाधिक तीव्र रूप में संवेद्य हों। सत्त्व की निम्नलिखित परिभाषा भी तन्मयीभवन की भूमिका का ही स्पर्श करती है। '**सत्त्वं हि नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मनसः समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति।**'[4] जी० के० भट्ट तथा घोष ने इसका अनुवाद मन की सन्तुलित अथवा एकाग्रीकृत भावना किया है। स्वगत प्रतीति का निषेध साधारणीकरण की अनिवार्यता की ओर इंगित करता है। अमरों के प्रति असुरों के क्रोध का निवारण करते हुए भरत भी नाट्य-कृति को परगत भावना से मुक्त विश्व मात्र के हृदय की अभिव्यक्ति मानते हैं।[5] जैसा कहा गया है अभिनव ने भी स्वगत सुख-दुःखादि प्रतीतियो के

---

१. भरतनाट्यमंजरी पृ० १०१
२. ना० शा० (चौखम्बा, १९२९) पृ० ८०
३. नाट्यशास्त्र (चौखम्बा) पृ० ९५
४. -वही- पृ० -वही-
५. तन्नात्र मन्युः कर्तव्यो भवद्भिरमरान् प्रति। नाट्यशास्त्रम् पृ० ९

के आस्वादन को रसेतर संवेदनाओं के समुद्गम का कारण मानकर साधारणीकरण में परम विघ्न ही माना है। स्वगत, परगत भावना से मुक्त होकर ही विश्वमात्र के हृदय में प्रतिष्ठित भावों का अनुभावन साधारणीकरण की भूमिका है। ब्रह्मा दैत्यों से कहते हैं—

नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्॥[1]

अभिनव का कथन है कि साधारणीकरण परिमित नहीं है। भरत ने भी **'नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्'** के द्वारा नाटक में विविध रुचियों के दर्शकों को संतुष्ट करने की अपरिमित योग्यता का आख्यान किया है। इस संदर्भ में उनका कथन है—

एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च॥
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति॥[2]

भरत ने स्पष्ट कहा है कि एक ही प्रेक्षक ने नाट्यार्थ अथवा काव्यार्थ की अनेकायामी अर्थच्छायाओं को ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती। अतः विज्ञेय नाट्य-विषयों में अपरिमित संभावनाओं का समावेश होना चाहिए, जो विविध दर्शकों को एक साथ परितोष प्रदान कर सकें।[3]

भरत ने इसी संदर्भ में प्रेक्षक की विशेषताओं को परिभाषित करते हुए प्रकारान्तर से उन विघ्नों की ओर भी संकेत किया है, जिन्हें अभिनव साधारणीकरण में बाधक मानते हैं। रसास्वाद में तन्मयी भाव की अवस्था को उन्होंने प्रेक्षक के धरातल पर अनिवार्य माना है। जो प्रेक्षक पात्रों के अभिनय के अनुरूप अपने हृदय में भावानुक्रमण की अनुभूति करने में समर्थ है, वही अधिकारी सामाजिक या सहृदय है। वह पात्र के आनन्दित होने पर आनन्दित, शोकार्त होने पर शोक-विगलित, क्रोध के समय क्रुद्ध, भय के समय भयभीत हो, उसे ही श्रेष्ठ प्रेक्षक कहा गया है। ऐसा ही प्रेक्षक किसी भाव-दशा में प्रवेश कर भावानुकरण या भावानुप्रवेश में समर्थ हो

---

[1] वही- (चौखम्बा १९२९) पृ० ८

[2] वही- पृ० ९

[3] वही- २७/५६ पृ० ३१२

सकता है।[1]

भरत रसास्वाद में व्यक्तिगत भिन्नता के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को भी नाट्यशास्त्रीय आधार प्रदान करते हैं। लिंग, वय, जाति तथा स्थिति-भेद के अनुरूप विविध रसों की नाट्यात्मक प्रस्तुतियाँ अनुकूल या प्रतिकूल संवेदना उद्बुद्ध करती हैं। तरुण शृंगार में अनुरक्त रहते हैं तो विद्वान् सैद्धान्तिक तत्त्व के विवेचन में; धनार्थी धन संबंधी दृश्यों में तथा विरागी, मोक्ष-विषयक संदर्भों में तुष्टि ग्रहण करते हैं। उत्तम पात्रों के अभिनय को हीनतर प्रतिभा अथवा संवेदना के प्रेक्षक ग्रहण नहीं कर सकते। बच्चे मूर्ख तथा स्त्रियाँ हास्योत्पादक अथवा भड़कीले वेशभूषापरक प्रसंगों में रस ग्रहण करते हैं।[2] अभिनव के अनुसार भी हास्यादि सर्वसाधारण में अवश्य पाये जाते हैं, किन्तु उत्तम प्रकृति में हास्यानुभूति के प्रति विशेष संवेदना उद्बुद्ध नहीं होती।

ध्वनिपूर्ववर्ती अलंकारवादी आचार्यों की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

संवादी एवं विसंवादी अनुभूतियों से संश्लिष्ट हो कर व्यष्टिबद्ध लोकानुभव अतिशायित अथवा अतिक्रान्त हो जाता है। अनुभूतियों को जब कल्पना की अतर्क्य दिशा मिलती है, तो वे विशृंखलित होकर पुनः भिन्न रूप में समंजित हो जाती है। भामह ने इस अतिक्रान्ति को वक्रोक्ति तथा दण्डी ने अतिशयोक्ति कहा है। आशय यह है कि अनुभूतियों के सामंजस्य की दिशा सामान्यानुभूति के समान ऋजु न होकर वक्र होती है। काव्य में अभिव्यंजित हो कर वर्ण्य वस्तु जब मूल अनुभूति को अतिक्रमित करती है,

---

१. यस्तुष्टो तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च।
क्रुद्धः क्रोद्धे भये भीतः स श्रेष्ठः प्रेक्षकः स्मृतः।
एवं भावानुकरणे यो यस्मिन् प्रविशेन्नरः।
(ना० शा (बडौदा) २७-६२-६३)

२. तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः।
नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्॥
(ना० शा०, चौखम्बा, पृ० ३१२-१३)

तो वह व्यष्टि रूप से मुक्त हो कर विभावित अथवा साधारणीकृत होती है। भामह के **'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते'** में काव्य के सामान्यातिरिक्त अभिव्यंजना-वैशिष्ट्य में काव्यार्थ को विभावित करने की इसी शक्ति का संकेत है। दण्डी के अनुसार अलंकार विधान की मूल प्रकृति भी अतिशयता अथवा अतिक्रान्तिमूलक है। अतः जब हम अलंकारवादी आचार्यों की अलंकारविषयक अवधारणाओं में रागात्मक सूत्रों का अनुसंधान करते हैं, तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य के केन्द्र में भी रसानुभूति की धारा प्रकारान्तर से निहित रही है। इन अन्तःसूत्रों के अन्वेषण से पूर्व उक्त आचार्यों के अलंकार-विषयक अथवा अभिव्यंजनापरक चिन्तन में निहित रागात्मक अन्विति को भी उन उदाहरणों की प्रस्तुति के माध्यम से देख लेना आप्रासंगिक न होगा, जिनके विश्लेषण की अन्तःपरिधि में काव्यानुभूति के कतिपय प्रस्थानबिन्दुओं का आकलन हुआ है। इस आकलन का निकष मूलतः भरत के **'नहि रसादृते कश्चित् अर्थः प्रवर्तते'** की ग्रहणशील सर्जनात्मकता की प्रतिष्ठा ही है।

(क) **'स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः।**
अन्वमीयन्त भृंगालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः॥'[1]

भ्रमरों के गुंजन से ज्योत्स्ना की असाधारण उज्ज्वलता में तिरोहित सप्तच्छदों का अनुमान वस्तुतः एक लोकोत्तर अनुभव है। यह अनुभव सहृदयों की कल्पना एवं भावना-शक्ति को उद्‌बुद्ध करता है। किन्तु इस अनुभव का स्वरूप क्या है? सप्तच्छदों की लोकोत्तर अतिशयता के इस रूपायन अथवा लोकातिक्रान्ति का प्रतिमान क्या है? उत्तर है उसकी गोचरता, जिसमें परस्पर विरुद्ध प्रतीतियाँ मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति में परिणत हो कर काव्यार्थ को विभावित करती हैं। आशय यह है कि विभावन के मूल में जीवनानुभूति का कोई विशिष्ट संदर्भ अवश्य निहित रहता है, जिसके अनुरूप कवि वस्तु-श्रृंखला की योजना करता है। प्रस्तुत श्लोक में यह योजना तीन स्तरों पर है। ज्योत्स्ना का औज्ज्वल्य, सप्तच्छदों की श्वेतिमा का उसमें तिरोधान तथा भ्रमरों के गुंजन से उस श्वेतिमा का परिज्ञान। ये तीनों अनुभव-खण्ड परस्पर संश्लिष्ट हो कर आनन्द एवं प्रकाश की लोकोत्तर संवेदना को अभिन्न रूप से समंजित करते

---

[1] काव्यालंकार (सम्पादक—देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना-१९६२ ई०) पृ० ६१

हैं। वातावरण की चन्द्रदीप्त सुषमा के नेपथ्य में मानवीय उल्लास का सूक्ष्म तन्तु विद्यमान है, जिसे विभावित करने के लिए प्रकृति के तीन अनुभव-खण्डों की संश्लिष्ट योजना की गई है। इसी अनुभूति के केन्द्र से आकृष्ट हो कर जब ये संवादी संवेदन एक स्पर्धामूलक समन्वय में परिणत होते हैं, तो इनसे निरपेक्ष किन्तु इनके समन्वय से उद्भूत एक अतीन्द्रिय (लोकातिक्रान्त) संवेदन प्रमाता की चेतना के विविध स्तरों से संपृक्त होता है। इसलिए भामह का कथन है—**'निमित्ततो बचो यत्तु लोकातिक्रान्त-गोचरम् मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं ताम्'** २/८१

(ख) **गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः।**
संभावयति यान्येव पावनैः पादपांसुभिः॥ १।८६
लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः।
योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः॥ १।८९

यह सत्पुरुषों की चरणधूलि से सामान्य जनों के गृहों की सौभाग्यशालिता का वर्णन है। यहाँ संभाव्य संदर्भ[1] को विशिष्ट वर्णन-शैली से संस्कृत कर लौकिक अर्थ का किंचित् विस्तार किया गया है। लौकिक अर्थ के अतिक्रमण तथा अनतिक्रमण के समन्वय के कारण यह वर्णन सर्वजन-संवेद्य[2] हो गया है। पारिभाषिक अर्थ में यह अर्थानुसंधान कान्ति गुण में निहित रागात्मक एवं रचनात्मक तत्त्वों के उपयोग का परिणाम है।

(ग) **गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितं**
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु॥

विस्रब्धं कुरुतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥

यह शकुन्तला के अवलोकन से मुग्ध एवं उत्कंठित दुष्यन्त की मृगया-विहार से विरक्ति की सूचक उक्ति है। वामन के अनुसार यह ओज प्रसाद आदि गुणों से युक्त वैदर्भी रीति का उदाहरण है, जो वक्ता के मौलिक अर्थ तथा अर्थ की अभिधेयता का अतिक्रमण कर वाङ्मधु को अभिस्रवित करती

---

[1] इति सम्भाव्यमेवैतद्विशेषाख्यानसंस्कृतम्।
कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः॥ (काव्यादर्शः १/८८ पृ० ६४)

[2] कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्।
वही- १।८५, पृ०६३

है ।[1] गोपेन्द्र की कामधेनु टीका का आधार लेकर इस श्लोक का विवेचन करें ।[2] इसमें **छायाबद्धकदम्बकं** पदों के गाढ़ वन्धन के कारण ओज है, किन्तु मृगकुलम् के कोमल वन्ध की सहस्थिति के कारण गाढ़त्व के शिथिल हो जाने से अर्थ-वैमल्य मूलक प्रसाद गुण का सहज ही आविर्भाव हो गया है । **महिषा निपानसलिलम्** में मसृणता के कारण श्लेष का सौंदर्य है । **'गाहन्तां'** में जिस मार्ग से प्रारम्भ किया गया है, उसी से उपसंहार भी है । अतः मार्ग-भेद के कारण समता गुण है । **गाहन्ताम्** तथा **महिषाः** इत्यादि में आरोह-अवरोह का क्रम स्फुरित होने से समाधि तथा **शृंगैर्मुहुस्ताडितं** में पृथक्पदत्व के कारण माधुर्य तथा **रोमन्थमभ्यस्यतु** में बन्धन की चिरनवीनता के कारण सौकुमार्य का उन्मेष है । **शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः** में वन्ध की विकटता के कारण उदारता गुण है तो समग्र श्लोक में पदों की उज्ज्वलता के कारण कान्तिगुण का वैभ्राज्य है । यह श्लोक वामन के अनुसार वीणा स्वर के समान श्रवण-सुभग समग्रगुणों से युक्त वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है । कहने की आवश्यकता नहीं कि श्लोक का यह सौंदर्य भी प्रमातृगत चेतना के हो विविध आयामों की अभिव्यक्ति है । विविध अनुभूतियाँ परस्पर समंजित होकर विरुद्धों में सामंजस्य का रसात्मक उदाहरण प्रस्तुत करती हैं । गोपेन्द्र के शब्दों में **'अस्याञ्च वर्णनीयरसचमत्कारकारितया समग्रसौंदर्यशालितया च कविकुलोपलालनीयतामाकलयति ।'**

इस विवेचन के अनन्तर यह निष्कर्ष निकालना अप्रत्याशित नहीं कहा जाएगा कि अलंकार (भामह) गुण (दण्डी) और रीति (वामन) संबंधी वस्तुनिष्ठ अवधारणाएँ भी रागात्मकता के माध्यम से ही सौन्दर्य का अन्वेषण करती हैं ।

भामह (षष्ठ शती का मध्यकाल) काव्यालंकार

रस-सिद्धान्त के विरोधी तथा अलंकार के प्राण-प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में भामह ध्वनिपूर्ववर्ती काल के अलंकार-शास्त्रियों में प्रथम स्थान के अधिकारी हैं । भामह का काव्यालंकार मूलतः अभिव्यंजना-चमत्कार की ही प्राण-प्रतिष्ठा को केन्द्र में रखता है । अभिव्यंजनात्मक-सौंदर्य अलंकारों के

---

१. काव्यलंकारसूत्राणि (चौखम्बा, १९७१) पृ० १७

२. -वही- पृ० १८, १९

माध्यम से शब्दार्थ की सूक्ष्म सौंदर्य-विवृतियों में अभिव्यक्त होता है। श्रव्य काव्य के चमत्कारपूर्ण स्थल इन्हीं के माध्यम से सहृदयों को संवेद्य होते हैं। नाटक की मूल प्रतिष्ठा अभिनय की आधार-भूमि पर होती है। अतः इसमें शब्दार्थ की अर्थ-विच्छित्तियों के अतिरिक्त अन्य उपादानों का विशेष योग होता है। तद्विपरीत श्रव्य काव्य शब्दार्थ को ही काव्य का मूल-सौंदर्य मान कर चलता है। अतः भामह ने यहाँ नाटक को **'उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः'** कहकर काव्य के प्रति अपने वस्तुपरक आग्रह को ही अभिव्यंजनात्मक भूमि में केन्द्रित किया है। अलंकार ही काव्य का प्राणतत्त्व है। **'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।'** रसों का अन्तर्भाव भामह ने रसवद्, प्रेयस् तथा ऊर्जस्विन् अलंकारों के प्रसंग में किया है। तथापि, काव्य चमत्कार को ही काव्यास्वाद का चरम लक्ष्य मानते हुए वे रसास्वाद की उन अन्तर्दशाओं की ओर भी संकेत करते हैं, जिनसे साधारणीकरण की भूमिका निर्मित होती है।

भामह ने काव्य-प्रयोजनों के संदर्भ में प्रीति प्रदान करना भी एक प्रयोजन निर्दिष्ट किया है तथा काव्य के सुख दुःखात्मक प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी आनन्द को ही काव्यानुभूति का अनिवार्य तत्त्व माना है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रीति भी मूलतः आनन्दानुभूति की ही परिधि में आती है। भामह शास्त्र के उपयोग की सार्थकता भी स्वादु काव्य-रस के संदर्भ में स्वीकार करते हैं। यह बात भिन्न है कि शास्त्र उनकी दृष्टि के केन्द्र में आकर रस को गौण बना देता है। काव्यार्थ की सम्प्रेषणीयता में चमत्काराधायक तत्त्व के अतिरिक्त रागतत्त्व पर आधृत आस्वाद तत्त्व भी अनिवार्य है। **स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रम्** में काव्य चमत्कार तथा भाव-वैभव का समीकरण है। इस समीकरण की परिणति शब्दों की उन सूक्ष्म विवृत्तियों में होती है, जिनके सर्जनात्मक धरातल को भामह ने सौशब्द्य के द्वारा परिभाषित किया है।[3]

शब्द के सुष्ठु प्रयोग के द्वारा भामह कवि की सर्जना के अन्तराल में प्रवेश करते हैं। अर्थ की अनुभूति शब्द की श्रुतिपेशल भूमिका का दूसरा विराम है, जिसका प्रतिमान है—'वक्रोक्तियुक्त भाषा का प्रयोग'[4]। भामह

---

१. प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् (का० अ० १/२)

२. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते। (का० अ० ५/३)

३. का० अ० १/१४-१५

४. सैषा सर्वव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। (का० अ० २/८५)

का कथन है कि वक्रोक्ति के द्वारा स्वतः कवि का काव्य-परिवेश सहृदय की चेतना में अन्तर्भावित होता है। द्रष्टव्य यह है कि भामह ने इस संदर्भ में **विभाव्यते** का प्रयोग किया है, जो भाव-प्रक्रिया का क्षेत्र है। कवि अपनी सर्जन-प्रक्रिया के माध्यम से शब्द और अर्थ की जिन विलक्षण अन्तर्योजनाओं का अनुसंधान करता है, उनकी सार्थकता सहृदय द्वारा पुनर्भावित होने में ही है। भाव शब्द में कवि तथा सहृदय, दोनों में अनुभूति की सक्रियता की व्यंजना है। अनुभूतिमय अभिव्यंजना प्रयोगों के द्वारा ही कवि अपने संवेद्य को प्रमाता तक सम्प्रेष्य बनाता है। अतः अर्थो विभाव्यते में सर्जन तथा आस्वादन, दोनों की सक्रियता की अभिव्यंजना है। स्रष्टा तथा ग्रहीता दोनों के कर्तृत्वों की सक्रियता यहाँ अपेक्षित है।

भामह ने महाकाव्य के जो लक्षण दिये हैं, उनमें जहाँ रस की उपादेयता को स्वीकार किया गया है, वहाँ विश्वजनीन आदर्श की काव्यात्मक संकल्पना को मूर्त्त करके प्रकारान्तर से साधारणीकरण की अवधारणा का भी स्पर्श किया गया है। महाकाव्य लौकिक आचार तथा सभी रसों से स्पष्टतः युक्त होता है। **'युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।'**[1] यहाँ उल्लेखनीय यह है कि भामह ने सदाश्रयता अर्थात् महान् चरित्रों से सम्बद्धता, नायकाभ्युदय तथा लोक-स्वभाव की ओर इंगित कर मानव मात्र की भावसत्ता को प्रभावित करने वाले तत्त्वों की ओर इंगित किया है। सामान्यतः साधारणीकरण के मूल में निहित रसोद्बोधन की उस शक्ति का भी यहाँ संकेत निहित है, जो भाव के विषय को उस रूप में उपस्थित करने की प्रत्याशा जगाती है, जिससे वह सबके समान भाव का आलम्बन हो सके। भामह ने नायक के वंश, वीर्य, श्रुति तथा उत्कर्ष की व्यंजना की अनिवार्यता की ओर इंगित किया है। प्रतिनायक के अप्रासंगिक उत्कर्ष के विधान से काव्य-शरीर में व्याप्त नायक की अभ्युदयपरक जिजीविषा को जहाँ एक भिन्न आयाम मिलता है, वहाँ सहृदय की भावभूमि में आलम्बन का वह स्वरूप उपस्थित नहीं हो सकता, जो मानव मात्र का विभाव बन सके। केवल भाव-प्रदर्शक काव्य में प्रतिनायक के उत्कर्ष की भी अतिरिक्त व्यंजना की जा सकती है।[2]

---

१. का० अ० १/१३

२. यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे॥ (का० अ० १/२३)

अलंकारों के विवेचन में भामह ने प्रेयस्, रसवस् ऊर्जस्वित् पर्यायोक्त और समाहित आदि अलंकारों के उदाहरणमात्र दिये हैं। ये अलंकार देव-विषयक प्रीति, ऊर्जा तथा अप्रत्याशित भावोदय की विविध अन्तर्दशाओं को समाहित करते हैं। रसवत् अलंकार में काव्य की शोभा के आधायक तत्त्वों में रसानुभूति के सापेक्ष महत्त्व को दिखाया गया है। भामह के अनुसार जिसमें शृंगारादि रस स्पष्टता से दिखाए गये हों, वह रसवत् अलंकार है।[1] उद्भट ने भी स्व शब्द के द्वारा शृंगारादि रस की अभिव्यक्ति की विवेचना की है। वस्तुतः शृंगारादि रसों की व्यंजना विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि के संयोग से बिम्बात्मक रूप में उपस्थित होती है, किन्तु जहाँ केवल शृंगार रस के उदय का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया जाये, वहाँ वह भावोद्बोधन की अपेक्षा भावस्थिति की सूचना भर होता है। **'देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता।'** में आलम्बन की उपस्थिति की सूचना मात्र है। ऐसा काव्य केवल भाव-प्रदर्शक होता है, जिसमें भावना के अनुरूप पाठक आलम्बन का स्वरूप स्वतः संगठित करता है।

भामह अलंकार तथा गुण की सहृदय-सापेक्ष सत्ता को विस्मृत नहीं करते, अतः कोई भावस्थिति सहृदय पाठक या श्रोता के भाव का किस प्रकार आलंबन होती है तथा श्रोता के मन में एक या अनेक भावों के उदय में किस प्रकार योग देती है, अलंकार और गुण के स्वरूप तथा प्रभाव के ग्रहण से यह तथ्य सहज ही व्यंजित होता है। उदाहरणार्थ—'प्रसाद' की परिभाषा देते हुए वे उसके सर्व साधारण के बोध-स्तर की ओर सहज ही इंगित करते हैं। **'आविद्वदंगाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्।'**[2] इसी प्रकार भाविक अलंकार में अभिव्यंजनागत सौंदर्य से अन्वित होकर प्रबन्धगत अतीत और भविष्य के वर्णन सहृदयों के सम्मुख प्रत्यक्ष होते हैं। **'प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः।'**[3] साधारणीकरण की प्रेरणाभूमि के रूप में इसका विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है। यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि भामह ने प्रत्यक्ष को कल्पना रहित ज्ञान नहीं माना है, अपितु नाम जात्यादि योजनायुक्त कल्पना परक ज्ञान स्वीकार किया है। **'कल्पनां नाम जात्यादियोजनां प्रतिजानते।'**[4]

---

[1] रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा। (का० अ० ६)

[2] का० अ० २/३

[3] का० अ० ३/५३

[4] का० अ० ५/६

भामह प्रत्यक्ष में जात्यादि, अर्थात् उपाधिविशिष्ट व्यक्ति के अन्तःसाक्षात्कार का संकेत देकर साधारणीकरण की मूल चेतना को प्रकारान्तर से सामान्यीकरण की स्थिर कोटि से हटाकर विशेष में अविशेष की कल्पना की गत्यात्मक भूमिका में प्रतिष्ठित करते हैं।

रसानुभूति शब्द और अर्थ के सम्यक्ज्ञान के बिना अपूर्ण है। श्रोता या पाठक जब तक आलम्बन या आश्रय की भाव-व्यंजना के वाच्य तथा व्यंग्य, अर्थ स्तरों के केन्द्र को आत्मसात् नहीं करेगा, वह काव्यार्थ से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता। अतः जहाँ काव्यसर्जना में शब्द और अर्थ का सुष्ठु प्रयोगपरक ज्ञान अपेक्षित है, वहाँ सहृदयता का मर्म भी इसी शब्दार्थ-बोध के मार्ग से उद्घाटित होता है। भट्टनायक ने अभिधा को रसानुभूति का सोपान इसी आधार पर निर्दिष्ट किया है। **'शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्। विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः।'**[1]

दण्डी (७वीं शती उत्तरार्द्ध) काव्यादर्श

भामह के समान दण्डी भी रस अथवा साधारणीकरण की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं करते। महाकाव्य के लक्षण विवेचन में वे कुछ ऐसे सूत्र अवश्य देते हैं, जो साधारणीकरण के परवर्ती विवेचन के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। लोकरंजक-वृत्तान्त तथा चतुरोदात्त नायक के परम्परित सूत्रों में भी वे प्रतिनायक के कुल, पराक्रम, शास्त्र, ज्ञान आदि के उत्कर्ष की अपेक्षा करते हुए[2] नव्यतर दृष्टि का उन्मेष दिखाते हैं। इसी के परिप्रेक्ष्य में नायक का अभ्युदय प्रमाता को विशेष संवेद्य हो सकता है।[3] आत्म-श्लाघा के स्तरों में भी दण्डी भेद करते हैं। वास्तविक गुणों के अभिधान में वे दोष नहीं मानते। इसी प्रकार यदि वस्तुजात का समग्र वर्णन नहीं भी हुआ है तथा कुछ बिम्बों का ही चित्रण है तो यह देखना होगा कि वे रस की पुष्टि में

---

१. का० अ० १/१०

२. गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्। निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः॥ (काव्यादर्शः, चौखम्बा-१९५८, पृ० २३)

३. वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि। तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः। (वही- पृ०-वही-)

योग देते हैं या नहीं। यदि रस की दृष्टि से उनकी प्रासंगिकता है तो न्यूनता नहीं मानी जा सकती।[1]

द्रष्टव्य यह है कि काव्य में वर्ण्य विषय की व्यवस्था को दण्डी उतने ही अंश में प्रासंगिक मानते हैं, जितने में वह सहृदय की मानसिक भूमिका के अनुरूप है।[2] कहने का आशय यह है कि महाकाव्य के लक्षण विवेचन में दण्डी ने सामाजिक की भूमिका को सामने रखा है। उन्होंने सामाजिक के हृदय को स्पर्श करने वाली लोक-सामान्य कथा-वस्तु तथा यथार्थमूलक चारित्रिक सृष्टि को काव्य की चर्वणा के लिए अनिवार्य माना है, क्योंकि अयथार्थ-मूलक विषय को सामाजिक असंभव समझने लगता है। अभिनवगुप्त इसे रसास्वाद का प्रथम विघ्न मानते हैं, जिनके निराकरण के लिए वे जिन उपायों को आवश्यक समझते हैं, वे दण्डी की अवधारणाओं से साम्य रखते हैं।[3] अन्यत्र माधुर्य गुण के विवेचन में दण्डी रस तथा माधुर्य में अभेद मानते हैं। जिस शब्दार्थजन्य माधुर्य से सहृदय आनन्दित हों, उसे रस कहा जाता है।

मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥"[4]

यहाँ सहृदय की रसास्वादन की भूमिका में रस तथा माधुर्य के समीकरण को प्रस्तुत किया गया है। रामचन्द्र मिश्र ने प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में काव्यार्थ के लोकोत्तर चमत्कारपरक सहृदय-संवेद्य अन्तस्तत्त्व की ओर संकेत करते हुए रस और माधुर्य के अद्वैत का इसी संदर्भ में आख्यान किया है। 'यथा मधुव्रता भ्रमरा मधुना पुष्परसेन माद्यन्ति आह्लादमनुभवन्ति, तथा येन

---

१. न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः॥
वही- पृ० २२

२. द्र० तद्विदः काव्यरहस्यज्ञातॄन् विदुषः आराधयति प्रसादयति,···पदार्थाः साधु वर्ण्यमानाः सन्तो रसपरिपोषं जनयेयुः। (प्रकाश व्याख्या पृ० २२)

३. तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तु विषयः।···प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहश्चोपायः। (अभिनवभारती पृ० २७४)

४. काव्यादर्शः १/५१ पृ० ४५

वस्तुना धीमन्तो बुद्धिमन्तः सहृदया माद्यन्ति स रसः काव्यार्थानुशीलनजन्मा चमत्कारापरपर्यायो लोकोत्तराह्लाद एव रसः, एवं च यस्य काव्यस्यासकृत्-परिशीलनेऽपि सहृदया न वैरस्यमासादयन्ति, तत् मधुरं काव्यम्, इति स्वमुन्नेयस्वरूपं माधुर्यं सिद्ध्यति।'[1] निश्चय ही यहाँ रस की उत्तरोत्तर अग्रसर व्याख्या का आधार ग्रहण किया गया है जो दण्डी के मन्तव्य से किञ्चिद् भिन्न है।

माधुर्य मूलतः मन का द्रवण अथवा चिति का द्रवीभाव ही है, जिससे सहृदय का मन उद्वेग मुक्त होता है।

> 'बहुशो यच्छ्रुतं काव्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
> नोद्वेजयति तस्माद्धि तन्माधुर्यमुदाहृतम्॥'

यद्यपि समीक्षकों के अनुसार रस यहाँ भाषागत माधुर्य का वाचक है, तथापि सहृदय की जो भूमिका यहाँ व्यंजित है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सहृदय की भूमिका का संकेत तत्कालीन परिवेश की व्यंजना में भी व्यक्त होता है। रसिकजन-गोष्ठी तत्कालीन परिवेश का ऐसा प्रतीक है, जो भावक-वर्ग की काव्यार्थ-ज्ञान-शक्ति तथा सहृदयता के प्रतिमानों का साक्षी है। ये भावक जहाँ एक स्तर पर श्रमपूर्वक काव्य के उत्कृष्ट तथा निकृष्ट तत्त्वों का उद्घाटन करते थे, वहाँ तन्मयता से काव्य का आस्वाद भी करते थे।

> तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
> कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥[2]

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि दण्डी काव्य-भाषा की जिस गुणप्रधान प्रकृति को विश्लेषित करते हैं, उनका निर्धारण इन्हीं काव्य-गोष्ठियों में होता था। अतः काव्य-सम्बन्धी कौशल की अभिज्ञता के बिना सहृदयता अपूर्ण मानी जाती थी। दण्डी ने गुण विवेचन को भी अनेक स्थलों पर सहृदय की संविद् के स्तर पर विश्लेषित किया है। गुण तथा मार्ग मूलतः प्रमाता की काव्यमर्मज्ञता को दृष्टि में रखकर अनुसंधानित हुए हैं। जैसा कि दण्डी

---

१. वही- (प्रकाशव्याख्या) ४५

२. काव्यादर्श १/१०५ पृ० ७२

ने कहा है **'अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः । वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रिया-विधिम् ।'**[1] दण्डी ने संघटना के प्रयोग में देश और काल के अतिरिक्त मानसिकता को भी दृष्टि में रखा है । **'अन्ये त्वनाकुलं हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा ।'** सामाधिगुण की व्याख्या में दण्डी ने काव्य के सर्जन-पक्ष के मार्ग से सहृदय-संवेद्यता की ओर इंगित किया है तथा उसे काव्य का सर्वस्व कहा है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह समाधिगुण क्रमशः वामन तथा रुद्रट के तन्मयीभवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता गया है । अलंकारों के विवेचन में भी दण्डी ने कतिपय ऐसे संकेत दिये हैं, जिनसे वस्तु प्रकृति और स्वभाव की अनेकरूपता का वह परिदृश्य उन्मीलित होता है, जो वैविध्य में निहित एकरूपता का प्रमाण देता है । स्वभावोक्ति का वैशिष्ट्य इसी में है कि वह नानात्व में निहित वस्तु की मूल प्रकृति को उद्भावित करती है । जाति की यह संकल्पना भी साधारणीकरण के निकट है । **नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।'**[2]

उद्भट (८वीं शती उत्तरार्ध) काव्यालंकार-सार-संग्रह

अलंकारवादी होते हुए भी उद्भट भामह, दण्डी अथवा अपने समसामयिक वामनाचार्य की अपेक्षा रसवाद के विकसित स्वरूप के प्रति अधिक आस्थाशील हैं । रसवदादि प्रसंग में रस के अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन में उन्होंने ऐसे अनेक सूत्र दिए हैं, जो भाषा के भावमय प्रयोग के माध्यम से सम्प्रेषित होने वाली कवि की अनुभूति तथा प्रमाता की संवेद्यता के अन्तःसंबंध को परिभाषित करते हैं । प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वि और समाहित अलंकारों के विवेचन में रस के प्रति उनका आस्थाभाव व्यंजित होता है । प्रेयस्वत् की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि इसमें अनुभाव आदि के द्वारा रति आदि की सूचना से युक्त काव्य का निर्माण किया जाता है ।

इस संदर्भ में उद्भट ने स्ववाचक शब्दों में रसवत्ता का विवेचन किया है यथा—

'रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ।।[3]

---

[1] वही- १/९

[2] काव्यादर्श २/८, पृ० ७७

[3] काव्यालंकार-सार-संग्रह (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६६) पृ० ३५४

इसमें प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार स्व शब्द का अर्थ है रति आदि के वाचक रति आदि शब्द। यद्यपि रति आदि शब्द भावों के असाधारण स्वरूप का अवगमन कराने में पूर्णतः समर्थ नहीं हैं, उनका साधारण स्वरूप अनुभावों के वैशिष्ट्य से ही व्यंजित हो सकता है, फिर भी वे अनुभाव आदि की भाँति एक सीमा तक रति आदि का ज्ञान कराते अवश्य हैं। अनुभावों के द्वारा व्यक्त होकर भाव अपनी असाधारणता से मुक्त साधारणीकृत हो जाता है। उसी प्रकार स्ववाचक शब्दों के प्रयोग से भी भाव सामान्यीकृत होता है। प्रतिहारेन्दुराज की व्याख्या स्वयं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। रति आदि शब्दों का प्रयोग असाधारण भावों को अमूर्तीकृत कर सामान्य स्तर पर ले आता है, किन्तु बिम्ब न ग्रहण करा पाने के कारण ऐसे शब्द मूलतः संसूचनात्मक (निर्देशपरक) रहते हैं, जो भाषा के रागात्मक प्रयोग की अपेक्षा अभिधात्मक उपयोगों पर आधृत हैं। रिचर्ड्स ने काव्य-भाषा के रागात्मक एवं निर्देशपरक उपयोगों की सापेक्षता पर विचार किया है। प्रतिहारेन्दुराज के मन्तव्य का सार यह है कि रति आदि भावों का साधारण स्वरूप रत्यादि शब्दों के द्वारा साधारणीकृत नहीं किया जा सकता। अनुभावों के माध्यम से ही वह बिम्ब रूप में रूपायित होकर प्रतीत हो सकता है, किन्तु अंशतः वह पात्र की मनःस्थिति में निहित रति आदि भाव की सूचना देकर असाधारण भावों को, एक सीमा तक, सम्बोधित अवश्य करता है।[1] ऊर्जस्वि अलंकार के स्वरूप विवेचन में उद्भट ने अनौचित्य को काव्यास्वाद की भूमिका पर विश्लेपित किया है। औचित्य मूलतः सामान्य स्थिति का पर्याय है। यह सामान्य स्थिति साधारणीकरण का नियामक तत्त्व है, किन्तु इसकी प्रासंगिकता अभिव्यंजनागत सापेक्षता से ही निर्धारित होती है। किसी विशिष्ट प्रसंग के आग्रह से जब काम एवं क्रोध की अनुचित रूप से अभिव्यंजना की जाती है, तो वह प्रकारान्तर से अभिव्यंजनागत अनुरूपता को ही द्योतित करती है। अतः ऊर्जस्वि अलंकार औचित्य के मूल तत्त्व को ही साधारणीकरण की भूमिका

---

१. रत्यादीनां च शब्दानां यद्यपि अनुभावैकगोचरस्वलक्षणस्वभावरत्याद्यवगतिबन्धनत्वं नोपलभ्यते तथाप्यंशेन रत्याद्यवगतिनिबंधनत्वमनुभावादिवद् विद्यत एव। यथा खल्वनुभावादयो न स्वलक्षणतया भावानवगमयन्ति अपि तु सामान्यरूपतया तद्वत् स्वशब्दा अपि।

(काव्यालंकार-सार-संग्रह-लघुवृत्ति, पृ० ३५२)

के विश्लेषण में प्रासंगिक बनाता है। पर्यायान्तर से ऊर्जस्वि आस्वाद की एक विशिष्ट भूमिका को ही परिभाषित करता है। समाहित में रस, रसाभास, भाव और भावाभास की वृत्ति के प्रशमन की अभिव्यंजना का संकेत है। समाहित का अर्थ है समाधान। यहाँ पूर्वतः परिपोषित रस की निवृत्ति के अनंतर अन्य रस एवं भावादि का अनुप्रवेश होता है। इतर रसों के अनुभाव आस्वाद की इस अनुभूति में पूर्णतः शून्य अथवा उपशान्त हो जाते हैं। वस्तुतः काव्यास्वाद की भूमि में इतर भावों की शून्यता (उपशान्ति) दो स्तरों पर स्वीकार्य है। प्रथम स्तर पर उसमें वेद्यान्तर-शून्यता की व्यंजना है और दूसरे स्तर पर इतर रसों की संस्कार-शून्यता का संकेत है। कहने का आशय यह है कि उद्भट ने प्रकारान्तर से काव्यानुभूति की उस भूमिका का उल्लेख किया है, जिसमें बिम्बों की अस्पष्टता अथवा अतिरिक्त तीव्रता के कारण अनुभूति के साधारणीकृत होने में बाधा उत्पन्न होती है। किन्तु यह अनुभूति भी रसानुभूति के ही विविध कोणों को ही परिभाषित करती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि रसानुभूति की यह व्याख्या उद्भट ने शब्दार्थगत चमत्कार या अभिव्यंजना-वैशिष्ट्य की प्रासंगिकता को दृष्टि में रखकर ही उपस्थित की है।

वामनाचार्य (८वीं ९वीं शता के मध्य) काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति

वामन ने रीतिरात्मा काव्यस्य की अवधारणा के द्वारा काव्य की आत्मा के अनुसंधान का वस्तु-निष्ठ प्रयास किया है। रीति का लक्षण है—**'विशिष्टपदरचना रीतिः'**। इसमें 'विशिष्ट' शब्द विशेष अर्थ-सापेक्ष है। रीति की मूल प्रकृति गुणों द्वारा निर्धारित होती है। अतः विशिष्ट का अर्थ है गुणनिष्ठता। **विशेषो गुणात्मा।** गुणों की सत्ता का सबसे प्रबल प्रमाण उनकी संवेद्यता है। **नासन्तः संवेद्यात् ।**[1]

संवेद्यता से आशय सहृदय की संवेद्यता ही है। कामधेनुकार का कथन है - **सहृदयसंवेदनस्य विषयत्वात् ।**[2] अर्थात् ये गुण सहृदयों की संवेदना का

---

[1] काव्यालंकारसूत्र (चौखम्बा-१९७१) ३-१-२६ पृ० १००

[2] -वही- (कामधेनु टीका) -वही-

विषय होने के कारण अपनी मौलिक सत्ता रखते हैं। सहृदयों द्वारा ज्ञान-गम्य होने के कारण इन गुणों में सामान्य-भाव का स्वतः गुण उद्भावित हो जाता है। अतः प्रकारान्तर से रीति भी सहृदय की संवेदना के अन्तःसूत्र से ही जुड़ती है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि आस्वाद्यता के लिए प्रमाता में विशिष्ट भावयित्री प्रतिभा अपेक्षित है। वस्तुतः वामन की दृष्टि में सहृदय-संवेद्यत्व ही ऐसा निकष है जिस पर काव्य के सौंदर्य की सार्थकता का निर्धारण किया जा सकता है। यद्यपि सहृदय-संवेदना के स्वरूप का वामन ने कोई क्रमबद्ध विवेचन नहीं किया है किन्तु गुणों के विवेचन में ऐसे सूत्र अलभ्य नहीं हैं, जिनमें प्रमाता की मानसिक भूमि के विविध आयामों का उल्लेख है।

प्रसाद गुण की परिभाषा उन्होंने **अर्थवैमल्यं प्रसादः**[1] दी है, जो सम्प्रेषणीयता से सम्बन्ध रखती है, क्योंकि विवक्षित अर्थ का सम्बन्ध मूलतः प्रमाता से ही है। 'समाधि' का लक्षण है **अर्थदृष्टि समाधिः**। एकाग्रचित्त ही काव्य के सारभूत प्रभाव (अर्थात् अर्थ) को आत्मसात् कर सकता है। समाधि-मूलक होने से अर्थ-दर्शन को समाधि कहते हैं।[2] स्पष्टत. वामन काव्यार्थ के बोध में समाधिस्थिति एवं तन्मयता की अवधारणा से परिचित हैं, जो मूलतः प्रमातृगत अवधारणा है। समाधि का अर्थ है 'इन्द्रियों का बाहरी विषयों से निवृत्त हो कर अन्तर्मुखी होना ··· भारतीय आचार्यों के अनुसार जब तक कलाकार के चित्त में रसानुभूति नहीं होती, तब तक सहृदय को भी रस बोध नहीं करा सकता। कलाकार अन्तरतर की रसानुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रूप का बाह्य प्रत्यक्ष करके अन्तर्मुखी होता है।[3] कालिदास ने समाधि की शिथिलता[4] को सर्जक कलाकार और सहृदय, दोनों के स्तर पर रसबोध में बाधक माना है। वस्तुतः तन्मयता अथवा चित्त की एकाग्रता ही समाधिस्थिति है, जिसका स्खलन विसंवादी अनुभूतियों को प्रेरित करता है।

---

१. -वही ३-२-३ पृ० १०५

२. अर्थस्य दर्शनं दृष्टिः। समाधिकारणत्वात् समाधिः। अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात् (-वही- पृ० १०६)

३. हजारीप्रसाद द्विवेदी (कालिदास की लालित्य योजना (दिल्ली-१९७०), पृ० १०६)

४. प्र० मालविकाग्निमित्रम्, २/२

समाधि मूलतः वेद्यान्तरशून्य स्थिति है, जो सहृदय को बाह्य विषयों से विरत कर अन्तर्मुखी बनाती है। मृच्छकटिकम् में **'व्युपरतसकलज्ञान-रुद्धेन्द्रिय, आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यस्ततत्त्वदृष्ट्या, शून्येक्षणघटित-लयब्रह्म लग्नः समाधिः'**[1] जैसे पद-समुच्चयों के द्वारा अन्तर्मुखी व्यापार अथवा भावन-क्रिया का संकेत मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साधारणीकरण प्रक्रिया की यह अनिवार्य भूमिका है। कालान्तर में रुद्रट ने रचयिता तथा सहृदय की प्रतिभा का समीकरण प्रस्तुत करते हुए प्रतिभा की परिभाषा में समाधि प्रक्रिया की ओर इंगित किया है—**'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।'**[2]

सूक्ष्म गुण भी इसी अर्थ-दृष्टि का विकास है, जिसकी व्याख्या वामन ने इस प्रकार की है—**सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च।**[3] भरत ने स्वतः भाव शब्द में भाव्यता और वासनीयता की सत्ता स्वीकार की है। शीघ्र निरूपण में जो अर्थ समर्थ है, उसे भाव्य कहते हैं तथा एकाग्रता से जिस अर्थ का बोध होता है वह वासनीय है। तात्पर्य यह है कि वामन अर्थ-दृष्टि को भावपरक मानते हैं। भावक के अवधान मात्र से ही विमर्श-योग्य होने के कारण इसे वासनीय कहा गया है। कामधेनुकार के शब्दों में **'भावकानाम-वधानमात्रेण विमर्शो भावना। तद्योग्यो भाव्यः। सहृदयसद्व्यवहार-समुल्लसित-संस्कारसम्पनो योऽवधानप्रकर्षस्तेन गम्यो वासनीयः।'**[4] इस प्रकार सूक्ष्म के सम्बन्ध में वामन ने सहृदय अथवा भावक की संस्कार-सम्पन्नता तथा एकाग्रता को जो स्वीकृति दी है, वह मूलतः काव्यार्थ का भावन ही है। टीकाकारों ने इसका विवेचन रस तथा साधारणीकरण की भूमिका पर किया है। गोपेन्द्र (कामधेनुकार) का विवेचन इसका प्रमाण है। **'इत्थं विभावानुभावसंचारिभिरास्वादनीयतामापाद्यमानो रतिलक्षणः स्थायी भावः साधारण्येन चर्व्यमाणतैकप्राणः सम्भोगशृंगारो रसः'**[5]

---

१. मृच्छकटिकम्, १/१ (काले बम्बई-१९६२, पृ० ६)

२. रुद्रट काव्यालंकार १—५ (सं० सत्यदेव चौधरी पृ० ११)

३. काव्यालंकारसूत्राणि, २/१०, पृ० १११

४. काव्यालंकारसूत्राणि (कामधेनु) पृ० ११२

५. -वही- पृ० -वही-

वामन प्रत्यक्षत: रस को काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं करते । **'दीप्तरसत्वं कान्तिः'**[1] में उन्होंने रस के महत्त्व का अनुभव करते हुए उसे काव्य गुणों के अन्दर स्वीकार किया है। जिस रचना में शृंगारादि रस दीप्त रहते हैं, उसे कान्तिगुण कहते हैं। इस प्रकार काव्य के सौंदर्य सिद्धान्त को वामन विशिष्ट पदरचना के माध्यम से वस्तुनिष्ठ आधार पर प्रस्तुत करते हुए भी सहृदय की भूमिका को गौण नहीं बनाते । सर्जन-प्रक्रिया के विवेचन के माध्यम से भी वे जन्मान्तरगत संस्कार वासना-संवाद तथा बाह्यार्थनिवृत्तिमूलक वेद्यान्तरशून्यता के ऐसे अनेक संकेत देते हैं, जिनसे साधारणीकरण की परवर्ती भूमिका निर्मित हुई है । यथा—**कवित्वबीजं प्रतिभानम् जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्** । यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते । 'तथा' **चित्तस्यैकाग्र्य बाह्यार्थनिवृत्तिस्तदवधानम्** । **अवहितं हि चित्तमर्थान् पश्यति'** ।[2]

यह ठीक है कि वामन उस काव्य में भी सौंदर्य की सत्ता स्वीकार करते हैं, जिसमें रस का पूर्ण परिपाक नहीं है, किन्तु रस को वे मान्यता देते हैं तथा अप्रत्यक्ष रूप से सहृदय में काव्यार्थ के साधारणीकरण की आवश्यकता की ओर इंगित करते हैं ।

रुद्रट (९वीं शती मध्य) काव्यालंकार

अलंकारवादी आचार्यों की भांति रुद्रट का मुख्य प्रतिपाद्य यद्यपि अलंकार ही था, तथापि काव्य-वस्तु की सर्वजन-संवेद्यता, अभिव्यंजनात्मक उपादानों की रसानुभूति-परकता तथा काव्यानुभूति की कवि एवं सहृदयपरक व्याख्या के स्तर पर उन्होंने सहृदयनिष्ठ रसास्वाद की ऐसी भूमिका निर्मित की है, जिसमें साधारणीकरण की परिधि में आने वाले कतिपय सूत्रों का सहज ही अध्याहार हो गया है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि रुद्रट ने नाट्य-विषय की परिधि से मुक्त कर काव्य के व्यापक आयाम में भी रस-विधान का निर्देश किया है। नीरस शास्त्र सहृदयों के हृदय को आन्दोलित नहीं कर सकते, अत: धर्मार्थ-काम-मोक्ष पर आधृत जीवन के राग-विरागपरक व्यापक क्षेत्र का तादात्म्य मूलत: रागात्मक वृत्ति के द्वारा ही सम्भव है।

---

[1] -वही- ३-२-१५ पृ० ११६

[2] -वही- पृ० ३५-३६

अतः सहृदय तक काव्य में निबद्ध उन जीवनानुभूतियों को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए कवि को रस-समृद्ध काव्य की रचना करनी चाहिए।[1] अन्यत्र भी रुद्रट ने जीवन के अपेक्षाकृत अधिक व्यायाम आयाम को आयत करने वाले प्रबन्ध-काव्य में जीवन की वैविध्यमयी रागात्मक अनुभूतियों को स्थान देने के लिए कवियों से आग्रह किया है।[2] स्पष्टतः रुद्रट का यह दृष्टिकोण कवि और सहृदय के अन्तःसंबंध की उस भूमिका की ओर इंगित करता है जो काव्य को लोक-सामान्य भूमि पर प्रतिष्ठित करती है तथा जगत् की अनेक रूपात्मक अन्तर्दशाओं के साथ प्रमाता के साक्षात्कार और अनुभूतियों के संचार का अवकाश प्रदान करती है। साधारणीकरण की अवधारणा अनेक रूपात्मक बाह्य-सृष्टि के साथ सहृदय के तादात्म्य तथा सृष्टि के मौलिक स्वरूप के साथ उसके प्रकृत सामंजस्य की ओर इंगित करती हैं। रुद्रट काव्य वस्तु के स्तर पर सहृदय के हृदय-संवाद के अनुरूप उपादान जुटाने के लिए सकललोककमनीय चरित्रों को प्रबन्ध-सृष्टि के केन्द्रमें रखना आवश्यक समझते हैं।

सकल-लोक-कमनीय वस्तु न केवल नायक के चरित्र को गरिमा प्रदान करती है, अपितु वह सहृदय के स्तर पर भी बृहत्तर आयाम में संवेद्य होती है।[3] इस संदर्भ में रुद्रट ने प्रकारान्तर से साधारणीकरण की मूल संकल्पना की ओर भी इंगित किया है। राजा परिवर्तनशील हैं, किन्तु देवता अब भी

---

[1] ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः
तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
(काव्यालंकार, संपादक डा० सत्यदेव चौधरी, दिल्ली-१९६५, पृ० ३६०)

[2] एते रसाः रसवतो रमयन्ति पुंसः, सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं, काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत॥
(वही- १५/२१ पृ० ४१७)

[3] इत्थं स्थास्नु गरीयो विमलमलं सकललोककमनीयम्।
यो यस्य यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम्।
सकललोककमनीयम् सकलजनकान्तम्।
(नमिसाधु, काव्यालंकार, १/६ पृ०६)

वैसे ही हैं।[1] इस अभिमत का निष्कर्ष यह है कि काव्य के चरित्रों में युग एवं बाह्य परिवेश के अनुरूप परिवर्तन लक्षित होता है, किन्तु उनका मौलिक आद्य बिम्ब प्रमाता की संस्कार चेतना में अविकृत रहता है। इसी आद्यस्वरूप का अनुसंधान नायक एवं प्रतिनायक के चरित्र को प्रमाता के स्तर पर नये नये संदर्भ में परिभाषित करता है। इसी के समानान्तर रुद्रट ने काव्य के एक मौलिक प्रयोजन की ओर इंगित करते हुए सकल-लोक-कमनीयत्व का आयोजन किया है। यह लोक-कमनीयता कवि तथा सहृदय के रागात्मक स्तरों पर पुनरनुसंधानित होकर अधिक व्यापक मानसिकता में प्रतिबिम्बित होती है।[2]

अलंकारशास्त्र के विशेषज्ञ रुद्रट काव्य एवं नाटक के विकास को अभिव्यंजनात्मक उपकरणों तथा रागात्मक तत्त्वों के समीकरण के आधार पर विश्लेषित करते हैं। अलंकार गुण एवं रीतियों की सार्थकता सहृदय-निष्ठ मनःप्रसादन में ही है।[3] रसानुभूति की पीठिका पर ही अलंकारों की दीप्ति दोषाभाव के कारण अधिक उज्ज्वलतर बन कर काव्य-नायक के चरित्र को सर्वजन-संवेद्य बनाती है।[4] कहने की आवश्यकता नहीं कि दोषाभावगुणालंकारमयत्व के द्वारा भट्टनायक विभावादि के साधारणीकरण की जिस भूमिका का साक्षात्कार करते हैं, रुद्रट की अवधारणा अपनी सीमा के अन्तर्गत उसी ओर इंगित करती है।

समाहितमनस्कता पर रुद्रट अपना ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित करते हैं। काव्य के सर्जन-पक्ष में उसकी अनिवार्यता को इंगित करते हुए उनका

---

[1] अद्यापि त एव सुरा यदि नाम नराधिपा अन्ये।

(वही- १/१० पृ० ७)

[2] स्फारस्फुरदुरुमहिमा हिमधवलं सकललोककमनीयम्।
स्फुरंजनमनःसु प्रसरन् (नमिसाधु। वही-१/२१ पृ० १५)

[3] वही- १५/२० पृ ४१७

[4] ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि।

(वही- १/४ पृ० ५)

कथन है कि समाहितमनस्क[1] कवि ही शब्द एवं अर्थ के अन्तर्निहित सौंदर्य का उद्घाटन कर सकता है। रुद्रट की प्रतिभासंबंधी परिभाषा[2] भी मूलतः कवि के सर्जनपक्ष को आलोकित करती है, किन्तु प्रकारान्तर से सहृदय की मनोभूमि के अनेक तत्त्व भी उसमें समाहित हो गये हैं। इस प्रकार यह अवधारणा सर्जन तथा आस्वाद, काव्य के दोनों धरातलों का स्पर्श करती है। सुसमाधिस्थ चित्त में अनेक प्रकार के अभिधेयार्थों को जागृत तथा पदों की शीघ्र विभावित कर हृदयंगम करने की क्षमता स्रष्टा कवि तथा प्रमाता सहृदय को काव्य-वस्तु के प्रति हृदय-संवाद के लिए प्रेरित करती है। टीकाकार नमिसाधु ने काव्य-सर्जन के साथ काव्यास्वाद के इस आयाम को भी दृष्टि में रखा है।

'मनसीति। असौ शक्तिर्यस्यामविक्षिप्ते चेतसि सदानेकप्रकारस्य वाक्यार्थस्य विस्फुरणम्। यस्यां चाक्लिष्टानि झगित्येवार्थप्रतिपादनसमर्थानि पदानि प्रतिभान्ति। यद्वशाद्हृदयंगमौ नानाविधौ शब्दार्थौ प्रतिभासेते सा शक्तिरित्यर्थः।'[3]

यह ठीक है कि रुद्रट रस के स्वरूप अथवा निष्पत्ति की गंभीर चर्चा में नहीं पड़े तथा उनकी दृष्टि मूलतः अलंकारवादी है, फिर भी व्यभिचारिक भावों की रसरूप में अभिव्यक्ति रस-भावादि की रसवत् आदि अलंकारों के रूप में अस्वीकृति इत्यादि की स्थापनाएँ रस के प्रति उनकी मौलिक दृष्टि को रेखांकित करती है। उन्होंने प्रेयस् रूपी रस की मौलिक कल्पना भी की है, जिसके विषय में उल्लेखनीय यह है कि निश्छल प्रकृति के साहचर्य एवं सौहार्द तथा स्वभाव की समानता पर आधृत पारस्परिक व्यवहार इत्यादि[4] संदर्भों का साधारणीकरण की भूमिका से सीधा सम्बन्ध है। वस्तुतः यह किसी भिन्न रस का नहीं, अपितु रागानुभूति के मौलिक तत्त्व का आख्यान है।

---

१. सारं समाहितमनाः परमाददानः का० अ० ११/३६ पृ० ३५८

२. मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य······
(वही- १/१५ पृ० ११)

३. -वही- पृ० -वही-

४. स्नेहस्तु साहचर्यात्प्रकृतेरुपचारसंबन्धात्। (वही- १५/१७ पृ० ४११)

आनन्दवर्द्धन (नवम शताब्दी का मध्य भाग) ध्वन्यालोक

ध्वनिकार यद्यपि कल्पनामूलक अभिव्यंजना (अलंकार) तथा विचार-मूलक वस्तु की व्यंजनामात्र को भी काव्य का सौंदर्याधायक तत्त्व स्वीकार करते हैं, किन्तु केन्द्र में वे रस-ध्वनि को ही रखते हैं। अलंकार अथवा वर्णनमात्र केवल माध्यम हैं, जो रस के केन्द्र में ही अपना औचित्य सिद्ध कर सकते हैं 'मुख्या व्यापार-विषयाः सुकवीनां रसादयः'।[1] काव्य में महत्त्व अनुभूति का है। कल्पना एवं वस्तु की अपेक्षा सहृदय की चेतना को झंकृत करने में रस-ध्वनि का महत्त्व, अनुभूति पर आधृत होने के कारण, विशेष है। अतः ध्वनिकार का कथन है कि कवि को काव्य-निर्माण में पूर्णतः रस की परतन्त्रता स्वीकार करनी चाहिए। रसहीन और नीरस काव्य कवि के लिए मूर्त्तिमान अपशब्द है, उसके निर्माण की अपेक्षा काव्य-सर्जन में प्रवृत्त न होना ही श्रेयस्कर है।[2]

आशय यह है कि ध्वनिकार ने रस को काव्य का प्राणभूत तत्त्व उद्‌घोषित कर कवि तथा सहृदय के अन्तःसंबंध को रागात्मक सम्प्रेषणीयता के स्तर पर ही स्वीकार किया है। एक स्तर पर वे महाकवि को शब्द और अर्थ (अभिव्यक्ति और अनुभूति) को गौण बनाकर रस को मुख्य व्यापार में प्रतिष्ठित करने का निर्देश देते हैं तो दूसरे स्तर पर वे सामाज़िक में सहृदयत्व की अपेक्षा इसी स्तर पर करते हैं कि वह रसत्व को उद्‌बुद्ध करने वाले शब्दार्थ की मार्मिकता को आत्मसात् कर सके। जिस प्रकार जौहरी रत्नतत्त्व-बिद् होते हैं, काव्य रस के तत्त्वविद् सहृदय होते हैं।

वंकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः,
सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञाः।[3]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनिकार यद्यपि साधारणीकरण का विवेचन नहीं करते, किन्तु उसके मौलिक अन्तःसूत्रों का साक्ष्य अवश्य उपस्थित करते हैं। साधारणीकरण के एक कोण पर यदि वे काव्यार्थ तथा

---

[1] ध्वन्यालोक (लोचन की टीका बालप्रिया से युक्त, सं० १९९७, चौखम्बा) पृ० ३६४

[2] -वही- पृ० ३६४

[3] -वही- पृ० ५१९

उसको अभिव्यंजित करने वाले गुणालंकार एवं रीति आदि का रस-परतन्त्र विवेचन प्रस्तुत करते हैं तो दूसरे स्तर पर रस के भोक्ता तथा आश्रय सामाजिक की मानसिकता तथा काव्यास्वाद प्रक्रिया की अपेक्षित भूमिका का भी उल्लेख करते हैं। अतः कवि एवं सहृदय के अन्तः सूत्रों को ध्वनिकार की अवधारणाओं के माध्यम से सहज ही आकलित किया जा सकता है।

कवि

जैसा कि ऊपर कहा गया है ध्वनिकार कवि की सर्जन-क्षमता, रस-व्यंजना के निकष पर ही ग्राह्य मानते हैं। उनका कथन है कि व्यंजना का क्षेत्र बहुत व्यापक है, अतः कवि को रस-व्यंजना पर ही ध्यान एकाग्र करना चाहिए।[1] रस को ग्रहण करने से ही कवि कर्म में व्यवस्था और औचित्य आता है तथा देश-काल में विकीर्ण सामग्री औचित्य की भूमिका पर व्यवस्थित होकर प्रमाता में देश कालातीत अनुभूति जगाती है।[2]

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि साधारणीकरण के मूल सूत्र नानात्व में एकत्व के अनुसंधान के अन्दर से खुलते हैं। जीवन और जगत् की संख्यातीत व्यापक अनुभूतियों को कवि अपने सर्जन के केन्द्र में प्रतिष्ठित कर उनमें एक अपूर्व दीप्ति संवलित कर देता है। कवि की कारयित्री प्रतिभा का संस्पर्श पाकर अनुभूतियों के अणुओं से निर्मित काव्य-जगत् सहृदय के सम्मुख एक परिचयभरी नवीनता से युक्त होकर मूर्त होता है।

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदाभासतत्प्रशमनलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावप्रभेदकलनया यथोक्तं प्राक्। स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः। यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैरसंख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मिथोऽप्यनन्ततामेति। रसभावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते।[3]

---

१. व्यंग्यव्यंजकनभावेऽस्मिन् विविधे संभवत्यपि। रसादिमय एकस्मिन् कवि कवि स्यादवधानवान्॥ अपूर्वार्थलाभार्थी कविः रसादिमय एवैकस्मिन् व्यंग्यव्यंजकभावे यत्नतः अवधीत। ध्वन्यालोक पृ० ५२९-३०

२. 'रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी॥ (ध्वन्यालोक ४/९ पृ० ५४५)

३. -वही-५२६

इस संदर्भ में ध्वनिकार ने साधारणीकरण के दो सूत्रों का पूर्वाभास दिया है। प्रत्येक नया कवि कुछ आद्य प्ररूपों का ही अपनी अनुभूति तथा अभिव्यंजना के स्तर पर पुनरनुसंधान करता है तथा प्रमाता अनन्तता को प्राप्त अनुभूति-अणुओं को पुनः उन आद्य बिम्बों में रूपान्तरित कर कवि के अनुभूति परिवेश से साधारणीकृत होता है। दूसरा तथ्य यह है कि कवि लौकिक अनुभूति को काव्यानुभूति में रूपान्तरित कर विशिष्ट भाव परिवेश का निर्माण करता है। वह अरमणीय पदार्थ-विशेषों को भी लोकोत्तर रमणीय रूप में परिणत कर सहृदयों में विनिवेशित करता हैं।[1] अतः सहृदय के स्तर पर वह पूर्वानुभूत भाव-परिवेश पूर्वदृष्ट होकर भी नवीन सा प्रतीत होता है। 'दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्। सर्वे नवा इवाभान्ति।'[2]

इसी तथ्य को आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान अर्थ की व्यंजना तथा अलोकसामान्य अभिव्यक्ति के स्तर पर निरूपित किया है।

> 'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
> अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥'[3]

इस संदर्भ में ध्वनिकार काव्य-सर्जन के धरातल पर कवि की रस-परतन्त्रता तथा काव्यार्थ के आनंत्य को उन्मीलित करने वाली प्रतिभा का सूक्ष्म विवेचन करते हैं। साधारणीकरण के मूल में असाधारणता और नानात्व की पूर्वस्थिति आवश्यक है। कवि की प्रतिभा ही साधारण बिम्बों को असाधारणता और अनन्तता का स्पर्श देकर सहृदय की भाव-भूमि में संक्रमित करती है, सहृदय पुनः असाधारणता और नानात्व में निहित समष्टि-बिम्बों तथा आद्य प्ररूपों का अनुसंधान कर आत्म-लाभ करता है। यह पुनरनुसंधान ही वह प्रतीयमान अर्थ हैं, जो अंगनाओं के विविध अंगों के सौष्ठव में अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में जगमगाता है। कहने का आशय यह है कि आनन्दवर्द्धन कवि की रस-परतन्त्रता और सहृदय रसज्ञता के अन्तःसूत्रों का विवेचन करते हुए साधारणीकरण की मूल चेतना का स्पर्श करते हैं। कवि के विषय में जहाँ उनका

---

[1] अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी॥ ध्वन्यालोकः पृ० ५२७

[2] -वही- पृ० ५२८

[3] -वही- १/६

कहना है कि कवि को अनुभूतिविच्छिन्न काव्य-सर्जन में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए[1] वहाँ वे सहृदयत्व की व्याख्या में भी अनुभूति-तत्त्व को एकान्त विच्छिन्न कर नहीं चलते। यद्यपि रस के संदर्भ में सहृदय की मानसिक भूमिका का उन्होंने कहीं स्पष्ट विवेचन नहीं किया है, तथापि ध्वनि की सूक्ष्म मीमांसा के माध्यम से प्रमाता के वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने वाली जिस प्रक्रिया का उन्होंने विवेचन किया है, वह मूलतः काव्य में अन्तर्निहित रस की ही आस्वाद-प्रक्रिया का विवेचन है। रस वाच्य नहीं, मूलतः व्यंग्य होता है, जिसका अनुभावन सहृदय का ही क्षेत्र हैं।

सहृदय

ध्वनिकार के अनुसार सहृदयत्व रसज्ञता ही है। वे सहृदय-संवेद्यता के संदर्भ में प्रश्न उठाते हैं कि यह रस-भाव की अपेक्षा के अभाव में काव्याश्रित संकेत विशेष का परिज्ञान है अथवा रस-भाव में काव्य के स्वरूप परिज्ञान की कुशलता ? निश्चय ही शब्द विशेष के चारुत्व का अभिज्ञान सहृदयता नहीं है; क्योंकि भिन्न प्रकार से भी उस अनुभूति को व्यक्त किया जा सकता है। अतः शब्द-विशेष से चारुत्व का नियामक शब्दों की रसाभिव्यक्ति की सामर्थ्य ही है। यह सामर्थ्य मूलतः व्यंजक शब्दों की सूक्ष्म संवेदनाओं के ग्रहण की क्षमता से भिन्न नहीं है।[3] अतः रसज्ञता के अभाव में न तो सहृदय चारुत्व के नियामक शब्दों के व्यंग्यार्थ की सूक्ष्म संवेदना को आत्मसात् कर सकता है और न काव्यार्थ में तन्मय ही हो सकता है।

प्रज्ञा और सहृदयत्व के ऐक्य का अभाव उस अलीक सहृदयता को भी जन्म देता है, जो कोरे शास्त्रीय ज्ञान अथवा अतिरंजित भावप्रवणता के कारण

---

१. परिपाकवतां कवीनां रसादि-तात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।
(ध्वन्यालोक, पृ० २२१)

२. किमिदं सहृदयत्वं नाम ? किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम् उत रसाभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्।
(-वही- पृ० -वही-)

३. रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं विशेष इति व्यंजकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्।
(-वही- पृ० ३५९)

काव्यार्थ के वास्तविक अनुभावन में अवरोध उपस्थित करती है। मिथ्या सहृदयत्व अकाण्ड तांडव करता है और कवि के संवेद्य तक पहुँचने में कोई सहायता नहीं करता। "अलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते।"[1] तद्विपरीत विवेक-सम्पन्न सहृदयत्व शब्दार्थ के गुणालंकार, रीतिमूलक विधानों की रसपरक भूमि में सहज ही अन्तःप्रवेश कर जाता है।

ध्वनिकार ने गुणों का विवेचन भी सहृदयपरक ही किया है। प्रसादगुण के विवेचन में ध्वनिकार ने 'सर्वसाधारणक्रियः' शब्द का प्रयोग कर प्रसाद-गुण के समस्त रसों के प्रति समर्पकत्व तथा सर्वसाधारण में बोधगम्यता के संदर्भ का संकेत दिया है। अन्यत्र प्रबन्धकाव्यों में सत्कवि की रस-योजना की सहृदयसापेक्षता पर बल दिया है। सत्कवि को सब रसों से सुकुमार शृंगार रसों में सावधान और प्रयत्नशील रहना चाहिए, अन्यथा प्रमाद के कारण वह सहृदयों के मध्य तिरस्कृत होता है।[2] शृंगार में असंलक्ष्यक्रम रसानुभूति की गति विशेष तीव्र होती है। वाच्यार्थ का ज्ञानमात्र सहृदयता नहीं है। रसानुभूति असंलक्ष्यक्रम है, अतः यह नहीं कि वाच्यार्थ तो सर्वसाधारण को ज्ञात हो तथा रसादि व्यंग्यार्थ विशेषज्ञ को। प्रकरण का ज्ञान मात्र प्राप्त कर लेने पर रस प्रतीति नहीं होती, उसके लिए व्यंग्यत्व का ज्ञान आवश्यक है।

जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है कि ध्वनिकार साधारणीकरण की केन्द्रीय अवधारणा से अभिज्ञता व्यक्त करते हुए भी साधारणीकरण का कोई शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं करते। एक स्थल पर उन्होंने काव्य में विशेष तथा सामान्य वर्णन की सापेक्षता पर विचार अवश्य किया है। संसार की वस्तुओं का स्वरूप निश्चित और सामान्य है, किन्तु काव्य में वर्णित किये जाने पर वह अनन्त रूपों में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार यह वर्णन विशिष्ट होकर सामने आता है। यह ठीक है कि कवि स्वानुभूत वस्तुओं को नायकादि में आरोपित कर अपनी अनुभूति को सामान्यीकृत स्तर पर प्रस्तुत करते हैं। किन्तु सामान्यों की परिमितता का परिणाम यह है कि वे विशिष्ट क्रम से ही लक्षित होते हैं। अतः उनमें नवीनता का विकास नगण्य होता है, किन्तु

---

[1] ध्वन्यालोक, पृ० २५

[2] वही, पृ० २४८

काव्य की रचना सामान्यमात्र से अवश्य होती है। सामान्य के अतिरिक्त कोई वर्ण्य-विषय नहीं हो सकता। वाक्य-वैचित्र्य अर्थात् काव्य में प्रतीत होने वाला जो ग्राह्य विशेष है, वह कवि का स्वानुभूत होने के कारण विशिष्ट फलतः अनन्त होता है।[1] यह उक्ति-वैचित्र्य वस्तुतः कवि की स्वानुभूति की विलक्षणता ही है। कहने का आशय यह है कि कवि काव्य-विषय तो समष्टिक चेतना के सामान्य बिम्बों से ही ग्रहण करता है, किन्तु अभिव्यंजना के स्तर पर उनका पुनरनुसंधान कर उन्हें विशिष्ट बना देता है। सहृदय जब अपने अनुभव संसार के आधार पर उन बिम्बों को पुनरनुसंधानित करता है तो वे अपने वैशिष्ट्य से मुक्त होकर सामान्यीकृत संचेतना में प्रत्यावर्तित हो जाते हैं। ध्वनिकार ने काव्य के साधन और साध्य को साधारण और विशेष द्वंद्व के न्याय पर विश्लेषित कर एक भिन्न दृष्टि से उपस्थित किया है। अर्थापहरण के संदर्भ में ध्वनिकार ने कहा है कि प्रतिभाशालियों में संवादबाहुल्य होता है।[2] यह तथ्य उन्होंने कारयित्री प्रतिभा के संबंध में उपस्थित किया है, किन्तु भावयित्री प्रतिभा के संदर्भ में भी यह उतना ही सत्य है। अभिनव ने 'सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतीतिः, कह कर इस तथ्य की पुष्टि की है। आशय यह है कि आनन्दवर्द्धन सहृदय की भूमिका के विविध आयामों में

---

१. यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते, न विशेषात्मना। तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयद्भिः स्वपरानुभूतरूपसामान्याश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः।...तच्चानुभाव्यानुभावकसामान्यं सर्वप्रतिपत्तृसाधारणं परिमितत्वात् पुरातनानामेव गोचरीभूतम्, तस्या विषयत्वानुपपत्तेः। अत एव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते, तेषामभिमानमात्रमेव भणितिकृतं वैचित्र्यमात्रमत्रास्तीति।

यत्तूक्तं सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिस्तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्यवस्तूनामिति तदयुक्तम्। यतो यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किंकृतस्तर्हि महाकविनिबध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः...वाक्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूप तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते। ध्व० वा० प्रि० पृ० ५४१-४२

२. संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।
(-वही- पृ० ५४६)

निहित उस तत्त्व से परिचित थे, जो समस्त सामाजिकों को एक साथ उद्वेलित कर देता है।

अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अलोकसामान्य अथवा काव्य के प्रतीयमान अर्थ को आत्मसात् करने के लिए प्रमाता में मात्र हृदय-पक्ष ही नहीं बुद्धि-पक्ष की उपस्थिति भी अनिवार्य है, यह बुद्धि विवेक-चेतना पर आश्रित सहृदयता ही है। अतः जहाँ ध्वनिकार **शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते। वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्**[1] के द्वारा तर्क-शुष्क व्याकरण शास्त्र ज्ञानमात्र को अपूर्ण ठहराते हैं वहाँ सहृदय में प्रज्ञा तथा काव्यार्थ-तत्त्वज्ञता का भी उतने ही आग्रह से स्वागत करते हैं। काव्यार्थ का अधिकारी स्वच्छ, गम्भीर चेतना से सम्पन्न,' विद्वान्, महात्मा, सप्रज्ञक, आलंकारिक, काव्यलक्षणविधायी, तत्त्वार्थदर्शी, सामाजिक है। ध्वनिकार ने इन विशेषणों का बड़ी सजगता से प्रयोग किया है, जिनके द्वारा काव्यार्थ का अनुभावन करने वाली सहृदय की मानसिकता का विशिष्ट बिम्ब उत्कीर्ण होता है। यथा—'**सूरिभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति**'[1] **प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यंग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन। तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्। बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां स झटित्यवभासते।**[2]

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सहृदय में ध्वनिकार हृदय तथा प्रज्ञा का सामंजस्य अनिवार्य मानते हैं। यह सामंजस्य ही वाच्यार्थ में अन्तःप्रवेश कर सहृदय को व्यंग्यार्थ के संख्यातीत संदर्भों को आत्मसात् करने की क्षमता देता है। ध्वनिकार ने सहृदय के साथ सप्रज्ञक शब्द का प्रयोग इसी सामंजस्य को दृष्टि में रख कर किया है। **हृदयवर्तीषु सप्रज्ञकगाथासु**[3] की व्याख्या में अभिनव का कथन है **प्राकृतकविगोष्ठ्यां प्रसिद्धासु। त्रिवर्गोपायोपेयकुशलासु सप्रज्ञाकाः सहृदया उच्यन्ते।**'[4] कहने का आशय यह है कि **नानाकाव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे येषां वर्णनीयवस्तुतन्मयीभवनयोग्यता**

---

[1] ध्वन्यालोक १/१३

[2] -वही- १/१३

[3] ध्वन्यालोक (बालप्रिया-लोचन) पृ० ४६६

[4] -वही- पृ० -वही-

ते सहृदयाः'[1] में प्रज्ञा और हृदयतत्त्व के सामंजस्य के अन्तःसूत्र सहृदयत्व की इस संकल्पना में ही निहित है। आनन्दवर्द्धन का सहृदय विशुद्ध शास्त्रीय अवधारणाओं के प्रति आग्रहशील न हो कर काव्यार्थ को अन्तःसाक्षात्कार की भूमिका पर ही ग्रहण करता है।

लोल्लट (८००-८४० ई०) भरतनाट्यशास्त्र की टीका (अनुपलब्ध) अभिनवभारती में प्राप्त अवधारणाओं का आधार

अभिनव के अनुसार लोल्लट का चिन्तन मूलतः दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का ही उपजीवी है।[2] दण्डी की धारणा है कि रति स्थायी भाव रूप बाहुल्य के योग से शृंगाररूपता को प्राप्त होता है तथा अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो कर क्रोध रौद्ररूपता में परिणत हो जाता है।[3] दण्डी रस को किसी असामान्य अनुभूति के स्थान पर लौकिक अनुभूति का ही परिणत रूप स्वीकार करते हैं। रूप-बाहुल्य से सम्भवतः उनका तात्पर्य यही है कि केन्द्रीय अनुभूति (स्थायी) में अन्य संवादी अनुभूतियों का योग अथवा बाहुल्य हो जाने से वह अनिवार्यतः गुणात्मक स्तर पर परिवर्तित (रसरूप) हो जाती है। एक सीमा तक पाश्चात्य नव्य चिन्तक भी लौकिक एवं काव्यगत अनुभूति में भेद स्वीकार नहीं करते; केवल रूप-बाहुल्य अर्थात् विविध अनुभूतियों की संश्लिष्टि के आधार पर ही काव्यानुभूति लौकिक अनुभूति से भिन्न होती है। रिचर्ड्स के मौलिक चिन्तन कि दिशा यही है।[4] किन्तु निष्कर्ष भिन्न है, जिस पर अन्यत्र विचार किया गया है।

दण्डी स्थायी तथा इतर भावों में गुणात्मक अन्तर स्वीकार नहीं करते। इतर अनुभूतियाँ रति की संवादिनी अनुभूतियाँ हैं। तद्विपरीत लोल्लट

---

[1] -वही- पृ॰ ३८

[2] चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथा हि दण्डिना स्वालंकारलक्षणेऽभ्यधायि। (नाट्यशास्त्रम्), बड़ौदा, पृ० २७२, (सं० १९५६)

[3] रतिः शृंगारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन।
इति अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः। -वही-

[4] The various impulses… have become further systematised and intensified.
(The Foundations of Aesthstics, 2nd Ed. p 75)

स्थायी को अनभिव्यक्त तथा व्यभिचारी को अन्योद्भूत अथवा गौण अनुभूति स्वीकार करते है। उनका यह अभिमत सहजात तथा अर्जित वृत्तियों के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधृत है, जो रस के परवर्ती चिन्तन में अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता गया। अभिनव ने स्पष्ट रूप से स्थायी तथा व्यभिचारियों के गुणात्मक भेद को स्वीकार किया है। 'स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। ये पुनरमी ग्लानिशंकाप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्ममध्येऽपि न भवन्त्येव।'[1]

लोल्लट का चिन्तन इसी तथ्य का पूर्वाभास है। वे मूल तथा संस्कृत, उद्रिक्त एवं अनुद्रिक्त चित्तवृत्तियों के उस भेद से अभिज्ञ हैं, जिस पर अभिनव के परवर्ती चिन्तन का स्थापत्य निर्मित हुआ। व्यभिचारि-भाव स्थायीभाव से प्रकृतितः भिन्न हैं। अतः उनके सहभावी नहीं हैं, वे तो स्थायीभाव के साथ संस्कार रूप में उद्भूत होते हैं।[2] इसी के समानान्तर अभिनव का अभिमत है कि 'स्थायीरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं···प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिण उच्यन्ते।'[3] किन्तु जैसा मैंने ऊपर कहा है, लोल्लट स्थायी एवं व्यभिचारियों के इस गुणात्मक भेद को प्रकृतितः उद्भिन्न तथा अनुद्भिन्न स्तर पर ही स्वीकार करते हैं। उनकी हृदय-संवाद की अवधारणा इसी चिन्ताधारा से विकसित हुई है कि वासनामूलक (स्थायी) चित्तवृत्ति में अवान्तर चित्तवृत्तियों के संश्लेषण के साक्षात्कार से प्रमाता की अनुभूतियाँ भी स्वतः समीकृत एवं संश्लिष्ट होकर निर्वैयक्तिक हो जाती हैं।[4] यह चित्तवृत्तियों के संश्लेषण का अनिवार्य परिणाम

---

[1] ना० शा० पृ० २८२-८३

[2] व्यभिचारिणश्चः चित्तवृत्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिनः तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः। (नाट्यशास्त्रम् पृ० २७२)

[3] -वही- पृ० २८३

[4] तु० .. in the highest form of assthetic experience we have synaesthesis-the perfect organisation of impulses which has equilibrium and harmony...Our emotion assumes a more general character and we find that correspondingly our attitude has become impersonal. (Richards) 'Criticism Aesthetics And Psychology' (Chetan Karnani) p. 34-35

है। अतः लोल्लट यदि रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया को अनुकार्य अथवा अनुकर्ता तक सीमित रखते हैं, तो भी उसका अनिवार्य परिणाम प्रमाता की चित्तवृत्तियों की निर्वैयक्तिक समाहिति ही है। इस तथ्य को हम लोल्लट के चिन्तन के क्रम-विकास के द्वारा ही ग्रहण करेंगे।

लोल्लट की अवधारणा की अभिज्ञता के तीन स्रोत हैं—अभिनवभारती, लोचन तथा काव्य-प्रकाश। लोचन में उनका मत अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत है कि पूर्वावस्था अर्थात् रस की अपरिपुष्ट एवं अविकसित दशा में जो रति आदि स्थायीभाव होते हैं, वे व्यभिचारिभावों के संमिश्रण से परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्यगत रस होते हैं।[1] अभिनवभारती के अनुसार स्थायी भाव के विभावादि के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। यह निष्पत्ति परिपोष मूलक ही हैं, क्योंकि स्थायी ही विभावानुभाव आदि से उपचित होकर रस होता है। वह अनुकार्य एवं अनुकर्ता दोनों में रहता है। मुख्य रूप से उसका अधिवास रामादि अनुकार्य है तथा रामादिरूपता की प्रतीति अथवा अनुसंधान के कारण गौण रूप से वह नट में रहता है। इस संदर्भ में प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं—

१. विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रस-निष्पत्तिः।
२. विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्।
३. स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः।
४- मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये।
५. अनुकर्तरि अपि च नटे।
६. रामादिरूपानुसंधानबलादिति।[2]

मम्मट ने लोल्लट के मत में निहित संयोग, निष्पत्ति एवं परिपोष को पृथक्-पृथक् परिभाषित करने का इस प्रकार उपक्रम किया है।

विभावों से स्थायी रत्यादिक भाव उत्पन्न किये जाते हैं। अनुभावों से प्रतीति के योग्य तथा व्यभिचारिभावों से वे पुष्ट अथवा उपचित किये जाते हैं। मुख्यवृत्ति से वे रामादि अनुकार्य में रहते हैं तथा उनके रूप के अनुसंधान

---

१. पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। लोचन पृ० ३८८ (तारावती)

२. नाट्यशास्त्रम् भाग-एक पृ० २७२

का परिणाम नट में प्रतीयमान रस है।[1] वस्तुतः मम्मट ने '**स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः**' सूत्र में निहित 'उपचित को व्यभिचारिभावों में संकेन्द्रित कर मूल-स्थिति को किंचित् परिवर्तित कर दिया है। अभिनव के सूत्र में विभाव, स्थायी भाव रूप चित्तवृत्ति के कारण इस रूप में है कि मूल चित्त-वृत्ति इनके योग से क्रमशः संघनित होती जाती है, न कि मम्मट के के अनुसार इस अर्थ में कि वह अनुभावों से अभिव्यक्त एवं व्यभिचारियों से पुष्ट होकर प्रतीयमान होती है। मम्मट की प्रस्तुति लोल्लट के मत को पर्याप्त अर्वाचीन बना लेती है। काव्यप्रदीपकार मम्मट के मत को स्पष्ट करते हुए लोल्लट के सूत्र में निहित स्थायिभाव के साथ विभावों के संयोग में उत्पाद्य-उत्पादक भाव की स्थापना करते हैं और इसी के समानान्तर अनुभावों के साथ गम्यगमक भाव संबंध तथा व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषक संबंध स्थापित करते हैं।[2] इस प्रकार लोल्लट के अभिमत को वे उनके मौलिक मन्तव्य से किंचित् भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि गम्यगमक अभिव्यक्ति आदि पद स्पष्टतः व्यंजना-व्यापार की ही सहकारिता ध्वनित करते हैं, जो लोल्लट को अभीष्ट नहीं हैं। कुछ टीकाकारों ने स्पष्ट ही प्रतीयमान का अर्थ व्यंजना-व्यापार द्वारा प्रकट किया जाना है,[3] किया है जो लोल्लट की मूल स्थापना के विरुद्ध है। व्यंजना व्यापार की सहकारिता के विना अनुभूतियों की उपचिति अथवा संश्लिष्टि की भूमिका पर लोल्लट ने रस-निष्पत्ति की मौलिक अवधारणा प्रस्तुत की है, जो भट्टनायक के साधारणीकरण का मार्गप्रशस्त करती हैं। उनके तत्संबंधी मन्तव्य पर पहुँचने से पूर्व कतिपय विचार-बिन्दुओं का आकलन आवश्यक है।

---

१. विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः। (काव्य प्रकाश, बालबोधिनी १९२१, पृ० ८७)

२. स्थायिनां विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद् व्यभिचारिणा पोष्यपोषभावरूपात्संबन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिश्चेत्यर्थः। (काव्यप्रदीपः पृ ६३)

३. दे० काव्य-प्रकाश (हरिमंगल मिश्र) पृ० ५६

निष्पत्ति के संदर्भ में लोल्लट उत्पत्ति, उद्भूतता, उपचिति, परिपोष जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिसका आशय वासना रूप में विद्यमान स्थायी भाव की उद्बुद्धि अवश्य है, किन्तु भिन्न रूप में है। उत्पत्ति का अर्थ अभाव में भाव की कल्पना नहीं है (**नाभावो विद्यते सतः**)। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी पदार्थ को मौलिक सत्ता अविनश्वर है। केवल उसका रूप परिवर्तित होता है। काष्ठ-खण्ड से जब मूर्ति की उत्पत्ति होती है, तो मूर्ति के मध्य अभिकर्ता की कल्पना स्थित होती है, जो मूर्ति की मौलिक अवधारणा के अस्तित्व में आने के साथ-साथ निर्माता की परिवेश के साथ मानसी अन्तः-प्रक्रिया में क्रमशः विकसित होती एवं आकार ग्रहण करती है। मूर्ति की मूल प्रकृति पूर्वतः विद्यमान नहीं होती, केवल कलाकार के मन में उसके अस्तित्व की पूर्व संकल्पना रहती है। यह अस्तित्व-संकलपना सामान्य मानव चेतना की संकल्पना का ही प्रतिरूप है। क्रमशः यह संकल्पना मूर्त संवनित अथवा उपचित होकर अपनी प्रकृति अर्जित करती करती है। समग्र अनुभूतियाँ और विचार दृश्य उसके माध्यम से सम्मूर्तित होकर सगुण अनुभूति में परिणत हो जाते हैं।

जब लोल्लट अनुकार्य में रस-स्थिति स्वीकार करते हैं, तो यह उत्पत्तिवाद की अनिवार्यता है। कला-सृष्टि अपनी मूल प्रकृति, अपनी अपेक्षाओं के अन्दर से ही अर्जित करती है। मूर्ति का मौलिक अस्तित्व काष्ठ खण्ड में अवश्य है, किन्तु अनिवार्यतः वह मूर्ति की अपेक्षाओं के अनुरूप ही आकार ग्रहण करेगा। रति क्रोध उत्साह मानवमात्र में हैं। अतः राम में भी उनका अस्तित्व है, किन्तु राम में उनके उद्भूत होने की अनेक संभावनाएँ हैं। यदि राम (अनुकार्य) में निहित रति की उद्भूति का विहंगावलोकन करें तो वाल्मीकि में धनुषयज्ञ से पूर्व राम सीता को देखने के लिए उत्कंठित नहीं हैं[1]। महावीरचरितम्[2] में वे सीता के दर्शनमात्र से परितुष्ट हैं। हनुमन्नाटक[3] में धनुष का आरोपण करते समय वे सीता के कपोलस्थल पर अपने स्मरविकसित

---

१. वा० रा० ६६१२६ (बालकाण्ड)

२. तत्किमियममृतवर्तिरिव चक्षुराप्यायति। (भवभूति म० च० अं०-१-पृ १५)

३. कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि स्मरस्मेरस्फारोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्। (हनुमन्नाटकम् १।१९)

पुलकित मुख को प्रतिबिम्बित देख कर उत्कंठित होते हैं। प्रसन्नराघव[1] में तो सीता के प्रति राम का पूर्वराग पराकाष्ठा पर है। वे सीता के सौंदर्य दर्शन से मुग्ध तथा क्षणिक-वियोग की परिकल्पना मात्र से विषण्ण हो जाते हैं। अन्यत्र (राघवाभ्युदय में) यदि वे सीता के चित्र को देख कर आकृष्ट हैं, तो कहीं सीता के सौंदर्य की प्रशंसामात्र से परितुष्ट हैं।

रति की इन विभिन्न चित्तवृत्तियों का अधिष्ठान कौन हैं? निश्चय ही राम हैं। प्रत्येक काव्य अथवा नाटक में अपनी मूल प्रकृति को वे विविध परिवेशगत अपेक्षाओं में अर्जित करते हैं। उसी ऐन्द्रिय मानसिक अथवा आध्यात्मिक आराधना के अन्दर से वह रति भाव उपचित होकर मौलिक स्वरूप ग्रहण कर लेता है। सामाजिक की वृत्ति अनुकार्य राम की भावात्मक अनुक्रिया के मौलिक बिम्ब अथवा आद्य प्ररूप का अभिनेता में पुनरनुसंधान करती है। कहने का आशय यह है कि इन विविध अन्तर्दशाओं के मूल में प्रमाता की चित्तवृत्ति में संस्कारबद्ध राम का मौलिक बिम्ब भी है, जिसका वह राम के काव्यानुरूप परिणत संदर्भ में अनुसंधान करता है। शास्त्रीय शब्दावली में व्यभिचारिभावों अर्थात् शंका, मति वितर्क, असूया, विषाद इत्यादि के गुणनफल से रामनिष्ठ रतिभाव अर्जित अन्तः प्रकृति और परिवेशगत अनिवार्यताओं की क्रिया प्रतिक्रिया से विकसित होता है। अथवा इस प्रकार कि, रतिभाव मूलतः राम के चित्त में वासना रूप में विद्यमान था, जो विविध अपेक्षागत रतिभावों का सामान्यीकृत मौलिक रूप था, वह सीता रूप आलम्बन तथा परिवेश के प्रभाव से उद्दीप्त एवं व्यभिचारिभावों से पुष्ट एवं विकसित होकर पूर्ण परिपाक की अवस्था में परिणत हो गया।

इस संदर्भ में सामान्यतः अनुकार्य के विषय में यह प्रश्न उठता है कि लोल्लट का आशय ऐतिहासिक राम से है या कवि-निबद्ध राम से। स्पष्टतः जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, लोल्लट की दृष्टि ऐतिहासिक तथा कवि निबद्ध पात्र के संधि-स्थल पर है। यह नहीं कि मूल ऐतिहासिक पात्र में कवि-कल्पना के संसर्ग से, जो भिन्नता आती है, उसकी अभिज्ञता उसको

---

[1] कथं नयनपथमतिक्रान्तैव कान्ता। अप्याविरस्तु भूयोऽपि मम लोचनयोरियम्। दिवसेऽन्तर्हिता नक्तं चन्द्रिकेव चकोरयोः॥ (प्रसन्नराघवम् २।३०, पृ० १२० सम्पादक-रमाशंकर त्रिपाठी-१९७०)

नहीं थी। वस्तुतः वे अनुकार्य की प्रकल्पना उसी भूमि पर करते हैं। अर्थात् राम अथवा वाल्मीकि की कल्पना का आद्य बिम्ब जिसमें लोकोत्तर औदात्य तथा मानवोचित दुर्बलता का सहज अन्तर्भाव है एक मिथकीय सृष्टि के स्तर पर सामूहिक अवचेतन में निरन्तर विद्यमान है। किन्तु उनके चारित्रिक औदात्य अथवा मानव-सुलभ स्खलनों का कोई निर्णीत प्रतिमान नहीं है। उसका प्रतिमान केवल वे अपेक्षाएँ-संभावनाएँ हैं, जिनके द्वारा राम का चरित्र अपनी मूलप्रकृति अर्जित करता है। प्रमाता के मन में भी पूर्वतः एक समानान्तर बिम्ब होता है, जो ऐतिहासिक एवं मिथकीय परिपार्श्वों से निर्मित होकर उसकी अन्तःसंज्ञा में विद्यमान रहता है। वह वहाँ एक शरीरी व्यक्तित्व के रूप में नही, अपितु एक अशरीरी कल्पना के स्तर पर स्थिर रहता है, जो किसी सनातन अथवा सामयिक प्रश्न के समाधान के लिए भाव एवं विवेकयुक्त प्रतीकीकृत पुरुष के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[1] नाटक अथवा काव्य में अवतीर्ण उस संज्ञा पुरुष की अपेक्षाओं में ही प्रमाता अपने प्रतीकीकृत पुरुष का अनुसंधान करता है।

ऐतिहासिक अथवा कवि-निबद्ध पात्र की इस द्वैत भूमि पर ही लोल्लट अनुकर्ता में रस-स्थिति स्वीकार करते हैं। अनुकर्ता में रस-स्थिति प्रायः आचार्यों ने स्वीकार नहीं की। वस्तुतः अनुकर्ता में रस-स्थिति की परिकल्पना अनुकार्य-गत रस-स्थिति का पुनरनुसंधान ही है। अनुकर्ता नाट्य-प्रस्तुति के माध्यम से मुख्य पात्र की संवेगात्मक अपेक्षाओं की पुनः सृष्टि करता है। उसके स्रष्टा एवं भोक्ता रूप में एकात्म्य इसी स्तर पर ग्राह्य है कि मुख्य पात्र के संवेगों के कल्पनात्मक अनुभावन के उस विशेष क्षण में वह तन्मय रहता है। द्रष्टा के स्तर पर वह अनुकार्य से सम्पृक्त रहता है तो भोक्ता के स्तर पर प्रेक्षक की

---

[1] तु० The process itself involves another class of archetypes which one would call the archetypes of transformation. They are not personalities, but are typical situations, places, ways and means, these archetypes are true and means, that symbolize the kind of transformation in question.

(C. G. Jung) Archetypes of the Collective Unconscious ('Twentieth Century Criticism' p. 230)

मनोभूमि में भी अवस्थित रहता है। संभवतः यही कारण है कि लोल्लट सामाजिक की वासना अथवा रसानुभूति का पृथक् उल्लेख नहीं करते। वे अनुकर्ता, कथा, सामाजिक को अभिन्न मान कर चलते हैं; और जैसा हमने इंगित किया है, अनुभूतिगत संश्लेषण की प्रक्रिया में प्रेक्षक की चेतना बिम्बित प्रतिविम्बित होकर स्वतः उसकी अनुभूतियों को उपचित अथवा संघनित कर देती है। इसी अन्तः प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को अभिनव ने, एक भिन्न स्तर पर विविध प्रमाताओं में संविद् की एकघनता के विश्लेषण के लिए स्वीकार किया है। एक प्रमाता में भी अनुभूतियां अन्तःविम्बित होकर उसे विगलित-वेद्यान्तरता अथवा निर्वैयक्तिकता की भूमिका पर ले जाती हैं। रिचर्ड्स आदि नव-चिन्तकों ने इसकी पुष्टि की है।

स्थायिभाव किसी एक आयाम से युक्त होता है। विविध संवेदनों से संश्लिष्ट होकर ही वह अनेक आयामों में अनुसंधानित होता है। अनुभूति के केन्द्र से आकृष्ट संवादी एवं विसंवादी संवेदन जब स्पर्धामूलक समन्वय में ढलते अथवा उपचित होते हैं, तो स्वतः केन्द्रीय अनुभूति का व्यक्तिबद्ध रूप छूट जाता है तथा वह निर्वैयक्तिक अथवा साधारणीकृत हो जाती है।

इस संदर्भ को अधिक स्पष्ट करने के लिए अनुसंधान शब्द की शास्त्रीय अवधारणा पर भी विचार करना आवश्यक है। आचार्यों एवं टीकाकारों के अनुसार अनुसंधान के प्रमुख अर्थ तीन हैं—१. आरोप, २. अभिमान एवं ३. आयोजन।

आरोप

अधिकांश आचार्यों ने अनुसंधान का अर्थ आरोप किया है। यथा—

नटे तु तुल्यरूपतानुसंधानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः

(काव्यप्रदीपः)[1]

ततस्तस्य कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्शननिपुणे रामाद्यनुकारिणि नटे सादृश्यज्ञानरूपदोषादारोपः साक्षात्कारात्मको धर्म्यंशे लौकिक आरोप्यांशे त्वलौकिको रामोऽयं सीताविषयकरतिमानित्याकारश्चमत्कृतिहेतुरिति।

(प्रभा०)[2]

---

१. काव्यप्रदीप पृ० ६२

२. -वही- पृ० -वही-

रामत्वारोपादिति सारबोधिनीकारोद्द्योतकारादयः ।

(बालबोधिनी)[1]

नट के कुशल भावों के कारण प्रेक्षक उसमें राम के मनोभावों का आरोपण करता है ।

(पी० वी० काणे)[2]

नटे रामताद्रूप्यारोपात्तत्रासन्नपि सामाजिकः ।

(काव्यदर्पण)[3]

मूलतः आरोप के अर्थ में भी ऐकमत्य नहीं है । प्रेक्षक तथा नट दोनों के केन्द्र में इसके दो विभिन्न अर्थ निष्पन्न होते हैं । एक अर्थ में प्रेक्षक नट के कुशल अभिनय के कारण उसमें रामत्व का आरोप करता है तथा सादृश्य दोष के कारण नट को सीता-विषयक-रतिमान रूप में ग्रहण करता है । दूसरे अर्थ में प्रेक्षक नाट्य-प्रयोग के समय रत्यादि का स्मरण कर नट पर उसका आरोप करता है । ये दो भिन्न दृष्टियाँ हैं, जिनमें प्रेक्षक रामत्व अथवा राम के मनोभावों का नट में आरोप करता है । एक भिन्न अर्थ में नट में ही राम के व्यक्तित्वान्तरण के कारण राम का अभिनिवेश उत्पन्न होता है, अर्थात् वह स्वयं में रामत्व को आरोपित करता है ।

अभिमान

बालबोधिनीकार के अनुसार 'रामस्येव वेषविशेषवाग्विधायिनि नर्तके तत्कालं रामत्वाभिमानादिति विवरणकाराः'[4] अर्थात् राम की वेशभूषा और भाषा का अनुकरण करते समय नट में रामत्व का अभिमान होता है । उस क्षणविशेष में अभिनेता स्वयं को राम समझने लगता है ।

योजन

डाक्टर पाण्डेय अनुसंधान का अर्थ योजन करते हैं अर्थात् नट अपने अनुभूत तत्त्वों को इस प्रकार योजित करता है कि उसमें मूल नायक के समान

---

१. काव्य-प्रकाश (पूना-१९२१) पृ० ८८

२. संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास (पी० वी० काणे) १९६६, पृ० ४५४

३. काव्य-दर्पण (राजचूडामणि दीक्षित, श्रीरंगम्) पृ० १३९

४. काव्य-प्रकाश (वामन झलकीकर) पृ० ८८

भाव जागृत हो जाते हैं।[1] डाक्टर पाण्डेय का विचार है कि लोल्लट ने यह अवधारणा शैव-दर्शन से ग्रहण की है। उत्पलाचार्यकृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। यथा—

'कादाचित्कावभासे या पूर्वाभासादियोजना ।
संस्कारात्कल्पना प्रोक्ता सापि भिन्नावभासिनी ।[2]

उत्पलाचार्य ने इसे अवमर्श कोटि में रखा है। इसके दो रूप हैं—अनुभवमात्र तथा अनुसंधानात्मा। शुद्ध और अशुद्ध रूप में यह भी दो रूपों में विभक्त है। मैं अभिनेता हूँ, यह अशुद्ध अनुभव है तथा पहले जो मैं नट था, वही अब मैं राम, कृष्ण, दुष्यन्त हूँ यह अशुद्ध अनुसंधान है। शुद्ध रूपमें विकल्प बुद्धि नहीं रहती यथा—'अहमिति सदाशिवात्मनि', किन्तु अशुद्ध अनुसंधान में भेद बुद्धि रहती है। वस्तुतः अभेद के प्रस्फुरण में कभी-कभी विकल्प का लोप हो जाता है। अतः अनुभव मात्र और अनुसंधानात्मक यह द्विधा-विभक्त मानसिकता ही यहाँ अभिप्रेत प्रतीति होती है।[3] 'अनुभवविकल्प-स्मरणानामनुसंधानम्' अनुसंधान में अभेद बुद्धि अवश्य बनी रहती है, किन्तु यह अभेद मूलतः उभयकोटि ज्ञान पर आश्रित होने के कारण विकल्प का स्पर्श

---

१. The actor identifies himself with the (dramatised ?) historical character and, therefore, is able to unify the elements of his experience so as to produce the mental construct which corresponds in every way to that of the original hero.

Dr. K. C. Pandey (Comparative Aesthetics Vol. 1 (1959) p. 39)

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (प्रथम भागः) निर्णयसागर १९७५ वि०पृ० २५६

३. अहं प्रत्ययो द्विधा-अनुभवमात्ररूपश्चानुसंधानात्मा च, शिवात्मनि 'अहमिति' सदाशिवात्मनि 'अहमिदमिति' शुद्धो द्विधा। अशुद्धोऽपि योऽहं स्थूलोऽभवं, सोऽहं कृशो, ···अशुद्धे तु अनुभवरूपे विकल्पत्वमुपपादितम् (ई० प्र० वि० पृ० २५६)

सा करता है। जो मैं बालक था वही आज युवा हूँ।[1] अर्थात् ज्ञान में तारतम्य वना रहता है।

स्पष्टत: आरोप में विकल्प-बुद्धि अधिक प्रखर रहती है और उसके मूल में प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेक्षक की सत्ता अवश्य निहित रहती है। प्रेक्षक के दर्पण में ही परिणत होकर[2] अभिनेता रामत्वारोपित अपने व्यक्तित्व का पुनरनुसंधान करता है। अभिमान में आत्म-निष्ठा तथा संस्कारदृढ़ता का भाव निहित है भोज के शब्दों की सहायता से कहा जा सकता है[3] कि नट अपनी अभ्यास-सस्कार की दृढ़ता एवं मौलिक प्रतिभा से अनुकार्य की मौलिकता के विभिन्न आयामों को अपने स्तर पर परिभाषित कर समाहित करता हैं।

इस प्रकार आरोप, योजना एवं अभिमान में क्रमशः अभिनेता के तादात्म्य का आभ्यंतरीकरण होता जाता है। निश्चय ही अनुसंधान के मूल में प्रेक्षक की मात्र परोक्ष स्वीकृति है। और यह भी तथ्य है कि अनुसंधान की मूल प्रक्रिया अनुकार्य में रस अथवा स्थायी की स्वीकृति पर ही आधृत है। अभिनेता प्रथम स्तर पर जहाँ पहले जो मैं नट था वही अव मैं राम हूँ—के अशुद्धानुसंधान से यह राम मैं हूँ की अभेद भूमि (शुद्धानुसंधान) की ओर अग्रसर होता है तो दूसरे स्तर वह प्रेक्षक की अन्तःसंज्ञा में अवस्थित हो कर रामत्व का अनुसंधान भी करता है। अर्थात् अनुकार्यगत भावों की निजी अपेक्षाओं का पुनरनुसंधान करता है। इस स्तर पर वह मूल भावस्थिति का अतिक्रमण करता हुआ तादात्म्य की अनुभूति के क्षण में क्रमशः स्वयं को

---

१. तत्र या पूर्वाभासेन वालादिशरीरावभासेन योजना योऽहं वाल: स एवाद्य युवा इत्यनुसंधानम् आदिग्रणादुत्तरेण भाविना आभासेन सह योजना स्थविरो भवितास्मि इति सा योजना। (वही पृ० २५६)

२. CF· That very histrionic object, the mirror enables any actor to watch himself and thereby to become the audience· Eric Bentley (The Life of The Drama p· 150)

३. आत्मविशेषनिष्ठस्य उत्कृष्टादर्शजन्मन: अनेक जन्मानुभवसंस्काराहित द्रढिम्न: समग्रात्मगुणसम्पदुत्पाद अतिशयहेतो: अहंकारविशेषस्य उपसग्रात्। (सरस्वतीकण्ठाभरणम् पृ० ६१३)

ही उद्घाटित करता है। कहने का आशय यह है कि अनुकार्य की मूल प्रकृति का निर्धारण पूर्वतः संभव नहीं है, वह विभावन के अन्दर विकसित एवं उपचित होती है। अनुकार्यके अस्तित्व का प्रतीकीकृत बोध सामष्टिक अन्तश्चेतना में विद्यमान रहता है। पात्र की विशिष्ट अपेक्षाओं में प्रवेश करके अभिनेता उन्हीं का पुनरनुसंधान करता है। यह अनुसंधान औचित्य अर्थात् साधारण्य की भूमि पर ही घटित होता है।

अनुकर्ता का ही एक व्यक्तित्व प्रेक्षक का भी है, अनुकार्य के सामष्टिक बोध तथा कविनिबद्ध व्यक्तित्व के स्तर पर अपनी भावना तथा विवेक-शक्ति के माध्यम से वह इसका अनुसंधान करता है। अतः रति की विविध अनुभूतियों के सामष्टिक बिम्ब के आधार पर एक विशेष कृति में वर्णित रति-बिम्ब की अभिव्यंजनागत अपेक्षाओं को आत्मसात् कर उस सामष्टिक बिम्ब का निजी अनुभूतियों के आधार पर अनुसंधान ही यहाँ अनुसंधान के अर्थ में अभीष्ट प्रतीत होता है। प्रेक्षक की सत्ता यहाँ बाह्य नहीं है। वह अनुकर्ता में ही प्रतिबिम्बित है। नट की वासना की स्वीकृति में ही प्रेक्षक की वासना की स्वीकृति निहित है। अन्यत्र भट्ट लोल्लट का कथन है कि नट में भी वासनाजन्य आवेश तथा अनुसंधान के कारण लय आदि का अनुसरण होता है। **रसभावानामपि वासनावशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणात्।**[1]

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि लोल्लट अनुभूतियों के संश्लेष की स्वीकृति के माध्यम से प्रमातृगत निर्वैयक्तिकता की जिस मनोभूमिका का आभास देते है, उसका निर्माण अनुसंधान के सूत्रों से से ही हुआ है। प्रमाता की मनोभूमिका में अनुकार्य के बिम्ब की सामष्टिक चेतना की जो पुनरुद्भावना होती है, वह मूलतः अनुकर्ता की द्वैत-चेतना का ही प्रोद्भास है। यह एक स्तर पर अनुकार्य के सामष्टिक बिम्ब का अनुसंधान करती है तथा दूसरे स्तर पर प्रेक्षक की मनोभूमिका में भी अवतीर्ण होती है।

लोल्लट के मत पर परवर्ती चिन्तकों ने अनेक आक्षेप किए हैं, किन्तु उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में लोल्लट के मत के पर्यालोचन से उनकी सीमाएँ स्वतः

---

[1] अभिनवभारती (दिल्ली-१९७३) पृ० ४१८

स्पष्ट हैं। विचारणीय तथ्य यह है कि लोल्लट स्थायी एवं विभावों की विशिष्टता केवल उद्भूतता तथा अनुद्भूतता के स्तर पर विवेचित करते हैं **‘दृष्टान्तेऽपि व्यंजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्’** अतः विभावादि के योग अथवा अयोग का प्रश्न इस सन्दर्भ में निरर्थक है, क्योंकि स्थायिभावों का साक्षात्कारात्मक ज्ञान विभावादि के संयोग से जिस स्तर पर होता है, वह मूलतः उपचित स्थिति है जो एक अनुद्भूत अनुभूति में विविध उद्भूत अनुभूतियों का संश्लेष है, जिनमें प्रकृतिगत अन्तर नहीं है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि विभावादि के योग से पूर्व रत्यादि के ज्ञान की संकल्पना, लोल्लट की नहीं है। अतः यह आक्षेप कि लोल्लट ने भावों को अभिधेय माना है, स्वीकार्य नहीं है।[1] अनुभूति संश्लेष में मन्दतर, मन्दतम इत्यादि की अनुभूति असंलक्ष्य ही है और जैसा कि हमने उपचितावस्था के विश्लेषण में दिखाया है, यह रसानुभूति की स्वाभाविक प्रक्रिया है। आचार्य विश्वनाथ देव इत्यादि ने इस तथ्य को स्वीकार भी किया है। कहने का आशय यह है कि शंकुक इत्यादि के आक्षेप तार्किक हैं, जो द्वन्द्व न्याय पर आश्रित हैं। लोल्लट के चिन्तन में न तो कार्यकारणवाद का विरोधाभास है और न आरोपवाद का अनौचित्य। उनके आरोप अथवा अनुसंधान की प्रकल्पना में ताटस्थ्य की स्थूल दृष्टि नहीं है। प्रेक्षक, अनुकर्ता और अनुकार्य के एकात्म्य के माध्यम से वे साधारणीकरण की उस भूमिका की ओर संकेत करते हैं, जहाँ प्रेक्षक की भूमिका पर अनुकर्ता तथा अनुकर्ता की भूमिका में प्रेक्षक अनुकार्य के स्तर पर सामष्टिक अनुभूति का पुनरनुसंधान करता है। नट की स्वीकृति के माध्यम से लोल्लट अभिव्यंजना के महत्त्व को केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हैं। अभिव्यंजना के धरातल पर उतरते ही कवि की वैयक्तिकता पीछे छूटने लगती है। वह स्वयं को समष्टिचेतना का अंगभूत-सा अनुभव करता हुआ उस घटना, वस्तु या परिवेश के द्वंद्व को विश्वमानव के हृदय में घटित घटना का अविभाज्य अंग मानने लगता है। चिता के निकट खड़े व्यक्ति की प्रतिक्रिया जीवन और

---

[1] विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिंगाभावेनावगत्यनुपपत्तेः ।
भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसंगात् ।
मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः ।
(अभिनवभारती, पृ० ४४५)

जगत् के प्रति विराग और निर्वेद के संवेदनात्मक ज्ञान को ही जगा सकती है, जिसमें उसकी निजी मानसिकता राग, विराग, आस्था और पूर्वाग्रह के अनेक स्तरों पर जुड़ी हो सकती है। किन्तु उसके काव्यरूप में परिणत होने के लिये उसका अन्तर्भावन अपेक्षित होता है। इस अन्तर्भावन या पुनःसृजन के क्षणों में वह अनुभूति एक विशिष्ट रूप विन्यास में अन्तर्भुक्त होकर ही आकार ग्रहण करती है। उसका पूर्वस्वरूप मानसिक अन्तराल एवं कल्पनात्मक प्रतिक्रिया के कारण आवृत हो जाता है। इस काव्यानुभूति के दो स्तर होते हैं प्रथम स्तर पर यह सार्वजनिक प्रतिक्रिया का संश्लिष्ट रूप होती है, जिसमें किसी भाव-सत्य या विचार-सत्य की ही पुनरावृत्ति होती है दूसरे स्तर पर यह एक विशिष्ट कलात्मक सृष्टि होती है, जिसमें भाव-सत्य या वस्तुतत्त्व रूप-विन्यास में ढल कर सजातीय संयोजनाओं की अपेक्षा एक अभूतपूर्व प्रतिक्रिया जगाता है।[1] यह रागात्मक संचेतना कवि, अनुकर्ता तथा प्रेक्षक की मनोभूमि पर जिस रूप-विधान में ढलती है, वह उसी अनुभूत सत्य का पुनरनुसंधान है, जिससे उस अनुभूति की वैयक्तिकता का परिहार होता है तथा समष्टि-चेतना के धरातल पर रूपायित होकर वह निर्वैयक्तिक होती है।[2] अनुकार्य की प्रतिष्ठा, उपचिति तथा अनुसंधान के इसी त्रेत के माध्यम से लोल्लट साधारणीकरण की ओर इंगित करते हैं। भरत के रससूत्र की व्याख्या में उन्होंने कलात्मक अभिव्यंजना के महत्त्व की स्वीकृति, संश्लेष से उत्पन्न होने वाली निर्वैयक्तिक चेतना एवं अभिनेता में

---

[1] Now, it is the essential privilege of beauty to so synthesize and bring to a focus the various impulses of the self, so to suspend them to a single image, that a great peace falls upon that purturbed kingdom...
(George Santayana) The Sense of Beauty p. 235

[2] The equilibrium of opposed impulses.....brings in to play far more of our personality than is possible in experiences of a more defined emotion....And to say that we are impersonal is completely involved.
(I. A. Richard)-Principles of Literary Criticism p. 198)

अनुकार्य तथा प्रेक्षक की मनोभूमिका के संश्लिष्ट रूपायन की व्याख्या के माध्यम से महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

शंकुक (नवम शती का आरम्भ काल), रचना अनुपलब्ध, अभिनवभारती तथा लोचन में प्राप्त अवधारणाओं का आधार

शंकुक रसबोध की प्रक्रिया को कृत्रिम कलाभिव्यक्ति के स्तर पर विश्लेषित करते हैं। विभाव (कारण) अनुभाव (कार्य) व्यभिचारी (सहचारी कारण) से अनुकर्ता में लिंग-बल से प्रतीत होने वाला स्थायिभाव मुख्य रामादि के स्थायिभाव की ही अनुकृति है। अभिनेता के आयासजन्य अथवा अप्रयत्नसाध्य अभिनय कौशल के कारण यह विभावादि कृत्रिम होने पर भी सामाजिक को कृत्रिम प्रतीत नहीं होते अपितु वह इन्हीं विभावादि हेतुओं से नट में स्थायिभाव का अनुमान कर लेता है। अनुकरण रूप होने के कारण ही नटगत स्थायिभाव को स्थायिभाव न कहकर रससंज्ञा से अभिहित किया जाता है। शंकुक के मत की स्थूल रेखा यही है, जिसे अभिनवभारती[1], लोचन[2] तथा काव्य-प्रकाश[3] में किंचित् रूपान्तरणों के साथ प्रस्तुत किया गया है।

---

१. (क) हेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।'
(अभिनवभारती, नाट्शास्त्रम् प्रथमो भागः, पृ० २७२)

(ख) तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्यमानैरयं रामः सुखीति स्मृतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतयास्वादरूपा प्रतिपत्तिरनुकर्त्रालम्बना नाट्यैकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते। किं त्वनुकार्याभिन्नाभिमते नर्तके आस्वादयिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमदः। तेन

इस संदर्भ में प्रश्न यह है कि विभाव आदि की कृत्रिमताजन्य अनुभूति के मिथ्या होने के कारण उनसे रसास्वाद किस प्रकार सम्भव है ? इस संदर्भ में शंकुक का कथन है कि मिथ्या ज्ञान से भी अर्थ-क्रिया रूप फल-प्राप्ति देखी जाती है। रज्जु में सर्पत्व की मिथ्या संकल्पना से भी भय उत्पन्न हो सकता है। धर्मकीर्ति से प्रेरणा ग्रहण कर वे कहते हैं कि जिस प्रकार मणि तथा प्रदीप की प्रभा को मणि समझ कर उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ने वाले दो व्यक्तियों में मिथ्या ज्ञान की समानता होने पर भी फल प्राप्ति में भेद पाया जाता है, उसी प्रकार मिथ्या ज्ञान से भी फल प्राप्ति अथवा रसास्वाद संभव है।[1] यद्यपि मणि की आकांक्षा से दौड़ने को प्रवृत्त हुआ व्यक्ति मिथ्या अनुभव से प्रेरित था, किन्तु उसकी अनुभूति का अन्तिम फल आह्लादमूलक अथवा परिणाम-पर्यवसायी हुआ। काव्यानुभूत मिथ्या लौकिक ज्ञान से भिन्न भी है अतः उसका परिणाम एकान्ततः अप्रीतिकर अथवा अवसादमूलक नहीं हो सकता। यह अनुभूति मिथ्या, संशय, सादृश्य प्रतीतियों से विलक्षण अनुभूति है। शंकुक ने चित्रतुरगन्याय के समानान्तर इस अनुभूति की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि का नट ही दुःखी है, नट ही शृंगार-रस-मग्न राम है' जैसी सम्यक् प्रतीति रसानुभूति में नहीं होती, 'यही राम है' 'इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति भी नहीं होती। यह राम हैं या नहीं है' इस प्रकार संशयात्मक प्रतीति से भी यह अनुभूति विलक्षण है।[2] वस्तुतः नट में रामत्व की बुद्धि

नाट्य एवं रसः, नानुकार्यादिष्विति केचित्।
(लोचन, चौखम्भा, १९६५, पृ० १९५)

(ग) राम एवायम् अयमेव राम, इति न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति रामः स्याद्वा न वायमिति रामसदृशोऽयमिति च सम्यंमिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्या ग्राह्ये नटे।
(काव्यप्रकाश, बालबोधिनी पृ० ८८)

१. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः। मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥ नाट्यशास्त्रम् षष्ठोऽध्यायः (अभिनवभारती), बड़ोदा पृ० २७३

२. सम्यङ् मिथ्यासंशयासादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह- -वही- पृ० २७३

की यह व्याख्या निषेध और स्वीकृति के विरुद्धात्मक सामंजस्य के काव्यात्मक परोक्ष ज्ञान पर आधृत अनुभूति के समकक्ष ही है। पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्र में विरुद्धात्मक समाहिति को निषेध और प्रवृत्ति के द्वन्द्वात्मक स्तर पर व्याख्यायित किया गया है। बुलो का कथन है कि काव्यानुभूति में लौकिक प्रयोजन का निषेध तथा अनुभूति के पुनरसंधान की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया गतिशील रहती है।[3]

इस संदर्भ में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि शंकुक का विवेचन दार्शनिक मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक धरातल पर काव्यानुभूति की अभिव्यंजनापरक व्याख्या प्रस्तुत करता है। कलात्मक अभिव्यंजना की दृष्टि से शंकुक के विवेचन में अनेक मूल्यवान् तथ्य निहित है। काव्यानुभूति में अलंकरण तथा अभिनय में रंग कौशल का निर्विवाद योग रहता है, जिनके कारण उपस्थापित नाट्य-वस्तु का मिथ्यास्वरूप आवृत हो कर क्रमशः वास्तविक रसानुभूति में परिणत होता जाता है।[2] नाट्यदर्पणकार ने स्पष्टतः रसास्वाद में कवि और अभिनेताओं के कौशल को प्रमुख माना है। करुण आदि रसों में भी जो सहृदयों को चमत्कृत करने की शक्ति उद्‌बुद्ध होती है, उसका कारण कवि तथा नट का कौशल ही है, जिसके कारण एक ऐसा मिथ्या, किन्तु आस्वादजनक परिवेश उत्पन होता है, जिसमें प्रेक्षक आत्मविस्मृत हो कर आस्वाद में मग्न होते हैं।[3]

अभिनव ने शंकुक के मत में निहित विरुद्ध बुद्धियों की समन्विति तथा अन्विति की काव्य-निष्ठ प्रक्रिया को अपनी रस-व्याख्या के अनेक स्थलों पर आधार बनाया है। अन्तर केवल यह है कि यह विश्लेषण अभिनव के चिन्तन-को परिधि में मौलिक अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। अभिनव का कथन है कि अभिनेता के मुकुट आदि नेपथ्य-विधान के कारण प्रमाता की नट बुद्धि

---

३. ए' माडर्न बुक ऑफ एस्थेटिक्स पृ० ३९६

१. नाट्यशास्त्र भाग-१, पृ० २७२-७३

२. अनेनैव च सर्वांगाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते ।
(-नाट्यदर्पण, दिल्ली-१९६१ पृ० २९१)

आच्छादित हो जाती है। दूसरी ओर गाढ़ संकारों तथा काव्य बल से प्रेरित राम बुद्धि भी नट विषयक प्रमाता की संकल्पना में स्थिर नहीं हो पाती।[1] इन विरुद्ध बुद्धियों के सामंजस्य से नाट्य-प्रतीति देशकालातीत विलक्षण बोध में परिणत हो जाती है। धर्मकीर्ति के अनुसार द्रष्टा की विकल्पक बुद्धि प्रयोजनातीत हो कर भी एकार्थ का अनुसंधान करती है। व्यावहारिकता से मुक्त होते ही दृश्यता तथा स्वलक्षण का भेद तिरोहित हो जाता है।[2]

शंकुक के चिन्तन के समानान्तर रसानुभूति के विरुद्ध-बुद्धिजन्य स्वरूप के प्रकृत सूत्र को ग्रहण करें। एक ओर प्रमाता की चेतना इस विषय में पूर्णतः प्रबुद्ध है कि नट के रूप में उपस्थापित व्यक्ति वास्तविक राम नहीं हैं। दूसरी ओर मुकुट प्रतिशीर्षक आदि से युक्त विशिष्ट रंगोपकरण तथा मंचीय परिवेष में वह नट में निहित रामत्व का भी एकान्त निषेध नहीं कर पाता निषेध एवं स्वीकृति की दोनों चेतनाएँ उसके अन्तर में अनवरत सक्रिय रहती हैं और इस प्रकार सम्यक्, मिथ्या, संशय प्रतीतियों से भिन्न देशकालातीत अनुभूति सामाजिक के मन में निर्विशेष रूप में उद्भिन्न होती है। आशय यह है कि शंकुक का चिन्तन भी प्रमाता की भावभूमि में साधारणीकरण की ओर अग्रसर चेतना का निर्देश करता है।

'प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥

विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥'[3]

वस्तुतः विरुद्ध बुद्धियों की यह समन्विति अनुमान प्रक्रिया से भिन्न कल्पनाजन्य अनुभूति की ओर ही अधिक इंगित करती है। जैसाकि कॉलरिज का कथन है कि कल्पना में अद्भुत संश्लेषण-क्षमता होती है, जिसकी प्रमुख शक्ति विरोधी तथा विसंगत अनुभूतियों के संतुलन अथवा सामंजस्य में

---

१. नाट्यशास्त्र, भाग-१, पृ० २८५
२. पररूपं स्वरूपेण यया संव्रियते धिया।... (धर्मकीर्तिप्रमाणवार्तिक स्वार्थानुमानपरिच्छेद, पृ० १७०)
३. नाट्यशास्त्र (भाग-१) पृ० २७३

उन्मीलित होती है। यह अनुभूति पूर्वानुभूत वस्तुओं को नवीन चैतन्य से अनुरंजित कर परिचय भरी नवीनता का आह्लाद प्रदान करती है। इसका परिणाम वैविध्य में निहित एकत्व के पुनरनुसंधान के रूप में ही घटित होता है।[1] रिचर्ड्स ने कालरिज की इस अवधारणा से प्रेरणा ग्रहण कर विसंवादी अनुभूतियों को समन्वित करने की इस प्रक्रिया का अधिक मनोवैज्ञानिक स्तर पर विश्लेषण किया है।[2] इसकी विवेचना हमने अन्यत्र की है।

इस संदर्भ में शंकुक के चित्रतुरगन्याय के मनोवैज्ञानिक संदर्भ पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा। रसानुभूति में रंग-कौशल के चमत्कार, अनुकार्य तथा अनुकृति की समतुल्यता, रसबोध की कृत्रिम, किन्तु प्रतीकीकृत प्रक्रिया के अनेक सन्दर्भ समाहित हैं। इस संदर्भ को शंकुक ने अनुमान-प्रक्रिया के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस प्रक्रिया के तीन अंग है—अनुकार्य के भावों की अनुकर्ता में, अभिनयात्मक अनुकरण द्वारा अवतारणा, उस प्रतीति से सामाजिक में भाव की उत्पत्ति तथा सामाजिक में विभावादि की कृत्रिमता की निषेध एवं स्वीकृतिपरक अनुभूति। शंकुक का कथन है कि जिस प्रकार भित्ति पर हड़ताल आदि से निर्मित अश्व के चित्र में अश्व की प्रतीति (अवभास) होती है, उसी प्रकार अभिनय आदि सामग्री से अनुकर्ता में अनुकार्य के स्थायी भाव का अनमान अथवा अवभास होता है। ये आभास आस्वादपरक होने के कारण रस हैं। इस संदर्भ में मनोवैज्ञानिक तत्त्व यह है कि अश्वगत प्रतीति में प्रमाता की अनुभूति में एक विशेष क्रम लक्षित होता है। चित्रगत अश्व को प्रमाता अश्व के पूर्व ज्ञान के आधार पर ही अश्व के रूप में पहचानता है। चित्रगत अश्व क्रमशः अपनी वस्तु सत्ता के अतिरिक्त एक संज्ञानात्मक अस्तित्व को उद्भासित करता है, जो प्रमाता के चित्त में स्थित रसबोध की आह्लादपरक प्रक्रिया में तभी समंजित हो सकता है, जब अश्व के प्रयोजनातीत पूर्वज्ञान के आधार पर उसका पुनरनुसंधान किया जाए। यह अन संधान

---

१. बायोग्राफिया लिट्रेरिया (भाग-२) पृ० १२
प्रिंसिपल्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म (भारतीय संस्करण) पृ० १६१ से १६५

२. देखिए...प्रिंसिपल्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म (भारतीय संस्करण) पृ० १६१ से १६५

सामान्य और विशिष्ट के द्वन्द्वात्मक सामंजस्य का ही परिणाम है। उत्तररामचरितम् का एक समानान्तर संदर्भ भी इस तथ्य के स्पष्टीकरण में सहायक हो सकता है। अश्वमेघ के अश्व को लव के सहचारी सम्भ्रान्त वटु पूर्वाजित बोध के आधार पर प्रत्यभिज्ञान की भूमिका पर ग्रहण करते हैं। 'अश्व इति पशुसमाम्नाये सांग्रामिके च पठ्यते तद् ब्रूत कीदृश:' यह सामान्य के आधार पर विशिष्ट की प्रतीति से भिन्न प्रक्रिया नहीं है। एक स्तर पर विशिष्ट अश्व तथा दूसरे स्तर पर अश्व की सामान्य संचेतना परस्पर संवलित होकर अश्व के बोध में योग देती है। प्रत्ययात्मक स्तर पर यह साधारणीकरण की अनुमानप्रेरित प्रक्रिया है। जैसा कि राघवभट्ट ने स्पष्ट किया है कि विशेषणों का साधारणत्व यहाँ दोष न होकर बोध-प्रक्रिया का अंग ही है। **'एवं च वक्ष्यमाणविशेषणानां तत्साधारणत्वेऽपि न दोषः।'**[1] वस्तुत: यह पुनरुत्पादिका कल्पना के द्वारा प्रत्यय निर्माण है। वटुगण पूर्व ज्ञान के आधार पर विविध अश्वों में समान रूप से विद्यमान रहने वाले तत्त्वों की मानसिक अनुभूति के पुन: स्मरण के माध्यम से अश्वत्व का संज्ञानात्मक अनुभव प्राप्त करते हैं। इस संदर्भ में अनुमान की तार्किक प्रक्रिया से रस-बोध का संदर्भ विचारणीय है। शंकुक अश्वतुरग-न्याय की संकल्पना में केवल सामान्यीकरण की तार्किक प्रक्रिया पर ही विराम नहीं लेते। शंकुक के अभिमत को विकसित करते हुए महिमभट्ट ने काव्यानुभूति के लौकिक अनुमिति से पार्थक्य का विश्लेषण करते हुए कहा है कि रसानुभूति असाक्षात् रूप में ही उद्भिन्न होती है। यह एक प्रकार से प्रतीति परामर्श ही है, अर्थात् काव्य में जब प्रमाता कृत्रिम विभावादि से पात्र-विशेष की रति का अनुमान करता है, तो वह असद्भूत रति का परामर्श ही है। **'तदेव विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्य-लोकविषयतया च स्वरूपभेदे चावस्थिते सात्येकत्वासिद्धेर्यदा विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्येषु एव प्रतीतिरूपंपन्यते तदा तेषां तन्मात्रासारत्वात् प्रतीयमान इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यवृत्योपद्यन्त एव। तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम्।'**[1] इस असद्भूत अनुभूति में सामाजिक को तन्मय करने की असाधारण क्षमता कवि से उपस्थित होती है **प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति'**[2] शंकुक ने भी काव्यानुमिति तथा लौकिकानुमिति के अन्तर की स्पष्ट अभिज्ञता व्यक्त की है। महिम की अनुमिति-प्रक्रिया का विवेचन हमने अन्यत्र किया है यहाँ

अनुमान प्रक्रिया की पौर्वापर्य क्रम की प्रासंगिकता का संकेत देना अभीष्ट है। प्रमाता की चेतना में पात्र क्रमशः ही उन्मीलित होते हैं जैसा कि आधुनिक नाट्य-समीक्षा में गृहीत अवधारणा से प्रमाणित होता है कि प्रेक्षक जैसे-जेसे अनुकर्ता में अवतरित अनुकार्य का अनुसंधान करता जाता है, वैसे वैसे ही उसके विविध कोण प्रमाता की चेतना में अवतीर्ण होते जाते हैं। पात्र के इस अनेकमुखी व्यक्तित्व के क्रमिक अनुसंधान से ही नाटकीय तनाव की सृष्टि होती है तथा अनुसंधान का वृत्त प्रमाता की चेतना में पूर्ण होता है। शंकुक इसी तथ्य का पूर्वाभास देते हैं।

◆

---

१. व्यक्तिविवेक (चौखम्बा-१९६४) पृ० ७४

२. -वही- पृ० ७५

[३]

भट्टनायक की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

भट्टनायक (दशम शतक का प्रारम्भ) हृदयदर्पण

कवि की अनुभूति एवं कल्पना शब्दार्थमयी सृष्टि में रूपान्तरित हो कर जिस काव्य वस्तु में परिणत होती है, उसके मूल में कवि की विशेष भावदृष्टि निहित रहती है। प्रमाता भी अपनी अनन्य साधारण अनुभूति के माध्यम से कवि के विशिष्ट अनुभूति-परिवेश में संक्रमण करता है, अतः इन दोनों विशिष्ट अनुभूति-परिवेशों का संवाद किस प्रकार घटित होता है, काव्य-शास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है। लोल्लट तथा शंकुक अनुसंधान, आरोप अथवा अनुमिति के माध्यम से इस प्रश्न के सीमान्त तक अवश्य पहुँचे, किन्तु कवि की शब्दार्थमयी सृष्टि के साथ सहृदय के हृदय-संवाद की साधारणीमूलक व्याख्या भट्नायक ने ही प्रस्तुत की। साधारणीकरण की अवधारणा के उद्भावक भट्टनायक ही हैं। परगत, तटस्थमूलक प्रतीतियों तथा देवता आदि के अलौकिक कृत्यों में पूर्वपक्ष के स्तर पर साधारणीकरण के निषेध की संकल्पना प्रस्तुत कर वे प्रकारान्तर से किसी पूर्ववर्ती अवधारणा की ओर अवश्य इंगित करते हैं, जिसमें लौकिक अथवा एकान्त अलौकिक प्रतीतियों की साधारणीमूलक संभावनाओं को स्वीकार किया गया है। संभवतः उनका संकेत किसी विशिष्ट सैद्धान्तिक अवधारणा की ओर न हो कर काव्य-शास्त्र की व्यावहारिक विप्रतिपत्ति की ओर है। भट्टलोल्लट तथा शंकुक की अवधारणाओं में अभेदप्रतिपत्तिमूलक संकेत भी लक्ष्य हो सकते हैं। भट्टनायक द्वारा पूर्वपक्ष के स्तर पर प्रस्तुत तार्किक अन्विति

साधारणीकरण के पूर्वाभास के विविध संदर्भों को अवश्य आत्मसात् करती है।

भट्टनायक ध्वनिविरोधी किन्तु व्यापारवादी रस-चिन्तक हैं।[1] उनका अलंकारग्रन्थ हृदय-दर्पण या सहृदय-दर्पण स्वतन्त्र ग्रन्थ था या नाट्यशास्त्र की टीका के रूप में विनिर्मित हुआ था। यह तथ्य अब विवादास्पद है।[2] प्रकृत विषय से इस विवाद का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यह तथ्य अवश्य उल्लेखनीय है कि हृदय-दर्पण दीर्घकाल से दुर्लभ है तथा रसप्रदीपकार प्रभाकरभट्ट (१६वीं शताब्दी) के अनन्तर तो वह पूर्णत: अनुपलब्ध है।[3] व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट ने भी 'दर्पण' का अवलोकन किए बिना ही ध्वनि-ध्वंस का सम्पूर्ण श्रेय लेने की इच्छा व्यक्त की है।

'सहसा यशोऽभिसतुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम्॥[4]

टीकाकार जयरथ के अनुसार दर्पण से महिम का आशय स्पष्टत: हृदय-दर्पण से ही है। **'हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।'**[5] अभिनव ने लोचन में नायक का नामोल्लेखपूर्वक रस-व्यतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी खण्डन-मण्डन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि भट्नायक शब्द-व्यापारवादी चिन्तन के माध्यम से ही ध्वनिविरोध में प्रवृत्त हुए थे। यथा—**यदूचे भट्टनायकेन अंशत्वं न रूपता इति'**[6] अन्यत्र भी भट्टनायक की विविध अवधारणाओं का अभिनव ने खण्डनात्मक दृष्टि से उपयोग किया है 'यदि तु **'रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तद् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृदयहृदयदर्पण-मध्यास्ते;'**[7] **यत् तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिक-**

---

[1] भट्नायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्।
(अलङ्कारसर्वस्व, सं० रामचन्द्र द्विवेदी, पृ० १०)

[2] (द्र०) हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स (एक० के डे) पृ० ४२

[3] पी० वी० काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २८१

[4] व्यक्तिविवेक (सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी) (१/४) पृ० ५

[5] राजानकरुय्यक, व्यक्तिविवेक-व्याख्यानम् -वही- पृ० ५

[6] ध्वन्यालोक-लोचन (सं० जगन्नाथ पाठक) पृ० ५१

[7] -वही- पृ० ६९

पदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः ।[1] एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे-यावत्पूर्णा न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम् इयि ।[2] तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृदग्विदुः ।[3]...

उक्त संदर्भों से भट्टनायक तथा हृदयदर्पण की व्यापारमूलक रसवादी दृष्टि की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। शब्दार्थ के कलात्मक भावप्रवण प्रयोग के माध्यम से वे जिस अवधारणा तक पहुँचे हैं, उसमें शब्दार्थ के अन्तः-सम्बन्ध से उन्मीलित होने वाली द्वन्द्वात्मक चेतना की स्वीकृति अनिवार्य है। भट्नायक के परिवेश में भी यह द्वन्द्वचेतना क्षुद्रता तथा उदात्तता के दो ध्रुवान्तों के समीकरण के रूप में दृष्टिगोचर होती है, उनकी अवधारणा अंशतः इस परिवेश चेतना से अप्रभावित नहीं रही होगी।

परिवेश

भट्टनायक का स्थिति-काल अवन्तिवर्मा (८५६ से ८८३) के सभारत्न आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव (१० वीं शती का उतरार्द्ध) का मध्यवर्ती है। डा० कान्ति चन्द्र पाण्डेय के अनुसार इन्हें राजतरंगिणी में उल्लिखित शंकरवर्मा (८८३ से ९०० ई०) के समकालीन नायक से अभिन्न मानना अनुपयुक्त न होगा।[4] राजतरंगिणी के अनुसार राजा शंकरवर्मा ने पंचसत्र प्रदेश के अपने नाम पर बसाये शंकरपुर में सुगन्धेश शिव की प्रतिष्ठा कर[5] मन्दिर में सरस्वती के मन्दिर कल्प चतुर्विद्याविशारद नायक नामक ब्राह्मण को नियुक्त किया था। **'द्विजस्तयोर्नायकाख्यो गौरीशसुरसद्मनोः । चातुर्विद्यः कृतस्तेन वाग्देवीकुलमन्दिरम् ।'**[6] काणे के अनसार लोचनगत कटु व्यक्तिगत आक्षेपों से विदित होता है कि भट्टनायक ध्वन्यालोककार की अपेक्षा लोचनकार के अधिक निकटवर्ती थे। अतः इन्हें अभिनव का वृद्ध

---

१. -वही- पृ० ६७
२. -वही- पृ० ८८
३. -वही- पृ० ८९
४. डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय (अभिनवगुप्त (चौखम्भा-१९६३) पृ० २०१
५. राजतरंगिणी ५/१५६—५८ (काशी-१९६०) पृ० १३७
६. -वही- ५/१५९ पृ० -वही-

समसामयिक मानना चाहिए।[1] अतः राजतंरगिणी में उल्लिखित नायक भट्टनायक से अभिन्न नहीं है। भट्टनायक का समय ९३५ से ९८५ के बीच रहा होगा।

काल विवाद से हमारा सम्बन्ध भट्टनायक की अवधारणाओं के युगीन परिवेश की ओर इंगित करना है, अतः उनकी स्थिति की सीमा का स्पष्ट, अस्पष्ट अनुमान लगाना अप्रासंगिक न होगा। एस० के० डे० के अनुसार भट्टनायक ध्वनिकार के परवर्ती हैं तथा अभिनवगुप्त ही वे प्राचीनतम लेखक हैं, जिन्होंने भट्टनायक का नामोल्लेख किया है और उसके उद्धरण दिये हैं। अतएव संभवतः भट्टनायक नवीं शतो के अंतिम चरण और दसवीं शती के अन्तिम चरण के मध्यवर्ती काल में हुए हैं।[2] अस्तु, कश्मीर के इतिहास में नवम शती के उत्तरार्द्ध तथा दशम शती के पूर्वार्द्ध का राजनैतिक, सांस्कृतिक और नैतिक परिवेश उनकी सर्जनात्मक आकांक्षाओं को मूर्त करने तथा काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं को निर्मित करने की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यह काल ऐहिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न काल है। पराक्रम, आस्था, कृतज्ञता, सहिष्णुता, दान, भोग एवं निर्वेद का एक समुन्नत सांस्कृतिक बोध आगामी युग के ध्वंसोन्मुख परिवेश के पूर्व की भूमिका निर्मित करता है। यह काल एक व्यापक मूल्य-विघटन के पूर्व के बौद्धिक रागात्मक सामरस्य तथा उद्वेलन का स्पष्ट संकेत देता है।

अवन्तिवर्मा की मनोभूमिका का संकेत कल्हण ने इस प्रकार दिया है **विवेक्ता प्राप्तराज्यः स क्ष्माभृद्वीक्ष्य नृपश्रियम्। अविलुप्तस्मृतिर्धीमानन्तरेमेवमचिन्तयतन्॥ सेयं स्पृहां समुत्पाद्य दूषयत्युन्नतात्मनः। लक्ष्मीं कृत्वार्थिसात्कृत्स्नां कृतिनाऽवन्तिवर्मणा॥ विभूतिश्चामरच्छत्रमात्रशेषा व्यधीयत। परस्परमनुत्पन्नमन्युकालुष्यदूषणौ॥ न दृष्टौ न श्रुतौ वान्यौ तादृशौ राजमन्त्रिणौ।**[3] इत्यादि उल्लेख तत्कालीन समृद्धि एवं स्वस्थ चेतना का प्रमाण देते हैं, किन्तु शंकर वर्मा की उपलब्धियों की सार्थकता अपनी प्रज्ञा से

---

[1] हिस्ट्री औफ संस्कृत पोइटिक्स (१९६१) पृ० २२५

[2] संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग-१ पृ० ३८

[3] राजतरंगिणी (पंचमस्तरंगः) पृ० १२७ से १३१ तक

कवियों द्वारा दिग्विजय वर्णन की परम्परा को उज्जीवित कराने में है। अन्यथा उसका कौशल तो दूसरे नगरों के द्रव्य एवं कला कौशल से अपने नगर को अलंकृत कराने तथा व्यसनासक्ति से प्रजा को दरिद्र करने में लक्षित होता है। 'आधीयमानचित्तोऽभूत्प्रजापीडनपण्डितः' (५/१६५)। कल्हण ने तत्कालीन दारिद्र्य एवं अकाल का समानान्तर भीषण चित्र अंकित किया है- इत्येषा रूढभारोढिः प्रथमं तेन पातिता। दारिद्र्यदूती ग्रामाणां या त्रयोदशधा स्थिता।[1] आयासैः श्वासशेषैव प्राणवृत्तिः शरीरिणाम्।[2] निश्चय ही यह पूरा संदर्भ युगचेतना को दुहरे स्तर पर व्याख्यायित करता है। एक ओर व्याधि, दुर्भिक्ष और सामन्तीय प्रपीडन से त्रस्त तथा आवेगात्मक स्पन्दन से शून्य प्रजा है तो दूसरी ओर अर्थलोलुप समृद्ध सामन्त-वर्ग है जो अर्थ शोषण से निरन्तर सम्पन्न हो रहा है।

'एकतो व्याधिदुर्भिक्षप्रमुखा विपदोऽखिलाः ।
प्रजानामेकस्त्वैका लुब्धता वसुधापतेः ॥

भूभुजोऽभ्यस्तलोभस्य श्रीः कैश्चिन्नाभिनन्द्यते ।
अकालकुसुमस्येव फलसंभावनोज्झिता ॥'[3]

सम्पूर्ण काश्मीर सामन्तों का उपभोग्य बन गया तथा यही वर्ग युग की सर्जन चेतना का निर्माण और नियन्त्रण करने लगा।

साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका

वस्तु-जगत् की वास्तविक स्थितियाँ काव्य अथवा नाट्य के अवास्तविक (कल्पनात्मक) संदर्भों में रूपान्तरित होने के कारण अधिक व्यापक एवं वैविध्यमूलक अन्तर्दशाओं को प्रतिबिम्बित करती हैं, यह तथ्य लोल्लट एवं शंकुक ने अनुसंधान अथवा अनुमितिमूलक अनुक्रिया में ग्रहण किया किन्तु विभावों (पात्रों एवं स्थितियों) की वैयक्तिक एवं समष्टिमूलक मानवीय नियति का लोकोत्तर (साधारणीकृत) पक्ष पूर्णतः उद्भिन्न नहीं हो सका। लौकिक अनुभूति के क्रियामूलक अनुकरण को अधिक महत्त्व देने के कारण

---

१. -वही- ५/१७४ पृ० १३८
२. -वही- ५/१८४, पृ० १३९
३. -वही- ५/१८७-८८, पृ० १३९

उनके पूर्ववर्ती चिन्तकों के केन्द्रीय संवेदन में कल्पनात्मक पुनर्भावन का पक्ष अपेक्षाकृत गौण रह गया। अतः भट्टनायक नाट्यानुभूति की सार्थकता इस स्तर पर स्वीकार करते हैं कि नाट्य लौकिक यथार्थ के सांगोपांग अनुकरण की अपेक्षा निरर्थकता का बोध कराने वाली अविद्या कल्पित निःसार स्थितियों में ही जीवन के चरम (भाव) सत्य को उद्घाटित करता है। कल्पना द्वारा पुनरनुसंधानित होकर लौकिक स्थितियाँ अनेकानेक आयामों में पुनरुद्घाटित एवं संख्यातीत कल्पनात्मक संदर्भों में आलोकित प्रतिविम्वित होकर प्रमाताओं के हृदय को तन्मयीभवन की व्यापक भूमिका पर आरूढ़ करती है। कल्पनात्मक अनुसंधान में परिणत होकर यह अनुभूति असत्यमूलक प्रतीत नहीं होती अपितु पुनः पुनः भाव्यमान होकन उस चरम अनुभूति में पर्यवसित हो जाती है जो शान्त रस के समान सभी संवादी-विसंवादी अनुभूतियों को अन्तर्लीन कर लेती है।[1] यही स्थूलनामरूपात्मकता में निहित चरम भाव-सत्य का (सीता में कान्तात्व का) पुनरनुसंधान है।

भट्टनायक के चिन्तन के प्रमुख सूत्र यही हैं। अभिव्यंजनात्मक उपकरण (अथवा अभिनयन) काव्य एवं नाट्यानुभूति को 'अत्यक्तस्वावलम्वन'-स्वायत्तता प्रदान करते है। इस अर्थ में यह अनुभूति असत्य न रहकर (असत्यं कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्या भाति) पारमार्थिक हो जाती है। लौकिक अनुभूति जब पुनर्भावित होकर अलौकिकीकृत अनुभूति में परिणत होती है तो

---

[1] भट्टनायकस्तु 'ब्रह्मणा' परमात्मना 'यदुदाहृत' अविद्याविरचित-निस्सार-भेदग्रहे यदुदाहरणीकृतं तन्नाट्यम्। तद्वक्ष्यामि। यथा हि कल्पनामात्रसारं तत एवानवस्थितैकरूपं क्षणेन कल्पनाशतसहस्रसहं स्वप्नादिविलक्षणमपि सुष्ठुतरां हृदय-ग्रहनिदानं, अत्यक्तस्वावलम्बन-ब्रह्मकल्प-नटोपरचितं रामरावणादिचेष्टितमसत्यं कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्त्या भाति। तथा भासमानमपि च पुमर्थोपायतामेति। तथा तादृगेव विश्वमिदमसत्यनामरूप-प्रपंचात्मकम्, अथ च श्रवणमननादिवशेन परमपुमर्थप्रापकमिति लोकोत्तर-परमपुरुपार्थसूचनेन शान्तरसाक्षेपोऽयं भविष्यति—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्यादुतपद्यते रसः। इति तदनेन पारमार्थिकप्रयोजनमुक्तम् इति व्याख्यानं सहृदयदर्पणे पर्यग्रहीत्।

नाट्यशास्त्र, भाग १, अभिनवभारती, पृ० ५

सम्बन्धांश अर्थात् स्वगत-परगत प्रतीतियों के लौकिक अन्त:सूत्रों के विच्छिन्न हो जाने से उसमें साधारणीकृत अन्तश्चैतन्य का आविर्भाव होता है।

कवि, अनुकार्य अनुकर्ता तथा भोक्ता (सहृदय) के निजी सम्बन्धांश की निषेधमूलक भूमिका पर भट्टनायक के साधाणीकरण सिद्धान्त की भूमिका निर्मित हुई है। अभिनवभारती[1], ध्वन्यालोक-लोचन[2] एवं

---

[1] भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दु:खित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः। अनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता (सताऽपि युक्ता) प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदय:। व्यग्रतयाऽकाश (चानेक) रसत्वमथापि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगततत्वपरगतत्वादि च पूर्ववद्धि कल्प्यम्।,'

(-वही, पृ० २७६)

[2] 'ननूक्तं भट्टनायकेन—रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वात्मगतत्वेन रामादिचरितमयात् काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिके प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्, देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यादीना च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयु:। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद्दु:खित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृंगारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः

उनके पूर्ववर्ती चिन्तकों के केन्द्रीय संवेदन में कल्पनात्मक पुनर्भावन का पक्ष अपेक्षाकृत गौण रह गया। अतः भट्टनायक नाट्यानुभूति की सार्थकता इस स्तर पर स्वीकार करते हैं कि नाट्य लौकिक यथार्थ के सांगोपांग अनुकरण की अपेक्षा निरर्थकता का बोध कराने वाली अविद्या कल्पित निःसार स्थितियों में ही जीवन के चरम (भाव) सत्य को उद्घाटित करता है। कल्पना द्वारा पुनरनुसंधानित होकर लौकिक स्थितियाँ अनेकानेक आयामों में पुनरुद्घाटित एवं संख्यातीत कल्पनात्मक संदर्भों में आलोकित प्रतिबिम्बित होकर प्रमाताओं के हृदय को तन्मयीभवन की व्यापक भूमिका पर आरूढ़ करती है। कल्पनात्मक अनुसंधान में परिणत होकर यह अनुभूति असत्यमूलक प्रतीत नहीं होती अपितु पुनः पुनः भाव्यमान होकन उस चरम अनुभूति में पर्यवसित हो जाती है जो शान्त रस के समान सभी संवादी-विसंवादी अनुभूतियों को अन्तर्लीन कर लेती है।[1] यही स्थूलनामरूपात्मकता में निहित चरम भाव-सत्य का (सीता में कान्तात्व का) पुनरनुसंधान है।

भट्टनायक के चिन्तन के प्रमुख सूत्र यही हैं। अभिव्यंजनात्मक उपकरण (अथवा अभिनयन) काव्य एवं नाट्यानुभूति को 'अत्यक्तस्वावलम्बन'-स्वायत्तता प्रदान करते हैं। इस अर्थ में यह अनुभूति असत्य न रहकर (**असत्यं कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्त्या भाति**) पारमार्थिक हो जाती है। लौकिक अनुभूति जव पुनर्भावित होकर अलौकिकीकृत अनुभूति में परिणत होती है तो

---

[1] भट्टनायकस्तु 'ब्रह्मणा' परमात्मना 'यदुदाहृत' अविद्याविरचित-निस्सार-भेदग्रहे यदुदाहरणीकृतं तन्नाट्यम्। तद्वक्ष्यामि। यथा हि कल्पनामात्रसारं तत एवानवस्थितैकरूपं क्षणेन कल्पनाशतसहस्रसहं स्वप्नादिविलक्षणमपि सुष्ठुतरां हृदय-ग्रहनिदानं, अत्यक्तस्वावलम्बन-ब्रह्मकल्प-नटोपरचितं रामरावणादिचेष्टितमसत्यं कुतोऽप्यभूताद्भुतवृत्त्या भाति। तथा भासमानमपि च पुमर्थोपायतामेति। तथा तादृगेव विश्वमिदमसत्यनामरूप-प्रपंचात्मकम्, अथ च श्रवणमननादिवशेन परमपुमर्थप्रापकमिति लोकोत्तर-परमपुरुषार्थसूचनेन शान्तरसाक्षेपोऽयं भविष्यति—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्यादुतपद्यते रसः। इति तदनेन पारमार्थिकप्रयोजनमुक्तम् इति व्याख्यानं सहृदयदर्पणे पर्यग्रहीत्।

नाट्यशास्त्र, भाग १, अभिनवभारती, पृ० ५

सम्बन्धांश अर्थात् स्वगत-परगत प्रतीतियों के लौकिक अन्तःसूत्रों के विच्छिन्न हो जाने से उसमें साधारणीकृत अन्तश्चैतन्य का आविर्भाव होता है।

कवि, अनुकार्य अनुकर्ता तथा भोक्ता (सहृदय) के निजी सम्बन्धांश की निषेधमूलक भूमिका पर भट्टनायक के साधाणीकरण सिद्धान्त की भूमिका निर्मित हुई है। अभिनवभारती[1], ध्वन्यालोक-लोचन[2] एवं

---

[1] भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात् समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः। अनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता (सताऽपि युक्ता) प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयः। व्यग्रतयाऽकाश (चानेक) रसत्वमथापि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतत्वपरगतत्वादि च पूर्ववद्धि कल्प्यम्।,'

(- वही, पृ० २७६)

[2] 'ननूक्तं भट्टनायकेन—रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वात्मगतत्वेन रामादिचरितमयात् काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिके प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्, देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यादीना च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद्दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृंगारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः

काव्यप्रकाश[1] में व्याख्यायित इस निषेधमूलक अवधारणा में विविध सौंदर्य-तात्त्विक एवं नैतिक वर्जनाओं के मनोवैज्ञानिक सूत्र प्रमाता की लौकिक अन्तरंगता तथा निःसंग तटस्थता को अनेक कोणों पर रसानुभूति में बाधक प्रमाणित करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि लौकिक प्रत्यक्षपरक अनुभव को भाव्यमान (कल्पनात्मक) अनुभूति से अभिन्न मानने के कारण ही रसानुभूति में आत्मगतत्व अथवा ताटस्थ्य की आशंका उत्पन्न होती है। अतः भट्‌नायक ने लौकिक अनुभूति तथा काव्य की पुनर्भाव्यमान भूमिका के अन्तर को स्पष्ट करने के अनन्तर ही उसकी विधि-पक्षीय अवधारणा को उद्‌भावित करना प्रासंगिक समझा है। साधारणीकरण के निषेध विन्दुओं को उक्त उद्धरणों के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार आकलित किया जा सकता है।

रसानूभूति को एकान्त अनुकार्य केन्द्रित अथवा अनुकर्त्तृनिष्ठ मानने से सामाजिक रसानुभूति के वृत्त से बहिष्कृत हो जाता है।[2] परगत अनूभूति में वह समभागिता के स्तर पर सम्पृक्त नहीं हो सकता अधिकाधिक उसकी भूमिका एक तटस्थ द्रष्टा की हो सकती है। इसी प्रकार सामाजिक रस को यदि प्रत्यक्ष संवेदनात्मक स्तर पर आत्मानुभूति के समकक्ष ग्रहण करता है तो उसकी वौद्धृनिष्ठा खण्डित होती है,[3] फलतः करुण रस में अनुभूत दुःखात्मक

परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः। तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः।

(लोचन (बालप्रिया सहित), पृ० १८०-८२)

[1] न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्यप्रकाश (झलकीकर), पृ० ९०

[2] अत्र प्रत्यासन्नास्त्रयः नटो नायकः रामादिः सामाजिकश्चेति···तत्राद्यद्वयं गतत्वं निरस्यति···वस्तुतो रामगतया नटगतत्वेनानुमितयापि रत्या सामाजिकेऽसत्या तच्चमत्कारजननासंभवाच्च।

(- काव्यप्रकाश, बालबोधिनी, पृ० ९०-९१)

[3] (तु०) बोध्य निष्ठा यथा स्वं ते सुख दुःखादि हेतवः
वोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः

(- श्रीभगवद्‌भक्ति रसायन, ३/५, पृ० १७३)

व्यापार में लौकिक शोक के समान ही दुःख की अनुभूति होगी। स्वगत-प्रतीति प्रामाणिक भी नहीं है मौलिक अर्थात् ऐतिहासिक सीतादि चरित्र नाट्य-प्रयोग काल में उपस्थित नहीं है तथा पूर्व साक्षात्कार के अभाव में उनकी स्मृति भी संभव नहीं है। काव्य अथवा नाट्य के साक्षात्कार के समय प्रेयसी की संवेदनात्मक स्मृति का उद्बुद्ध होना भी अनिवार्य नहीं है। स्मृत्यारूढ़ प्रेयसी को मनश्चक्षुओं में विभावित कर एवं सीतादि का स्थानापन्न बनाकर अपना आलम्बन बनाना न संभव ही है और न काम्य ही। नटी में अध्यवसित होकर भी जगज्जननी सीता सामाजिक की रति का आलम्बन नहीं बन सकती, क्योंकि जब तक सीतादि पूज्य पात्रों में आराध्यत्व अथवा पूज्य बुद्धि का निषेध नहीं किया जाता तब तक न तो उन्हें सामान्य कान्ता-भाव से ग्रहण ही किया जा सकता और न उनके प्रति सामान्य रति-भाव ही उद्दीप्त हो सकता है।

अपनी ससीम भाव-परिधि में सामाजिक हनुमानादि के अलौकिक असाधारण कार्यों से साधारण्य स्थापित नहीं कर सकता। उत्साह एवं रत्यादि भावों से युक्त रामादि की स्मृति भी सामाजिक के लिए व्यावहारिक स्तर पर संभव नहीं है क्योंकि न तो अनिवार्यतः उनके अलौकिक कृत्यों में निहित उत्साहादि असाधारण भाव सामाजिक के पूर्वानुभूत भाव है और न उन असाधारण कार्यों के आलोकवलय में मंडित राम का ही उसने पूर्व साक्षात्कार किया है। उनके कार्यों के अर्थबोध या अनुमानपरक ज्ञान से भी मानस-साक्षात्कार जैसी रसात्मक अनुभूति नहीं हो सकती। आशय यह है कि अनुभव, स्मृति, शब्दार्थजन्य अनुमानादि परोक्ष साधनों पर आश्रित अनुभूति आस्वादनपरक नहीं होती।

प्रत्यक्षपरक अनुभूति में भी रसास्वाद की समाहित-मनस्कता का अभाव होता है। प्रेमी युगल की प्रत्यक्ष प्रणय-क्रीड़ा के साक्षात्कार से सामाजिक के हृदय में प्रकृत शृंगार रस के विरुद्ध लज्जा, जुगुप्सा, ईर्ष्या जैसे भावों का उद्रेक होता है। अभिव्यक्ति-पक्ष में भी सामाजिक की संस्कारावस्थित वासना के मात्रा भेद एवं तारतम्य के अनुरूप अनुभूति की विविध कोटियों की आशंका उत्पन्न होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि भट्टनायक ने लोल्लट, शंकुक अथवा आनन्दवर्द्धन की प्रतिपत्तियों को दृष्टि में रखकर ही साधारणीकरण की निषेधमूलक

पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा परोक्ष अभिव्यक्ति पर आश्रित उनकी अवधारणाओं में निहित कवि के अभिव्यंजनापरक वैशिष्ट्य एवं उसमें अध्यवसित सहृदय के स्वगत परगत भाव की मुक्ति की संभावना पर भट्टनायक ने विचार नहीं किया है। अनुसंधान एवं विरुद्ध बुद्धि-संभेद की अनुभूति सामाजिक में प्रत्यक्षाश्रित अथवा परोक्ष अनुमान-जन्य परोक्ष-ज्ञान से भिन्न चमत्कारात्मक अनुभूति (आस्वाद) को प्रेरित करती है—इस संभावना पर हम विचार कर चुके हैं। यहाँ प्रासंगिक यह है कि खण्डनात्मक पक्ष के अतिरिक्त भी भट्टनायक के इस अभिमत में कतिपय मूल्यवान् मनोवैज्ञानिक संकेत निहित है।

श्रोता अथका प्रेक्षक वास्तविक पात्र अथवा घटना का नहीं अपितु काव्य में अभिव्यंजित उनके कल्पनात्मक रूपान्तरण का ही पुनरनुसंधान करता है। काव्य की अवास्तविक भूमि में लौकिक कार्य-कारण के अनुषंग धूमिल पड़ जाते हैं। अतः सामाजिक की निजी मानसिकता के अप्रासंगिक हो जाने से प्रणय-चर्या के दृश्यों से साक्षात्कार से उद्भूत लज्जा, ईर्ष्या, जुगुप्सा की अनुभूतियाँ भी शमित हो जाती हैं।

नाट्यानुभूति के क्षण में सामाजिक के व्यक्तिगत-अनुभव तथा उसकी निजी स्मृतियाँ अप्रासंगिक अन्तराय उत्पन्न करती हैं। सामाजिक संस्कारावस्थित भावों के द्वारा काव्य अथवा नाट्य का आस्वाद अवश्य करता है, किन्तु इन संस्कारों का अनियंत्रित उद्बोध काव्यानुभूति की मूल प्रकृति को विकृत भी कर सकता है अतः स्वकान्ता स्मृति की प्रासंगिकता को यथावत् स्वीकार नहीं किया जा सकता है। रामादि की अनुभूति भी नाट्य-प्रयोग में अभिव्यक्त होकर प्रेक्षक को समभागिता के स्तर पर अन्तर्भूत करती है। अतः प्रेक्षक रामादि के किसी असाधारण कृत्य अथवा उनकी उत्साहादि युक्त स्मृति से नहीं अपितु उस प्रयोग में अभिव्यंजित साधारणीभूत बिम्ब से तादात्म्य करता है। विभावादि के साधारणीकृत होने की अवधारणा व्यक्ति वैशिष्ट्य के एकान्त तिरोधान की दिशा नहीं है। प्रयोग (अभिव्यंजना) में परिणत होकर रामादि सामाजिक के ममत्व एवं परत्व के संस्कारजन्य विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं। नियत संबन्धों से मुक्त साधारणीकृत विभावादि (साधारण्य) की भी भूमिका स्वगत-परगत प्रतीतियों के कलात्मक संतुलन से निर्मित होती है। बुलो ने मानसिक अन्तराल की अवधारणा के द्वारा प्रकारान्तर से साधारण्य की इस भूमिका पर विचार किया है।

अन्तराल की विरलता प्रमाता को को स्वगत-प्रतीति की ओर उन्मुख करती है, तद्विपरीत अति दूरी का परिणाम संवेग की शिथिलता, तटस्थता अथवा परगत प्रतीति है। वास्तविक रसानुभूति इन अतिरेक भूमियों की मध्यवर्तिनी दशा है जिसमें प्रमाता काव्यवस्तु को न तो प्रयोजनीयता से संस्कृत कर अपनी वैयक्तिक रागद्वेष अथवा योगक्षेम की अन्तःपरिधि में देखता है और न एकान्त भाव-शून्य होकर निःसंग दृष्टि से उसका प्रत्यवलोकन करता है।[1]

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि स्वगत-परगत प्रतीति के निषेध से प्रमाता की आश्रय के साथ तादात्म्य की संभावना निरस्त नहीं होती अपितु प्रमातृगत मानसिक अन्तराल की क्षीणता प्रमाणित होती है। भावावेग से अभिभूत प्रमाता की संविद् काव्य के भाव-सत्य में अन्तःप्रवेश नहीं कर पाती।[2] नायक एवं सामाजिक की चित्तवृत्तियों में अभेद अथवा तादात्म्य को अभिनव भी स्वीकार करते हैं किन्तु इसमें अतिरिक्त भावप्रवणताजन्य रागद्वेष की स्वीकृति नहीं है।[3]

---

१. If We are underdistanced we shall be too subjective and practical ; if we are over distanced we shall be too cold and withdrawn.

—Malvin Rader (Art and Human Values, p. 57, Prentice Hall. 1976)

२. Again and again we are told to think and worry about the prevalence and dangers of inappropriate responses about the naive playgoer who rushes on stage to strangle Iago, about the reader who likes or dislikes a character or portrait because the character reminds him of his Aunt Salley.

—With respect to reader, P. 38

३. अत एव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती तादात्म्यादेव।

(- नाट्यशास्त्र, भाग १, अभिनव भारती, पृ० २७६)

भट्टनायक की साधारणीकरण विषयक अवधारणा परम्पराप्राप्त अवधारणाओं की निषेधमूलक अपेक्षाओं के पूरक रूप में ही अपना मौलिक स्वरूप ग्रहण करती है। पूर्ववर्ती अवधारणाओं को स्वीकार करने से भट्टनायक के अनुसार रामादि की भावात्मक सत्ता को या तो सामाजिक से असम्बद्ध मानना पड़ता या सामाजिक के अनुभव-स्मृति आदि को ही रसानुभूति का प्रेरक कारण मानकर सामाजिकगतत्वेन रस की प्रतीति स्वीकार करनी पड़ती। स्पष्टतः इन दोनों अतिवादों का निराकरण नाट्यानुभूति को अनुभव, स्मृति आदि से विलक्षण भाव्यमान स्तर पर संवेद्य मानने से ही संभव है।[1]

निश्चय ही स्वगत-प्रतीति के निषेध को निविड-निज-मोह-संकटकारिता के समानान्तर व्याख्यायित कर भट्टनायक ने नाट्यानुभव अथवा काव्यानुभूति में सामाजिक की रागद्वेषमूलक भावप्रवणता अथवा व्यक्तिपरकता को नियंत्रित करने की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की ओर इंगित किया है। निजसंविद्विश्रान्ति की भूमिका प्रमाता की स्वगत प्रतीति को समाहित-मनस्कता (व्यग्रता के अभाव) में परिणत कर देती है। पाश्चात्य समीक्षक भी सामाजिक की आत्मानुभूति को उस अर्थ में अग्राह्य मानते हैं जिसमें वह रसानुभूति में व्याघात उपस्थित करता है।[2] अन्यथा आत्मगतत्व का एकान्त निषेध नहीं किया जा सकता। समस्या का उद्भव प्रमाता के अन्तश्चैतन्य की इस संपृक्ति एवं निःसंगता की द्वैत भूमि पर होता है।

सामाजिक की अनुभवात्मक प्रतीति की अस्वीकृति का अर्थ साधारणीकरण के विस्तार को सीमित करना नहीं है। राम के सेतुबन्ध या हनुमान के समुद्रलंघन जैसे असाधारण कृत्यों में साधारणीकरण का अवकाश तब नगण्य रह जाता है जब प्रमाता के सीमित अनुभव अथवा स्मृतिमूलक संस्कार को ही काव्यानुभूति के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया जाता है। वस्तुतः

---

२. भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो अनुभव स्मृत्यादि विलक्षणेन।

(- वही, पृ॰ २७७)

२. Until the subjective, personal and emotional are seen as inevitable and essential parts of reading and not as intrusions and fallacies the problem cannot even be recognized.

—W.J. Slatoff (With Respect to readers, P. 38)

देवतादि के श्रांगारिक अथवा असाधारण लोकोत्तर (अलोकसामान्य) कृत्यों एवं सीता, पार्वती जैसे आराध्य पात्रों की प्रणयचर्या के वर्णन को प्रमातृगत स्तर पर संवेद्य स्वीकार करने में ही साधारणीकरण की प्रासंगिकता विशेष रूप से प्रमाणित होती है।

भाव्यमान होकर वे मानवीय नियति से अपना सम्बन्ध जोड़ते तथा उसे अधिक गहन स्तर पर परिभाषित करते हैं। भट्नायक ने विभावादि के साधारणीकरण को इसी भाव्यमानता (भाव सत्य में रूपान्तरण) के आधार पर भावकत्व व्यापार की आत्मा उद्घोषित किया है। इन संदर्भों का विवेचन साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका की स्पष्ट व्याख्या में सहायक होगा।

साधारणीकरण का विधि-पक्ष

काव्य-प्रयुक्त शब्दों की रागप्रवण कलात्मक अभिव्यंजना में परिणति, तज्जन्य अनुभूति के कल्पनात्मक संस्कार, परिणामतः अनुभव एवं लौकिक स्मृति से भिन्न स्तर पर वस्तु एवं पात्र के भावात्मक रूपान्तरण भट्नायक की विवेचन प्रक्रिया के प्रमुख बिन्दु हैं। सहृदय की चेतना की बाह्य एवं आभ्यन्तर वस्तु—व्यक्ति संसर्गों-से मुक्ति एवं पुनः आत्मसाक्षात्कार के स्तर पर काव्योपकरणों के निर्विशेषीकृत भोग के विविध संदर्भ साधारणीकरण के विधि-पक्ष की आन्तरिक संरचना में योग देते हैं। वस्तुतः स्वगत-प्रतीति इत्यादि के निषेध के अनन्तर इन संदर्भों की उद्भावना अप्रत्याशित नहीं रह जाती। भट्टनायक ने अत्यन्त सूक्ष्म कौशल से काव्यानुभूति के निषेध पक्षीय लौकिक वस्तुनिष्ठ संदर्भों को ही अनुचिन्तनात्मक (कल्पना) व्यापार में परिणत कर आत्मपरक बना दिया है। अभिनवभारती[1] तथा

---

[1] तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यवलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

(- नाट्यशास्त्रम्, भाग १, अभिनवभारती, पृ० २७६)

लोचन[1] में प्रस्तुत अवधारणाओं के विश्लेषण से उपर्युक्त तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है। इस अनुक्रम में उन्होंने स्वगत प्रतीति की निषेधमूलक भूमिका के स्थान पर निज संविद्विश्रान्ति की अवधारणा प्रस्तुत की है। इसी प्रकार सीतादि के अविभावत्व एवं देवतादि के साधारणीकरण की अयोग्यता के समानान्तर विभावादि की भाव्यमानता (साधारणीकरण) की संकल्पना है जो विभावों के मूल में निहित लौकिक सम्बन्धों के अतिक्रमण की स्वाभाविक-शक्ति को काव्यानुभूति के केन्द्र में प्रतिष्ठित करती हैं। स्पष्टतः **'सामाजिक प्रत्यविभात्वात्'** के मूल में विभावों की लौकिक स्थिति की प्राक्कल्पित अवधारणा का प्रत्याख्यान है। परवर्ती चिन्तन में यह संदर्भ अधिकाधिक स्पष्ट होता गया है।[2] भर्तृहरि के साक्ष्य पर विश्वनाथ का कथन है कि शब्दों में उपस्थापित होते ही लौकिक कारणों में एक लोकोत्तर चेतना आविर्भूत होती है जिससे वर्णित पात्र एवं स्थितियाँ प्रत्यक्षायमाण हो उठती हैं।[2]

---

१. तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्वं सहृदयविषयमिति त्रयोऽंशभूता व्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात् तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः? वृत्तिभेदवैचिश्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः, यद्वशादभिधा विलक्षणेव। तच्चैतद् भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः।

(- लोचन, पृ० १८२-१८३)

२. ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः विभाव्यन्ते आस्वादङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते। - तदुक्तं भर्तृहरिणा

३. 'शब्दोपहितरूपांस्तान्बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥'

(- साहित्यदर्पण (विमला), पृ ६४)

इसी क्रम में शब्दानुमान के स्थान पर काव्य में वे दोषाभावगुणालंकार युक्त शब्दव्यापार की प्रतिष्ठा करते हैं। स्वकान्तास्मृति के असंवेदन तथा रत्यादि युक्त रामादि विभावों की स्मृति की अयुक्तता के समानान्तर वे अनुभव स्मृत्यादि-विलक्षण काव्यानुभूति की आत्मसाक्षात्कारात्मक प्रकृति को परिभाषित कर साधारणीकरण के विधि पक्ष का स्थापत्य निर्मित करते हैं। इस चिन्तन के क्रम में ही उन्होंने प्रत्यक्ष लौकिक अनुभूति से भिन्न कालानुभूति की मूल प्रकृति का उद्घाटन किया है। कवि की अनुभूति लोकोन्मुखी किन्तु अनन्यसाधारणविशिष्ट होती है किन्तु कलात्मक अभिव्यंजना में पुनर्भावित होकर अपनी मूल प्रकृति को अतिक्रमित करती हुई विशेप की अनुवंधी नहीं रहती। पुनर्भाव्यमान होकर तथा लोकसामान्य निर्दिष्ट रूढ़ स्थिति को खण्डित कर संख्यातीत रूपों में जीवन-संदर्भों को परिभाषित करती हुई वह प्रमाता की चेतना के व्यापकतर स्तरों को समाहित करती है। यही कवि, अनुकार्य, अनुकर्ता (अभिव्यंजना) एवं भोक्ता की विशिष्ट चेतना में निर्विशेष का उद्भावन हैं। सहृदय के रूढ़ अनुभव एवं स्मृतिखण्ड इस अन्तर्भावन में पुनर्व्याख्यायित होते हैं। राम के असाधारण ऐतिहासिक कृत्य सहृदय के लिए अदृष्ट अथवा अनुपलब्ध हैं किन्तु स्थूल इतिवृत्त में निहित भाव-सत्य उसका चिर अनुभूत सत्य है। उनमें निहित मानवीय औदात्य के आद्य बिम्बों का वह भावात्मक स्तर पर पुनरनुसंधान करता है। यही अनुभव-स्मृति की अतिक्रान्त चेतना है जो पर ब्रह्म की अभिकल्पना के समान निःसार अविद्या-कल्पित जीवनानुभवों को संगति एवं औचित्य प्रदान करती है।

पुनर्व्याख्या के स्तर पर आधुनिक संदर्भ से परब्रह्मास्वाद की अभिकल्पना जहाँ काव्यवस्तु में सहृदय की तन्मयता की व्यंजना करती है वहाँ निःसार प्रतीत होने वाले जीवन-संदर्भों में निहित आभ्यन्तर सत्य (औचित्य) के पुनरनुसंधान की संभावना भी व्यक्त करती है। भट्टनायक ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है।[1]

प्रकारान्तर से यह अभिकल्पना प्रमाता की द्वैधी चेतना को भी स्वीकृति देती है जिसमें कवि अथवा सहृदय काव्य-वस्तु में अन्तर्लीन रहता हुआ भी

---

[1] नाट्यशास्त्र, भाग १, अभिनवभारती, पृ० ५

उस तादात्म्यानुभूति का निरपेक्ष द्रष्टा की भूमि से पर्यालोचन करता है।[1]

सहृदय की प्रातिभ चेतना भाषा (सृष्टि) के माध्यम से अभिव्यंजित एवं संवेद्य कवि कल्पना के अनन्तवैचित्र्य को चेतना के विविध स्तरों पर समाहित करती हुई उसमें निहित मौलिक एकरूप चैतन्य का ही पुनरनुसंधान करती है। यह तथ्य भी ब्रह्मास्वाद की परिकल्पना के समानान्तर आधुनिक परिवर्तित चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया गया है।

काव्य में अनुभूत जीवन-सत्य अपने वैशिष्ट्य से संवलित होकर ही अभिव्यक्त होता है। आनन्दवर्द्धन ने स्पष्टतः एकान्तसामान्यता का निषेध करते हुए कवि के वैशिष्ट्य को स्वीकृति दी है। वैशिष्ट्य में निहित साधारणीभूत चैतन्य की प्रक्रिया व्यापारमूलक है। अभिधा-शक्ति की प्रकृति ही ऐसी है कि चेतन अथवा अचेतन रूप वाच्यार्थ वैयक्तिक वैशिष्ट्य के कारण अनन्त होते हैं। स्थान एवं देश अथवा काल इस अनन्त वैचित्र्य के नियामक नहीं हैं।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि कविकल्पना रूढ़, सुनिर्दिष्ट बिम्बों की समानता को खण्डित करके ही उन्हें निर्विशेषत्व प्रदान करती है। काव्य में प्रतिभासित वाच्यार्थ में कवि के व्यक्ति-वैशिष्ट्य को उन्मीलित करने वाली साधारणीभूत शक्ति निहित है। आनन्दवर्द्धन के इस विवेचन में भट्टनायक के चिन्तन की पृष्ठभूमि निहित है। उनके वाच्य, प्रतिभासन तथा ग्राह्य वैशिष्ट्य के त्रिक को[2] अभिधा भावना एवं भोजकत्व के समानान्तर देखा जा सकता है।

---

[1] C.F. We can share the experience of a Gulliver, say, feel that experience, and at the same time view him with detachment and view with detachment the part of ourselves that is identifying.

W.J. Slatiff (With Respect to Readers,)

[2] उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम् वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः। वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते।

(- ध्वन्यालोकः, पृ० ३५६)

भट्टनायक के काव्य-व्यापार का प्रस्थान बिन्दु अभिधा व्यापार है। अभिधा व्यापार (शब्दार्थ तथा अलंकार के भावप्रेरित संयोग) से उपस्थापित काव्यार्थ, भावना व्यापार से भावित होकर भोगीकरण व्यापार से सिद्धियुक्त पुरुषों के द्वारा साक्षात्कृत किया जाता है।[1] साधारणीकरण भावना-व्यापार के अन्तर्गत आता है जिसका माध्यम निर्देशपरक संदर्भों को अतिक्रमित करने वाली काव्यगत अभिधा है।

अभिधा

अभिधा, भावना एवं भोगीकरण के त्रिक का सापेक्ष महत्त्व स्पष्ट करने के लिए उनके अन्तःसंबन्ध के वृत्त में तीनों पर पृथक् विचार करना वस्तु-सत्य के अन्वेषण की दृष्टि से आवश्यक है। टीकाकारों एवं समीक्षकों ने भावना एवं भोगीकरण से सापेक्ष एवं निरपेक्ष अभिधा के विषय में जो अभिमत व्यक्त किये हैं, उनके तुलनात्मक अध्ययन से उक्त व्यापारों की स्वरूप एवं प्रक्रिया अधिक स्पष्ट हो सकती है। इस संदर्भ में अभिनवभारती लोचन तथा काव्य-प्रकाश की विविध टीकाओं के प्रासंगिक अंशों का आकलन एवं पर्यालोचन अपेक्षित है। अभिनवभारती के तत्सम्बन्धी केन्द्रीय वाक्य **'अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः'**···के विभिन्न अनुवाद इस प्रकार हैं :—

अभिधा के अतिरिक्त शब्द-शक्ति के द्वितीय अंश व्यापार भावकत्व व्यापार से भाव्यमान रस भोग नामक व्यापार से भोगा जाता है। (डा० दशरथ द्विवेदी, पृ० २४)[2]। अभिधा के बाद द्वितीय अंश पर होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान (आचार्य विश्वेश्वर)[3]। अभिधा के

---

१. अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती सतः॥
भावना भाव्य एषोऽपि शृंगारादिगणो हि यत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥
- नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २६

२. अभिनव रससिद्धान्त (वाराणसी-१९७३), पृ० २४

३. हिन्दी अभिनवभारती (दिल्ली विश्वविद्यालय-१९७३), पृ० ४६४

समान दिशा वाला अद्वितीय शास्त्रान्तर में नहीं होने से अपूर्व (एवं हि अद्वितीयेन शास्त्रान्तरेषु तदभावात् अपूर्वेण अभिधातः अभिधासमानपथिकेन अभिधैकदिशा भावकत्वव्यापारेण। अभिधैकदिक्त्वं च समानव्यापृतिकर्तृत्वम्। अभिधा यथा शब्दार्थोपस्थापने व्यापृणोति तथायं व्यापारोऽपि अभिनेयानभिनेयार्थानामर्थानां साधारणीकरणे व्यापृणोति।[1] विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा शक्ति के पश्चात् द्वितीय अंश पर होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान (बाबूराम शुक्ल)[2]। Ras is revealed (bhavyamana) by a special power assumed by words in poetry and drama, the power of revelation (bhavana)-to be distinguished from power of denotation (abhidha)- consisting of the action of generalizing the determinations, etc.[3]

डा० शुक्ल, द्विवेदी एवं नौली के अनुवाद का आशय यह है कि 'अभिधा' के द्वारा भाषा की उस निर्देशपरक बोध-शक्ति की ओर इंगित किया गया है जो काव्य-भाषा से भिन्न निर्देशक-निर्देश्य-सम्वन्धों से अनुशासित है। भट्टनायक काव्य-भाषा के रागात्मक अनुभव-संसार की भाषिक प्रक्रिया के प्रथम स्तर से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए अभिधा को पूर्वपक्ष के स्तर पर प्रस्तुत करते हैं। काव्य का केन्द्रीय तथ्य अभिधा से भिन्न भावना का विषय है। इस संदर्भ में अभिधा काव्यानुभूति के अन्तर्वृत्त से वहिष्कृत भावना सिद्धि का माध्यम मात्र है। आचार्य विश्वेश्वर अभिधा को काव्यार्थ के उपस्थित करने का प्रथम सोपान मानकर उसे काव्यानुभूति की परिधि में रखते हैं तो मधुसूदन शास्त्री उसे साधारणीकरण (भाव्यमान अर्थ) की दिशा में अग्रसर अपूर्व अभिधा अथवा भावकत्व व्यापार की समानधर्मा मान कर साधारणीकरण के केन्द्र में ही प्रतिष्ठित करते हैं। इन तीनों की मध्यवर्ती स्थिति यह है कि भावना तथा भावकत्व से उद्दीप्त प्रत्युद्दीप्त होकर अभिधा गुणात्मक स्तर पर अपने मूल स्वरूप से भिन्न अथवा परिवर्तित हो जाती है। अर्थात् काव्य की अभिधा-शक्ति शास्त्रादि में प्रयुक्त अभिधाशक्ति जैसी शुद्ध नहीं होती, उसमें भावना एवं भोगीकरण इन दो वृत्तियों का सम्मिश्रण

---

[1] नाट्यशास्त्रम् (हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी-१९७१), पृ० ६४४

[2] हिन्दी नाट्य-शास्त्र, भाग-१ (चौखम्बा-१९७२), पृ० २४८

[3] R. Gnoli : The Aesthetic Experience, Etc. P. 45

होता है । यह अभिधा का धरातल है, जिसमें शास्त्रभिन्न काव्यात्मक शब्द की बोध शक्ति के वैशिष्ट्य को स्वीकार किया गया है ।[1]

काव्यभाषा के निकष पर काव्यात्मक शब्द की त्र्यंशरूपता निर्धारित की गई है, जिसमें अभिधा में भावकत्व एवं भोजकत्व का अनिवार्य संसर्ग रहता है । इसी कारण अभिधा विलक्षण प्रतीत होती है । यद्वशादभिधा विलक्षणेव । तन्त्र और शास्त्रों में भी अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु काव्य में श्लेष पर आधृत अनेकार्थी शब्दों में विशिष्ट रागात्मक एवं कल्पनात्मक अनुषंग संयुक्त रहते हैं, अतः काव्य की अभिधा अलंकृत शब्दार्थपरक होती है । एम्पसन ने भाषा की अनेकार्थी प्रवृत्ति की काव्यगत संभावनाओं की अनेकरूपताओं का उल्लेख किया है । अभिधा तथा काव्य-भाषा के इस अन्तःसम्वन्ध के विवेचन से पूर्व काव्य-प्रकाश के विभिन्न टीकाकारों की इस-संदर्भ में अभिधा विषयक अवधारणाओं पर दृष्टि डाल लेना भी अप्रासंगिक न होगा ।

> तन्मते हि वाच्यविषयाऽभिधा व्यापारान्तरभावीरसादिविषयो भावकत्वनाम व्यापारः स्वीकृतोऽस्ति'''यदि ह्यभिधा व्यापारान्तरभावी भावकत्वव्यापारो नांगीक्रियते तदा शास्त्रेभ्यःकाव्यनाट्ययोः किमन्तरं स्यात् (माणिक्यचन्द्र-संकेतः)[2]
>
> अभिधात इत्येनेन लक्षणात् इत्यपि बोध्यम् अभिधाविलक्षणैव रस प्रतीतिः (चण्डीदासदीपिका)[3]
>
> अभिधातो द्वितीयनेति तसिला भावकत्वव्यापारस्याभिधानन्तर-भावित्वं द्योतितम् (श्रीविद्याचक्रवर्त्तिन्-सम्प्रदायप्रकाशिनी) ।[4]
>
> एवं विरतायामभिधायां भावकत्वव्यापारस्याविर्भावः (विवरण)[5]
>
> अभिधालक्षणाद्द्वयभिन्नेन भावकत्वाख्यव्यापारेण (काव्यदर्पण)[6]

---

[1] ध्वन्यालोक लोचन (बालप्रिया सहित) चौखम्बा-सं० १९९७ पृ० १८२

[2] काव्यप्रकाश संकेत पृ० ७३

[3] दीपिका पृ० १०४

[4] सम्प्रदायप्रकाशिनी, पृ० ६८

[5] विवरण पृ० १२७

[6] काव्यदर्पण, पृ० १४६

अभिधानं कर्तृवाक्यसम्भूतशब्दार्थालङ्कारादिविषयं, भावकत्वं… अभिधातः अभिधानकर्तृत्वव्यापारात् (बालचित्तानुरंजनी)[१]

अभिधात इत्युपलक्षणम् । लक्षणात इत्यपि बोध्यम् (सारबोधनी)[२]

द्वितीयेनेत्युपलक्षणं तेन यस्य मते एक एवाभिधाव्यापारस्तन्मते द्वितीयेन यस्य द्वौ तन्मते तृतीयेन (काव्यप्रकाशदर्पण)[३]

शास्त्रादिस्वभिधैवेत्यस्तु नाम काव्यनाट्येषु भावकत्वं भोगकृत्त्वं च वैशेषिकम् (साहित्यचूडामणि) ।[४]

शब्दभावनाऽपरनाम्नी यागादौपवर्तिका द्वितीया तज्जातीयाऽपराविभावादिनिष्ठा रसभावजननी (काव्यप्रकाशविस्तारिका) ।[५]

शब्दात्मनः काव्यस्य त्रयो व्यापाराः—अभिधा, भावकत्वम्, भोजकत्वं, च । तत्राभिधा निरन्तरसान्तरार्थनिष्ठत्वेन द्विधा…एवं च काव्ये नाट्ये द्वितीयव्यापारेण (काव्यप्रदीपः) ।[६]

मुख्यार्थबाधानवतारेऽपि तथोपस्थितिर्न लक्षणयागतार्थत्वम् ।
(प्रभा)[७]

द्वितीयेन अन्येन-शब्दस्याभिधाव्यापार तत् काव्यनाट्ययोः तद्विलक्षणं भावकत्वभोजकत्वनामकं व्यापारद्वयमतिरिक्तमस्ति काव्यार्थबोधोत्तरमेव तत्राद्येन भावकत्वव्यापारेण (बालबोधिनी) ।[८]

उपर्युक्त व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि अभिधा को, सम्प्रेषण की प्रथम क्रिया को निष्पन्न करने वाली शब्द शक्ति के स्तर पर व्याख्यायित करने

---

१. बालचित्तानुरंजनी, पृ० ६८
२. सारबोधिनी, पृ० ६८
३. काव्यप्रकाशदर्पण, पृ ६९
४. काव्यप्रकाश-साहित्य चूड़ामणि, पृ० १११
५. काव्यप्रकाश विस्तारिका पृ० ९७
६. काव्य-प्रदीपः, पृ० ६६
७. प्रभा टीका, पृ० ६६
८. बालबोधिनी, पृ० ९१

वाली अवधारणाएँ अपेक्षाकृत कम हैं। अधिकांश व्याख्याएँ भावकत्व नामक परवर्ती व्यापार वैशिष्ट्य को अभिधा-लक्षणा व्यापार से भिन्न स्तर पर प्रमाणित करती हैं। किन्तु, यह व्याख्या काव्य के रागात्मक सदर्भ में ही है। अभिधा के द्वारा काव्यार्थ के सम्प्रेषण की उस प्रक्रिया की ओर ही प्राय: संकेत किया गया है, जिस में अलंकृत शब्दार्थ अभिधेय होकर भावना से भावित होते हैं। अन्यत्र शिंगभूपाल ने भावना व्यापार को अभिधा व्यापार का ही पर्याय कहा है।[1] कर्णभूषणकार के अनुसार अभिधात्मक एवं भावकत्व दोनों व्यापार संयुक्त होकर विभावादि का साधारणीकरण करते हैं। रस-चन्द्रिकाकार के अनुसार काव्य का कार्य अभिधा के द्वारा पदार्थोपस्थिति से सम्पन्न होता है।[2] नाट्य में यह कार्य अभिनय का है। वस्तुत: अभिधा-व्यापार का उल्लेख केवल भावकत्व अथवा भोगीकृति से भिन्नता दिखाने के लिए ही नहीं किया गया है, काव्य के विशिष्ट परिवेश को मूर्त्त करना भी यहाँ अभीष्ट है। भावकत्व व्यापार केवल शब्दों से निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि अर्थ के परिज्ञान के अभाव में यह सम्भव नहीं है। अर्थ-मात्र से भी इसकी निष्पत्ति नहीं होती, क्योंकि इस स्थिति में वह शब्दान्तर से भी द्योतित हो सकता है। शब्द अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध ही सम्प्रेषण की प्राथमिक क्रिया को पूर्ण करता है। भावकत्व और भोजकत्व व्यापार में शब्द और अर्थ क्रमश: गौण होते जाते हैं तथा उनके अन्त:संबंध से युक्त, किन्तु किंचित् भिन्न संवेदना उभरने लगती है। अभिनव का यही अभिमत है।

उक्त अभिमतों से यह स्पष्ट है कि काव्यार्थ के सम्प्रेषण में प्राथमिक क्रिया अभिधा द्वारा निष्पन्न होती है, किन्तु काव्य की अभिधा वाच्यार्थ की उपस्थिति मात्र का साधन नहीं है। इसमें अलंकार और गुण की संस्कृति के द्वारा भावनोपनीत रागात्मकता का भी संस्पर्श रहता है। रिचर्ड्स ने काव्यभाषा के रागात्मक व्यापार का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि सर्वप्रथम श्रोता के अवधान केन्द्र में वस्तु-स्थिति का बोध उभरता है।

---

[1] अभिधापर्यायेण साधारणीकरणात्मना भावनाव्यापारेण।
(रसार्णवसुधाकर: पृ० १०४)

[2] काव्येऽभिधया पदार्थोपस्थिति: नाट्येऽभिनयेनेति विशेष:।
(रसचन्द्रिका पृ० ४५)

क्रमशः उस बोध के प्रति चिन्तन तथा कल्पना उद्दीप्त होती है। तथ्यों तथा भावों के साथ केन्द्रीय अभिप्रवृत्तियाँ संयुक्त होती हैं तथा नयी अभिवृत्तियां जागृत होती हैं। श्रोता तक पहुँचते पहुँचते उनमें भावनाओं तथा एषणाओं का समावेश हो जाता है। विषय के अनन्तर वक्ता की अभिप्रवृति श्रोता अथवा पाठक की ओर उन्मुख होती है। आशय यह है कि चेतन अथवा अचेतन स्तर पर कवि पाठकीय प्रतिक्रिया के प्रति जागरूक अवश्य होता है। वह जिस अर्थ को सम्प्रेषित करता है, उसका प्रभाव, उसकी समस्त सम्प्रेषण-प्रक्रिया तथा शब्द-चयन पर पड़ता है। यह वात भिन्न है कि वक्तव्य के रूप में न रह कर कवि का उद्देश्य बहुत कुछ परोक्ष रहता है तथा सम्पूर्ण संरचना के माध्यम से ऐसे प्रासंगिक तत्त्व की ओर इंगित करता है जो अपने मौलिक अस्तित्व का अतिक्रमण सा प्रतीत होता है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि काव्य में विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी के संयोग की जिस स्थिति को रसानुभूति के स्तर पर परिभाषित किया गया है, उसमें विभाव मूलतः वस्तु-शृंखला और घटना व्यापार के अन्दर ही सक्रिय होते हैं। इनका अनुभावन ही विविध संवादी और विसंवादी अनुभूतियों से संवलित हो कर रसास्वाद की कोटि में पहुँचता है। अतः सर्वप्रथम विभावों की उपस्थिति का परिज्ञान आवश्यक है। लोक में भावों के उद्दीपक कारण स्वतः उपस्थित होते हैं तथा प्रीतिकर एवं विशेपकर मिश्रित अनुभूतियों को जागृत करते हैं। काव्य में विभाव शब्द से ही उपस्थित होते हैं। शब्द से उपहित होने के कारण विभावों का ताटस्थ्य और आत्मतत्व लुप्त हो जाता है। शब्द मानव मात्र की सम्पत्ति हैं[1], मानसिक अन्तराल के द्वारा लौकिक अनुभूतियों की उद्वेजक प्रकृति को समाप्त कर उन्हें तरल तथा आह्लादजनक बनाते हैं। अतः भट्टनायक काव्यार्थ की उपस्थिति में अभिधा को प्रथम स्थान देते हैं। काव्य में स्रष्टा अनुभूति को शब्दबद्ध करता है तो पाठक भी सर्वप्रथम शब्दों के मुख्यार्थ के परिज्ञान के द्वारा ही काव्यार्थ का प्रतिभावन करता है। नव्य पाश्चात्य आलोचन में काव्य की अन्तर्वस्तु तथा बाह्य संरचना के अन्तस्तनाव को विरोधाभास,

---

१. प्रतिपदार्थनिष्ठसाधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, शब्दादिविषयमयीभि:

(अभिनवभारती, दिल्ली-२९७३, पृ॰ ४७६)

प्रतीकान्वयन तथा भाषिक भंगिमा के स्तर पर व्याख्यायित किया गया है। आशय यह है कि अभिधा केवल वाच्यार्थ की प्रस्तुति तक ही सीमित नहीं है, सम्पूर्ण काव्य-परिवेश को मूर्त करने में ही उसकी प्रासंगिकता है। **अभिधातोऽद्वितीयेनांशेन भावकत्व व्यापारेण** में द्वितीय अथवा अद्वितीय प्रयोग से विशेष अन्तर नहीं आता। क्योंकि दोनों ही संदर्भों में वाचक-निष्ठा की अनावश्यकता की ओर संकेत है।

लक्षण एवं अभिधा

भरत ने काव्य-लक्षणों की परिभाषा के स्तर पर भट्टनायक के अभिधा व्यापार के कार्यफलनों का पूर्वाभास दिया है। अभिधा व्यापार के द्वारा लौकिक स्थितियाँ गुणालंकारसंस्कृत शब्दों में परिवर्तित हो कर किस प्रकार सम्प्रेषणीय बनती हैं, काव्य-लक्षणों की उद्‌भावना के द्वारा भरत ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है :—

'काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः
सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसं तु ।
(ना० शा० १६/४२)

इस संदर्भ में अभिनव का कथन है कि बीज रूप अर्थ का क्रमशः निर्वाह करने वाला लक्षण ही है। लक्षण भावार्थगत हैं अर्थात् रस के उचित विभावानुभाव के द्वारा स्थायिभाव (काव्य में वर्णित लौकिक विषयों के विभावत्व में सक्रान्त होकर) रसत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

काव्य-भाषा का प्रयोजन भाव-शृंखला की उद्‌बुद्धि है। रस के अनुकूल ही भाषिक प्रयोग अपेक्षित होते हैं। शास्त्र में शब्द प्रमुख होता है और पुराणों में अर्थ। काव्य में श्रोता उस भावना का अनुसंधान करता है, जिसके द्वारा शब्दार्थ से उपस्थित वस्तु-शृंखला मानस साक्षात्कार में विपरिवर्तित होती है। भरत ने इसी परिप्रेक्ष्य में काव्यार्थ के क्रम का निर्वाह करने वाले लक्षणों का विवेचन किया है। इसकी तीन प्रक्रियाएँ हैं—प्रथम परिस्पन्द है, अर्थात् रसों के अभिव्यंजन में समर्थ माधुर्यादि गुणों का उपनिबन्धन करना प्रतिभावान् कवि का ही सामर्थ्य है।[1] शब्द तथा वस्तु के अन्तःसंबंध के

---

[1] कवेर्यः प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दः तद्व्यापारवलोपनता गुणाः, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यंजनसामर्थ्यं माधुर्यादिरुपनिबन्धनसामर्थ्यं, न सामान्यकवेः। (अ० भा०, नाट्यशास्त्रम्, भाग-२, हिन्दुविश्वविद्यालय, वाराणसी पृ० १२५४)

मौलिक स्वरूप की अभिज्ञता द्वितीय व्यापार है[1], इसमें कवि इस शब्द से इस वस्तु का वर्णन करूँगा, इस भूमिका पर आरूढ़ होता है। तृतीय परिस्पन्दन व्यापार में शब्द और वस्तु का अन्तःसम्वन्ध क्रमशः अर्थ की विविध भंगिमाओं तक व्याप्त हो जाता है।[2] शब्द रूप शरीर का औदार्य परस्पर अन्वित होकर काव्य शरीर को आकार देते हैं। शब्द एवं अर्थ के संस्कार करने तथा कवि के अनुभूति परिवेश को सक्रिय करने में इन लक्षणों की महत्वपूर्ण भूमिका है। शब्दार्थ का यही परिस्पन्द लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण वर्णन से संयुक्त होकर प्रवन्ध की आन्तरिकता को अभिव्यक्त करता है जो मूलतः कवि के अभिप्राय का ही बाह्य रूप है।

वस्तुतः काव्य मूलतः वर्णनीय अर्थ वाला होने से ही काव्य-संज्ञा से अभिहित होता है। रस काव्यार्थ ही है तथा काव्यार्थ अभिधेय अर्थ अभिधान शब्द और अभिधा में विद्यमान रहता है।[3] अभिनव का इस संदर्भ में यह भी कथन है कि अलंकारादि से निरपेक्ष निसर्ग सुन्दर अभिनेय विशेप काव्यों में दृष्टिगोचर होते हैं। इसके चारुत्व का कारण भी लक्षण ही है। इसके अतिरिक्त शब्द की आभ्यन्तर प्रवृत्ति भी लक्षणों के द्वारा ही उन्मीलित होती है। श्रोता के कर्णविवर में प्रविष्ट होते ही शब्द रसाभिव्यक्ति में समर्थ होता है।[4] पुनः यही आवर्तमान होकर क्रमशः वर्णरूप तथा पद में परिणत होकर शोभा का हेतु बनता है। कहने का आशय यह है कि शब्द तथा अर्थ के मध्यवर्ती आयामों को समाहित करके ही कवि विभिन्न रसों के अनुकूल विभावादिवैचित्र्य का सम्पादन करता है। इसकी प्रेरक शक्ति त्रिविध अभिधा ही है। 'इदमनेन शब्देनानयेतिकर्तव्यतयाऽमुनाशयेनेत्थंभूतबुद्धिजननाय ब्रुवे इति कविः प्रवर्तते, स तदाभूतः रसवत्काव्यं विधत्ते। तत्र चित्तवृत्त्यात्मकं

---

[1] अनेन शब्देनेद वस्तु वर्णयामीत्येवंभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापार-संपाद्यास्त्वलंकाराः। (- वही - पृ० - वही -)

[2] शब्दानमीभिः शब्दैरर्थानामीभिरर्थैः संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः परिस्पन्दः। - वही - पृ० - वही -

[3] तत्र चित्रवृत्त्यात्मकं रसं लक्षयंस्तत्तद्रसोचितविभावादिवैचित्र्यसम्पादक स्त्रिविधोऽभिधाव्यापारो लक्षणशब्देनोच्यते। (नाट्यशास्त्रम्, हिन्दु विश्वविद्यालय, पृ० १२५७)

[4] तत्र शब्दस्य रसाभिव्यक्तिक्षमार्थप्रपिादकत्वं स्वतः च श्रोत्रे च संक्रान्ति मात्रं नान्तरीयकतया। (वही - पृ० - वही -)

रसं लक्षयंस्तत्तद्रसोचितविभावादिवैचित्र्यसम्पादकस्त्रिविधोऽभिधाव्यापारो लक्षणशब्देनोच्यते।'[1] भरत ने लक्षण तथा अभिधा के अन्तःसम्बन्ध को भी स्पष्ट किया है। अभिधा-व्यापार के संक्रमित होने वाले उद्यानादि अर्थ ही रस विशेष के विभावादि भावों में परिणत होते हैं। ये लक्षण हैं, अत एव उनका काव्य में सम्यक् प्रयोग अपेक्षित है।[2] कहने का आशय यह है कि लक्षणों का प्रयोजन स्थायी भावों को रस रूप में परिणत करना ही है। काव्य में वर्णित होकर लौकिक विषय विभावादि की लोकोत्तर भूमि पर उपसंक्रान्त हो जाते हैं। यह संक्रमण अभिधा व्यापार का ही परिणाम है।

भरत द्वारा प्रतिपादित लक्षणों की मौलिक विशेषताओं को आत्मसात् करके भट्टनायक का अभिधा व्यापार गतिशील होता है। यह बात भिन्न है कि भरत के लक्षण निरूपण में सर्जन-पक्ष को आस्वादपक्ष की अपेक्षा विशेष महत्त्व दिया गया है, जबकि भट्टनायक का अभिधा व्यापार मूलतः सामाजिक की चित्तवृत्ति में क्रमशः उत्मीलित होने वाले काव्यार्थ की ही व्याख्या प्रस्तुत करता है। यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त तथा इलियट के वस्तु-निष्ठ सम्बन्ध के मूल में भी भावानुकूल शब्दार्थ-योजना की ही अन्तर्ध्वनि है उसका पूर्वाभास भरत के लक्षण सिद्धान्त में निहित है। काव्यों में उद्रिक्त होने वाले भाव यदि कवि के कथनीय अर्थ का अनुगमन करते हैं तो अभीष्ट रसानुभूति में समर्थ होते हैं। **काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यग् प्रयोज्यानि यथारसं तु** (ना० शा० १६/४)। ध्वनिकार के अनुसार काव्य में अभीष्ट चारुता कवि के द्वारा प्रयुक्त उक्ति से भिन्न उक्ति द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकती।

'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयो भवेत्॥[3]

इलियट के अनुसार भाव के अनुरूप वाह्य वस्तु-विधान की योजना कलात्मक अपरिहार्यता है।[4] अभिनव के अनुसार अभिधा व्यापार विभाव

---

[1] नाट्यशास्त्रम् पृ० - वही -

[2] यदभिधाव्यापारोपसंक्रान्ता उद्यानादयोऽर्थास्तद्रसविशेषविभावादिभावं प्रतिपद्यन्ते तानि लक्षणानीति सामान्यलक्षणम्।
- वही - पृ० १२५९

[3] ध्वन्यालोक (सं० डा० नगेन्द्र, सं० २०१६) पृ० ६१

[4] The artistic 'inevitability' lies in this complete adequacy of the external to the emotion...(The Sacred Wood p. 101)

अनुभाव और व्यभिचारी भावों के वाचक शब्दों के अनुरूपता में ही गतिशील होता है। निष्कर्ष यह है कि कवि का अभिधा व्यापार केवल वाच्यार्थ तक सीमित नहीं है। इसी के कारण लौकिक विभाव रसोचित विभाव में परिणत होते हैं। अभिधा का यह महत्त्व प्रकारान्तर से काव्य की व्यापार प्रधानता को भी परिभाषित करता है। अभिनव के अनुसार शब्द-व्यापार-प्राधान्य शब्द के महत्त्व को शास्त्र की भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। इतिहास अर्थ तत्त्व से युक्त होता है तथा जहाँ शब्द अर्थ गौण होते हैं वहाँ व्यापार की ही प्रधानता होती है। यह भूमि काव्य की है।[1]

वस्तुत: भट्टनायक ने काव्य-व्यापार के केन्द्र में अभिधा को जिस प्रकार प्रतिष्ठित किया है, उससे वाच्य-वाचक सम्बन्ध का द्योतन मात्र ही नहीं होता, अपितु शब्दार्थ को गौण बना कर उभरने वाली विशिष्ट संवेदना मूर्त होती है। यही कारण है कि परवर्ती समीक्षकों ने भट्टनायक की अभिधात्मकता को व्यंजना की समकक्षता में ही परिभाषित किया है। रुय्यक के अनुसार **भट्टनायकेन तु व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्।**[2] रसविवेककार ने इस संदर्भ में कहा है कि काव्य में विभावों से रस-निष्पत्ति इस कारण होती है कि बाह्य जगत के पात्र और घटना-शृंखलाएँ विभाव में परिणत हो कर शब्द प्रमाण से वेद्य होती हैं।[3]

इस संदर्भ में भामह की वक्रोक्ति-विषयक अवधारणा भी उल्लेखनीय है। भामह के अनुसार प्रसिद्ध मार्ग का उत्सर्जन करने वाली वक्रोक्ति से अर्थ का विभावन होता है। स्पष्टत: वक्रोक्ति में शब्दार्थ के कवि-व्यापार मूलक उस उपनिबन्धन का अर्थ निहित है जो सामान्य लौकिक संदर्भ को लोकोत्तर

---

[1] भट्टनायकेनापि तानेव शिक्षित्वा अभिधाव्यापारप्रधानं काव्यमित्युक्तं—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदु:।
अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयो:।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्॥ इति॥

(नाट्यशास्त्रम् (हि० वि० वि०) पृ० १२५९)

[2] अलंकारसर्वस्वसंजीवनी, दिल्ली-१९६५, पृ० १०

[3] रसविवेक पृ० २३

कवि-कर्म में परिणत कर देता है **सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।**[1] वक्रोक्ति के द्वारा भामह ने भट्टनायक के भावना या भावगत व्यापार का पूर्व संकेत दिया है। सारांश यह है कि भट्टनायक की अभिधा विभावन मार्ग का अनिवार्य प्रस्थान-विन्दु है। काव्य में अर्थ-भावन की प्रक्रिया मूलतः बुद्धि और कल्पना के अन्तःसमायोजन के द्वारा विकसित होती है। काव्यार्थ में सर्वप्रथम बौद्धिक स्तर पर कवि का अभिप्राय अनुभूत होता है तथा क्रमशः रागात्मक अनुषंग उन्मीलित होते जाते हैं।

भरत के अनन्तर लोल्लट तथा शंकुक ने भी काव्य-व्यापार का महत्त्व स्वीकार किया है। शंकुक के 'काव्यबलानुसंधेय' में यह अन्तर्ध्वनि स्पष्ट है कि लौकिक अनुभूति की अपेक्षा रसानुभूति मूलतः भाषिक प्रयोग की विशिष्टता के स्तर पर ही अनुसंधेय है। शंकुक ने प्रकारान्तर से स्वशब्द-वाचकत्व दोष की ओर भी इंगित किया है। काव्य भाषा में अनुभूति का विभावन अपेक्षित है; केवल नाम रूप से अभिहित होकर ही वह उस रागात्मक सत्य में परिणत नहीं हो सकती, जिसका अनुसंधान कवि अपने विशिष्ट अनुभूति-केन्द्र में करता है। आशय यह है कि भट्टनायक की अभिधा काव्यार्थ को उस बृहत्तर आयाम में उपस्थित करती है, जिसमें लौकिक घटना तथा देशकाल के अनुषंगों से मुक्त हो कर काव्यानुभाव सर्जनात्मक पुनःअनुसंधान के रूप में संवेद्य होता है। इस संदर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जब शब्द से सीतादि व्यक्ति का परिज्ञान होता है तो वह नाम-रूपात्मक काल सापेक्ष व्यक्ति का परिज्ञान है। इस नाम-रूपात्मक आवरण के क्रमशः हटने पर जिस निर्विशेष कान्तात्व का बोध होता है, वह दिक्काल की सत्ता के निषेध के अनन्तर जीवन का विशिष्ट संदर्भ में प्रत्यवलोकन है जिसमें विशिष्ट स्थितियों को सामान्यीकृत करता हुआ जीवन-बोध अधिक विस्तृत, सघन और जटिल होता जाता है। यह बोध काल-परिदृश्य से परे ले जा कर हमें जिस सार्वभौम सत्ता का मानवीय अर्थपरक विमर्श प्रदान करता है वह यथार्थ के मौलिक सारतत्त्व की ही पुनः प्रस्तुति है। यह उस आभ्यन्तर जगत् की पुनः संरचना है जो जीवन के विभिन्न तत्त्वों की संहृति और उनके परस्पर अतिक्रमण पर आधारित मूल्य बोध का पर्याय है। भौतिक तत्त्व से क्रमशः मानसतत्त्व की ओर अन्तःप्रयाण ही मानवीय सत्ता के आत्यन्तिक यथार्थ के अन्वेषण में योग देता है। इस

---

१. भामह, काव्यालंकार २/८५

संदर्भ में सम्प्रेषण की भाषिक सर्जनात्मक संभावनाओं का क्षेत्र क्रमशः उद्घाटित होता जाता है। क्षणिक संदर्भों से कोई विम्ब नहीं बनता; स्फोट-सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये संदर्भ प्रमाता की चेतना से टकराते विश्रृंखलित होते तथा समग्र प्रभाव के रूप में एक स्फोट बिम्ब में रूपायित होते हैं। काव्यार्थ-बोध की यह प्रक्रिया अर्थ-बोध की प्रक्रिया है। जिस प्रकार धुंधलके से वस्तु उभरती तथा फिर मूल प्रत्यय के संदर्भ में निर्णीत होती है, उसी प्रकार अभिधा से काव्यार्थ-बोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। पूर्व प्रतीतियाँ संस्कार बनती हैं तथा परस्पर संयुक्त हो कर समग्र बोध के रूप में मूर्त्त होती हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अभिधा, अभिधान और अभिधेय के नियत सम्बन्ध को अभिव्यक्त करती हुई विशिष्ट से अविशिष्ट की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया का भी आभास देती है। विभावादि प्रारम्भ में विशिष्ट रूप में अवतीर्ण होते हैं.अतः उनकी शक्ति प्रतिवद्ध होती है। किन्तु शब्दार्थ के अन्तःसंबंध से वे क्रमशः अपने आन्तरिक अर्थस्तर को अनूदित करते हुए जव निर्विशेषत्व की ओर उन्मुख होते हैं तो अभिधा एक स्तर पर उस विशिष्ट अर्थ का बोध करा कर क्रमशः निर्विशेष रूप में वोध्य हो कर पुनः दूसरे विशिष्ट अर्थ का वोध कराती है। अभिनव ने विशिष्टों के क्रमिक संघर्ष से उभरने वाली निर्विशेषता की ओर एक भिन्न संदर्भ में इंगित किया है। प्रथम स्तर पर अनुकर्ता का वैशिष्ट्य लुप्त होता है तथा दूसरे स्तर पर उसमें आरोपित अनुकार्य का बिम्ब भी धूमिल पड़ जाता है। अतः दोनों विशिष्टताओं के लुप्त होने से साधारणीभूत संवित् उद्भूत होती है।[1]

भट्टनायक ने गुणालंकार परिग्रहात्मकता का संकेत देकर अभिधा में रूपकात्मकता अर्थात् बिशकलित वस्तुओं के एकत्व बोध (उपचार) की भी प्रकारान्तर से संभावना व्यक्त की है। अभिधा में लक्षणा भी निहित हैं; नागेश ने इसी उपचार व्यवस्था के कारण लक्षणा को सहृदय की वस्तु बताया है। भट्टनायक अभिधा और भावकत्व व्यापार के अन्तःसंबंध को भी परिभाषित करते हैं। अभिधा और भावकत्व के समीकरण से प्रतीकों के क्रमिक उद्घाटन की सम्भावना भी लक्षित होती है। रिचर्ड्स ने भाषा के इन दोनों स्तरों को टोन और ओवरटोन कहा है। इसमें एक स्तर पर

---

[1] नाट्यशास्त्रम् (बड़ौदा, प्रथम भाग), पृ० २८५

स्थूल से सूक्ष्मता की ओर अन्तःप्रयाण की व्यंजना है तो दूसरे स्तर पर मानसिक सामग्री का संश्लेषण भी ध्वनित है। वाक्यपदीय में बाह्य संरचना से आन्तरिक बौद्ध संरचना का जो संकेत दिया गया है, उसकी परिणति भी प्रकारान्तर से विशिष्ट के (सीतादि के) बौद्ध तत्त्व (कान्तात्व) के पर्यवसान में ही होती है। व्यक्ति प्रतीक क्रमशः नाम-रूपहीन भूमिका में पर्यवसित होते जाते हैं। मीमांसा में आकृति से जाति की ओर संक्रमण की जो प्रक्रिया दिखाई गई है, वह इस आन्तर प्रक्रिया को ही परिभाषित करती है। **आकृतेः प्रथमज्ञानात् तस्या एवाभिधेयता।**

अर्थ के विभिन्न स्तर प्राथमिक अभिधेयार्थ की सीमा का विस्तार करते हैं। स्रष्टा कवि के द्वारा पुनरनुसंधानित होकर सामान्य अर्थ विशिष्ट अर्थवत्ता की ओर उन्मुख होते हैं तथा असाधारण संदर्भ को सर्जनात्मक रूप में पुनः प्रस्तुत कर चेतना के बृहत्तर आयाम से संयुक्त कर देते हैं। आशय यह है कि कान्तात्व में व्यक्ति के असाधारण संदर्भ को किसी साधारण सर्वव्यापि प्रतिदर्श में सीमित कर देने का बोध निहित नहीं है। कवि का अनुभव अद्वितीय और विशिष्ट होता है। वह यथार्थ की विशिष्ट चेतना को ही रूपायित करता है और उस चेतना की अद्वितीयता को सम्प्रेषणीय बनाना उसके द्वारा भाषिक प्रतीकों का विशिष्ट संरचनात्मक धर्म है। शब्दार्थ के साधारण संकेतपरक अनुषंगों को कवि की यह विशिष्ट चेतनात्मक संरचना ही व्यापकतर संदर्भों की ओर उन्मुख करती हैं। अतः मुकुल भट्ट का यह कथन युक्तियुक्त ही है कि जाति से व्यक्ति का आक्षेप होता है। यह कथन साधारणीकरण के अन्तर्विरोध में नहीं पड़ता। अभिधेयार्थ विभावों के असाधारण विशिष्ट संदर्भों को उपस्थित करते हैं किन्तु अभिधा द्वारा गृहीत शब्द जातिपरक ही होते हैं। वे देशकाल का समग्रतर आयाम प्रस्तुत करते हैं, अतः काव्य में प्रयुक्त शब्द अभिधा व्यापार के स्तर पर नियंत्रित होने से पूर्व सामान्य चेतना के वाहक होते हैं और क्रमशः असाधारण अनुभव और परिदृश्य की ओर उन्मुख होते हैं। विभावों की असाधारणता देशकाल की विशिष्ट स्थितियों से नियंत्रित होती है, जिसे हम विभाव-अनुभाव और संचारी का संयोग कहते हैं अर्थात् काव्यानुभव जिन स्तरों पर अनुसंधानित होता हैं उनमें घटनात्मक सघनता और पात्र की मानसिक व्यवस्था का असाधारण बिम्ब ही निहित होता हैं जो क्रमशः प्रमाता की अवधारणा में प्रविष्ट होकर अपने मौलिक स्वरूप को अनावृत करता जाता है। विभावों की

असाधारणता अनुभाव योजना की अस्थिरता अथवा कष्ट कल्पना के कारण खण्डित भी हो सकती है। इस स्थिति में काव्यानुभव खण्डित प्रतिकृति सा प्रतीत होता है। 'परिहरति रतिं' इत्यादि में अनुभावों की कष्ट-कल्पना के कारण विभावों की विशिष्टता धूमिल पड़ गई है। कवि का अभिधा व्यापार जातिपरक प्रतीकों से आगे बढ़कर विशिष्ट प्रतीक को किसी एक बिन्दु पर समाहित नहीं करता। अतः असाधारण संयोजना के अभाव में साधारणीकरण की अनुवर्ती प्रक्रिया विफल हो गई है। आशय यह है कि काव्यात्मक अभिधा समयनिरूपित होकर भी काव्य की सर्जन-प्रक्रिया में विशिष्ट संदर्भों और परिदृश्यों से अन्वित होकर वैयक्तिक अस्तित्व ग्रहण कर लेती है। यह अस्तित्व बाह्य यथार्थ और कवि की अन्तःसंज्ञा में प्रतिवद्ध अवधारणाओं के द्वन्द्व की परिणति भी होता है जो प्रमाता की चेतना को एक आभ्यन्तर पुनरनुसंधान के लिए प्रेरित करता है। सीता में कान्तात्व के पुनरनुसंधान की भूमिका को हमने शब्द अर्थ की इसी द्वन्द्वात्मक समाहिति के बृहत्तर आयाम में विश्लेषित किया है। वस्तुतः काव्य का अभिधात्मक व्यापार स्रष्टा की अनुभूति की अन्तरंग सार्थकता के स्तर पर ही गतिशील होता है। विभावन व्यापार इस सार्थकता के संदर्भ को परिभाषित करता है।

आत्माभिव्यंजना कवि और प्रमाता दोनों के स्तर पर ही आत्मास्वाद की भूमिका है। **'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः'** (दशरूपक ४/४३)। कवि की आत्माभिव्यंजना और प्रमाता के आत्मसाक्षात्कार के मध्य बिम्बों और प्रतीकों की पारदर्शी शृंखला आवश्यक है, जिसके आधार पक्ष में प्रमातृचेतना अपने नाना रूपों में विकसित होती हुई उन्मीलन और निमीलन में निमग्न रहती है। वस्तुतः कवि का आत्मतत्त्व परमतत्त्व का ही विश्वमय रूप है। प्रमाता का विमर्श पक्ष इससे पृथक् नहीं है। इसी के संदर्भ में कवि कवित्व की भूमिका पर अवस्थित माना जाता है। जिस प्रकार चित् शक्तिमय शिव ही आत्मा का वास्तविक रूप है, उसी प्रकार प्रमाता की विमर्श-चेतना कवि की आत्माभिव्यंजना को सार्थकता प्रदान करती है। कवि तथा सहृदय को आत्मोन्मुख बनाने में काव्य-व्यापार की सार्थकता है। यह व्यापार अभिधा के ही माध्यम से गतिशील होता है।

भावना एवं भावकत्व

साधारणीकरण तथा भावकत्व व्यापार के अन्तःसंबन्ध की स्पष्ट अभिज्ञता

के लिए 'भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः'[1] पद-बन्ध पर विचार करना भी आवश्यक है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अभिनवभारती तथा काव्य प्रकाश में उपर्युक्त पदबन्ध अभिन्न रूप में प्रयुक्त है। भट्टनायक ने 'भावना-भाव्य एषोऽपि शृंगारादिगणो हि यत्'[2] कारिका में भावना व्यापार का भी उल्लेख किया है, अतः भावकत्व एवं भावना को पर्याय-रूप में ग्रहण कर उनके मौलिक अर्थ-संदर्भ पर विचार करना अपेक्षित है। इस संदर्भ में कतिपय टीकाकारों की व्याख्याएँ विवेच्य हैं।

'भावनाजन्यप्रतीतिविश्रान्तिविषयान्तरत्वमेव हि भावकत्वम् (विवरण)।[3] 'भावमानो भावितः साधारण्येनानुसंधीयमानः' (बालचित्तानुरंजनी)।[4] 'भाव्यमानो मुहुर्मुहुश्चिन्त्यमानः। तेन भावनोपनीतो रामादिरत्यादिः सामाजिकमनसि घ्राणोपनीतं सौरभ्यमिव चक्षुषि साक्षात्कारेण विषयीक्रियते। यथा कामिनो भावनानन्तरं तत्साक्षात्कारः। यथा वा निदिध्यासादिना आत्म-साक्षात्कारः (सारबोधिनी)[5]।

स्पष्टतः भट्टनायक काव्यसृष्टि तथा काव्यास्वाद के मूल में भाव प्रेरणा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। कवि के स्तर पर यह काव्यार्थ में अभिव्यक्त मौलिक अभिप्राय का अनुसंधान है तो प्रमाता के स्तर पर उस मौलिक भाव-सत्य का अनुचिंतनात्मक अन्तर्भावन है। आचार्यों ने इस अनुसंधान को 'आनन्दस्तदात्मिकायाः संविदः'[6] 'आनन्दात्मिका संवित् ज्ञानम्'[7] के रूप में दार्शनिक स्तर पर व्याख्यायित किया है।

भावना व्यापार के अन्तःसूत्र

पात्रों की वस्तुगत सम्बन्धपरकता प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा भ्रान्तिजन्य एवं लौकिक स्मृतिजन्य सुख-दुःख-हर्ष आदि से मुक्त होकर काव्यानुभूति में

---

१. नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) (बड़ौदा), पृ० २७७
२. - वही - पृ० २७७
३. काव्यप्रकाशः (गोकुलनाथोपाध्याय) (वाराणसी-१९६१) पृ० १२८
३. काव्यप्रकाशः (टीकात्रयसंवलितः) पृ० ९८
५. - वही - पृ० - वही -
६. काव्यदर्पण पृ० १४६
७. बालबोधिनी, पृ० ९०

अन्तर्भावित रोती है। काव्यार्थ की उपस्थिति मात्र से आराध्यत्व इत्यादि की आस्था का स्थगन नहीं होता, अपितु लौकिक अनुभूति के अलौकिकीकरण में ही काव्यास्वाद की निर्वैयक्तिक साधना उन्मीलित होती है। भट्टनायक का भावना-व्यापार कलात्मक अभिव्यंजना में रूपायित कवि के निजी विशिष्ट अनुभूति परिवेश का प्रमातृगत स्तर पर पुनःसंस्कार करता है।

भावना शब्द के मूल में भाव शब्द है, जिसमें स्वतः वासित या सम्प्रेषित होने का भाव निहित है।[1] प्रतिमानाटक में भरत प्रतिमाओं को देखकर उनकी भावगति के अनुसंधान से एक विशेष भावोद्रेक की दशा में पहुँच जाते हैं।[2] यह प्रकारान्तर से अपनी आत्मा का ही प्रत्यभिज्ञान अथवा अनुसंधान है। भवभूति के उत्तररामचरित में चित्र-दर्शन सीता के मस्तिष्क पर जिस गहन प्रतिच्छाया को अंकित करता है, वह भी मूलत. भावना ही है। स्मृति ही नहीं, अपितु यह एक निरन्तर गतिशील संवेदनात्मक दशा है।[3] 'शाकुन्तलम्' में भी दुष्यन्त रमणीय दृश्यों के दर्शन से उद्‌बुद्ध अबोधपूर्वं भावस्थिराणि की परिणति राग परिवाहिनी गीतात्मकता में करता है। यह अनुभूति भी स्मृतिरूपा न होकर साक्षात्कार-स्वभावा (भावरूपा) ही है।[4] अन्यत्र—

> 'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।'[5]
> 'भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव'[6]

---

१. भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धम्। अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्।
(नाट्यशास्त्रम्, भाग-१, पृ० ३४४-४५)

२. अहो क्रियामाधुर्यं पाषाणानाम्। अहो भावगतिराकृतीनाम्।
(भासनाटकचक्रम्, पृ० २७६)

३. अहो जानामि तस्मिन्नेव प्रदेशे तस्मिन्नेव काले वर्ते।
(उत्तररामचरितम्, पृ० १३)

४. अपितु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति।
(नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) पृ० २८०)

५. मेघदूत (उत्तरमेघ) २५, (कालिदासग्रन्थावली, पृ ४३९)

६. मालविकाग्निमित्रम् २/८, - वही - पृ० २७४

स्पष्टत: यह भावानुप्रवेश की भूमिका है, जिसमें नर्तक जिस प्रकार नर्तितव्य विषय में एकाकार होता है, उसी प्रकार कवि अथवा प्रमाता भाव के साथ एकात्मकता अनुभव करता है। दूत वाक्यं में दुर्योधन 'भावोपपन्नता' का उल्लेख करता है तथा शाकुन्तलम् में विदूषक चित्ररेखा को 'भावमधुरा' कह कर '**मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः**' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है।[1] इससे स्पष्टत: काव्यास्वाद के क्षण में दर्शक द्वारा भावदशा के अनुकरण का भाव द्योतित होता है।

काव्य-शास्त्र में अनुभावन, विभावन अथवा भावन की अवधारणाएँ विविध अनुभूतियों के संघात से विशेषीकृत पात्रों अथवा अनुभूतियों के सामान्यीकृत होने की संभावनाएँ व्यक्त करती हैं। भामह ने स्पष्टत: वक्रोक्ति के माध्यम से काव्यार्थ के विभावित होने का उल्लेख किया है। भाविक अलकार की उद्भावना भी भावना-व्यापार के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। भाविक काव्य के द्वारा उन्मीलित कवि के अभिप्राय को प्रमाता के स्तर पर सम्प्रेषित करता है।

'भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद् भाविकं विदुः ॥'[2]

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र और उसकी परवर्ती काव्य-शास्त्रीय अवधारणाओं में भाव शब्द प्रेक्षक की अनुभूति तक सीमित नहीं है, सर्जन-प्रक्रिया की ओर भी इंगित करता है। सोमेश्वर ने मानसोल्लास में भावतत्त्वज्ञ शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। इस संदर्भ में भट्टतौत का विवेचन भी प्रासंगिक है। विषयानुभूति तथा रसानुभूति का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कला द्वारा चित्रित भाव को बाह्यानुभूति से भिन्न निर्दिष्ट किया है।

'विषयाभावतो नात्र रागस्याभ्यासगाढता।
स्थायी चेद्विषयो नैवमास्वादस्य स गोचरः॥'[3]

---

[1] दूतवाक्यम् (भासनाटकचक्रम्), पृ० ४४६
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ० १०६

[2] दण्डी : काव्यादर्श २/३६४, पृ० २१९-२० (चौखम्बा-१९५८)

[3] काव्यप्रकाश (सं० एस० पी० भट्टाचार्य) पृ० ९

भावना का दार्शनिक आधार

काव्यगत भावना में रस ही साध्य अथवा जीवितभूत है।[1] विभावादि का साधारणीकरण इस जीवितभूत अथवा आत्मतत्त्व (रस) की उपलब्धि का साधन है - तथा गुणालंकार अथवा चतुर्विध अभिनय इसके माध्यम हैं। भट्नायक ने साधन, साध्य तथा इतिकर्तव्यता के त्रिक में भावना-व्यापार को मीमांसादर्शन की आधार भूमि पर व्याख्यायित किया है। अभिनव ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है **'इतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसानुभावयति।'**[2] यह आकस्मिक नहीं कि कुमारिल के तन्त्रवार्तिक की कारिका में व्यापारात्मिका भावना का स्वरूप अभिधा तथा भावना के अन्तःसम्बन्ध के स्तर पर ही प्रस्तुत हुआ है। निश्चय ही भट्नायक की परवर्ती अवधारणा शाब्दी तथा आर्थी-भावना के इस समीकरण से प्रेरित है। **'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।'** (तं० वा० २/१/१)[3] अभिधा शब्द से विधि शब्द का विधान होता है यह अभीप्सित संदर्भ के लिए उपयुक्त साधन जुटाती है तथा पुरुष को साधनता के प्रति प्रेरित करती है।[4] अर्थात् शाब्दी-भावना, व्यापार की मूल प्रेरणा है। आख्यात, क्रिया और लिंग दोनों के द्वारा भावना का स्वरूप निर्मित होता है। इसमें साधन, साध्य तथा इतिकर्तव्यताकांक्षा सम्मिलित हैं। उदाहरणार्थ **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** (तं० वा० २/१५) में तव्य प्रत्यय शाब्दी भावना की प्रतीति कराता है। यही प्रेरणा पुरुष प्रवृत्ति के रूप में रहने वाली आर्थी भावना के द्वारा साध्य है।[5] अतः तव्य प्रत्यय के अनन्तर प्रमाता अध्ययनजन्य अर्थाविबोध की ओर उन्मुख होता है। **'तस्मात्सामर्थ्यप्राप्तोऽवबोधो भाव्यत्वेनावतिष्ठते।'**

---

१. अभिधा-भावना-रसचर्वणात्मकत्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूता। (ध्वन्यालोकलोचन १/१)

२. - वही - २/४ (लोचन)

३. मीमांसान्यायप्रकाश (निर्णयसागर-१९४५) पृ० ८०

४. अभिधीयते साऽभिधा समीहितसाधनता, सैव प्रवर्तनात्वेनाभिहिता पुरुषप्रवृत्ति भावयतीति भावना, तां लिङादय आहुः। (वही - पृ० ८१)

५. इति तव्यप्रत्ययः प्रेरणापरपर्यायां पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाभाव्यामभिधाभावनां प्रत्याययति। सा ह्यर्थभावना भाव्यमाकाङ्क्षति।
(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ५२८)

६. - वही - पृ० ५३०

अभिनव के अनुसार भट्टनायक ने काव्यगत भावना के स्तर पर भावना-व्यापार को ही पुनरुज्जीवित किया है। '**काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः।**'[1] अतः मीमांसा शैली के समानान्तर भट्टनायक के भावना व्यापार को प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं है। मीमांसा की शैली में भावना का अर्थ है गुणालंकार आदि भाषा के चारुत्व-सम्पादक (अभिव्यंजनात्मक) प्रयोगों के माध्यम से इतिकर्तव्यताकांक्षा कथं भावयेत्) रस (**साध्याकांक्षा किं भावयेत्**) को भावकत्व व्यापार के द्वारा निष्पन्न करना (साधनाकांक्षा केन भावयेत्)। स्पष्टतः काव्य भावक है, रस भाव्य हैं। वस्तुतः भावना-व्यापार शब्दों के त्रिशिष्ट प्रयोग की प्रासंगिकता को रस-चर्वणा में निर्दिष्ट करता है।[2] अभिनव ने इस व्यापार को ध्वनन व्यापार के समानान्तर रखा है। '**तस्माद् व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं रसान् भावयति इति त्र्यंशायां भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति।**'[3] वस्तुतः भावना-व्यापार की प्रासंगिकता सामष्टिक बोध के विशिष्ट स्तर को रूपायित करने में है। अभिनव ने मीमांसा शैली का आधार लेकर शब्दार्थ के विशिष्ट संदर्भों से उद्भूत होने वाली तथा वाक्य के अभिधेयार्थ को अतिशायित करके अनुभूति परिवेश को साधारणीकृत करने वाली प्रक्रिया का उल्लेख किया है। विधि वाक्य मूलतः विशेष व्यक्ति और विशेष काल के सूचक नहीं होते। अधिकारी के लिए लिङ् लकार के रूप में परिणत होकर वे विशिष्ट क्रियाकारिता से मुक्त होकर देशकालातीत कर्तव्य की ओर इंगित करते हैं। '**आसे' 'प्रददानि' इत्यादिरूपा संक्रमणादिस्वभावा यथार्थदर्शनं प्रतिभाभावनाविधिनियोगदिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः।**'[4] भावना व्यापार की मीमांसापरक व्याख्या साधारणीकरण के अन्तःव्यापार के सूत्र का संधान देती है। सामान्य शब्द व्यापार को अतिशायित संदर्भ में रूपायित करने में इस व्यापार की सार्थकता है। काव्य के विशिष्ट शब्द-प्रयोग की प्रासंगिकता यही है कि वह रूढ़

---

१. ध्वन्यालोक लोचन (चौखम्बा-१९९८ सं०) पृ० १८८-८९

२. - वही - पृ० १८८

३. - वही - पृ० १८९

४. नाट्यशास्त्र (भाग-१) अभिनवभारती, पृ० २७८

सुनिर्दिष्ट अर्थ-बिम्वों को स्व पर की चेतना से मुक्त कर साधारणीकृत करती है।

भावना-व्यापार अपूर्व अदृष्ट की उत्पत्ति से सम्भव होता है। रसानुभूति के मूल में एक विशिष्ट संस्कार सापेक्षता इसी अदृष्ट के समानान्तर काव्य-बोध की भूमिका निर्मित करती है। रसप्रदीपकार ने संभवतः इसी कारण भावना तथा संस्कार को पर्याय माना है।[1] इसका आशय यह है कि सामाजिक को काव्य-निवद्ध पात्रों के साथ अनुभूति संस्कार के आधार पर ही अभिन्नता अनुभूत होती है। भोज ने भी भावना की प्रतिष्ठा जिस अहकार (अभिमान) की आधारभूमि पर की है, वह भी मूलतः अदृष्ट जन्मानुबन्धि संस्कार ही है। **''विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु।'**[2]

बौद्ध-दर्शन में भावना का एक रूप है, जिसमें पात्रों के बुद्धि भेद से एक ही भगवान् बुद्ध चार प्रकार की अनुभूति का विषय वनते हैं।[3] स्पष्टतः यह एक स्तर पर प्रमातृगत अनुभूति की स्वीकृति है तो दूसरे स्तर पर विभावादि की साधारणीकृत भूमिका का भी संधान करती हैं। उक्त परिप्रेक्ष्य में यह तथ्य असंदिग्ध है कि मीमांसापरक भावना सूक्ष्म भावों के मिश्रण तथा शब्दार्थमयी अतिशायित सृष्टि की साधारणीकृत भूमिका निर्मित करती है। व्यक्ति-संबन्धों की मूर्त्तता क्रमशः भावरूपता में परिणत होती है। यह प्रकारान्तर से नाट्य-चरित्रों का भावनात्मक रूपान्तर ही है, जिसमें प्रमातृगत भावना द्वारा पात्र का देशकालातीत व्यक्ति-शून्य वोध अनुभूत होता है।

यह बोध कल्पना की क्रिया है। एक स्तर पर पात्र कवि की विशिष्ट भाव दृष्टि से प्रेरित निजी वैशिष्ट्य से अन्वित अपना मौलिक अस्तित्व रखते हैं तो दूसरे स्तर पर प्रमाता की भी निजी कल्पना और भाव-विग्रह का सूक्ष्म अस्तित्व होता है। इन दोनों विशिष्ट भाव-कल्पनाओं में निर्विशेष तत्त्व के उन्मीलन की व्याख्या भावना-व्यापार सम्पन्न करता है। भावना के द्वारा

---

[1] भावना च विभावादि साधारणीकरणात्मा भावकत्वाख्यः कश्चन वासना-परनामा संस्कारः (रसप्रदीप, पृ० २६)

[2] सरस्वतीकण्ठाभरण ५/२ (कलिकाता-१८९४ ई०) पृ० ५३८

[3] यद्यपि भगवान्बुद्ध एक एव बोधयिता तथापि वोद्धव्यानां बुद्धिभेदाच्चातुर्विध्यम्।...ते च बौद्धाश्चतुर्विधया भावनया परमपुरुषार्थं कथयन्ति (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३५)

प्रमाता पूर्वानुभूत तथा प्रत्यक्षीकृत पदार्थों के अनुभूति संश्लेष से निर्मित अन्तश्चैतन्य में कवि की निजी विशिष्ट भाव-दृष्टि के योग से निर्मित तथा नवीन संयोजनाओं एवं रूपों में उद्भावित वस्तु-सत्य का अन्तःसाक्षात्कार करता है।

काव्यशास्त्रीय संदर्भ

भावना-व्यापार काव्य-सर्जन तथा उसकी आस्वाद-प्रक्रिया के दोनों ध्रुवों को संश्लिष्ट करता है। कवि तथा सहृदय दोनों के संस्कार सजातीय प्रवाह के रूप में इसमें वद्धमूल होते हैं[1] तथा पुनरनुसंधान के द्वारा ये संस्कार संवन्धित संवेदनाओं से अन्वित होकर घनीभूत एवं संश्लिष्ट होते हैं। यह प्रक्रिया चिन्तन, अनुचिन्तन एवं अनुसंधानपरक है। काव्य-प्रकाश के टीकाकारों ने भावना का विश्लेषण इसी अनुचिन्तनात्मक धरातल पर किया हैं। उपर्युक्त अभिमतों से यह तथ्य प्रमाणित होता है। कवि के स्तर पर यह अनुचिन्तन विशिष्ट अनुभूति-खण्ड का ऐसा घनीभूत क्षण है, जो बाह्याभिव्यक्ति के लिए पर्युत्सुक रहता है। यह पर्यत्सुकीभाव अनुभूति की अतिक्रान्त सघनता का स्वाभाविक परिणाम है। अभिनव ने चर्वणा के योग्य भावात्मक उच्चलनमूलक प्रकृति के कारण इसे काव्य की आत्मा अथवा सारभूत प्रभाव कहा है।[2] भट्टनायक के अनुसार जव तक हृदय घनीभूत संवेदना से पूर्ण नहीं होता वह अभिव्यक्त नहीं हो पाता। '**एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे यावत्पूर्णा न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।**'[3] वस्तुतः सर्जन अथवा आस्वादन के भावपूर्ण क्षण में अर्थ (अनुभूति) शब्द (अभिव्यक्ति) स्वतः गौण हो जाते हैं। प्रमुखता उस विशिष्ट रूप की होती है, जो संवेगों के समीकरण का पर्याय होता है। अनुभूति (अर्थ) की निरावृत अविकल

---

[1] संस्काररूपतया, धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव।··· संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रौढयन्ति।

(अभिनवभारती, दिल्ली विश्वविद्यालय पृ० ५५७)

[2] एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारकः।

(-ध्वन्यालोकलोचन (तारावती) पृ० १५९)

[3] -वही - पृ० १५९

अभिव्यक्ति काव्य नहीं है। शब्दार्थ को अतिक्रान्त करने वाली चेतना अथवा अनुभूतियों के अन्तर्विरोध में स्फुरित होने वाली लयान्विति ही काव्य है जो विलक्षण एवं विशिष्ट है। अतः भट्नायक का कथन है कि शब्द तथा अर्थ के गौण हो जाने पर व्यापार की प्रधानता में ही काव्यबुद्धि उन्मीलित होती है।

भावकत्व व्यापार भाषा के कलात्मक भावकोचित रागात्मक संदर्भों से अन्तश्चैतन्य को मूर्त करने में योग देता है। **'काव्ये दोषाभावगुणाङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण'**[1] के द्वारा भट्टनायक कवि-कल्पना की विविध रूपानुभूतियों के माध्यम से भावकत्व की प्रतिष्ठा करते हैं। आशय यह है कि एक विशिष्ट अर्थ-बोध में सीमित अनुभूति का बिम्ब कवि-कल्पना के द्वारा विविध संयोजनाओं में रूपान्तरित होता हुआ जीवन के वृहत्तर संदर्भों को आत्मसात् कर व्यापक हो जाता है। सहृदय कवि-कल्पना की इस अनेक-आयामी विशिष्टता के साक्षात्कार से जीवन के वैविध्य की उपलब्धि करता है। कवि की कल्पना जीवन के निर्दिष्ट रूढ़ संदर्भों को खण्डित कर व्यापक एवं वैविध्यमय बनाती है। प्रमाता कवि-कल्पना में रूपायित बिम्बों के समानान्तर पुनः पुनः अपने विशिष्ट भाव परिवेश में निहित आद्य बिम्बों का अनुसंधान करता है। पात्र क्रमशः कृति की विशिष्ट संभावनाओं के आधार पर अपनी मुक्त प्रकृति को उन्मीलित करते हैं, जिससे उनका रूढ़ सुनिर्दिष्ट बिम्ब खण्डित होता है तथा एक निर्विशेषत्व का उन्मीलन करता है। आशय यह है कि सर्वजनभोग्य शब्द-संकेतों में अनूदित होकर लोकजीवन के सामान्य संदर्भ क्रमशः निर्विशेषीकृत होने लगते हैं। भाषा के अतिशयित प्रयोग के कारण शब्द-बिम्ब इतिवृत्त के मूल में निहित भाव-सत्य का अनुसंधान करते हुए प्रमाता की चेतना के विविध स्तरों पर संक्रमित होते हैं तथा प्रमाता भी अपनी विशिष्ट व्यक्ति-चेतना से मुक्त होकर विशुद्ध भावोद्‌बोधन में समर्थ होता है। प्रमाता का व्यक्तित्व पुनः सर्जन में तन्मय होता है तथा अनुभूति का निरन्तर चर्वण करते हुए रस की भोग-भूमि पर पहुँच जाता है। अतः भट्टनायक के विषय में अभिनव का कथन है कि काव्य का रसों के प्रति जो भावकत्व व्यापार है वह विभावादि की साधारणता का सम्पादन ही है **"तच्चैतद्‌भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां**

---

[1] नाट्यशास्त्र (भाग-१) पृ० २७७

साधारणत्वापादनं नाम ।"[1] इस संदर्भ में भावकत्व और साधारणीकरण के अन्तःसंबंध पर विचार करना भी प्रासंगिक होगा। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने साधारणीकरण संबंधी अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इन व्याख्याओं में भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि के साधारणीकरण के विविध अनुषंग परिभाषित हुए हैं।

भट्टनायक के संदर्भ में काव्य प्रकाश के टीकाकारों की साधारणीकरण सम्बन्धी अवधारणाएँ

भट्टनायक के 'साधारणीकरणात्मना' पद का आशय प्राय: टीकाकारों ने सीतादि की सामान्य कमिनीत्व के रूप में उपस्थिति, लिया है, तथापि कतिपय अन्य अवधारणाओं को भी इस पद की व्याख्या के संदर्भ में प्रस्तुत किया जाता है। उनका प्रत्यवलोकन प्रस्तुत संदर्भ में भट्टनायक के दृष्टिकोण के स्पष्ट बोध के लिए आवश्यक है।

१. भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः (काव्यप्रदीपः)।[2]

२. अन्यसंबन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांशपरिहारेणोपस्थापनं साधारणीकरंणं (बालबोधिनी)।[3]

३. स्वस्य च नटस्य साधारणान् करोति (संकेतः)।[4]

४. नटं प्रेक्षकांश्च प्रति विभावादीनां साधारणकरणः साधारणीकृतः। (बालचित्तानुरञ्जनी)[5]

५. साधारणीकरणं नियतसंबन्धिगतत्वेनाप्रत्यायने सति प्रत्यायनम्। (सारबोधिनी)[6]

---

१. ध्वन्यालोकलोचन (चौखम्बा-१९९८ सं०) पृ० १८३

२. काव्यप्रदीप, पृ० ६६ (काव्यमाला-१९३३ ई०)

३. वालवोधिनी (वामनाचार्य झलकीकर, पूना-१९२१) पृ० ९१

४. माणिक्यचन्द्र-काव्यप्रकाश संकेत, पृ ७२

५. काव्यप्रकाश: टीकात्रयसंवलितः (प्रयाग-१९७६) पृ० ६८

६. सारवोधिनी (श्रीवत्सलांछन) पृ० ६८

६. विभावादिभिः साधारणीकरणं च रसादिकवित्वभावुकानां भेदाभावेन प्रत्यायनम् (काव्यप्रकाशदर्पणः) ।[१]

७. परित्यक्तविशेषतया साधारणीकृतः, विभावो रामादिः (विवरणम्)।[२]

८. येन विभावादीनि साधारणीक्रियन्ते (सम्प्रदायप्रकाशिनी) ।[३]

९. तत्र भावकत्वं सीताप्रभृतिविभावादीनां यत्राप्यसंभवस्तत्रापि भवद्भावनम् साधारण्यापादनार्थम् (विवेकः) ।[४]

१०. विभावानुभावादीनामनुकार्यपेक्षया पूर्वमसाधारणानां सहृदयेषु यत् साधारणीकरणम् तत्स्वभावेन भाव्यमानः साधारणीक्रियमाणः स्थायी (साहित्यचूडामणिः) ।[५]

११. रामाद्यसाधारणानां विभावादीनां साधारण्येन प्रतीतिर्न स्यात् । तेन च व्यापारेण साधारणीक्रियमाणः...विभावानुभावादीनां रामाद्यपेक्षया पूर्वमसाधारणानां सहृदयेषु यत्साधारणीकरणं (काव्यदर्पणः) ।[६]

इनके अतिरिक्त भी कतिपय आचार्यों ने भट्टनायक की अवधारणा को परिभाषित किया है । यथा—

१. सीतादीनां कान्तात्वादिरूपेणावस्थानम् (रसचन्द्रिका) ।[७]

२. तेन च रामादिरत्यादिभिः सह सामाजिकरत्यादिनामभेदाध्यवसानम् (रसप्रदीपः) ।[८]

३. व्यापारेण विभावादिसाधारण्यं प्रकुर्वताम् ।
साधारणीकृतः स्थायिभावः सामाजिकात्मनि ।। (कर्णभूषणम्)[९]

---

१. विश्वनाथ कविराज, काव्यप्रकाशदर्पण पृ० ६८

२. काव्यप्रकाशविवरण (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) १९६१, पृ० १२८

३. श्री विद्याचक्रवर्ती (काव्यप्रकाश सं० रामचन्द्र द्विवेदी) १९६६, पृ० ६८

४. श्रीधर (काव्यप्रकाश सं० एस० पी० भट्टाचार्य-१०५९), पृ० ६८

५. श्रीभट्ट गोपाल (काव्यप्रकाश, अनन्तशयन-ग्रन्थावली-१९२६) पृ० १११

६. राजचूड़ामणि दीक्षित (काव्यदर्पण, श्रीरंगम्) पृ० १४६

७. विश्वेश्वर पाण्डेय (रसचन्द्रिका, चौखम्बा-१९२६) पृ० ४५

८. प्रभाकरभट्ट (इलाहाबाद-१९२५), पृ० २६

९. गंगानन्द कविराज (निर्णयसागर-१९२६), पृ० ५०

४. निरसाधारणानामपि काव्ये नाट्ये चाभिधापर्यायेण साधारणीकरणात्मना भावनाव्यापारेण स्वसम्बन्धितया विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानाम् (रसार्णवसुधाकरः)।[1]

इन टीकाकारों ने जैसा कि ऊपर कहा गया है कि विभावादि साधारणीकरण का प्रायः यह अर्थ लिया है कि राम-सीतादि पात्र भावकत्व व्यापार के द्वारा निर्विशेषीकृत अर्थात् परस्पर सम्बन्ध से मुक्त होकर प्रमाता की चेतना में अवतीर्ण होते हैं। विभावादि के रूप में प्रस्तुत लौकिक पात्र व्यक्ति-वैशिष्ट्य से मुक्त होकर चरित्र के भावतत्त्व (रामत्व और कान्तात्व) में परिणत हो जाते हैं। संकेतकार के अनुसार नट तथा प्रमाता दोनों वैशिष्ट्य से रहित होते हैं, जबकि विश्वनाथ के अनुसार रसादि, कवि तथा प्रमाता अभेद भाव से संयुक्त होते हैं। इसी प्रकार पूर्व असाधारण अनुकार्यगत भावों का सहृदयों के मन में साधारण रूप में अनुचिन्तन तथा स्व-संबन्धित विभावों का अनुचिन्तन के स्तर पर निर्विशेषीकृत होना साधारणीकरण की परिधि में आता है। अन्यत्र साधारणीकरण में विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी विशेष व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त होकर उपस्थित होते हैं तथा रति स्थायीभाव भी अलौकिक होकर लोक के किसी एक व्यक्ति से सम्बद्ध न रह कर व्यक्ति विशेष की वर्जना तथा स्वीकृति से मुक्त साधारणीकृत होते हैं।

प्रमाता के स्तर पर निर्विशेषीकृत भावों का राग-द्वेष से मुक्त होकर आस्वाद तथा विभावों के स्तर पर सम्बन्ध-वैशिष्ट्य से मुक्ति साधारणीकरण के ये दो ध्रुवान्त हैं। वस्तुतः भट्टनायक का दृष्टिकोण एकान्त वस्तुनिष्ठ अथवा विषयीनिष्ठ नहीं है। निर्विशेषीकरण की प्रक्रिया में प्रमाता के स्तर पर भाव-रूपता का अन्तर्भावन ही अपेक्षित नहीं है, उसका पुनरनुसंधान भी आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कवि की विशिष्ट रागात्मक संचेतना भाषा के कलात्मक, भावप्रवण उपकरणों से सम्पृक्त होकर अभिव्यंजना के स्तर पर अनूदित होते ही जीवन के व्यापक स्तरों से समीकृत हो जाती है। यह समीकरण कवि की तात्कालिक प्रक्रिया का निषेध करता है तथा प्रमाता के स्तर पर अनुभूति की एक आयामिता को विविध अनुभूतियों से संश्लिष्ट कर लोकोत्तर चेतना में पर्यवसित करता है। अभिव्यंजना के धरातल पर काव्यानुभव के रूपायित होते ही कवि की वैयक्तिकता पीछे

---

[1] शिंगभूपाल (रसार्णवसुधाकर-सागर-१९६९), पृ० १०३-१०४

छूटने लगती है। वह स्वयं को समष्टि चेतना का अंगभूत सा अनुभव करता हुआ वस्तु या परिवेश के द्वन्द्व को विश्व-मानव के हृदय में घटित घटना का अविभाज्य अंग मानने लगता है। तात्कालिक प्रतिक्रिया जीवन के प्रति विराग, निर्वेद के संवेदनात्मक ज्ञान को भी उद्बुद्ध कर सकती है।

'काव्यरूप में परिणत होने के लिए उसका अन्तर्भावन अपेक्षित होता है। इस अन्तर्भावन या पुनःसृजन के क्षणों में वह अनुभूति एक विशिष्ट रूप-विन्यास में अन्तर्भुक्त होकर ही आकार ग्रहण करती है। उसका पूर्व स्वरूप मानसिक अन्तराल एवं कल्पनात्मक प्रतिक्रिया के कारण आवृत हो जाता है। इस काव्यानुभूति के दो स्तर होते हैं। प्रथम स्तर पर यह सार्वजनीन प्रतिक्रिया का संश्लिष्ट रूप होती है, जिसमें किसी भाव-सत्य या विचार सत्य की ही पुनरावृत्ति होती है दूसरे स्तर पर यह एक विशिष्ट कलात्मक सृष्टि होती है, जिसमें भाव-सत्य या वस्तुतत्त्व रूप विन्यास में ढल कर सजातीय संयोजनाओं की अपेक्षा एक अभूतपूर्व प्रतिक्रिया जगाता है।'[1] एक उदाहरण लीजिए—तार्किकता के अतिरेक से संत्रस्त मानव का हृदय अनेक बार अवसादग्रस्त एवं कुंठित सा अनुभव करता है। बौद्धिकता के नियन्त्रण से मुक्त होकर वह एक क्षण के लिए विशुद्ध हृदय की रागात्मक अन्तर्दशा का विनिर्मुक्त आस्वाद ग्रहण करना चाहता है, किन्तु नैतिक वर्जनाओं तथा तर्कपूर्ण निषेधों के कारण जब तक वह रस-ग्रहण के लिए तत्पर होता है, तब तक ऊहापोह में जीवन का रस सूख जाता है। कृती व्यक्तियों को वह तार्किक चिन्तन में अवरुद्ध हुए विना जीवन का सौंदर्य रस पीते देखकर अपनी तत्त्वान्वेषिणी बुद्धि का अनेक बार तिरस्कार करता है। अनिवार्यतः यह अमिश्रित आनन्दमयी अनुभूति नहीं है, दिक् और काल की सीमित परिधि में आबद्ध यह अनुभूति प्रमाता के उपचेतन व्यक्तित्व को इतना आत्मसात् कर लेती है कि असंतोष के अतिरिक्त किसी प्रीतिकर अनुभव को दोहराने की मानसिक स्थिति में वह नहीं रहता, किन्तु वह तत्त्वान्वेषी प्रमाता भ्रमर को भयाक्रान्ता शकुन्तला के चंचल अपांगों का स्पर्श करते हुए तथा धृष्ट प्रेमी की भाँति उसकी व्याकुलता का रस लेते हुए देखता है तो राजा दुष्यन्त के तत्त्वान्वेषी तथा भ्रमर के कृती व्यक्तित्व में अपनी अनुभूति का ही पुनरनुसंधान करता है। अभिव्यंजना के स्तर पर उतरते ही यह सम्पूर्ण विम्ब

---

[1] काव्यानुभूति और काव्य सृजन (काव्य-शिल्प के आयाम), पृ० १५४-५५

साधारणीकृत प्रतीक में रूपान्तरित होकर कवि की वैयक्तिक प्रतिक्रिया से उद्भूत होकर भी कवि तथा प्रमाता की अन्तश्चेतना में पुनर्भावित होकर समष्टि चेतना का अविभाज्य अंग बन जाता है।

'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ।'[१]

समष्टि के मानस पर आरूढ़ होकर कवि जिस भाव-सत्य का साक्षात्कार करता है, वह है—'शुष्क तर्क-प्रधान चिन्तन को भी एक क्षण के लिए हृदय-रस से सिक्त करो, केवल तत्त्वान्वेषी न रहो कृती रस-भोक्ता भी बनो।' यह सत्य अनुसंधान नहीं समष्टि सत्य की पुनरावृत्ति है जो वैदिक ऋचाओं से लेकर अद्यावधि अभिव्यक्ति के द्वार खोजती रही है, फिर भी इस सत्य के प्रति कवि की रागात्मक संचेतना जिन अभिव्यंजनात्मक उपकरणों के माध्यम से मूर्त होती है, वह अनुभूत सत्य का पुनरनुसंधान है। अनुभूति का पुनः अनुसंधान या अन्तर्भावन कल्पना की क्रिया है जो एक ओर तो कवि की वासना या चित्तवृत्ति में संश्लिष्ट संस्कार-खण्डों एवं स्मृति-चित्रों का प्रत्याह्वान करके तात्कालिक प्रतिक्रिया को नवीन रूप प्रदान करती है, दूसरी ओर वैयक्तिकता का परिहार कर उसे समष्टि-चेतना के धरातल पर रूपायित भी करती है। कवि के स्तर पर यह विधायक कल्पना है तो प्रमाता के स्तर पर भावकत्व की विधायक कल्पना है जो अपने अन्तःकरण में निहित संवेदना के अनुरूप अनुभूति का पुनःअनुसंधान करती है। पंडितराज ने भावना का अर्थ **'पुनः पुनरनुसंधानात्मा'** किया है। आधुनिक शब्दावली में कहें तो प्रमाता अपने जीवन के संचित अनुभवों तथा अनादि वासना में बद्ध-मूल आद्य बिम्बों के समानान्तर कवि की विशिष्ट जीवनानुभूति का अभिव्यंजनात्मक प्रस्तुति के माध्यम से पुनरनुसंधान करता है। इस अनुसंधान को ही **भाव्यमानो मुहुर्मुहुश्चिन्त्यमानः** कहा है। भट्टनायक ने इस पुनरनुसंधान अथवा भाव्यमान (चर्व्यमाण) अनुभूति को तीन स्तरों पर व्याख्यायित किया है। संवेदन नामक व्यंग्य, पर-संवित्ति (ज्ञानभाव) की साक्षात्कारिता और आस्वादन रूप आत्मा का अनुभव।[२] पर-संवित्ति की गोचरता तथा आत्मानुभव संवेदन के

---

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १/२१ (काले, बम्बई-१९२०) पृ० २५

१. संवेदनाख्यया व्यंग्यः परसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥
(नाट्यशास्त्रम् (भाग,१) पृ० २७७)

धरातल पर समीकृत होते हैं। निश्चय ही कवि का आत्मानुभव तथा कवि की अनुभूति की साक्षात्कारिता दोनों ही विशिष्ट अनुभूतियाँ हैं, किन्तु संवेदनात्मक व्यंग्य में परिणत होकर वे निर्विशेषीकृत होती हैं।

रजस्तमोऽनुवेध तथा सत्त्वोद्रेक

भट्टनायक ने स्मृति आदि से विलक्षण जिस भोग व्यापार की संकल्पना व्यक्त की है, उसमें रजस् तथा तमोगुण का अनुवेध तो रहता है, किन्तु प्रधानता सत्त्वोद्रेक की होती है। इसकी प्रतीति द्रुति, विस्तार तथा विकासरूप में होती है। वेद्यविषयान्तर की समाप्ति के अनन्तर आनन्द और प्रकाश स्वरूप यह भोग परब्रह्म के आस्वाद के सदृश भोजकत्व व्यापार के द्वारा अनुभव किया जाता है। स्पष्टतः रसास्वाद में चरम विश्रान्ति की यह संकल्पना 'रसो वै सः रसो ह्येवायं···' जैसी उक्तियों के समानान्तर विकसित हुई है, किन्तु परब्रह्म में जहाँ रजस् तमस् गुणों के एकान्त तिरोभाव के अनन्तर सत्त्वोद्रेक की संकल्पना व्यक्त हुई है वहाँ काव्यास्वाद में सत्त्वोद्रेक के साथ रजस् तमस् का वैचित्र्य भी आवश्यक है। काव्यास्वाद में सत्वोद्रेक की अवधारणा समाहित मन की अनुचिन्तनात्मक प्रवृत्ति की ओर इंगित करती है। साधारणीकरण की एक भूमि समाहित मन की भी है और यह सात्त्विक मनस्कता मूलतः सात्त्विक भावों के उद्रेक से ही सम्बद्ध है। भरत ने सात्त्विक भावों के उद्रेक तक ही सत्त्व की कल्पना को सीमित रखकर उसे रसांगता से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। किन्तु भट्टनायक सात्त्विक भावों के उद्रेक से आगे बढ़कर सत्त्वोद्रेक की संकल्पना को प्रमाता की चित्तवृत्ति से सम्बद्ध करते हैं। साथ ही वे भरत की समाहितमनस्कता की अवधारणा को भी प्रकारान्तर से प्रमाता की मानसिकता की व्याख्या के लिए स्वीकार कर लेते हैं। रजस् तमस् से अनुविद्ध सत्त्वोद्रेक की, रसानुभूति की भूमिका के स्तर पर स्वीकृति आकस्मिक नहीं है। यह काव्यास्वाद के चरम बिन्दु पर रस को समग्रता एवं अर्थवत्ता प्रदान करती है।

योग, सांख्य, उपनिषद् और वेदान्त में त्रिगुणों की एक अत्यन्त व्यापक कल्पना मिलती है। श्रीमद्भगवद्गीता में जीव और परमात्मा के साधर्म्य के लिए गुणों के परिज्ञान को आवश्यक बताया गया है। ये सत्त्वादि गुण अविद्यात्मक होने के कारण क्षेत्रज्ञ को बाँधते अर्थात् उसी को आश्रय बनाकर अपना स्वरूप व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। इनमें रजोगुण

रागात्मक है, अर्थात् पुरुष को विषय के साथ आसक्त करके तद्रूप करने वाला है और तमोगुण अन्तःकरण में मोह उत्पन्न करने वाला है। ये दोनों गुण सत्त्व गुण से उत्पन्न हुए ज्ञान को आवरण से आच्छादित करते हैं।[1] सत्त्वगुण प्रकाशशील तथा निरुपद्रव है[2] वह आत्मा को अनात्मस्वरूप सुख में नियुक्त कर देता है। स्पष्टतः रजस् तथा तमस् के अनुवेध से सत्त्वोद्रेक की विषय-परक प्रवृत्तियाँ मूलतः विषय-तादात्म्य की उन्हीं विभिन्न मानसिक कोटियों का पूर्वाभास देती हैं, जिन्हें भट्टनायक ने द्रुति-विस्तार-विकास के द्वारा अभिहित किया है। रजोगुण में सक्रियता तथा उपरंजकता स्पष्टतः प्रमाता की उस मानसिक कोटि का संकेत देती है, जिसमें काव्यार्थ के प्रति तृष्णापरक ग्रहणशीलता का भाव रहता है। तद्विपरीत तमोगुण में काव्यार्थ के प्रति मोहात्मक आवेश का तादात्म्यपरक भाव निहित है जिसमें प्रमाता की चेतना अप्रतिरुद्ध रहती है। सत्त्वस्थिति में अन्तःकरण की संज्ञानात्मक (प्रकाशपरक) प्रवृत्ति प्रखर होती है, जिसमें वह बाह्य यथार्थ पर अपनी आत्मा को आरोपित करता है। किन्तु वास्तविक आनन्दभूमि इन तीनों व्यापारों से भिन्न कोटि पर स्थित है, जिसमें विविध अन्तर्दशाओं के रूप में व्याप्त गुणों को प्रमाता साक्षी रूप में साक्षात्कार करता है। साक्षीरूपात्मा इन गुणों का अतिक्रमण करके ही विवेक ज्ञान से रसभाव को प्राप्त होता है।[3] क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तःस्वरूप को निरूपित करने वाली सत्त्व, रजस्, तमस् के गुणों की यह संकल्पना काव्यार्थ के द्वारा प्रेरित होने वाली प्रमाता की मानसिक अनुक्रिया के परवर्ती काव्य-चिन्तन में भी योग देती है। क्रमशः सौंदर्यबोध में जो निरपेक्ष, निःसंग या निर्वैयक्तिक अवधारणाओं का अन्तर्भाव हुआ, उसके

---

१. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १४/१५)

२. तत्र सत्त्वम् निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥ (वही)

३. नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (वही)
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

अंकुर क्षेत्रज्ञ की त्रिगुणातीत उदासीनकल्प अवधारणा में ही निहित हैं। निश्चय ही इस अवधारणा ने परवर्ती रस-शास्त्रीय चिन्तन को भी प्रभावित किया। निःसंगता की अवधारणा के उदय से सौंदर्यानुभव को विलक्षण कोटि के अनुभव के रूप में व्याख्यायित किया जाने लगा तथा कला मूल्यों की स्वायत्तता प्रतिष्ठित हुई।

गुणों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विवेचन सांख्य में है। इन गुणों के नामों में अर्थात् धूलि (रजस्), अन्धकार (तमस्), प्रकाश (सत्त्व) के प्रतीकों में क्रमशः सक्रियता, आवृति तथा ज्ञातता के सूक्ष्म अर्थों की अन्तर्ध्वनि है, तथापि सांख्य में इन तीनों गुणों को यथाक्रम प्रीत्यात्मक, अप्रीतिकर तथा विषादात्मक कहा गया है।[1] व्यास ने इन्हीं को सुख-दुःख-मोहात्मिका वृत्ति कहा है। सांख्यकारिका में इनका प्रयोजन प्रकाश, प्रवृत्ति तथा नियमन भी बताया गया है। तम, सत्त्व तथा रज का नियमन करता है अर्थात् वह प्रकाशशील बुद्धि की सक्रियता को नियंत्रित करता हैं।[2] इस प्रकार रजस्, सत्त्व तथा तमस् को अभिभूत कर विश्रान्ति प्रवृत्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार एक गुण दूसरे का अभिभावक आश्रय तथा जनक है। जैसे सत्त्व गुण रज के प्रवर्तन और नियमन का आश्रय बनकर क्रमशः रजस् और तमस् को अपने प्रकाश से उपकृत करता है। ये तीनों गुण एक दूसरे को उपमर्दित अवश्य करते हैं, किन्तु पुरुष के प्रयोजन के लिए ये प्रदीप के समान मिलकर कार्य करते हैं।[3]

काव्य-शास्त्रीय दृष्टि मे यदि विचार करें तो प्रकारान्तर से ये गुण प्रमाता की विभिन्न मानसिक भूमियों की ओर इंगित करते हैं, जिन्हें सामान्यतः आदर्श प्रमाता की मानसिक तन्मयता की अपेक्षा आस्वाद की विभिन्न कोटियाँ कहा जा सकता है। भरत ने दर्शकों की इन विभिन्न कोटियों का उल्लेख किया है। तरुण काम तथा शूर वीरतापूर्ण कार्यों में

---

१. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥
(सांख्यकारिका, सं डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी-१९६९ पृ० ५९)

२. तमो नियामकमुक्तम् -तत्त्वकौमुदी -वही- १९६७ पृ० ६९

३. -वही- कारिका-१३, पृ० ६८

अनुरक्त होते हैं। इसका यह आशय नहीं कि प्रमाता की मनःस्थिति में विभिन्न अन्तदर्शाओं का योग नहीं होता, किन्तु प्रधानता किसी एक विशिष्ट मनःस्थिति की ही होती है। तरुण की कामवृत्ति के प्रेक्षण की स्पृहा में भी सक्रियता तथा उत्तेजना (रजोगुण) के साथ ऊर्ध्वमुखी औदात्य (सत्त्व) एवं नियमन (तमस्) का भाव भी निहित है। इसी को सांख्य में प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः[1] कहा है—**सत्त्वरजस्तमांसि मिथोविरुद्धान्यप्यनुवर्त्स्यन्ति च स्वकार्यं करिष्यन्ति च।**[2]

प्रधान एवं गौण भाव से परस्पर सहयोगी होकर ये गुण अनेकमुखी प्रतिक्रियाओं में योग देते हैं। जिस प्रकार रूप-यौवन से सम्पन्न एक ही स्त्री पति की प्रीतिकरी होकर भी सपत्नियों के लिए दुःखदा होती है,[3] उसी प्रकार गुणों की सापेक्ष स्थिति है। काव्यार्थ के विषय में भी यह कहना असंगत न होगा कि उसके अनुभावन में प्रमाता की निजी चित्तवृत्ति की सापेक्षता भी महत्त्वपूर्ण होती है। एक स्तर पर काव्यार्थ की अपनी मौलिक प्रवृत्ति उन्मीलित होती है तथा दूसरे स्तर पर प्रमाता की निजी वर्जनाएँ सक्रियता तथा विवेक द्वन्द्वात्मक स्तर पर समाहित होते हैं। सांख्य की त्रिगुणात्मकता से प्रेरणा ग्रहण कर चित्तवृत्तियों की विभिन्न कोटियों की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है, उसके प्रेरक तत्त्वों के मूल में भी गुणों की संकल्पना है। गुण काव्यार्थ को चित्तवृत्ति के अनुकूल उद्दीप्त, आर्द्र तथा आवेशयुक्त बनाने में योग देते हैं इस प्रकार भट्टनायक ने प्रारम्भ में साधारणीकरण की भूमिका के रूप में गुणालंकार-संस्कृत अभिधा-व्यापार की जो संकल्पना व्यक्त की है, उसमें गुण शब्द का प्रयोग विशेष द्रष्टव्य है। काव्य-भाषा में गुणालंकार रागात्मकता में अनूदित होकर प्रमाता की चित्तवृत्ति की विभिन्न अन्तर्दशाओं का

---

१. -वही- पृ० -वही-

२. तत्त्वकौमुदी, पृ० ७०

३. अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्। तद्यथा एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति···सैव स्त्री सपत्नीदुःखाकरोति।
(तत्त्वकौमुदीसहिता सांख्यकारिका, रामशंकर भट्टाचार्य-१९६७ पृ० ७१)

संकेत देते हैं। यह भावना-व्यापार में निहित काव्यार्थ और प्रमाता की चित्तवृत्ति के भेदाभेद सम्बन्ध को स्पष्ट करने में सहायक है।

सांख्य में विकास तथा लय को त्रिगुणों की विषम तथा साम्यावस्था कहा गया है।[1] लय की चरम स्थिति तब प्राप्त होती है, जब रजस् और तमस् सत्त्व में विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार काव्य की लयात्मक विश्रान्ति के लिए मानस में सत्त्वोद्रेक की वह भूमिका आवश्यक है, जिसमें सत्त्व की अपेक्षित मात्रा के साथ रजस् और तमस् प्रमाता के मानस में विलीन हो जाते हैं। निश्चय ही यह विसंवादी अनुभूतियों की संवादी दिशा में समाहिति ही है, जिसे आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा में विरुद्धों का सामंजस्य कहा गया है। आधुनिक संदर्भ में गुणातीत स्थिति को क्रमशः बौद्धिक, भावात्मक तथा मूल प्रवृत्तियों की विरुद्धात्मक समाहिति कहा जा सकता है। अहम् तम से (मोह से) मुक्त होकर रागात्मकता तथा विवेक के नियंत्रण में जाता है। अर्थात् ऐन्द्रिय एवं भावात्मक अनुभूति का अतिक्रमण करने वाली प्रमाता की विवेक चेतना रस-बोध में सक्रिय रहती है। भट्टनायक ने द्रवीभाव, विस्तार तथा विकास के स्तर पर अनुभूतियों को समाहित करने वाली भावक की विविध मानसिक कोटियों का अभिज्ञान प्रस्तुत किया है। यह बात भिन्न है कि परवर्ती चिन्तकों ने इन तीनों प्रवृतियों का संबंध विभिन्न रसों से जोड़ कर 'हासः चेतोविकासः' 'जुगुप्सा चित्तविस्तारः' जैसी प्रकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं।

इस संदर्भ में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि आलंकारिकों ने काव्यास्वाद की चरमावस्था की कल्पना मोक्ष की अवधारणा के रूप में की है। जीव में रजस् तथा तमस् भाव की निवृत्ति के अनन्तर क्लेश बीज के दग्ध होने से कैवल्य की प्राप्ति होती है। यह प्रकारान्तर से मिथ्यारूप से आरोपित भावना से मुक्ति है, जिससे मुक्त हो कर आत्मा साक्षी रूप में अवस्थित होता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने रसास्वाद का विवेचन ब्रह्मास्वाद की भूमिका पर किया है। प्रमाता अल्पज्ञता अथवा भेदभाव की समाप्ति के अनन्तर निज स्वरूपानन्द के साथ अनुभूयमान वासनारूप रति आदि का साक्षात्कार करता है। योगी की भूमिका के समकक्ष प्रमाता की चित्तवृत्ति भी अंशावरण

---

१. सांख्यकारिका, कारिका १२-१५,

भंग के कारण अखण्डानन्द में परिणत हो जाती है। **'भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।'** की तुलना में वे **'रत्याद्यवच्छिन्न-भग्नावरणा चिदेव रसः'** की स्थापना प्रस्तुत करते हैं। आनन्द का आधार जड़ चित्तवृत्ति को मानना उन्हें स्वीकार्य नहीं है। रस-रूप आनन्द को आत्मा का वास्तविक स्वरूप मान कर वे चिदंश के अतिरिक्त किसी अन्य चित्तवृत्ति को रसानुभूति की ब्रह्मास्वादपरक भूमिका में स्वीकार नहीं करते। किन्तु अन्यत्र उनका कथन है कि काव्य और नाट्य में विभावादि का प्रकाश हो जाने पर सामाजिक अपनी सहृदयता से उल्लसित भावनाविशेष दोष की महिमा से स्वयं को अपने मनोमय दुष्यन्तत्व से आच्छादित कर लेता है। तथा स्वयं को दुष्यन्त समझने के कारण उसमें शकुन्तला विषयक साक्षिभास्य रति उत्पन्न हो जाती है। **'अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।'**[2] यद्यपि उनकी अवधारणा वेदान्तसम्मत अनिर्वचनीयतावाद के अनुरूप हैं तथापि इस स्तर पर रस को भ्रमात्मक ज्ञान मान कर व्यंजना-ग्रहीत रति से अभिन्न स्तर पर व्याख्यायित किया गया है। वस्तुतः अज्ञान-दोषजन्य रति से लोकोत्तर आह्लाद की पूर्ववर्ती संकलपना के समानान्तर यह अवधारणा अन्तर्विरोध की सृष्टि करती है। यह विरोधाभास मूलतः चित्तवृत्ति की उस मानसिक भूमिका की स्वीकृति का परिणाम है जो रसास्वाद को अखण्ड आनन्दमयी चेतना मानती है। नव्यालोचन में प्रमाता की मानसिकता के अनेक आयामों को स्वीकृति मिली है और भट्टनायक की रजस्, तमस् से अनुविद्ध सत्त्वोद्रेक की अवधारणा विसंवादी अनुभूतियों के समन्वय से उद्भूत होने वाली संवादी अन्तश्चेतना की भूमिका निर्मित करती है।

प्रेक्षक में भोक्ता की अखण्ड रसानुभूति ही नहीं, एक सीमा तक स्रष्टा की सर्जन क्षमता भी होती है। भरत ने प्रेक्षक को सुमनस्प्रेक्षक कहा है, जिसमें स्पष्टतः प्रमाता की स्वतन्त्र मानसिकता की स्वीकृति है। प्रमाता की चिति का विस्फार भी **'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'** तथा **'आत्मेव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः'** की भूमिका से भिन्न नहीं है। पंचरात्रागमों में ईश्वर को **निस्त्रैगुण्य** कहा गया है, किन्तु वह ज्ञान ऐश्वर्य, शक्ति आदि

---

[1] रसगंगाधर, काव्यमाला-१९३०, पृ० २३

[2] रस गंगाधर पृ० २५

गुणों से युक्त भी है। प्रेक्षक की स्थिति भी इसी के समकक्ष है। एक स्तर पर जहाँ वह वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता की स्थिति में काव्यार्थ का साक्षात्कार करता है, वहाँ अपनी भावना में निर्मित चेतना के आधार पर उसका प्रतिरोध भी करता है।[1] निश्चय ही यह प्रतिरोध प्रत्यभिज्ञान-मूलक होता है।

भोग-व्यापार

भावकत्व व्यापार की सीमा रस के भावित करने तक ही है। साधारणीकरण इसी भावकत्व का अभिन्न अंग है।[2] रस के भावित होने पर रस-भोग का कार्य भोग-व्यापार द्वारा निष्पन्न होता है।

यह भुक्ति अनुभव स्मृति आदि से विलक्षण अनुभूति है। रजस् एवं तमस् के मिश्रण के कारण यह द्रवीभाव विस्तार तथा विकास रूप चैतन्य की अभिव्यक्ति है। यह सत्त्वगुण के प्राधान्य से प्रकाश रूप में परिणत होने वाली आनन्दमयी संवित् से अभिन्न विश्रान्ति स्वरूप है तथा परब्रह्म के आस्वाद की समानधर्मा है। वस्तुतः रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध विगलित वेद्यान्तरूप आनन्द परब्रह्म के आस्वाद से अभिन्न नहीं है, उसीकी समान कोटि का है, क्यों कि सत्त्व के उद्रेक में रजस्-तमस् के मिश्रण से विसंवादी तत्त्वों का अध्याहार उसके स्वरूप को विशिष्ट वना देता है।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

रस भोग की भट्टनायक निरूपित अवधारथा को परवर्ती आचार्यों एवं टीकाकारों ने सांख्य एवं शैव दर्शन के आधार पर पृथक्-पृथक् विश्लेषित किया है। प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर, रस-चन्द्रिकाकार विश्वेश्वर पाण्डेय,

---

[1] The spectator's willingness to indentify himself with characters on the stage, or to have feeling for conditions that are not his own temporarily to understand them, perhaps later to reject them is the dramatist's greatest asset, his means of reaching out to an audience to win it or repel it.

(J.L. Styan) The Dark Comedy (Cambridge-1968) P. 251

[2] तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १८३)

हिरयन्ना, पी० वी० काणे आदि प्राचीन अर्वाचीन समीक्षकों ने भट्टनायक को सांख्यवादी कहा है ।[1] सांख्य के अनुसार पुरुष भोक्ता है । भोक्ता का अर्थ है, प्रकृति का निर्विकार द्रष्टा अर्थात् एक स्तर पर वह प्रख्या का द्रष्टा (ज्ञाता) है तो दूसरे स्तर पर प्रकृति का द्रष्टा, भोक्ता भी है । आशय यह है कि सांख्य में भोक्ता का स्वरूप मूलतः निरपेक्ष द्रष्टा का है, जिसमें बुद्धि आदि के व्यापारों के शान्त हो जाने पर उपद्रष्टा के रूप में भोक्ता का अस्तित्व उद्भासित होता है ।[2]

सांख्य में भोग और अपवर्ग का संस्कार ही जीव के कर्मों को प्रेरित करता है, अपवर्ग प्राप्त हो जाने पर चित्त विकाररहित हो जाता है । भोग में आलोचन, संकल्प और अभिमान बुद्धि में उपसंक्रान्त होकर ऐन्द्रिय व्यापारों को अध्यवसित कर लेते हैं ।[3] ज्ञातव्य तथ्य यह है कि भट्टनायक के भोग व्यापार में अपवर्ग की संकल्पना भी निहित है । रसभोग-काल में प्रमाता की चेतना भावित रस का भोग ही नहीं करती, प्रकाशानन्दमय संवित् विश्रान्ति की भूमिका पर भी संक्रमित होती है । कहने की आवश्यकता नहीं कि रजस्, तमस् और सत्त्व गुण की त्रिगुणात्मक परिकल्पना सांख्य की है, किन्तु भट्टनायक ने काव्यानुभूति के अनुकूल रजस्-तमस् के मिश्रण का संकेत देकर रसानुभूति में विशुद्ध ऐन्द्रिय ज्ञान से लेकर मानस-साक्षात्कारात्मक अनुभूतियों तक को समाहित किया है ।

मौलिक उद्भावक किसी एक दर्शन से प्रतिबद्ध नहीं होता । विविध चिन्तन सम्प्रदायों के अन्तःसूत्रों को समाकलित कर अपने अनुभूति-परिवेश में उनकी पुनर्व्याख्या प्रस्तुत करता है । भट्टनायक ने भी सांख्य, अद्वैत एवं शैव दर्शन की विविध अवधारणाओं को आत्मसात् कर प्रमाता की द्वैताद्वैतपरक भूमिका प्रस्तुत की है । आत्मतत्त्व परमशिवरूप, विश्वात्मक एवं प्रकाश-

---

१. सत्त्वरजस्तमसां गुणानामुद्रेकेण क्रमात्सुखदुःखमोहाः प्रकाश्यन्ते । उद्रेकश्च स्वेतरावभिभूयावस्थानमिति सांख्यसिद्धान्तानुसारेण विवृणुते ।
(काव्यप्रदीप, पृ० ६६)

२. सांख्यतत्त्वकौमुदी ज्योतिष्मती, पृ० २७१

३. संकल्पाभिमानाश्च, तत्तद्रूपपरिणामेन बुद्धावुपसंक्रान्ताः, तथेन्द्रियव्यापारा अपि बुद्धेरेव स्वव्यापारेणाध्यवसायेन सहैकव्यापारीभवन्ति ।
(वही) पृ० १२३-२४

विमर्शमय है,[1] उसके प्रकाश के आधार पक्ष में शक्ति नाना रूपों में उन्मीलित होती हैं। यह शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप है तथा शक्ति से संयुक्त होकर ही शिव, शिवरूप में अवतीर्ण होते हैं।[2] यह शक्ति मूलतः चित् शक्ति है, जो अनुत्तर विमर्श के धरातल पर विश्रान्ति में परिणत होती है।[3] समग्र सृष्टि, चित्-शक्ति का उन्मेष ही हैं, अनुत्तर विमर्श के धरातल पर चित्त-शक्ति का अपने प्रकाश में उन्मिषित होना ही रसभोग की भूमिका है।

वस्तुतः भट्टनायक ने प्रमाता के व्यष्टिनिष्ठ आत्मास्वाद को समष्टि-मूलक चैतन्य की आस्वादमयी भूमिका के विवेचन के लिए 'निजचित्स्वभाव-निर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः' को प्रकाशानन्दमय स्तर पर प्रस्तुत किया है। रसास्वाद में अन्य चित्तवृत्तियों के अनुवेध से उन्मिषित वैचित्र्य को भी उन्होंने स्वीकृति दी है। सांख्य के निरपेक्ष द्रष्टा को आत्मतत्त्व रूप परमशिव से संयुक्त कर प्रमातृगत रागात्मक तन्मयीभवन की प्रक्रिया में विवेक-चेतना की स्फूर्ति की अनिवार्यता को भी उन्होंने स्वीकार किया है। अद्वैत वेदान्त का प्रभाव भी इस द्वैताद्वैतमयी भूमिका को सघन करता है। प्रभाटीका के अनुसार सत्त्वोद्रेक का परिणाम आवरणभंग है 'तदन्तरञ्च भोजकव्यापारेण सत्त्वोद्रेकादावरणभङ्गे सति आनन्दात्मकचैतन्यविषयीकरणरूपा मुक्तिरिति'[4] पंडितराज जगन्नाथ ने आवरणभंग को को रसास्वाद की भूमिका का आधार बनाया। आधुनिक दृष्टि से यह रस का वर्जनामुक्त आस्वाद है। आशय यह है कि प्रमाता की द्वैताद्वैतपरक रस-भोग की वह भूमिका जिसमें वर्जनामुक्त आत्म-चैतन्य के अनुसंधान के साथ काव्यवस्तु के वैशिष्ट्य के

---

[1] आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः ॥
(शिवदृष्टिः प्र०आ० : २)

[2] पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती···शिवभट्टारकाभिन्ना ।
(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० २)
न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते ।
शक्ति-शक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥ (शिवदृष्टि ३-२-३)

[3] प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः···स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात् ।
(तंत्रसार, पृ० ४६ से कश्मीर शैविज्म)

[4] काव्यप्रदीप (प्रभा टीका), पृ० ६६ ।

प्रति उन्मुख प्रमाता की विवेक-चेतना का भी स्पर्श रहता है, भट्टनायक के अवधारणा केन्द्र में एकान्त वाह्य नहीं है। इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में सहृदय-भोक्ता प्रत्यभिज्ञादर्शन एवं सांख्य दर्शन के परम-शिव रूप आत्मतत्त्व तथा पुरुषतत्व की संधि चेतना का ही साक्ष्य देता है।

इस अवधारणा में काव्यवस्तु के प्रति प्रमाता की विवेकपरक चेतना तथा तन्मयीभवन के अनुषंग समाहित हैं। पुरुषबहुत्व (सांख्य) की अवधारणा से प्रमाता के व्यक्ति-वैचित्र्य तथा रुचिवैभिन्य को स्वीकृति मिली।[1] सांख्य में बुद्धि एवं विवेक की स्वीकृति है। इसके अतिरिक्त भोक्ता मात्र पुरुष ही है, प्रकृति केवल भोग के उपादान जुटाती है। यह भूमिका अनुकार्य अथवा नट में रसास्वाद के निषेध का आधार बनी। पुरुष में भोक्ता तथा निरपेक्ष द्रष्टा का द्वैत क्रमशः उपादान सामग्री (नट), पात्रों के अन्तःसम्बन्ध एवं अभिव्यंजना के वैशिष्ट्य को क्षीण कर प्रमाता की मानस भूमिका पर साधारणीकृत करता है। इस संदर्भ में भट्टनायक भोग को स्मृति अनुमान आदि से विलक्षण व्यापार निरूपित करते हैं। आशय यह है कि इस अनुभूति में परसंवित्तिगोचरता मूलतः आत्मानुसंधान से समीकृत है। भावकत्व के द्वारा जहाँ पात्रों से असाधारण अन्तःसंबंध के लोप तथा सामान्य धर्मों के आविर्भाव से उत्पन्न निर्विशेषीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होती है, वहाँ प्रमाता की वेद्यान्तर संदर्भों से मुक्त साधारणीकृत भूमिका रस भोग के सीमान्त पर ही प्रतिफलित होती है। दोनों व्यापार परस्पर संयुक्त होकर नाट्य वस्तु अथवा काव्यार्थ को प्रमाता की आत्मास्वादमयी चेतना में परिणत कर देते हैं।

आधुनिक दृष्टि से विचार करें तो भट्टनायक के सम्मुख अनुभूति के दो ध्रुवान्त थे। एक स्तर पर अति-प्राकृत, अति-मानवीय शक्तियों का उदात्त अलौकिक परिवेश था तो दूसरे स्तर पर जीवन के सामान्य लौकिक राग-द्वेष मूलक क्षुद्र अनुभव थे। प्रमाता की चेतना में प्रथम अपनी असाधारणता एवं अति-प्राकृत आतंक के कारण साधारणीकरण में बाधा डालता है तो दूसरी निजी जीवन की संकीर्णताओं तथा मानवसुलभ क्षुद्रताओं के कारण प्रमाता

---

१. पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव (सां० का० १८)
अयुगपत्प्रवृत्तेश्च इति। प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा यद्यप्यन्तःकरणवर्तिनी, तथापि पुरुषो उपचर्यते।
—सांख्यतत्त्वकौमुदी (सं० रामशंकर भट्टाचार्य) १९६७, पृ० ८७

की रागद्वेषमूलक स्वगत अनुभूतियों को प्रतिबिम्बित करता हुआ सा स्मृति चित्रों के रूप में पुनरुद्भावित होता है। भट्टनायक अनुभूति के इन दोनों सीमान्तों को निषेधमूलक प्रतीतियों में रूपान्तरित कर साधारणीकरण की ओर उन्मुख होते हैं। क्रमशः आद्य प्ररूपों में निहित आतंक, विस्मय एवं औदात्य के तरलायित तथा मानव की लघुता में निहित आन्तरिक गरिमा के उद्भासित हो जाने से इतिवृत्त के स्थूल आवरण में निहित भाव-सत्य मुक्त होकर मानव-चैतन्य की प्रतिष्ठा करता है। साधारणीकरण इन दोनों भूमिकाओं का आत्मसात् करता है। क्षुद्र मानव की जिजीविषा तथा देवत्व का रहस्यमय आलोकवलय दोनों ही प्रमाता के मनोजगत् में अन्तः प्रतिबिम्बित होकर सामरस्य में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार भट्टनायक की साधारणीकरण की अवधारणा में भावक का अन्तरंग प्रवेश रसानुभूति को अधिक व्यापक आयाम देता है। सहृदय के आन्तरिक सामर्थ्य की स्वीकृति तथा वस्तु एवं प्रमाता के अन्तःसम्बन्ध की द्वन्द्वात्मक स्वीकृति भट्टनायक की साधारणीकरणविषयक अवधारणा को जीवन-यथार्थ की विश्लेषण परिधि से बाहर नहीं रहने देती। कलानुभूतिजन्य तन्मयता तथा ईश्वरानुभूतिजन्य वेद्यान्तर-शून्य चित्तवृत्तिकी एकाग्रता के साथ निरपेक्ष द्रष्टा की विवेक चेतना का समीकरण प्रस्तुत कर वे अपनी अवधारणा को आधुनिक नाट्य एवं काव्य परिवेश की व्याख्या के लिए उपयुक्त सिद्ध करते हैं।

भट्टनायक के भोग व्यापार की अवधारणा को अभिनव ने इस आधार पर अप्रामाणिक ठहराया है कि अनुमान स्मृति अभिव्यक्ति तथा प्रतीति से व्यतिरिक्त भोग विशिष्ट व्यापार नहीं हो सकता।[1] सत्त्वादि गुणों के अंगांगी संबंध के कारण अनन्त वैचित्र्य की कल्पना करनी पड़ेगी।[2] वस्तुतः भट्टनायक की अवधारणा में अनुभूतियों के वैचित्र्य की कल्पना नहीं, अपितु अनुभूतियों के संघात से उद्भूत विवेक तथा रागात्मक चेतना के समीकरण की स्वीकृति है। प्रत्यक्ष, अनुमान अनुभूति को एक आयामी बनाते हैं, जबकि प्रमाता की भावना में अन्तर्भावित होकर संवादी एवं विसंवादी संवेदन

---

१. प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः।

—नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) पृ० २७७

२. सत्त्वादिगुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति कर्तृत्वे, नेयत्ता।
-वही- पृ० -वही-

स्पर्धामूलक समन्वय में परिणत होते हैं। इस प्रकार कवि के समानान्तर प्रमाता भी काव्यगत विशिष्ट अनुभूति को अखण्ड काव्यास्वाद में परिणत करने से पूर्ण संवेदनों के अनेक स्तरों पर ग्रहण करता है। अत: भोगीकरण को पिशाचीकरण कह कर उसके वैशिष्ट्य को स्वीकार न करना हृदय-संवाद के मौलिक आयाम का निषेध करना है। अभिनय स्वयं चर्वणा, आस्वादन आदि प्रतीतियों की प्रासंगिकता स्वीकार करते हैं।[1] स्पष्टतः आन्तरिक समानता होने पर भी भोग व्यापार चर्वणा की निष्क्रिय आत्मास्वादमूलक भूमिका से भिन्न अनादि वासना पर आधृत सौंदर्यबोध को परिभाषित करता है, जिसमें मानव की आन्तरिक सक्रियता की स्पष्ट स्वीकृति है।

शब्द एवं अर्थ की निरावृत अविकल अभिव्यक्ति काव्य नहीं है। कलागत सत्य के रूप में उसकी अवतारणा ही उसे प्रमाता के स्तर पर संवेद्य बनाती है। अत: अभिनव का यह कथन कि अभिधा से भिन्न व्यञ्जनात्मक ध्वनन व्यापार ही काव्यार्थ में उपयोगी है तथा भोगीकरण मूलतः रस का ध्वनन व्यापार है[2], अंशतः ही सत्य है। ध्वन्यर्थ समग्र काव्य प्रसंग के सारभूत प्रभाव की बौद्धिक प्रतीति कराता है। संवेदनात्मक परितुष्टि के अभाव में व्यंजना का प्रभाव क्षीण हो जाता है। विदग्ध उक्तियों तथा चमत्कारपूर्ण काव्यांशों में व्यंजना व्यापार अधिक सक्रिय होता है, किन्तु विविध भंगिमाओं और अर्थच्छाओं को प्रमाता की चेतना के विविध स्तरों पर संक्रमित करने में भावना ही समर्थ है। अभिनव ने जिस अबोधपूर्वा स्मृति को काव्यानुभूति के आस्वाद का आधार बनाया है, उसके वातायन भावना व्यापार में ही खुलते हैं, एक क्षीण अनुभूति प्रत्यभिज्ञान के स्तर पर संख्यातीत पूर्वानुभूत जीवन सत्यों को रागात्मकता में पर्यवसित कर उनके साथ मानव की आभ्यन्तर अस्मिता का जीवन्त संदर्भ जोड़ती है।

---

[1] १. किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु। तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्। (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १८७)

[2] २. -वही- पृ० १८९

निष्कर्षत विभावादि साधारणीकरणात्मा भावकत्व व्यापार एकान्त रूढ़ अथवा गतिहीन अवधारणा नहीं हैं। यद्यपि इस अवधारणा का उपयोग पूर्व-निर्धारित स्थिर अथवा आदर्शीकृत चरित्रों की निर्विशेषीकृत अनुभूति के लिए किया गया है, किन्तु गतिशील चरित्रों के प्रति प्रमातृगत अनुक्रिया के विवेचन में भी इसकी सहायता अनिवार्य रूप से ली जा सकती है। यहाँ विभावादि के साधारणीकरण का आशय कृति की सर्जनात्मक संभावनाओं के अनुरूप चरित्र की उस गतिशील प्रकृति के उन्मीलन से है, जिसमें पात्र अपनी विशिष्ट संभावनाओं के अनुरूप क्रमशः अपनी प्रकृति को अर्जित एवं आचरण को परिभाषित करता है।

'विभावादिसाधारणीकरणात्मना'—सीता की कान्तात्व में परिणति

भट्टनायक ने 'विभावादि साधारणीकरणात्मना' का आशय स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु परवर्ती आचार्यों एवं टीकाकारों के अनुसार इसका अर्थ यह भी है कि काव्यगत विभाव आदि असाधारणता अथवा वैशिष्ट्य से मुक्त हो कर अपनी साधारणता को उन्मीलित करते हुए निर्विशेषीकृत होते हैं। इस निर्विशेषीकरण की प्रक्रिया में सीतादि पात्र जहाँ नियत संबंधों से मुक्त होते हैं, वहाँ दूसरे स्तर पर कामिनीत्व मात्र में उनका पर्यवसान हो जाता है। इस दृष्टि से कतिपय व्याख्याएँ उल्लेखनीय हैं—

१. साधारणीकरणं नियतसंबंधिगतत्वेनाप्रत्यायने सति प्रत्यायनम् परिहृतसीतात्वादिविशेषैः (सारबोधिनी)

२. साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादि सामान्यनोपस्थितिः (काव्यप्रदीप)

३. अन्यसंन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांश-परिहारेणोपस्थापनं साधारणीकरणम्। (बालबोधिनी)

---

१. काव्यप्रकाशः टीकात्रयसंवलितः (केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठम्, प्रयागः) १९७६ ई०, पृ० ६८, ७५

२. काव्यप्रदीप, पृ ६६

३. काव्यप्रकाश, वामनाचार्य (झलकीकर) पूना-१९२१, पृ० ९१

> **विभावादिरूपसीतादयो रामसंबन्धिनी रतिश्च सीतात्वरामत्व-संबन्धांशमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतित्वादिनैवोपस्थाप्यते । (बालबोधिनी)**

इसी प्रकार लोचन के तद्विभावादीनां साधारणत्वपादनं की व्याख्या बालप्रियाकार ने सामान्येनोस्थापककत्वं रूप में की है ।[1] यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि रस की स्वगतप्रतीतिमूलक निष्पत्ति के संदर्भ में भट्टनायक इस संभावना का निषेध कर चुके हैं कि सीतादि को सामाजिक का प्रत्यक्ष विभाव स्वीकार कर लिया जाए । इस अस्वीकृति के दो कारण हैं 'सीतादेरविभावत्वात्' 'स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्' । प्रथम, ऐतिहासिक सीता की अविद्यमानता के कारण प्रमाता का मंचस्थ नटी को विभाव बनाना कठिन है । द्वितीय, नटी में प्रक्षिप्त प्रेयसी को भी वह आलम्बन नहीं बना सकता, क्योंकि रसबोध के क्षण में प्रेयसी की संवेदनात्मक स्मृति का होना आवश्यक नहीं है । इस निषेध का एक तीसरा कोण है, जो जगज्जननी सीता को रति का आलम्बन बनाने की नैतिक वर्जना से सम्बद्ध है । इस संदर्भ में भट्टनायक इस समाधान की संभावना को भी अस्वीकार करते हैं कि सीता में निहित सामान्य कामिनीत्व या कान्तात्व[3] सामाजिक की रति को उद्बुद्ध कर सकता है। **न च कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतु विभावतायां प्रयोजकम् ।**[2]

अब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि प्रतीतिवाद में सीता में निहित कान्तात्व-साधारण सामाजिकगत रति के विकास में प्रयोजक क्यों नहीं है ? एवं भावना व्यापार के अन्तर्गत सीतादि का कान्तादि में पर्यवसान का सैद्धान्तिक आधार क्या है ? वस्तुतः प्रतीतिवाद के अन्तर्गत सीता की विशुद्ध कामिनी रूप में उपस्थिति एकान्त स्वरूपगत है, प्रभावगत नहीं है। अतः यदि वह सामाजिक की प्रेयसी के साधारण धर्मों से अन्वित हो कर उपस्थित भी होती है तो सामाजिक उसे अकुंठित वर्जनामुक्त भाव से ग्रहण नहीं कर पाता ।

---

१. ध्वन्यालोकलोचन (बालप्रिया, चौखम्बा सं० १९९७), पृ० १८३

२. ध्वन्यालोकलोचन (बालप्रिया), पृ १८१

३. प्रयोजकमिति । तथा च सीतायाः मानुषीत्वेन सीतादौ सहृदयानां कान्तात्वसंवेदनं भवतीति भावः । बालप्रिया, पृ० १८१

अंशत: आराध्यत्व एवं अगम्यात्व[1] की पाप-भीति उसके रत्यास्वाद को अनाविल नहीं रहने देती; और यदि सीता कान्ता मात्र की सामान्य भूमि पर अवतीर्ण हो कर कान्तोचित धर्मों को उन्मीलित भी करती है तो वहाँ द्रष्टा की भूमिका पर ही सामाजिक उसका साक्षात्कार करेगा,. भोक्ता की भूमिका पर नहीं। तद्विपरीत कान्तात्व भाव्यमान हो कर स्वरूपमात्र में स्थित न रह कर वर्णन के सारभूत प्रभाव में व्याप्त हो जाता है। इस स्थिति में सीता स्थूल नामरूपात्मक देशकाल से नियंत्रित वैशिष्ट्य से मुक्त हो कर उस भाव सत्य को उन्मीलित करती है, जो मानव मात्र की प्रेयसी के आदर्श गुणों का प्रतीकीकृत समवाय है। आदर्श शब्द से यहाँ आशय किसी शाश्वत अथवा आध्यात्मिक मूल्य से नहीं है, एक विशिष्ट परिस्थिति को मनुष्य निरन्तर अपनी अन्त:क्रिया से परिशोधित एवं परिभाषित करता है, जिस की अशरीरी उपस्थिति उसके व्यक्तित्व का विकास एवं संस्कार करती है। स्थिति एवं व्यक्तित्व की अन्त:क्रियाओं की चरम अपेक्षाएँ ही वे आदर्श मूल्य हैं, जो किसी पात्र में सम्मूर्तित हो कर प्रमाता को आत्मानुसंधान के लिए प्रेरित करते हैं। यह तथ्य रामवल्लभा सीता के व्यक्तित्व के कुछ चित्रों से अधिक स्पष्ट हो सकेगा। सीता के दिव्य अमानुषी व्यक्तित्व का क्रम विकास इस प्रकार है—

नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा न च पन्नगी।
तुल्या सीमन्तिनी तस्या मानुषी तु कुतो भवेत् ।।[2]

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।।[3]

किन्तु दिव्यत्व के स्वीकृत मूल्य के आधार पर प्रमाता सीता के चरित्र का जब अनुसंधान करता है तो उसे कहीं वह हाव-भाव, लीला विलास,

---

१. देवतास्वमात्रादेर्नायिकात्वेन वर्णनस्थले देवतादावाराध्यत्वज्ञानेन प्रतिबन्धात्तत्र काम्यत्वरूपकान्तात्वसंवेदनं भवतीत्यर्थः।
(वही - पृ १८१)

२. वा० रा० अरण्यकाण्ड ३१/३० पृ० ५६२

३. मानस, बालकाण्ड श्लोक ५

विच्छति के ललित वलय से घिरी रतिमुग्धा प्रणयिनी[1] कहीं मार्ग के श्रम से परिश्रान्त सुकुमार, अभिजात रमणी[2] कहीं चारित्र्य की शुद्धता पर शंका व्यक्त किए जाने से आहत प्रपीडिता अवला और फिर उस लांछिता की रोष और घृणा उडेलती व्यंग्यमयी वाणी[3] और इन सव के वीच निराशा से उदासीन अपकार के कारण क्रुद्ध दीर्घकालीन वियोग के अनन्तर आकस्मिक मिलन से विस्मित, सौजन्य से प्रसन्न प्रेमी की करुण दशा के साक्षात्कार से वेदना-विह्वल[4] चिरन्तन नारी के रूप में दिखाई पड़ती है। सीता के व्यक्तित्व में निहित आत्माभिमान, स्वतन्त्र चिन्तन, सात्त्विक आक्रोश अथवा उसकी विडम्बनापूर्ण नियति के विविध कोणों को एक क्षण के लिए विस्मृत कर यदि उसके विशुद्ध प्रणयिनी अथवा कामिनी रूप पर ही विचार करें, तो भी उसमें व्यापक वैभिन्न्य से युक्त वहुआयामी धरातल दृष्टिगोचर होता है। तुलसी में उसका कामिनीरूप एकान्त मर्यादित है। भवभूति में उसका कान्तात्व अनिर्वचनीय तरल गीतिमय[5] स्तर पर है, जिसमें परस्पर संसक्त

---

[1] पृथुलजघनभार मन्दमान्दोलयन्ती।
मृदुचलदलकाग्रा प्रस्फुरत्कर्णपूरा॥
प्रकटितभुजमूला दर्शितस्तन्यलीला।
प्रमदयति पतिं द्राग्जानकी व्याजनिद्रा॥
(हनुमन्नाटकम् २/१७, चौखम्बा-१९६७ पृ० ३८)

[2] हनुमन्नाटकम् ३/१२, पृ० ५०

[3] वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥
रघुवंशमहाकाव्यम् ४/६१ पृ० १८५ (कालिदास-ग्रन्थावली)

[4] तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा-
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन्क्षण इव।
(उत्तररामचरितम् ३/१४ पृ० ६०)

[5] किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥
किमपि अनिर्वाच्यं यथा तथा (घनश्याम संजीवनी) पृ० १७

कपोल और दृढ़ आलिंगन की ऐन्द्रिय भूमि में आत्मिक संसक्ति धूमिल नहीं पड़ती। कालिदास में यह प्रणयतृषा ऐन्द्रिय ज्वार के रूप में व्यक्त हुई है, जहाँ स्तनों पर नखक्षतों में दोष-दर्शन का भी अवकाश नहीं है।[1] वाल्मीकि में यह दाम्पत्य प्रेम के उत्सव का प्रतीक है[2] तो हनुमन्नाटक में उसका प्रणयिनीत्व उत्तान शृंगार का रंगस्थल ही है।[3]

देवतादि का साधारणीकरण

जो कुछ मानसिक प्रतिबन्धों के कारण काव्यास्वाद की भूमि में अभोग्य अथवा अनुभव के क्षेत्र से बहिष्कृत है, उसे भोग्य तथा अनुभूति का विषय बनाना साधारणीकरण की प्रमुख भूमिका है। प्रमाता अपने अन्तःक्षेत्र में दो प्रकार के अनुभव-खण्डों से साक्षात्कार करता है। कुछ अनुभव-खण्ड उसके चतुर्दिक् के वातावरण से एकान्त असम्पृक्त नहीं होते, किन्तु सम्भाव्यता के स्तर पर वे जिन असाधारण आदर्श विम्बों की सृष्टि करते हैं, उनके माध्यम से प्रमाता शेष मानव सृष्टि के साथ सहज ही अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर अनुभूत क्षण का पुनः साक्षात्कार करता है। इन विम्बों में विसंवादी प्रभाव को तीव्र करता हुआ युग का आहत अभिमान, क्रूरता का दम्भ, असफल प्रणय पीड़ा के दंश मिले रह सकते हैं।[4] किन्तु यह सब कुछ प्रमाता का अनुभूत सत्य होता है, अपने व्यक्ति की संकुचित सीमा से मुक्त हो कर वह उनका निर्व्याज, निर्हेतुक भोग करता है। इस स्तर पर काव्यार्थ

---

[1] प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्।
रघुवंश १२/१२२, पृ० १५२ (कालिदास-ग्रन्थावली)

[2] ततः श्रान्ताहमुत्संगमासीनस्य तवाविशम्।
परिश्रमाच्च सुप्ता हे राघवांकेऽस्म्यहं चिरम्।
पर्यायेण प्रसुप्तश्च ममांके भरताग्रजः॥
(वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्ड ३८/१९-२१, पृ० ९६४, गोरखपुर)

[3] गाढं गाढं कमलमुकुलं पुण्डरीकाक्षवक्षः
पीठं काठिन्यमपि कुचयोर्जानकी मामकीर्णा॥ हनु० २/११

[4] The whips and scorns of time, the oppressors wrong, the proud man's contumny. The pangs of despised love.
Hamlet Act, III scene 1

और उसकी मानसिक भूमि में मानसिक अन्तराल अत्यन्त संतुलित रहता है[1], न इतना क्षीण कि वह अनुभूति स्वगत प्रतीति में परिणत हो जाए, न इतना स्थूल कि काव्यार्थ एकान्त, तटस्थ परगत प्रतीति सा प्रतीत होने लगे। आशय यह है कि राम, सीता आदि के दिव्य गरिमामण्डित व्यक्तित्व के आयाम भी उसके अनुभूत सत्य के कोणों की ही एक स्तर पर पुनरुद्भावना करते हैं। उत्तररामचरितम् में राम का अलौकिक दाम्पत्य प्रेम तथा विरह वेदना का उत्कट ज्वार इसी परिधि में आते हैं। सुख दुःख में एक रूप सभी अवस्थाओं में अपरिवर्तित हृदय की विश्रान्तिमूलक प्रणय एक कालातीत अनुभूति है[2] जो प्रमाता की अन्तःपरिधि में घिर कर भी सम्भाव्य भूमि पर आदर्श एवं काम्य बनी रहती है। यह लौकिक प्रणय की ही नहीं शाश्वत रसानुभूति की मधुमती भूमिका है, जिसमें प्रमाता प्रमेय की अद्वैत चेतना, आत्म-विश्रान्ति देशकालातीत अनुभूति के अपरिवर्त्यमान अनुषंग जुड़े रहते हैं। प्रमाता एक स्तर पर यदि प्रणय की इस चरम-आदर्श अनुभूति का पुनः साक्षात्कार करता है, तो दूसरे स्तर पर वह अनुभव की लौकिक परिधि में इन दिव्य पात्रों का मनोवांछित सरल रूप भी देखता है, जो सुख, दुःख, हर्ष एवं पीड़ा की ऋजु तरल अनुभूतियों के धरातल पर उसका चिर अनुभूत जीवन्त सत्य है। सीता मानवी है, सहज प्राकृत मानवी, जो रथारोहण के

---

१. It is Distance which on one side prevents the emptying of Art of its concreteness and the development of the typical into abstractness; which, on the other, suppresses the directly personal element of its individualism; thus reducing the antitheses to the peaceful interplay of these two factors. It is just this interplay which constitutes the 'Antinomy of Distance.'

(Edward Bullough) A Modern Book of Esthetics.
p. 410-411

२. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

(उत्तररामचरितम् १/३९, पृ० २५)

समय सहज भाव से कह सकती है **‘स्फुरति मे गर्भभारः। शनैर्गच्छावः’**[1] अनुभूति का ऐसा निर्व्याज प्रकाशन घनश्याम की दृष्टि में आभिजात्य संस्कारों के प्रतिकूल हो सकता है[2], किन्तु साधारणता में ही दिव्य मानवी की असाधारणता निहित है। इसी प्रकार राम की विरह वेदना की उत्कट अभिव्यक्ति में भी असाधारणता का दम्भ नहीं है। जीवन की सामान्य गरिमा में निहित असामान्यता का ही अनाविल स्वर है।

> **दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते**
> **वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।**
> **ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसा-**
> **त्प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्॥’**[3]

मुरारि भी राम के विरह-वर्णन को सहज मानवीय स्पर्श से मुक्त नहीं करते। अनवरुद्ध श्वास, शुष्क मुख, स्वरभंग, अवयवों की शान्ति. नेत्रों से अविरल अश्रुपात सभी कुछ प्रमाता की अन्तःपरिधि में दिव्य और संवेद्य हैं।[4] **‘वत्स लक्ष्मण. धारय माम्। न शक्नोमि स्तम्भयितुमात्मानम्।’**[5] में भी यदि राम अपनी असाधारणता से मुक्त प्रतीत नहीं होते[6] तो उसका कारण प्रमाता की अतिशय भक्तिप्रवणता या असामान्य असंवेदनशीलता हो सकती है। अपने सामान्य मानवीय अनुभूति-परिवेश में वे प्रमाता की अनादि वासना को झंकृत कर नित्य जीवन की अनुभूतियों से एकान्त वहिष्कृत नहीं होते। किन्तु प्रमाता के अनुभव का एक भिन्न क्षेत्र भी है, जहाँ असाधारण पात्र अपनी असाधारणता से शीघ्र ही विगलित नहीं हो पाते। फलतः

---

१. उत्तररामचरितम् प्रथम अंक (काणे-१९६२) पृ० ३०

२. इत्थं पुरुषसमक्षं निस्संकोचतया कथनम् कवेरचातुर्यम् (वही)

३. -वही- ३/३१ पृ० ७१

४. इयमविरलश्वासा शुष्यन्मुखी भिदुरस्वरा तनुरवयवैः श्रान्तस्रस्तेरुपैति विवर्णताम्। (अनर्घराघवम् ५/२२, (चौखम्बा-१९६०) पृ० २८६)

५. -वही- पृ० -वही-

६. रामादिचरितं तु सर्वस्य न हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः यदाह-तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् इति॥
ध्वन्यालोकलोचन (जगन्नाथ पाठक) चौखम्बा-१९६५ पृ० १९८

प्रमाता में द्वैधीभाव बना रहता है। भट्टनायक के शब्दों में 'अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहृदिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्।'[1] यहाँ हमारा विवेच्य देवतावर्णनादौ (देवतादिसाधारणीकरणायोग्यत्वात्) तक सीमित है। समुद्र-सेतु-बन्धन आदि की अलोक-सामान्यता के साधारणीकरण का विवेचन अन्यत्र करेंगे। यह तो निश्चय है कि प्रतीतिवाद की परगत प्रतीति के संदर्भ में ही भट्टनायक ने देवता जैसे अलोक-सामान्य असाधारण पात्रों के साधारणीकरण पर प्रश्न चिह्न लगाया है यथा—'न च सा प्रतीतियुक्ता देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्'। किन्तु इस सदर्भ में उल्लेखनीय यह भी है कि इतर संदर्भो के साधारणीकरण की अपेक्षा अलौकिक पात्रों के असाधारण आचरण को ज़नसामान्य की अनुभूति के धरातल पर संवेद्य बनाना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। भट्टनायक का संभवतः आशय यही है कि जहाँ अत्यन्त असाधारण पात्रों का निर्वैयक्तिकीकरण प्रतीति की ऋजु रेखा में कठिन है, वहाँ प्रमाता की अनुभावनक्षमता अथवा संवादिनी प्रतिभा (कल्पना) को भी अतिरिक्त आयास करना पड़ता है। अभिनव इस विप्रतिपत्ति के आंशिक सत्य को स्वीकार करते हैं। अभिनव कहते हैं कि यदि मुख्य रूप से देवताओं का ही चरित्र वर्णित हो और विप्रलंभ करुण आदि रसों का औचित्यपूर्वक निवन्धन हो तो उसे मनुष्यचरित की समकक्षता में ही ग्रहण करना चाहिए। तद्विपरीत यदि देवताओं के आचरण को विवेक-शून्य दृष्टि से यथावत् प्रस्तुत किया जाता है तो मानव-आचरण के विषय में प्रसिद्ध सहज अवधारणा को आघात लगेगा, और यदि उनके चरित्र में विप्रलम्भ आदि रसों की योजना नहीं की जाती तो उससे सहृदयों का उपरंजन नहीं हो सकेगा। अतः देवचरित्रों में हृदय का संवाद इस स्तर पर दुर्लभ ही है। उनमें दुःख का एकान्त अभाव मानने से उन प्रतिकार के उपायों का भी वर्णन नहीं किया जा सकता, जिन्हें देखकर सहृदय कोई शिक्षात्मक निर्णय ले सकें।[2] वस्तुतः

---

[1] -वही- पृ० १९२

[2] यदि तु मुख्यत्वेनैव देवचरितं वर्ण्यते तत्तावद्विप्रलम्भ···रसोचित चेन्निबध्यते तन्मानुषचरितमेव संपद्यते, प्रत्युत देवानामधियाधानं प्रसिद्धिविघातकम्।

(अभिनवभारती, अध्याय-१८, ११ की वृत्ति पृ० १४४)

देवतादि का मौलिक चरित्र काव्य की सीमा से एकान्त बहिष्कृत नहीं है। देव भावना अथवा उन पर आधृत मिथकीय संदर्भों में वाह्यार्थ की अपेक्षा आन्तर अर्थ की प्रधानता भाव-सत्य के उन्मीलन में विशेष योग देती है। अत: देवतादि के वर्णन एकान्त व्यक्तिपरक न रहकर निर्वैयक्तिक हो जाते है। अन्योक्ति अथवा रूपक का अन्तर्योग होने से सार्वभौम आदिम मानवीय चेतना को व्यंजित करने में वे विशेष सफल होते हैं। भट्टनायक के विवेचन के समानान्तर कहा जा सकता है कि इन चरित्रों के प्रस्तुतीकरण में स्वगत एवं परगत प्रतीतियों का द्वन्द्वात्मक सन्तुलन रहता है। उदाहरण के लिए उर्वशी के दिव्य चरित्र को लेकर स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य सेतु-निर्माण का कार्य ऋग्वेद (१०-८-९५) से लेकर दिनकर के उर्वशी काव्य के मिथकीय धरातल तक अबाध गति से चलता रहा है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय में इसे मानवीय आयामों का व्यापक कलात्मक स्वरूप प्राप्त हुआ है। पुरूरवा तथा उर्वशी क्रमश: दिव्य तथा मानवीय द्वैधी चेतना की समरसता के प्रतीक हैं। कालिदास ने '**परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्**' के द्वारा प्रतीकात्मक स्तर पर इस द्वैधी चेतना में सामरस्यके सूत्र का अनुसंधान किया है '**इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति**' में दिव्य तथा मर्त्य चेतना के सामंजस्य का स्वर व्यंजित है। अभिनव की शैली का आधार ले कर इस द्वन्द्व-चेतना के सामंजस्य को साधारणीकरण की भूमिका में इस प्रकार विश्लेषित किया जा सकता है कि प्रमाता जव दिव्यरूपता के अध्यवसान के स्तर पर मानवीय चेतना का साक्षात्कार करता है तो उसकी मानसिक भूमिका में दो विरुद्ध चेतनाएँ परस्पर संघर्षरत होती हे। एक स्तर पर वह पात्र मर्त्य नहीं दिव्य है और दूसरे स्तर पर वह मानव के विशिष्ट परिवेश में सम्पूर्ण अनुभूतियों और आचरण के साथ मर्त्य मानव की भूमिका में अवतीर्ण होता है। आदर्श और यथार्थ की दोनों अनुभूतियाँ समंजित होकर दिव्य पात्रों को विशिष्ट संबंध से रहित कर प्रमातृ-मानस में साधारणीकृत होने में योग देती हैं।

[४]

अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

अभिनवगुप्त (अभिनवभारती-लोचन)

साधारणीकरण की उद्भावना का श्रेय भट्टनायक का प्राप्य है, किन्तु उसकी शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रतिष्ठा अभिनवगुप्त ने की है। रस-सिद्धान्त के विकास की चरम प्रौढ़ि पर आरूढ़ उनका चिन्तन वह वट-वृक्ष सिद्ध हुआ जिसकी छाया में किसी समकक्ष चिन्तन-वृक्ष का विकास न हो सका। प्रत्यभिज्ञादर्शन के आधार पर उन्होंने रस-स्वरूप के अन्तरंग-वृत्त में साधारणीकरण को प्रतिष्ठित किया, किन्तु उनकी अद्वैतचेतना विसंवादी तत्त्वों के सामरस्य में प्रतिफलित हुई। पूर्ववर्ती अवधारणाओं के अध्याहार की यह स्वाभाविक परिणति है। उनकी आत्मस्वीकृति के आधार पर उनका चिन्तन पूर्ववर्ती चिन्तन के क्रमिक ऊर्ध्वारोहण का साक्ष्य देता है।[1] अभिनव का विश्वास है कि चिन्तन के आरम्भिक प्रयास अपनी सीमाओं और आन्तरिक असंगतियों के अन्तर्गत ही परवर्ती प्रौढ़ चिन्तन की आधार-भूमि का कार्य करते हैं। फलतः अभिनव के चिन्तन की मौलिकता पूर्ववर्ती आचार्या के स्थापित सिद्धान्तों में आभ्यन्तर संगति के अनुसंधान में ही निहित है।[2]

---

[1] इत्थं स्वयंग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ॥
ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥
-नाट्यशास्त्रम् (भाग-१), अभिनव भारती, पृ० ३७८

[2] चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
सन्मार्गलाभे सति सेतुबन्ध-पुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ॥

अभिनव के चिन्तन के मौलिक अन्तःसूत्र परवर्ती आचार्यों के लिए प्रेरणा-स्रोत वने तथा एकाध अपवाद के अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों ने मुक्त स्वर में उनके सिद्धान्तों में आस्था व्यक्त की है। यह वात भिन्न है कि अपने विशिष्ट दर्शन के आलोक में पंडित-राज जगन्नाथ जैसे समीक्षकों ने प्रत्यभिज्ञादर्शनमूलक उनके चिन्तन की अद्वैतपरक व्याख्या प्रस्तुत की। यहाँ हमने विशिष्ट दार्शनिक संदर्भ से मुक्त कर उनकी अवधारणा को काव्य वस्तु तथा प्रमाता की चेतना के व्यापक अन्तःसंवंधों के स्तर पर व्याख्यायित किया है। यह तथ्य अवश्य विचारणीय है कि तत्कालीन परिवेश के यौन-वर्जना-मुक्त आचारण तथा उनके उदात्त, किन्तु लोक-मर्यादा-वाह्य जीवनदर्शन के अन्तःसामंजस्य में विसंवादी सूत्रों का विवेकनिष्ठ अध्याहार हुआ है।

राजतरंगिणी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी तथा तंत्रालोक के समन्वित साक्ष्य एवं डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पी० वी काणे तथा एस० के० डे के विवेचन के अनुसार अभिनवगुप्त (९५० ई०-१०२० ई०) का रचनाकाल ९८० तथा १०२० ई० के मध्य चालीस वर्ष की सुदीर्घ सीमा में व्याप्त है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतित्रिमर्शिनी की रचना मार्गशीर्ष के अन्त में ४११५ कलिवर्ष (१०१४ ई०) में पूर्ण हुई। इनके शिष्य क्षेमेन्द्र कलश (१०६३) के समकालीन थे। अतः अभिनव भी अनन्त, कलश इत्यादि राजाओं के शासन-काल में ही रहे होंगे। यह युग विदेशी आक्रमण, प्रवंचना तथा वैयक्तिक पराक्रम-प्रदर्शन का अस्थिर युग था।[1] गम्यागम्य[2], स्व-पर की चेतना से मुक्त निर्वाध कामतुष्टि जव जीवन-दर्शन का पर्याय वनी तो तांत्रिकों और भैरवों के वर्जनामुक्त पाखंड के प्रति सहज आकर्षण भी उत्पन्न हुआ। कलश के गुरु प्रमदकण्ठ निःशंक भाव से अपनी पुत्री के साथ

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥
(वही- पृ० -वही)

[1] पतिंवरेव राज्यश्रीर्भृत्यान्नवनवोन्मुखी
(राजतरंगिणी ७/२०२, पृ० २०१)

[2] गम्यागम्यविचारस्य परिहर्ताऽभवद्गुरुः
(वही ७/२७७, पृ० २०६)

सुरत सुख का अनुभव करते थे।[1] राजा के हृदय से भी गुरु ने गम्यागम्य का विचार हटा दिया था। ये गुरु स्वयं निःसार मूर्ख होते हुए भी राजा प्रजा को मूर्ख एवं चरित्रभ्रष्ट बनाने में समर्थ थे।[2] कल्हण ने इस उच्छृंखल परिवेश को मूर्त करते हुए बड़े व्यापक रूप में तत्कालीन नैतिक और आध्यात्मिक पाखण्ड का विवरण प्रस्तुत किया है।

वामाचार एवं तंत्र साधना के प्रसार प्रचार के लिए भी यह परिवेश स्थूलतः अनुकूल था। परस्त्रीरमण को इस दर्शन से प्रेरणा मिली। परस्त्रीरमणेन च (कौलावली)। यह वर्जनामुक्त काम विशुद्ध दर्शन की पीठिका पर चेतना के उदात्तीकरण का पर्याय बना। आजीवन ब्रह्मचारी अभिनव ने तंत्र-साधना के परिवेश में काम के उद्दाम स्वरूप का विस्थापन एवं सूक्ष्म प्रतीकीकरण किया। चक्रपूजा में तर्पण की व्याख्या करते हुए जयरथ उसका स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :—

'योषितश्चैव पूज्यन्ते पुरुषश्चैव पूजकः।[3]

वृहदारण्यक में भी इस रूप का उल्लेख है, किन्तु अभिनव ने अपने विशिष्ट स्तर पर इसका उदात्तीकरण किया है। यह निराकांक्ष साधना है। **'तच्च चितो नैराकांक्षयोत्पादात् विकासः समुच्चलद्रूपत्वमित्यर्थः।**[4] अभिनव की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा में इस संदर्भ के योग पर हम आगे विचार करेंगे, तत्कालीन परिवेश को इस चिन्तन के समानान्तर देखना ही यहाँ विशेष प्रासंगिक है।

राजा चौर्यरतौत्सुक्यात्प्रतिगेहं परिभ्रमन्।
स्वदारालिंगनैः प्रीतिं क्षणदासु न लब्धवान्॥
पारतन्त्र्यकृतापारप्रीतिः परवधूरतिः।
अभिलाषानलोत्सेके रागभाजां घृताहुतिः॥[5]

---

१. त्यक्तशंकः प्रववृते स्वसुतासुरतेऽपि यः
(वही, २/२७८, पृ० २०६)
तुलनीय-स्वपत्नी भगिनी माता दुहिता वा शुभा सखी
(तंत्रालोक २९/१०२, पृ० ७२)

२. राजतरंगिणी, पृ० २०६

३-४. तन्त्रालोक (कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि-१९३६) पृ० ७९ (एकोनत्रिंशमाह्निकम्), पृ० ७७

५. राजतरंगिणी ७/३०५-३०६, पृ० २०८

तन्त्रालोक में मुद्रा का उल्लेख इस प्रकार है :—

ततस्तत्रानयेद्दूतीं मदघूर्णितलोचनाम् ।
भैरवाचारसम्पन्ना अमृतानां च सस्पृहा ।
सदैवाद्वैतनिरता अभ्यासस्था दृढव्रता ॥[1]

इस समीकरण का अनिवार्य परिणाम था लालित्य के प्रति आग्रह। उच्छृंखल विलास एवं समृद्धि का निकटवर्ती प्रभाव कला एवं साहित्य के उदात्त संघनित मूल्यों के स्थान पर ललित सूक्ष्म क्रीडावृत्ति के प्रतिष्ठित रूप में दिखाई देता है। नाट्य-रचना के विराट् औदात्य में काव्य का लालित्य क्रमशः प्रगाढ़ हुआ। मुक्तकों और सुभाषितों के क्रीडा कौतुक या शिल्पसिद्धि के तरल चमत्कारों के रूप में काव्य सौंदर्य उद्घाटित होने लगा। महाकाव्यों की विशिष्टता भी उनके मुक्तक प्रायः ललित विम्बों के के अन्तर्गत ही उद्भासित होने लगी। इन चित्रों में जीवन के द्वन्द्व एवं तनाव के यथार्थ सकर्मक अन्तर्दर्शन के स्थान पर जीवन के अभिजात विम्बों का कलात्मक संयोजन है। रुग्ण मानसिकता के विरोध में अभिनव ने जिस कलादर्शन की प्रतिष्ठा की उसमें तत्कालीन चमत्कार-प्रधान अलंकरण तथा निरपेक्ष कलात्मक संयोजन के प्रति विद्रोह का स्वर भी मुखर हुआ। एक स्तर पर अभिनव तत्कालीन तन्त्र तथा उससे प्रेरित परिवेश को अपनी अवधारणाओं की पृष्ठ भूमि के रूप में प्रयुक्त करते हैं तो दूसरे स्तर पर अलंकरण प्रधान काव्य मनीषा को एक विशिष्ट उदात्त रागात्मक मूल्य-बोध के प्रति समर्पित होने के लिए प्रेरित भी करते हैं।

अभिनव की समन्वयवादी अवधारणा

अभिनव ने यद्यपि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों का सुनियोजित आख्यान प्रस्तुत किया है,[1] तथापि उनके अनुभूत दर्शन एवं सौंदर्य-शास्त्रीय अवधारणाओं के योग से उनमें अभिनव का निजी वैशिष्ट्य उभर आया। उनके चिंतन के आधार-सूत्र अभिनवभारती तथा लोचन में

---

३. तन्त्रालोक, पृ० ६८-६९

१. तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥
(अभिनवभारती (दिल्ली-१९७३), पृ० ४६९)

उपलब्ध हैं। उनमें एक समन्वयवादी दृष्टि स्पष्ट लक्षित होती है। रस का व्यापक स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए[1] वे उसकी परिधि में नाट्य, काव्य के सारभूत प्रभाव, प्रधान पात्र की चित्तवृत्ति एवं प्रमाता की अन्तःवासना के विस्तार को आयत्त कर लेते हैं। सभी का आंशिक औचित्य है और उनके आधार पर उस के व्यापक स्वरूप का स्थापत्य खड़ा होता है। रसास्वाद की प्रक्रिया में वे कवि की सर्जन चेतना[2] को स्वीकार करते हैं। एक स्तर पर वे आदर्श प्रमाता का परिनिष्ठित अमूर्तीकृत विम्ब उपस्थित कर काव्यास्वाद की अत्यन्त सीमित चेतना के प्रति आस्था दिखाते हैं[3] तो दूसरे स्तर पर अपेक्षाकृत अल्पज्ञ तथा असंस्कृत प्रमाताओं की रसास्वाद-चेतना को भी दृष्टि में रखते हैं।[4] इस प्रकार प्रमाता की ग्राहिका शक्ति, उसके अपेक्षित गुण तथा नायक अथवा प्रधान पात्र के भाव-जगत् में प्रवेश करने वाली अन्तर्दृष्टि का वे विवेक सम्मत आख्यान करते हैं।

रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में उत्पत्ति प्रतीति[5], अनुमिति[6], भुक्ति[7] एव

---

१. तेन रस एव नाट्यम् ६/१५, पृ० ४२८

(क) तत्काव्यार्था रस: ६/३१

(ख) नायकाभिधान-भोक्तृविशेष-स्थायि-चित्त-वृत्ति-स्वभाव:(पृ० ४२७)

(ग) सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस: (पृ० ४७३)

२. अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां, जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च। क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्॥
(ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्बा-१९६५, पृ० १)

३. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय:।
(अभिनवभारती, पृ० ४७०)

४. अहृदयानां चैतदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीत-वाद्य-गणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्। (वही, पृ० ४९३)

५. प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः।
(अभिनवभारती, पृ० ४६५)

६. व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योभवकम्पयोरिव वा। (वही- पृ० ४७६)

७. यत् काव्येन भाव्यन्ते रसा: इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव।
(वही, पृ० ४६७)

अभिव्यक्ति की केन्द्रीय अवधारणाओं का अध्याहार कर वे अपनी रस-दृष्टि से उसकी संगति निर्दिष्ट करते हैं। भट्ट लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक की अवधारणाओं की वे आलोचना करते हैं, किन्तु इनमें निहित सत्यांशों को आत्मसात् कर समन्वित रसदृष्टि का विकास करते हैं।[1] लौकिक अनुभूति से वे काव्यानुभूति का पार्थक्य स्पष्ट करते हैं[2], किन्तु लौकिक अनुभूति की प्रकल्पनाओं को एकदम तिरस्कृत नहीं करते।[3] प्रमाता की तन्मयता को वे अभीष्ट मानते हैं[४], किन्तु तादात्म्य एवं द्वैताद्वैतमूलक चेतना को भी उसमें अन्तर्भावित करते हैं। रस आनन्दात्मक अनुभूति के स्तर पर ही उन्हें स्वीकार्य है, किन्तु इतर उद्वेजक दुःखात्मक अनुभूतियों की सहकारिता को वे अक्षुण्ण रखते हैं।[५] काव्य या नाटक के भावपक्ष में ही उनकी एकान्त आस्था है[६], किन्तु गुण, रीति, अलंकार के महत्त्व को भावबोध की सापेक्षता में निर्भ्रान्त स्वीकृति देते हैं।[७] उनकी आदर्शमूलक आस्था एवं रस-चेतना प्रख्यात वस्तु में ही हृदय संवाद की व्यापक अपेक्षाएँ खोजती है[८], किन्तु

---

१. नहि तत्र अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः इति स्मरणीय-प्रतिपत्तिः, अपि तु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसंकल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत्। (वही, पृ० ४६४)
(तुलनीय) यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि··· (पृ० ४६०)

२. लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं···आस्वादरूपसंवेदनसंवेद्य वस्तु रसस्वभावमिति (वही, पृ० २६)

३. तथाहि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः, प्रमदादि न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। (वही, पृ० ४८५)

४. साक्षादिव हृदये निविशमानं,······ (वही, पृ० ४७६)

५. किन्तूपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। (वही, पृ० ४७८)

६. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। (वही, पृ० ४६२)

७. सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, ······(वही, पृ० ४७६)

८. अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तु-

उत्पाद्य कथा के आवश्यक महत्त्व और उसकी संभावनाओं की वे उपेक्षा नहीं करते[१]। दृष्टि उनकी प्रबन्धात्मक[२] है, किन्तु मुक्तक[३] के गौरव का वे मुक्त कंठ से स्तवन करते हैं। रस-बोध की प्रक्रिया की व्याख्या वे सामाजिक के दृष्टिकोण से करते हैं[४], किन्तु काव्यार्थ के वस्तुगत आधार की भी वे एकान्त अवमानना नही करते[६]।

उनकी समन्वय चेतना को दृष्टि में रख कर ही उनके रसचिन्तन तथा साधारणीकरण के व्यापक स्वरूप को यथार्थ परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया जा सकता है। उनकी साधारणीकरण की अवधारणा में यदि काव्यार्थ की नियत सम्वन्ध से मुक्ति, देशकालातीत भावरूपता, प्रमाता की मुक्तचेतना अथवा व्यक्ति संसर्गों से मुक्ति, नायक से तादात्म्य, आश्रय से सहानुभूति पात्रों की परिहृत विशेषता, स्थायी का सार्वभौमीकरण, विभावों का सामान्यत्व, अनुभावों की पात्र विशेष से मुक्ति आत्म-विश्रान्ति, साक्षात्कारात्मिका प्रतीति इत्यादि अनुषंग प्रकारान्तर से समाहित हो गये हैं तो यह उनके दृष्टिकोण की समन्वयात्मकता की स्वाभाविक परिणति है जो पूर्व-प्रतिष्ठापित योजनाओं को सुनिश्चित मनोवैज्ञानिक दार्शनिक एवं काव्य-शास्त्रीय आधार पर प्रतिष्ठित कर देती है, फिर भी उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उनकी केन्द्रीय संवेदना इन संवादी एवं विसंवादी अवधारणाओं को संश्लिष्ट कर जिस वहुआयामी सौंदर्य-चेतना में रूपान्तरित करती है, उनके

विषयत्वादि नियमेन निरूप्यते।

(अभिनवभारती, पृ० ४७४)

१. तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषय:।
(वही, पृ० वही)

२. तच्च प्रबन्ध एव भवति। (वही, पृ० ४६२)

३. तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादिहेतुवलादिभि: सहृदयास्तेषां परिमित-विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्प: काव्यार्थ: स्फुरति।
(वही, पृ० वही)

४. विगतरागद्वेषा:, मध्यस्थवृत्तयो निर्मलहृदयमुकुरे सति तन्मयीभवन-योग्यतोपेता आहितरसास्वादा: सामाजिका, इत्येतत्।
(वही, पृ० १०६)

५. -वही- पृ० ४७७

समन्वय से उद्भूत किन्तु किंचित् भिन्न एक ऊर्ध्वमुखी संवेदन आकार ग्रहण करने लगता है, जिसमें अभिनव की निजी मौलिक दृष्टि का उन्मेष लक्षित होता है।

काव्यास्वाद-प्रक्रिया

काव्यानुभूतिविषयक अभिनव के आधारभूत सूत्रों को इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

काव्यास्वाद को ग्रहण करने के लिए नव नव अर्थों का उन्मेष एवं ग्रहण करने वाली ऐसी प्रतिभा अपेक्षित है, जिसकी शक्ति सामान्य वाच्यार्थ के परिज्ञान मात्र में ही निःशेष न हो जाए। मूलतः काव्यार्थ ही रस है, अतः अधिकारी प्रमाता ही काव्यात्मक शब्द से अधिक की प्रतीति करने में समर्थ होता है।[1] यह प्रतीति कालादि के विभाग का अतिक्रमण कर मानसी साक्षात्कारात्मिका रूप में उद्भूत होती है। वाच्यार्थ के स्तर पर काव्य में वर्णित संदर्भ अतीत के वर्णन हो सकते हैं, किन्तु वाच्यार्थ को अतिशायित कर ये वर्णन प्रत्यक्ष जैसे अनुभूत होते हैं। अतिशायित प्रतीति के अनन्तर आश्रय एवं आलम्वन विशेष एवं वास्तविक न रह कर देशकालादि से पूर्णतः असम्वद्ध भाव-विम्व में परिणत हो जाते हैं।[2]

प्रमाता उस भावविम्व को एकान्त निर्वैयक्तिक एवं व्यक्ति-संसर्ग से मुक्त निर्विशेष रूप में ग्रहण करता है। उस भाव-विशेष के प्रति न तो प्रमाता के मन में ममत्व, परत्व अथवा औदासीन्य का भाव रहता है, और न सुख दुःखादि से नियंत्रित बुद्धि का अनुप्रवेश ही। इसमें प्रमाता के निजत्व का एकान्त लोप भी नहीं होता और न वह अपने व्यक्तित्व का साग्रह अनुभव ही कर पाता है। उसकी आत्मा न पूर्णतः तिरस्कृत होती है

---

[1] काव्यात्मकादपि शब्दाधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः।
(नाट्यशास्त्रम्, प्रथम भाग, बड़ौदा-१९५६ पृ० २७८)

[2] वाक्यार्थपतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।
(वही, पृ २७९)

और न उल्लिखित ही ।[1] विभाव एवं प्रमाता दोनों के देशकाल की चेतना से मुक्त निर्वैयक्तिक हो जाने के अनन्तर रस की मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है । रस साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा, नेत्रों के सम्मुख संचरण करता-सा प्रतीत होता है ।[2]

स्पष्टत: अभिनव द्वारा निरूपित आस्वाद-प्रक्रिया के केन्द्र में मानसी साक्षात्कारात्मिका कालातीत स्थिति की विशिष्ट संकल्पना है । प्रथम स्तर पर यह चेतना वाक्य में निहित वाच्यार्थ को अतीत वर्तमान के कालिक बन्धन से मुक्त कर व्यंजना के स्तर पर कालातीत संवेदना में परिणत करती है ।[3] दूसरे स्तर पर सामाजिक के मानस में जो आश्रय अथवा आलम्बन का भावबिम्ब अंकित होता है उसकी देशकाल की सीमाएँ तिरोहित हो जाती हैं । ग्रीवाभंगाभिरामं वाले श्लोक में वह मृगशिशु का प्रत्ययीकृत रूप मात्र होता है तथा उसका त्रास भी त्रासक के देशकालातीत होने से कालातीत एवं निर्विशेष रूप में ही उदित होता है ।[4]

कालातीत चेतना में प्रमाता की मानसी स्थिति का विश्लेषण करते हुए अभिनव इस की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं । अभिनेता रामादि की जिस भूमिका में अवतीर्ण होता है, उसी के अनुरूप मुकुट प्रतिशीर्षक आदि धारण करता है । अत: रसानुभूति के क्षण में प्रमाता राम की भूमिका में अवतरित नट को नट रूप में ग्रहण नहीं कर पाता । मुकुट प्रतिशीर्षक आदि के कारण नटत्व का मौलिक रूप तिरोहित हो जाता है । प्रमाता में भी इन अभिव्यंजनात्मक उपकरणों के आवरण में नटत्व बुद्धि

---

[1] तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः ।
(वही, पृ० वही)

[2] विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः ।
(नाट्यशास्त्रम्, पृ० २७९)

[3] नाट्यशास्त्रम्, पृ० २७९

[4] तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम् ।
(वही, पृ० वही)

आच्छादित हो जाती है। काव्य बल से लायी हुई रामत्व की पूर्वकालिक बुद्धि भी उसमें (नट में) स्थित नहीं हो पाती[1]। अतएव नट एवं राम दोनों की सत्ता देश काल से मुक्त हो जाती है।

साधारणीकरण विषयक अवधारणा

अभिनव के साधारणीकरण की महत्वपूर्ण उपलब्धि द्वंद्वात्मक सामंजस्य की अवधारणा है जो काव्यवस्तु तथा प्रमाता के अन्तःसम्वन्ध को द्वंद्वों के अनेकायामी समन्वय में व्याख्यायित करती है। तथ्य यह है कि जब दो विशिष्ट बिम्ब एक दूसरे के समानान्तर प्रस्तुत होकर अन्तः प्रतिविम्बित होते हैं तो उनका वैशिष्ट्य क्रमशः धूमिल पड़ने लगता है। स्वरूप की विशिष्टता भाव के निर्विशेषीकरण में परिणत हो जाती है। पात्र कवि की विशिष्ट अनुभूति का प्रतीक होता है, साथ ही शब्द बिम्ब भी सामान्यीकृत प्रत्ययों का अतिक्रमण कर विशिष्ट चित्रों में पुनरुद्भावित होते हैं[2] किन्तु इन विशिष्ट बिम्बों में कवि की विशिष्ट अनुभूति जब प्रतिफलित होती है तो उसके अनुभावन से प्रमाता की अन्तश्चेतना रूढ़ एवं पूर्वनिर्दिष्ट अवधारणाओं से मुक्त होकर आभ्यन्तर संहृति का पुनरनुसंधान करती है।

अभिनव इस द्वंद्वात्मक सामंजस्य को अनेक स्तरों पर व्याख्यायित करते हैं। काव्यार्पित विभावों के साक्षात्कार से व्यष्टि प्रमाता की अनादि वासना में निहित संस्कार स्मृति (मानससाक्षात्कारात्मक प्रतीति) अथवा प्रतिभान में परिणत हो जाते हैं। इस स्मृति (प्रतिभान)[3] में लौकिक अलौकिक, कृत्रिमता

---

[1] मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः। (वही, पृ० २८५)

[2] काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः। (नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २७८)

[3] (अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरूपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा। पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूत्वात्। अपितु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति।) सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति। तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा॥ (वही, पृ० २७९)

एवं वास्तविकता की निषेधात्मक प्रतीतियों का संतुलन रहता है। अर्थात् विशिष्ट सौंदर्य की साक्षात्कारजन्य अनुभूति के मूल में निहित कवि कल्पना का वैशिष्ट्य रूप-विधान में आविष्ट होकर प्रमाता की चेतना में न एकान्त विशिष्ट रह पाता है और न एकान्त निर्विशिष्ट ही।

इसी द्वन्द्वात्मक स्तर पर काव्यार्पित विभाव भी अपने विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त निर्विशेषीकृत धरातल पर प्रस्तुत होते हैं। प्रमाता की चेतना राम सीता के दाम्पत्य के उत्कर्ष एवं वैशिष्ट्य को कविनिबद्ध औचित्यमूलक प्रणय-चेतना के वैशिष्ट्य में अन्तःबिम्बित देखकर उसका कान्ताभाव की निर्द्वन्द्व साधारणीकृत भूमिका पर संधान करती है।

ध्यातव्य यह है कि अनादि वासना में केवल रत्यादि की सहज वासना नहीं, राम कृष्ण आदि के पुराकल्प विम्ब भी अस्फुट रूप से विद्यमान रहते हैं। सजातीय पात्र जैसे जैसे अपने आचरण से स्वयं को परिभाषित करते हैं प्रमाता भी उनकी अभिव्यंजनागत अपेक्षाओं का अपनी संस्कार सापेक्षता में पुनरनुसंधान करता है। प्रमातृगत स्तर पर अनुमानाभ्यास तथा विभावों के स्तर पर पुरातन संस्कारों के उपजीवित्व की स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि विभावों का मौलिक स्वरूप कविनिवद्ध रूप के समानान्तर प्रमातृचेतना में गतिशील रहता है।[1]

क्रमशः प्रमाता की चेतना में वे पात्र समाहित होते हैं तथा प्रमाता भी अपने विशिष्ट धरातल से मुक्त उनके अन्तश्चैतन्य में प्रवेश करता है। फलतः नायक एवं सामाजिक की चित्तवृत्तियों का तादात्म्य हो जाता है।[2]

यह तादात्म्य आभ्यन्तर अस्तित्व का संधान है जिसमें स्वकीय परकीय भाव की सूक्ष्म जटिल संवेनाएँ पात्रों से प्रमाता के व्यक्ति संसर्ग को स्वरूप

---

१. प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय।
(नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २८४)

२. स्वपरभावात् प्रच्याविता, अतएव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च अनुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिकरणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवृत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना···। (वही, पृ २६६)

(वाच्य) की दृष्टि से धूमिल तथा ध्वन्यर्थ (सारभूत प्रभाव) की दृष्टि से व्यापक बनाती है।[1]

आश्रय एवं आलम्वन के सजातीय (रति) भाव अथवा विसंवादी (उत्साह एवं भय) भाव भी देशकालातीत होकर अनुभूति मात्र में पर्यवसित होते हैं। यह बोध भी मूलतः वैशिष्ट्यमूलक होता है। दुष्यन्त के वाण लगने के भय से पलायित हरिण का भय एक विशिष्ट क्षण के विशिष्ट हरिण का भय है जो विशेष काल के विशिष्ट व्यक्ति (त्रासक) से उद्भूत है। प्रमाता की चेतना में वह भय अभिव्यंजित होकर एक पारदर्शी चेतना में रूपान्तरित होता है। उसमें पीड़ाएँ और भय की संख्यातीत काल परिवाही छायाएँ झलमलाने लगती हैं। यह कालसातत्य का वोध ही कालातीत अनुभूति है जिसमें अनुभूति एक विशिष्ट काल की न रहकर सब कालों की अनुभूति बनती है। यही काल का अन्योन्य प्रतिबन्धन है।

प्रमाता की चेतना में पात्रों के अतीतकालीन अस्तित्व में अप्रत्याशित रूप से उभरने वाली वर्तमानकालीन चेतना उनके अपारदर्शी अमूर्त व्यक्तित्व को क्रमशः मूर्त और सघन करती है। फलतः उसके कालवोध में असन्तुलन पैदा होता है। इस असन्तुलन के कारण वह अतीत चेतना की प्रामाणिकता अप्रमाणिकता से मुक्त होकर उनके ऐतिहासिक इतिवृत्त का अपने अनुभूत परिवेश में पुनरनुसंधान करता है। अतः पात्रों के मौलिक विम्व तथा प्रमाता के अनुभूत विम्व में एक मानसिक अन्तराल काल की विसंगत चेतनाओं को नियंत्रित कर अनुभूति की शाश्वत कालधारा का अविभाज्य अंग वना देता है। प्रमाता की चेतना में राम और सीता के प्रणय का गतिमान विम्व प्रणय की विविध अनुभूतियों को एकत्र समन्वित कर आवेग की तीव्रता से उद्भावित होता है। इसमें राम-सीता की ऐतिहासिक विद्यमानता, उनकी कवि की निजी अनुभव-वैशिष्ट्य जन्य कल्पना अर्थात् शब्दार्थ के कलात्मक प्रयोगों में अभिव्यंजित काल चेतना तथा प्रमाता के अनुभूत काल की विशिष्ट चेतना परस्पर संयुक्त होकर अनुभूति को निर्विशिष्ट कालातीत बनाती है।[2]

---

१. नाट्यशास्त्र (भाग १), पृ० ४२८

१. एतादृशा वै रामादयो न कदाचन प्रमाणपथमवतार्यन्ते। यदागमेन वर्ण्यन्ते तदा तद्विशेषबुद्धिर्यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्या-

इस कालातीत चेतना का बोध दो विरुद्ध बुद्धियों के द्वंद्वात्मक सामंजस्य से भी उभरता है। दो विशिष्ट चेतनाओं के अन्तःसंघर्ष से उद्भूत निर्विशिष्ट चेतना-पर्यवसायी बोध साधारणीकरण की मौलिक प्रक्रिया है। काव्य में कवि कल्पना के निजी वैशिष्ट्य में, कलात्मक प्रयोगों से अभिव्यजित राम अथवा मंच पर नट में अध्यवसित राम प्रमाता की चेतना में दो भिन्न धरातलों पर उपस्थित होता है।[1] एक स्तर पर वह विशिष्ट देश काल की चेतना से परिवद्ध राम है जिसे कवि नाटककार तथा नट ने एक विशिष्ट कालिक आयाम दिया है। दूसरे स्तर पर वह नाट्य प्रसाधनों से आच्छादित नट का अथवा काव्य में अभिव्यंजित उपकरणों का मूर्त विशिष्ट रूप है। ये दोनों रूप उसकी चेतना में द्वंद्वात्मक सामंजस्य में आकार ग्रहण करते हैं। दोनों ही—राम एवं नट—अपने विशिष्ट कलात्मक अस्तित्व से नियंत्रित हैं। किन्तु एक दूसरे में अन्तःप्रतिबिंबित होकर निर्विशिष्ट अथवा साधारणीकृत होते हैं अर्थात् नट के माध्यम से अथवा कवि के निजी विशिष्ट अभिव्यंजित अनुभूति-परिवेश में जब प्रमाता अपने अनुभव-परिवेश का पुनरनुसंधान करता है तो वह विशिष्ट पात्रों को कालातीत आयाम में उपस्थित कर साधारणीकृत करता है।

यह कालातीत बोध एक निर्विशिष्ट साक्षात्कारात्मिका प्रतीति है जिसे अभिनव ने एक स्तर पर शब्दार्थ की कलात्मक अन्तःसंहति अर्थात् उसके बिम्बात्मक रूपायन की अनिवार्य परिणति तथा दूसरे स्तर पर प्रमाता का आत्मपरामर्श अथवा आत्मानुसंधान निर्दिष्ट किया है।[2]

मीमांसा दर्शन के समानान्तर अभिनव काव्य में प्रयुक्त शब्दार्थ के अन्तःसम्बन्ध की देशकालातीत चेतना का विश्लेषण करते हैं 'प्रजापति ने अपनी वपा को अग्नि में डाला' वाक्य में अधिकारी प्रमाता विशिष्ट प्रजापति के विशिष्ट सिद्ध कर्म का बोध नहीं करता अपितु देश काल से मुक्त विधि रूप में निर्विशेषीकृत साध्य क्रिया के रूप में उसे अंगीकार कर कर्म में प्रवृत्त

दुल्लसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मकस्वालक्षण्यपर्यवसानम्। न च तेषां वर्तमानता इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धिः। (नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३५-३६)

[1] वही, पृ० २८५

[2] वही, पृ० २६६

होता है। इसी के समानान्तर काव्य में प्रयुक्त शब्द काव्यकृति के विशिष्ट संदर्भों के अन्तःसूत्र से संश्लिष्ट रहते हैं किन्तु पुनः काव्य के मूल प्रतिपाद्य में बिम्बित-प्रतिबिम्बित होते हुए प्रेरक भाव को निर्विशिष्ट देशकाल निरपेक्ष अनुभूति के सातत्य में परिणत कर देते हैं। यही काव्य के शब्दों की साक्षात्कारात्मिकता अतिशायित प्रतीति हैं।[1]

यह अनुभूति एक स्तर पर आत्मास्वाद एवं आत्मपरामर्श है। वाण विद्ध क्रौंच के निधन पर रुदन करती क्रौंची का शोक या वाणविद्ध होने की आशंका से पलायित हरिण का भय प्रमाता का साधारणीभूत भय ही है जिसमें पीड़ा और भय के संख्यातीत संदर्भ निर्विशिष्ट होकर अनुभूति के पुनरनुसंधान का पर्याय बनते हैं। क्रमशः त्रासक एवं त्रस्त की ऐन्द्रिय एवं गोचर अनुभूति मानस साक्षात्कार में परिवर्तित होती है तथा प्रमाता उनके क्रमागत अनुभूति परिवेश में समभागी बनता है। क्रमशः परिवेश की वास्तविकता लुप्त हो जाती है तथा कालसम्बन्ध प्रमाता की चेतना में कारणकार्यसम्बन्ध से मुक्त तथा स्मृति में मूलबद्ध संस्कारों के निःसीम बोध के रूप में अवतरित होता है जिसके मूल में निहित कर्तव्योन्मुखता, सुख दुःख हर्ष की स्वगत प्रतीतियाँ तिरोहित हो जाती हैं एवं प्रमाता संविद् मात्र रह जाता है।[2]

---

[1] यथाहि 'रात्रिमासत'। 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्रादतितीव्रप्ररोचितात्प्रथमप्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैवास्ते (से) प्रददानीत्यादिरूपां संक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभाभावना विध्युद्योगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः।

(नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० २७८)

[2] वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति 'त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम्'। तत एव, 'भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा' इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादि बुध्यन्तरोदयनियमवत् तथा विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः तथाविधे हि

अधिकारी सहृदय

विभावादि रस-सामग्री के अनवद्य होने पर भी यदि प्रमाता में स्वाभाविक अथवा अभ्यासजन्य तन्मयता की क्षमता नहीं है, तो रसानुभूति का वृत्त अपूर्ण ही रहता है । वस्तुतः साधारणीकरण के केन्द्र में सहृदय ही है, अतः अभिनव ने सहृदय की योग्यता तथा रसानुभूति के लिए अपेक्षित उसकी मानसिक एवं रागात्मक सम्भावनाओं और सीमाओं का विस्तृत विवेचन किया है । सहृदय में रसानुभूति की योग्यता स्वाभाविक तथा अर्जित, दोनों स्तरों पर आवश्यक है । स्वाभाविक स्तर पर यह एक विशिष्ट संस्कारबद्ध मानसिक योग्यता है, जिसमें हृदय-तत्त्व का अभिन्न योग रहता है । अतः अभिनव के अनुसार काव्यास्वाद का अधिकारी वही है, जो निर्मल प्रतिभानयुक्त हृदय का स्वामी है ।[1] प्रतिभान मूलतः नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का पर्याय है । प्रमाता में ऐसी प्राकृतिक शक्ति का होना नितान्त अपेक्षित है. जिससे वह शब्दों के बाह्य आवरण को भेद कर उनके आभ्यंन्तर में निहित वाग्वैभव का साक्षात्कार कर सके । जो सहृदय वाक्यार्थ वोध के अनन्तर अतिरिक्त अर्थ को ग्रहण करता है, वही उत्कृष्ट भावक है, उसी की प्रज्ञा वर्णनीय वस्तु में नवीन-नवीन अनुभूतियों के साक्षात्कार में प्रवृत्त हो सकती है[2]। कालरिज ने इसे विसंवादी अनुभूतियों को संश्लिष्ट करने वाली तथा परिचित वस्तुओं को नवोन्मेष में अभिव्यंजित करने वाली कल्पना कहा है ।[3]

यह प्रज्ञा दीर्घकालीन काव्यानुशीलन की भूमि में विकसित हो कर वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय होने की योग्यता अर्जित करती है । जब तक सामाजिक का हृदय-दर्पण अपेक्षित विम्ब ग्रहण में समर्थ नहीं हो जाता, तब

भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः ।

(नाट्यशास्त्र भाग १, पृ० २७९)

१. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः (ना०शा० पृ० २७९)

२. शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम् पुनश्च वर्णनीय वस्तुनिष्ठः प्रज्ञाविशेषः प्रतिभानम् । (लोचन)

३. This power reveals itself in the balance or reconciliation of opposite or discordant qualities.
(Coleridge Biographia Literaria)

तक लोचनकार के शब्दों में उसे सहृदय नहीं कहा जा सकता ।'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।' भारती में अभिनव ने सहृदय की कवि-हृदय अर्थात् वर्ण्य विषय से तादात्म्य स्थापित करने की, योग्यता पर विशेष बल दिया है, तथा इस शक्ति को सहृदय की हृदय-विमलता का प्रमाण माना है ।[1]

आधुनिक शब्दावली में यह सहृदय के अन्तश्चेतन तथा वर्ण्य-विषय की द्वैत सत्ता के तिरोधान की दिशा है, जिसमें प्रमाता का अहम् अचेतन स्तर पर कवि के भावों का अनुभावन करता है ।[2] अभिनव की दृष्टि मूलतः एक आदर्श सामाजिक की ही दृष्टि है । ब्रह्मा द्वारा नाट्य के अधिकारी का निरूपण कराते हुए वह आदर्श सहृदय की संकलपना को इस प्रकार मूर्त करते हैं—क्रीडा प्रस्ताव अथवा मनोरंजक उपकरणों के द्वारा शिक्षा देने योग्य, रागद्वेष से रहित मध्यस्थ वृत्ति वाले निर्मल दर्पण के समान हृदय में तन्मयी भवन की योग्यता से युक्त तथा रसास्वाद के प्रति ग्रहणशील सामाजिक ही नाट्य-प्रयोग को सफल बना सकते हैं ।[3] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रमातृगत ऐन्द्रियानुभूति की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न होती है । कोई श्राव्य, कोई दृश्य और कोई गत्युद्‌बोधक बिम्बों के ग्रहण में समर्थ होता है । अतः समान्यतः किसी मानक सौंदर्यबोध की परिकल्पना प्रस्तुत नहीं की जा सकती[४] ।

---

१. सुकुमारता हि वैमल्यापरपर्याया सहृदयत्वं हृदयस्य हि कविहृदय तादात्म्यापत्ति योग्यतैव उत्कर्षः (अभिनवभारती भाग २, पृ० ३३९)

२. The ego unconsciously supposes itself at one with the object, and there is no longer any duality. Empathy simply means the disappearance of the two fold consciousness of self and object,

(Empathy and Abstraction, Introductory Note, A Modern Book of Esthetics, Melvin Rader P. 369)

३. क्रीडाप्रस्तावव्याजोपदेश्याः, विगतरागद्वेषाः, मध्यस्थवृत्तयो निर्मलहृदयमुकुरे सति तन्मयीभवनयोग्यतोपेता आहितरसास्वादाः सामाजिकाः ।
(नाट्यशास्त्रम्, भाग-१ अभिनवभारती, पृ० १६)

४. Some readers have a virtual painting in their heads as they read the words 'a pair of ragged claws, scuttling

अभिनव का आशय संभवतः प्रमाता में कल्पना, विचार एवं अनुभूति के उपयुक्त सामंजस्य की आदर्श प्रकल्पना के मूर्त करने से है। काव्य-बोध की यह अनिवार्यता है, किन्तु इसका अतिरिक्त आग्रह अप्रासंगिक है। आदर्श विम्ब के प्रति आग्रहशील हो कर भी अभिनव सहृदय की विविध कोटियों की उपेक्षा नहीं करते। वे उनके तारतम्य के परिप्रेक्ष्य में भावयित्री प्रतिभा के अनेक कोणों को भी सजगता से उद्भावित करते हैं। उदाहरण के लिए मुक्तक में कल्पना-शक्ति की प्रौढ़ता विशेष अपेक्षित है। उसमें विभाव एवं अनुभाव योजना की एकदेशीयता को प्रसंगादि की उद्भावना के द्वारा पूर्ण बना कर अनुभूति का विषय बनाना विशेष कल्पना एवं काव्यानुशीलन की अभ्यासजन्य सहृदयता की अपेक्षा रखता है।[1] आदर्श प्रमाता प्राक्तन संस्कारों के बल पर सीमित विभावों में भी काव्यार्थ का सहज ही साक्षात्कार कर सकता है, किन्तु नाट्य में भी उनकी सहृदयता परिष्कृत और प्रखर हो कर नाट्यानुभूति को और भी गंभीर स्तर पर ग्रहण करती है। नाटक में आस्वाद का माध्यम चतुर्विध अभिनय है, किन्तु काव्य में सहृदय को कवि की अभिव्यंजना-कौशल का ही आधार रहता है।

सामान्य अर्थबोध की अपेक्षा काव्यात्मक प्रतीति के वैशिष्ट्य का आधार शब्दार्थ में निहित गुणालंकार का उचित संनिवेश है, जिसे भट्टनायक ने भावगत व्यापार का अग तथा अभिनव ने व्यंजकत्व व्यापार की इतिकर्तव्यता कहा है।[2] दोनों ही स्थितियों में भावक इन्हीं के माध्यम से काव्य रसों की

---

across the floors of silent seas, others are most acutely aware of the sounds. Still others experience chiefly a kinesthetic scuttling. Probably no two readers experience the rhythms, sounds, and images of a poem in precisely the same proportions.

(Walter J. Slatoff, With Respect to Readers, London-1970 P. 32).

[1] तदुगजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य ईदृगत्र वक्ताऽस्मिन्नवसरे इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते। (ना॰ शा॰ भाग-१ पृ २८७)

[2] तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमित-

भावन अथवा साधारणीकरण करता है। किन्तु अपेक्षाकृत अधिक संस्कृत, व्युत्पन्न एवं समृद्ध-कल्पनाप्रवण प्रमाता गुणालंकारमनोहर शब्दार्थ वाले काव्य में विशेष हृदय-संवाद एवं तन्मयता का अनुभव करते हैं[1]। उनकी भी नाटक में सहृदयता कम प्रखरता से अभिव्यक्त नहीं होती[2]। इस संदर्भ में द्रष्टव्य यह है कि अभिनव की काव्य एवं दर्शन से संस्कृत रुचि आदर्श प्रमाता के प्रतिमान से ही विविध प्रमातृगत आस्वाद स्तरों का व्याख्यान एवं मूल्यांकन करती है। प्राक्तन पुण्य जैसे शब्दों के प्रयोग से अभिनव रसास्वाद को जहाँ आध्यात्मिक अतीन्द्रिय स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं, वहाँ अवर कोटि के प्रमाताओं के मानसिक स्तर का भी सजगता से विश्लेषण करते हैं। अवर कोटि के प्रमाताओं की दूषित प्रवृत्तियों का भी नाट्य-दर्शन से विरेचन हो जाता है। गणिका आदि के गीत उनके अन्तःकरण को निर्मल बनाने के साधन होते हैं।[3] यह साधारणीकरण की अत्यन्त व्यापक व्याख्या है, जिसमें काव्योपकरण ही नहीं, नटादि सामग्री की देशकालातीत योजना अवर कोटि के प्रमाताओं की वासना-शुद्धि का माध्यम बनती है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अभिनव ने प्रमाता एवं नटी (गणिका) के मानसिक अन्तराल की विविध कोटियों को मध्ययुगीन परिवेश में अत्यन्त सजगता से परखा है। उच्चकोटि के प्रमाता में नट अथवा नटीत्व विषयक तथा राम अथवा सीता विषयक बुद्धि का स्थगन होने से कालातीत अनुभूति शीघ्रता से उद्बुद्ध होती है, जबकि अवर कोटि के प्रमाता में तद्विषयक बुद्धि की विश्रान्ति इतनी

विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। (वही)

[1] तस्माद्व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावान् रसानुभावयति। (लोचन पृ० १८७)

[2] काव्ये तु गुणालंकारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्रमाणकेहृदयसंवादवशात् निमग्नाकारिका तावद्भावति चित्तवृत्तिः।
तेषामपि तु नाट्यम् निपतिता स्फुरिता शशिरश्मयः इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। (नाट्यशास्त्रम्, भाग-१ पृ० २८७)

[3] अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति नित्योपकरणात्।
(नाट्यशास्त्र, पृ० २८७)

अविलम्ब नहीं होती। गणिका के गणिकात्व के विस्मरण में पूर्वाग्रह बाधक होते हैं। सत्त्व पर आश्रित अभिनय की चारुता पुरुषों के हृदय को हरण करने वाली राग-शून्य वेश्याओं में कहाँ ?

> 'चेतोवशिता सत्त्वं सत्त्वे सति चारुता प्रयोगस्य ।
> न भवति सा वेश्यानामल्पापि पुरुषहृतहृदयानाम्' ।।[1]

रत्नावली की भूमिका में गणिका मालती अवर कोटि के दर्शकों को काममुग्ध ही अधिक करती है। उनकी वासनाओं को उदात्तीकृत नहीं।

> रूपं यौवनचित्रितमनंगविकृतानि नाट्यदीप्तानि ।
> शमिनामपि शमगर्वमुष्णन्त्यविकल्पितम् तस्याः ।।[2]

वस्तुत. प्रारम्भ में अवर कोटि के प्रमाता की मानसिकता 'इन विलासिनियों ने खूब क्रीड़ा की' जैसी छिछली भूमिका पर ही होती है, किन्तु क्रमशः नाट्यवस्तु में तदाकार हो कर प्रमाता आत्म-विस्मृत होता जाता है।[3]

अभिनव की सहृदयता प्रतिभा की व्याख्या भरत के सुमनस् प्रेक्षक की यथार्थवादी दृष्टि का आध्यात्मिक आदर्शीकरण है, जिसमें भावना पक्ष का भट्टनायक की अपेक्षा अधिक विस्तार लक्षित होता है। मानसी साक्षात्कारात्मिका शक्ति तथा विमल प्रतिभानशलित्व इत्यादी संदर्भ सहृदय को अतिरिक्त भावना-प्रवण, विवेक-सम्पन्न आध्यात्मिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करते हैं। सहृदय में हृदय-संवाद तन्मयी भवन, की क्षमता तभी आ सकती है जब वह मुकुर के समान विमल और विशद हृदय का अधिकारी हो। इसी के आधार पर काव्य अथवा नाट्य के साक्षात्कार के क्षण में अपने संकुचित स्व से मुक्त होकर कविगत अनुभूति तथा विभावादि के साथ एकात्म्य होता है। सहृदय के रूप में अभिनव ने वैश्व, सार्वभौम अवधारणा का आश्रय लिया है, जिसमें पाश तथा आणव मलों से मुक्त हो कर संकुचित जीवतत्व शिवतत्व में तद्रूप होकर विशदता को प्राप्त करता है। मनोमुकुर की उपमा अभिनव ने इसी शैव सिद्धान्त से ग्रहण की है, जिसका अन्यत्र विवेचन किया गया है।

---

[1] कुट्टनीमतम्, ८९७, पृ० १८८

[2] वही, ९९९, पृ २०५

[3] शृङ्गाररससमुद्रे सोत्कलिकं निपतिते । (वही)

सहृदय की देशकालातीत स्थिति तथा स्व-पर की सम्बन्ध मुक्ति भी मूलतः प्रमाता के अन्तश्चैतन्य का प्रतीकात्मक आदर्शीकरण है, जिसमें भट्टनायक के सहृदय की भोग-बुद्धि को स्थूल संदर्भ से हटा कर अमूर्तीकृत किया गया है। उनका सहृदय मूलतः एक विशिष्ट प्रेक्षक नहीं है, अपितु देशकालातीत स्थिति एव वैश्वभाव का प्रतिदर्श है, जिसमें भावयित्री प्रतिभा के सभी मौलिक प्रतिमानों का अन्तर्भाव है। काव्यानुशीलनाभ्यास तथा प्रतिभा के केन्द्र में अभिनव ने तन्मयीभवनयोग्यता को प्रतिष्ठित किया है। तन्मयीभवन से ही वे हृदय-संवाद की मनोवैज्ञानिक भूमिका की ओर अन्तःप्रयाण करते हैं तथा अनादि-वासना संवाद की मिथकीय मनोभूमिका का पूर्वाभास देते हैं। अनादि-वासनाएँ मानव मात्र को वैश्व बुद्धि से अन्वित करती है तथा कलात्मक अभिव्यंजनाओं से उनकी उद्‌बुद्धि कवि तथा सहृदय तथा सामष्टिक स्तर पर सहृदयों के वीच संवाद उत्पन्न करती है, जिससे प्रमाता स्व संकुचित भूमि से मुक्त होते हैं। हृदय-संवाद को अभिनव ने सहृदयत्व की प्रधान भूमिका के रूप में परिभाषित किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अवर कोटि के प्रमाताओं को सहृदयता के वृत्त में प्रतिष्ठित कर उन्होंने परवर्ती आस्वादक के रसिक व्यक्तित्व की भूमिका की ओर भी संकेत किया है, जिसका मध्युगीन सामन्तीय वातावरण में क्रमशः विकास हुआ है।

वासना-संवाद एवं साधारणीकरण

साधारणीकरण में कवि और सहृदय का हृदय-संवाद तथा प्रमातृ मात्र का हृदय-संवाद जन्मानुवन्धि अनादि वासना के सिद्धान्त पर आधृत है। अभिनव का कथन है कि नाट्य अथवा काव्य के साक्षात्कार के क्षण में सभी सामाजिकों को एक साथ मिश्रित किन्तु अभिन्न प्रतीति होती है। रस बोध के चरम परिपाक के लिए यह स्थिति अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि अनादि वासना से अनुरंजित समाजिकों में जव वासना संवाद स्थापित हो जाता है[1] तो रसानुभूति का क्षेत्र अन्तःप्रतिबिम्बित होकर अत्यन्त विशद एवं व्यापक हो जाता है। सामष्टिक चेतना में रसानुभूति की सघनता एवं एकघनता की प्रतीति के कारण एवं स्वरूप पर अन्यत्र विचार किया गया

---

[1] अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय, सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।
(नाट्यशास्त्रम्, भाग-१ बड़ौदा पृ० २७९)

है। यहाँ वैज्ञानिक परिदृष्टि के नव्यालोक में वासना संवाद की अवधारणा का प्रत्यवलोकन अपेक्षित हे।

शाकुन्तलम् में दुष्यन्त हंसपादिका के सुदूरागत वीणा के स्वरों को सुन कर अकस्मात् उत्कण्ठित हो उठता है। इस संदर्भ में कालिदास का कथन है कि रमणीय वस्तुओं को देख कर अथवा मधुर शब्दों को सुनकर यदि सुखी प्राणी भी पर्युत्सुक अथवा उत्कण्ठित हो जाता है तो वह निःसन्देह अनजाने ही वासनारूप में स्थिर दूसरे जन्म के सौहार्द का स्मरण करता है।[1] इस उक्ति में अबोधपूर्व, भावस्थिराणि तथा जननान्तर-सौहृदानि विषयक संदर्भ भारतीय आस्था के बाहर भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तन की ओर इंगित करते हैं। अबोधपूर्वा स्मृति फ्रायडीय अवचेतन की अवधारणा को पुष्ट करती है। फ्रायड के अनुसार अचेतन मन द्वारा चेतन मन की संवेगात्मक तथा बौद्धिक क्रियाओं का संचालन होता है। फ्रायड ने अवचेतन की तुलना उस हिम-पिण्ड से की है, जिसका छोटा-सा अंश जल की सतह से ऊपर है, किन्तु अधिकांश जल के नीचे है। जुंग ने अवचेतन मन को सामूहिक अवचेतन के अंश के रूप में परिभाषित किया है। कहने का आशय यह है कि अबोधपूर्वा स्मृति मानव मात्र के अज्ञात संस्कारों का वह कोष है, जिसमें विशिष्ट वस्तुओं के वैशिष्ट्य का तिरोधान हो जाता है तथा उनकी निर्विशेष स्मृति शेष रहती है[2] जो सौंदर्यमूलक वस्तु के साक्षात्कार से उद्बुद्ध हो उठती है। अभिनव के अनुसार यह स्मृति किसी लौकिक पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण की बोधक नहीं है, अपितु यह स्मृति प्रतिमान का दूसरा पर्याय है, जो मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति है।[3] सम्भवतः अभिनव का तात्पर्य यह है कि प्रतिभा अननुभूत वस्तुओं को भी जन्मानुबन्धि संस्कारों के आधार पर साक्षात्कृत करती है। ये संस्कार मानव

---

[1] अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५/२, (काले, बम्बई-१९२०, पृ० ११५)

[2] अबोधपूर्वं विषयविशेषज्ञानाभावपूर्वं चेतसा स्मरति।

(राघवभट्ट-अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ० ११५)

तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी, न मिथ्या, नानिर्वाच्या, न लौकिकतुल्या, न तदारोपाविरूपा।

(ना० शा० (बड़ौदा) पृ० २८०)

[3] वही, पृ० वही।

मात्र में भावरूप में वद्धमूल रहते हैं और अनुकूल उत्तेजना पाते ही उद्‌बुद्ध हो उठते हैं। अभिनव के अनुसार जीव इन संस्कारों से आवद्ध ही संसार में जन्म ग्रहण करता है।[1] अतः शीघ्र ही वह इन अनुभूतियों के अनुरूप अनुक्रियाएँ करने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति रमणेच्छा से युक्त होता है। वह अपने उत्कर्ष का अभिमानी, दूसरे का उपहास करने वाला, अभीष्ट वस्तु के वियोग से संतप्त और उसके प्रेरक कारणों के प्रति क्रोध युक्त होता है। किन्तु सामर्थ्य के अभाव में वह उन प्रेरक हेतुओं से भयभीत भी रहता है। अर्जन की इच्छा रखता हुआ भी अनुचित वस्तुओं से विमुख हो कर उन्हें अनभीष्ट मानता है। वह अलौकिक कार्यों को देख कर विस्मित होता है। तथा कभी-कभी त्याग की इच्छा भी उसके मन में जागृत होती है।[2]

मानव के ये आचरण ही उसके अन्तःकरण में वद्धमूल रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, विस्मय तथा निर्वेदमूलक संस्कारों का आभास देते हैं। भावस्थिराणि की व्याख्या टीकाकारों ने वासना संस्कार के स्तर पर ही की है। **'नूनं निश्चितं तद्भावैर्वासनाभिः स्थिराणि निश्चलानि'[3] भावेन वासनया, संस्कारेण इत्यर्थः, स्थिराणि दृढ़तरसंस्कारविषयान्'[4]**। कहने का आशय यह है कि मानव हृदय अतीत के संस्कारों का समुच्चय है। उसके अतल में विविध वासनाओं की स्थिति है जो मानव मात्र को एक अन्तःसूत्र में आवद्ध करती हैं। यह वात भिन्न है कि किसी में कोई वासना प्रखर हो और किसी में क्षीण, किसी की चित्तवृत्ति औचित्य से नियंत्रित होती है तो किसी की अनुचित दिशा में भी प्रवृत्त हो सकती है। कवि और सहृदय का हृदय-संवाद अनादि वासना के इसी सिद्धान्त पर आधृत है। अतः वैज्ञानिक अवधारणाओं के आलोक में इस पर पुनर्विचार अपेक्षित है। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक है कि भारतीय चिन्तन जिन मिथकीय अवधारणाओं में पोषित हुआ है, वे समग्र सृष्टि के मूल कारण की सहजात एकता

---

[1] स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भः परीतो भवति। पृ० २८२

[2] वही, पृ० २८२

[3] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, राघवभट्ट, पृ० ११५

[4] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता (१९१४) पृ० २३६

की ओर इंगित करती हैं। समग्र संसार एक ही सिसृक्षा[1] का परिणाम है। कुमारसंभव में कालिदास ने इसी सामष्टिक चैतन्य धारा का स्तवन करते हुए कहा है कि सृष्टि के पूर्व एक ही शक्ति मात्र चैतन्य रूप में विद्यमान रहती है।[2] अतः सृष्टि के सौंदर्य-बोध में विश्वात्मा की सर्जनेच्छा एक ऐसे विश्वव्यापक लालित्य के प्रवाह के रूप में अभिव्यक्त हो रही है कि मानव का अन्तश्चैतन्य उसे समान भाव से ग्रहण करने के लिए अज्ञात रूप से पर्युत्सुक हो उठता है।

सामाजिकों में एकघनता एवं वासना-संवाद

काव्यास्वाद में व्यक्तिशः आनन्द, समष्टिगत नाट्य-प्रेक्षण तथा काव्य-श्रवणजन्य तन्मयता की निजी पृथक् मनोभूमिकाएँ हैं। उनमें प्रकृतिगत अंतर है। प्रेक्षकों के समूह में नाट्य-वस्तु के प्रत्यक्षीकरण तथा व्यक्तिगत काव्य-पाठ में मूलभूत अन्तर तो यही है कि काव्य की पठन-क्रिया के क्षण में पाठक एकाकी होता है। उसकी तात्कालिक अनुभूति एवं संवेदना व्यक्ति-मानस में घटित होती हैं। अनुभूति की इस एकाकी संवेदना का क्षण मूलतः आत्म-साक्षात्कार का क्षण होता है[3] जिसमें पाठक किसी गहन अन्तरंगता की अनुभूति का एकाकी भोक्ता होता है। किसी गोपनीय नग्नता के एकाकी द्रष्टा का बोध उसे विलक्षण आह्लाद एवं उद्दीपन प्रदान करता है।[4]

---

१. स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ॥
—कुमार संभव २/७, पृ० २५९
(कालिदास ग्रन्थावली, संपादक—रामप्रताप त्रिपाठी)

२. नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे॥
(कुमारसभव २/४, पृ० २५८, कालिदास-ग्रन्थावली)

३. Not only is the act personal, but one has the sense that it is, and draws satisfaction in part because, unlike most of our activities, it is personal, a kind of being with oneself, albeit in a peculiarly rich and exciting way.
(Walter J. Slatoff 'With Respect to Readers p. 30)

४. One is alone, yet in intimate relationship with something else. (Ibid)

यह अनुभूति प्रच्छन्न तो होती ही है, सहज सम्प्रेषणीय भी नहीं होती। तद्विपरीत नाट्य-प्रेक्षण में पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के विगलन के अनन्तर एक सामाजिक चैतन्य का आविर्भाव होता है। प्रेक्षण के क्षण में व्यक्तित्व की सीमाएं तिरोहित हो जाती हैं एवं एक समष्टि-भाव जन्म लेता है।

अभिनव के अनुसार नृत्य गीत आदि के सामूहिक क्षण में सामाजिक सुधा-सागर के समान आत्म-विस्तारगत आह्लाद प्राप्त करता है। इसमें प्रमाता को तादात्म्य का पूर्ण अनुभव प्राप्त होता है। अपने एकाकी प्रेक्षण से परितुष्ट न होकर वह ऐसा अनुभव करता है कि इस व्यापक अनुभव-खण्ड का मैं एकाकी भोक्ता नहीं हूँ, अन्य सामाजिक भी यह दृश्य देख रहे हैं। यह अनुभूति प्रत्यक्षीकृत नाट्य-वस्तु से प्रेरित होकर शुष्क स्थिति से भिन्न अन्य रूप में ही परिणत हो जाती है।

‘तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते॥
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम् ’
तावन्मात्रार्थसंवित्तितुष्टाः प्रत्येकशो यदि।
कः सम्भूय गुणस्तेषां प्रमात्रैक्यं भवेच्च किम्॥
यदा तु तत्तद्वेद्यत्वधर्मसन्दर्भगर्भितम्।
यद्वस्तु शुष्कात् प्राग् रूपादन्ययुक्तमिदं तदा।’[1]

जयरथ ने इस समष्टिगत अनुभूति को विश्लेषित करते हुए कहा है कि सामाजिकों की अनुभूतियों में एक ऐसी अन्विति उत्पन्न हो जाती है कि एक प्रमाता की अनुभूति अनेक प्रमाताओं की अनुभूति वन जाती है। **‘एकैकप्रमातृवेद्याद्धिनृत्तादेरनेकप्रमातृवेद्यस्यास्यास्त्येव।’**[2] श्रीप्रत्यभिज्ञा में प्रमेय अंश में प्रमाताओं की संवेदना के ऐक्य का विवेचन इस प्रकार हुआ है **‘तं तं घटादिमर्थमेकदेशव्यवस्थिताः प्रमातारः समं संवेद्यमानास्तावत्यंशे तदैक्यमुपयान्ति।’**[3] जयरथ के अनुसार इस अनुभूति में ज्ञान के सभी इतर विषयों का बोध विगलित हो जाता है तथा अन्य कोई आकांक्षा शेष नहीं

---

१. तन्त्रालोक (कश्मीर, १९२४) सप्तम भाग: ११/८५-८८ पृ० ६६-६९
२. वही, पृ० ६८
३. वही, पृ० वही

रहती। **'पूर्णरूपेति इयदेव हि पूर्णं रूपं यद्विगलितवेद्यान्तरतया तत्रैवानन्याकांक्षत्वेन परामर्शनं नामेति।'**[1]

वस्तुतः इस संविन्मय अनुभूति में संविद् की एकता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि शिव स्वरूप मानव मात्र में एक ही संविद् (चैतन्य) प्रवाहित है। अतः रसानुभूति में सभी सामाजिक विगलित-वेद्यान्तर हो कर नाट्-वस्तु में तन्मय हो जाते हैं। इस संदर्भ में जयरथ का प्रश्न है कि यदि इतने अर्थ से ही प्रेक्षकों को संतोष होता कि अन्य लोग भी यह दृश्य देख रहे हैं तो प्रमाताओं के ऐकात्म्य का लाभ क्या है? इसका उत्तर यह है कि जव एक ही वस्तु में अनेक वेद्यताओं का आभास होता है तो प्रमाताओं की वेद्यजनित पृथक्-पृथक् अनुभूति एक ही अनुभूति में परिणत हो जाती है। आत्मविश्रान्ति में परामर्श के द्वारा प्रमाताओं की अनुभूति क्रमशः परस्पर सम्पृक्त हो कर अन्तर्प्रतिविम्वित आनन्द में पर्यवसित हो जाती है।[2]

अन्तर्प्रतिविम्व का यह सिद्धान्त सामष्टिक रस प्रतीति को एक भिन्न स्तर पर भी परिभाषित करता है। प्रत्येक प्रमाता अपनी भौतिक एवं दैहिक सीमाओं में आवद्ध होने के कारण अनुभूति को वैयक्तिक स्तर पर ग्रहण करता है। अतः उसमें व्यक्तिगत रागद्वेष के अनुषंग भी समाहित हो जाते हैं। किन्तु समूह का अंग वन कर, अपनी व्यक्तिगत सीमा से ऊपर उठ कर वह आनन्दानुभूति को गुणात्मक स्तर पर एक भिन्न एवं उच्चतर धरातल पर ग्रहण करता है। एक व्यक्ति की संविद् अन्य व्यक्तियों की संवितों से प्रतिविम्वित हो कर अनेक आयामी वन जाती है।[3] दर्पण जैसे विम्वित-प्रतिविम्वित हो कर एक विम्व को अनेक आयामी वना देते हैं उसी

---

[1] वही, पृ० ६७-६८

[2] एकस्मिन् हि वस्तुन्यनेकवेद्यतावभास एव स्वात्मविश्रान्तिमयपरामर्शापारोहक्रमेण विगलितभेदतया प्रमातॄणामैक्योपगमे वीजं यत एवंविधानन्दसन्दोहपात्रतापि भवेत्।

(तन्त्रालोके दशमाह्निकम् ८७ की वृत्ति, पृ० ६८)

[3] इह सर्वात्मकत्वऽपि या संविद्देहभेदात् संकोचप्राप्ता, सा मेलके सति अन्योन्यस्य संघट्टेन प्रतिबिम्बात्परस्परं प्रतिसंक्रमणेन विकस्वरा संकोचापहस्तनेन पूर्णा भवतीत्यर्थः।

(तन्त्रालोके अष्टाविंशमाह्निकम्, पृ० १५८)

प्रकार काव्य-भूमि में भी एक ही अनुभूति अन्य प्रमाताओं की संवादी अनुभूतियों से युक्त हो कर प्रतिवन्धक कारणों से निर्विघ्न एवं तदाकार हो जाती है।[१] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक दर्शक के मन में गोपनीय रहस्य के साक्षात्कार की आनन्दानुभूति के क्षण में स्वयं को परोक्ष रूप से देखे जाने की प्रच्छन्न आकांक्षा निहित रहती है। प्रत्येक दर्शक परोक्षतः अभिनेता की ही भूमिका में होता है तथा आनन्दानुभूति के क्षण में इतर दर्शकों से साक्षात्कृत किए जाने की परिकल्पना से उद्दीप्त हो कर वह विम्बित-प्रतिविम्बित भाव से अपने संविद् को अधिकाधिक तीव्र करता जाता है।[२] समाज में व्यक्ति अपनी नग्नता को गुप्त रखता है। रंगमंच इस गोपनीयता से मुक्ति देता है।[३] साथ ही आत्म-प्रदर्शन का अनुचित भय भी यहाँ वाधक नहीं होता। अभिनव के अनुसार यही देह भेद से संकुचित सर्वात्मिका संविद् का विस्तार है। इस सामष्टिक क्षण में परस्पर संघटित एव विम्वित-प्रतिविम्वित चेतना अनेक दर्पणों में दीप्त सूर्यरश्मि के समान दीप्ततर हो कर अनेक प्रमातृ चेतनाओं का तन्मयीभवन कराती है। 'बहिः **प्रसरन्निन्द्रियमरीचिपुंज तास्वेव अनेकदर्पणप्रख्यासु···संवित्सु प्रतिबिम्बितत्वात् दीप्तः'**।

आधुनिक मनोविज्ञान अन्तःप्रतिविम्वन सिद्धान्त का एक भिन्न प्रकार से भी समर्थन करता है। समष्टिक अनुभूति में निर्देशन, अनुकरण एवं सह-अनुभूति की संवद्ध प्रक्रिया गतिशील रहती है, जो अवचेतना स्तर पर

---

[१] उच्छलन्निजरश्म्यौघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
वहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वायिताप्ययत्नतः ।
संवित्सु प्रतिबिम्बितत्वात् दीप्तः सर्वतो विकासमासादयन् यत्नं
विनापि सर्वायित सर्वाकारतं यायादित्यर्थः। (वही, पृ० १५९)

[२] That very Histronic object the mirror enables any actor to which himself and thereby to become C, the audience. And the mirror on the wall is only one and the mind are many.
(Eric Bentley 'The life of the drama' p. 150)

[३] One of the archetypal acts of the theatre is to remove this concealment.
(Ibid p. 151)

व्यक्तियों की अन्तःक्रिया के रूप में घटित होती रहती है। निर्देश के मूल में कोई तार्किक अनिवार्यता नहीं होती। प्रेक्षक सम्मिलित भावधारा में अज्ञात रूप में सम्प्रेष्य-वस्तु और अनुभूति के प्रति तदाकार अनुक्रिया करता चलता है। इसका कारण है मानव की सहजात, सामूहिक मनस्कता। व्यक्ति-मानस का विकास समाज के व्यक्तियों के अन्तःप्रतिविम्वन अर्थात् उनकी परस्पर अन्तःक्रिया से ही प्रेरित होता है। व्यक्ति मानस के निर्माण के मूल में युग-युगान्तर की मानव चेतना की विकास-प्रक्रिया के बीजाणु विद्यमान हैं।[1] यही कारण है कि एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक क्षण में प्रेक्षकों में तदाकारता उत्पन्न होती है। **आनन्दनिर्भरा संवित्प्रत्येकं सा तथैकताम्।'** संवेदना का एक अन्तःसूत्र प्रमाता की चेतना को सहज ही अन्तः संयोजित कर देता है। एक प्रमाता के संवेगात्मक प्रभाव की रश्मिगाँ दूसरे प्रमाता की संवेगात्मकता से अनुरंजित हो कर गहन एवं प्रखर हो उठती हैं।[2]

अभिनव ने विततसाधारण्यं की अवधारणा को समष्टि चेतना के जिस व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया है, उसका एक कोण वासना-संवाद, तथा सब सामाजिकों की एक-घन प्रतिपत्ति से अन्वित हो कर सामूहिक रसभोग को संदर्भित करता है। **अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयेव प्रतिपत्तिः सुतरां रस परिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।**[3]

---

[1] ...the products of an immensely long course of evolution, conditions which have been produced by the mental activities of countless generations.
(W. MC Dougall 'The Group Mind' Cambridge-1920 p. 6)

[2] ...such telepathic interaction might well play a very important part in collective mental life, and, where a large number of persons is congregated, it might tend to produce that intensification of emotion ... for the emotion of each member might be expected to be intensified by the telepathic influence radiating from every other member.
(W. MC Dougall 'Cambridge-1920, p. 28-29)

[3] नाट्यशास्त्रम् भाग-१, पृ० २७९

स्पष्टत: एकघनता एवं वासना-संवाद नाट्यानुभूति के समष्टिपरक आस्वाद अथवा प्रेक्षण के अनिवार्य तत्त्व हैं । द्रष्टव्य यह है कि नाट्य-प्रसंगों के विसंगत एवं जटिल समीकरणों की व्याख्या में ये तत्त्व कितना योग देते हैं ? विशेषत: उन संदर्भों में सामष्टिक अनुभूति का क्या स्वरूप होता है, जिनमें तन्मयी भवन की अपेक्षा प्रेक्षक से एक विशेष निर्णय पर पहुँचने की अपेक्षा की जाती है । यहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य प्रसंग गौण पड़ जाते हैं तथा प्रतिनिधानात्मकता के कारण दर्शकों एवं मंच का अन्तराल अधिक प्रखर हो जाता है ।[1] अश्वत्थामा की निम्नलिखित उक्ति[2] से यदि प्रमाता एक स्तर पर स्वयं को सम्बद्ध अनुभव करता है, तो दूसरे स्तर पर **गर्भशय्यां गतो वा** की ममत्वहीन बुद्धि की आभ्यंतर उत्तेजना से असम्पृक्त हो कर अश्वत्थामा की विनष्ट मानसिक शान्ति तथा उसके पीड़ित मन की स्थिरता के द्वन्द्व का नि:संग भाव से प्रत्यवलोकन भी करता है । प्रमाता की नि:संगता विडम्बना के प्रभाव को तीव्र करती है ।[3] अभिनव के स्तर पर इस विडम्बनापरक नि:संगता का समाधान यह है कि ये तीनों अभिवृत्तियाँ अन्त:प्रतिविम्बित हो कर सामष्टिक संवेदना को तीव्रतर करती है । 'अन्योन्यसंघट्टप्रतिबिम्बाद्धिकस्वरा ।' वस्तुत: ऐसे दृश्य समप्रभावी अनुभूति भले ही न जगाएँ, किन्तु क्रूरता के संवेग से प्रमाता को विरेचनपरक मुक्ति का आस्वाद अवश्य देते हैं । अत: क्रूरता को नाटकीय प्रतिपाद्य के केन्द्र में स्थापित करने वाले पाश्चात्य नाटककार आर्तोद का कथन है कि अभिनेता एवं दर्शक एक जुट हो कर जैसे इस व्याख्येय वैश्विक क्रूरता का अपनी अन्तश्चेतना से प्रतिरोध करते हैं ।[4] भीति और

---

१. Insentification is discouraged, Empathy is forbidden, a more presentational style of acting increases the distance between audience and stage.
(The theatre of rovolt, p. 259)

२. ···यो यः पांचालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
···क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥
(वे०सं० ३/३२, पृ० ८७)

३. विषमव्यथाकश्मलशिथिलमश्वत्थाम्नः स्थेमानं प्रतिज्ञापयति ।
(औचित्यविचार-चर्चा, अलीगढ़, सम्पादक—डा० मनोहरलाल गौड़, पृ० २३)

४. ...An attitude on the part of actors and audience that

प्रतिरोध की आवेगमय समाहिति उन्हें एक सूत्र में बाँधती हैं। वेणीसंहार में यह क्रूरता दोनों स्तरों पर सक्रिय दिखाई गई है। निःशस्त्र द्रोण का वध तथा गर्भशय्यागत शिशुओं की हत्या एक ही क्रूरता के दो पार्श्व हैं। अश्वत्थामा यदि प्रमाता की सहानुभूति अर्जित करता है, तो क्रूरता के प्रतिरोध के प्रथम स्तर पर और यदि प्रेक्षक की सहानुभूति खोता है, तो भी इसी कारण कि प्रेक्षक इस द्वितीय क्रूरता का भी प्रतिरोध चाहता है। आतंक एवं प्रतिरोध के ये विविध आयाम अतःप्रतिविम्बित हो कर प्रेक्षकों की अभिवृत्तियों को अन्तःसंयोजित कर नाट्य-प्रभाव को तीव्रतर कर देतेहैं। इस स्तर पर यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेक्षक जहाँ उस प्रभाव के प्रति समर्पण करता है, वहाँ एक स्तर पर अन्तर्विभक्त भी रहता है।

'अत एव यदा येन वपुषा भाति यद्यथा।
तदा तथा तत्तद्रूपमित्येषोपनिषत्परा ॥'
(तन्त्रालोक १०/८२)

रसविघ्न (और साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका)

अभिनव ने रसनात्मक प्रतीति को वीतविघ्न प्रतीति कहा है। "सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः"।[1] इस संदर्भ में उन्होंने काव्यास्वाद की बाधक निषेधपरक प्रतीतियों का विवेकसम्मत मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्यागत अनुभूति को लौकिक स्तर पर ग्रहण करने के कारण प्रायः प्रमाता रसास्वाद की साधारणीकृत भूमिका से वंचित रह जाता है। इसका आंशिक उत्तरदायित्व कवि द्वारा काव्यार्थ की अपूर्ण अथवा त्रुटिपूर्ण प्रस्तुति एवं विभावादि की दोषपूर्ण योजना पर भी है। जहाँ प्रस्तुत भाव के प्रतिरूप विभाव-योजना अशक्त अथवा स्फीत हो वहाँ काव्य के सारभूत प्रभाव के विशृंखल होने से प्रमाता की रसानुभूति व्याहत होती है। अतः अभिनव का कथन है कि विभावों की योजना विघ्नों की अपसारक होती है। 'तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः।'[2] इलियट भी दोषपूर्ण विभाव

---

simultaneously inspire awe and defiance,
(George Wellworth 'New York-1971 'The Theatre of protest', p. 20)

[1] नाट्यशास्त्रम्, बड़ौदा-१९५६, पृ० २८०

[2] वही-

योजना को सम्यक् रसानुभूति में बाधक मान कर काव्य की व्यापार शृंखला के सुनियोजित औचित्य की ओर इंगित करते है ।[१] अभिनव ने इस संदर्भ में सात विघ्न प्रतीतियों का विवेचन किया है, जिनका आधुनिक समीक्षा संदर्भ में भी मनोवैज्ञानिक तथा सौंदर्यशास्त्रपरक औचित्य निर्विवाद है । **'विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तावयोग्यता-संभावनाविरहो नाम स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यं स्फुटत्वाभावो अप्रधानता संशययोगश्च ।'**[२]

सम्भावनाविरह

यदि काव्य-वस्तु प्रमाता को अपनी संभावना के प्रति आश्वस्त नहीं कर पाती तो प्रमाता की चित्तवृत्ति उसमें अन्तर्लीन नहीं हो सकेगी । वह संवेद्य वस्तु को अयथार्थ अथवा असंभव समझ कर उस विषय में अपने संविद् को सुनिश्चित नहीं बना सकेगी ।[५] अरस्तु ने भी काव्यास्वाद में संभवनीयता और आवश्यकता के नियमों को कवि के कर्तव्य-कर्म के अन्तर्गत विवेचित किया है । किसी विशिष्ट अवसर पर कोई व्यक्ति कैसे आचरण करेगा, विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का उद्देश्य है। अरस्तु का कथन है कि मानव-जीवन के विधान में, जिसकी संभावना रहती है, वह वस्तु-सत्य की अपेक्षा देशकालातीत व्यापक एवं सार्वभौम भव्यतर काव्य-सत्य होता है ।[१]

संभावना-विरह के दो ध्रुवान्त हैं—एक स्तर पर यदि कवि काव्य-वस्तु को अविश्वसनीय एवं असंभावित संदर्भों से मुक्त रखता है तो दूसरे स्तर पर उसे विश्वसनीय रूप में ग्रहण करने के लिए प्रमाता में भी एक विशिष्ट मानसिकता अपेक्षित है । यह मानसिकता काव्य-रूढ़ियों, कविसमयों तथा

---

१. The artistic 'inevitability' lies in this complete adequacy ot the external to the emotion;—T. S. Eliot
(The Sacred Wood, 1953, p. 101)

२. नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८०

३. संवेद्यमसम्भावयमानः संवेद्य संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति । (वही, पृ० वही)

४. अरस्तु का काव्य-शास्त्र, सं० २०२३, पृ० २६, ६७

युगीन आवश्यकताओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों के परिज्ञान तथा वस्तु एवं नेता के अलौकिक कृत्यों के प्रति आस्था से निर्मित होता है। वस्तुतः प्रस्तुत वस्तु को संवेद्य मानकर ही प्रमाता अपने संविद् का उसमें अन्तःप्रवेश करा सकता है। लोक-सामान्य वस्तु के विषय में प्रायः प्रमाताओं का हृदय-संवाद सहज ही हो जाता है, किन्तु लोकोत्तर अथवा अलोकसामान्य वस्तु के द्वारा प्रसिद्ध व्यक्तियों को वर्ण्य बना कर भी भावक के उनके प्रति बद्ध-मूल विश्वास को एक दृढ़ प्रतीति में परिणत किया जा सकता है। **'अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी'**।[1]

ऐसा प्रतीत होता हैं कि अभिनव का आदर्शवादी आग्रह लोकमानस में ग्रहीत परम्पराप्रथित आख्यानों के प्रति ही है, अतः वे वर्तमान चरित अथवा घटनाओं का अनुकरण उचित नहीं मानते, क्योंकि इस स्थिति में रागद्वेष ताटस्थ्य आदि से उत्पन्न अवरोध के कारण प्रमाता उसमें तन्मय नहीं हो सकेगा।[2]

प्रख्यात वस्तु के मूल में, जैसा हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है, मिथकीय संचेतना के निहित रहने से उसमें रूपकात्मकता का अनिवार्य प्रवेश हो जाता है, फलतः प्रमाता स्थूल इतिवृत्त में निहित भाव-सत्य का अनुसंधान कर तन्मय होता है।

स्वगत सुख-दुःख आदि की प्रतीति

स्वगत प्रतीति का उल्लेख भट्टनायक ने भी किया है। लौकिक अनुभूति और काव्यानुभूति में अपेक्षित मानसिक अन्तराल न बनाये रखने का परिणाम यह होता है कि सामाजिक काव्य में वर्णित करुण तथा शृंगार के दृश्यों में भी व्यक्तिगत प्रतीतियों का आस्वादन करता हैं। इस संदर्भ में नाट्यदर्पण-कार का कथन है कि स्वगतप्रतीति में रसास्वाद केवल एक व्यक्ति तक सीमित रहने के कारण अन्य प्रमाताओं का प्रतिक्षेपक होता है।[3] वह दूसरों

---

[1] नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८०

[2] न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तः। विनेयानां तत्र रागद्वेषमध्यस्थ-ताादिना तन्मयीभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात्।
(अभिनवभारती, दिल्ली १९७३, पृ० १४६)

[3] ना० द०, दिल्ली-१९६१, पृ० २९८

की रसानुभूति में बाधक होता है। वस्तुतः स्वगतप्रतीति रसास्वाद को लौकिकस्तर पर ग्रहण करती है, जिसमें नियतव्यक्तिविशेष से सम्बद्ध ही रसास्वाद होता है।[1] अभिनव के अनुसार प्रमाता कभी सुख के नष्ट होने के भय से, कभी उसकी रक्षा के लिए व्यग्र होने के कारण, कभी दुःख परित्याग की चिन्ता अथवा उसके प्रकट करने या गोपन की इच्छा से प्रेरित हो कर सुख, दुःख अथवा तटस्थता के संवेदनों से मुक्त नहीं हो पाता।[2] इस स्थिति में प्रमाता का पूर्वाग्रह प्रखर हो जाता है तथा वह अपने निजी विश्वासों एवं देशकाल के परिमित संकीर्ण प्रभावों से घिर कर काव्य का मुक्त आस्वादन नहीं कर पाता। रिचर्ड्स का कथन है कि अतीत की स्मृतियाँ काव्य के यथार्थ ग्रहण में बाधक हो जाती हैं। ये काव्यानुभूति को अप्रासंगिक दिशा में ले जाती है।[3] अत्यधिक भावुक अथवा संवेदनशील व्यक्ति व्यक्तिगत दृष्टि से अप्रीतिकर घटनाओं का अधिक समय तक आस्वाद नहीं कर सकते, वे उसकी समाप्ति की इच्छा से व्यग्र हो उठते हैं।

कुछ व्यक्ति कथा के केन्द्र में स्वयं को प्रक्षेपित कर लेते हैं, फलतः साधारणीकरण के अनुरूप उनका व्यक्तित्व विलगित नहीं हो पाता। ऐसे प्रमाता काव्य-वस्तु के प्रति अपेक्षित मानसिक अन्तराल की सीमा का शीघ्र अतिक्रमण कर जाते हैं। उदाहरणार्थ 'औथेलो' के नाट्य-प्रेक्षण के क्षण में अपनी पत्नी के प्रति शंकालु प्रमाता 'औथेलो' के आचरण और परिस्थितियों से उस सीमा तक सहज ही तादात्म्य करता जाएगा, जहाँ तक वे उसकी अनुभूतियों के मेल में है। उस संवादिनी अनुभूति में वह अपनी ईर्ष्या के प्रति अधिकाधिक सजग होता जाएगा, किन्तु औथेलो की डेस्डीमोना के प्रति मोह भंग का आभास होते ही उसकी तन्मयता स्थिति-विपर्यय के कारण भंग

---

[1] वही, पृ० २९७

[2] नाट्यशास्त्रम्, बडौदा, पृ० २८०

[3] These are misleading effects of the reader's being reminded of some personal scene or adventure, erratic associations, the interference of emotional reverberations from a past...
(I. A. Richards (Practical Criticism) London-1956, p. 15)

हो जाएगी।[1] यह संवादिनी रसानुभूति की विपरीत दिशा है, जिसे एडवर्ड बुलो ने अन्तराल का विलोम कहा है। इसी से सम्बद्ध है रस की परगत-प्रतीति की विसंवादिनी अनुभूति।

रस की परगत प्रतीति में प्रमाता अनुकर्ता में भावाभिव्यक्ति को प्रत्यक्ष संवेदन के स्तर पर ग्रहण कर सुख या दुःख से आविष्ट हो जाता है। अन्तर यह है कि स्वगत प्रतीति में अनुभूति प्रतिक्रियाजन्य होती हैं, परगत में अनुक्रियाजन्य। देवासुर संग्राम के नाट्य-प्रयोग को देख कर असुरों का विक्षोभ स्वगत प्रतीति का उदाहरण है, किन्तु सीता-हरण के नाट्य-प्रेक्षण के समय रावण पर कुपित हो कर मैसूर नरेश की लंकाभियान के लिए सेना को आज्ञा देने इत्यादि की अनुश्रुतियाँ परगत प्रतीति की प्रमाण हैं। परगत प्रतीति में सुख दुःख की संवेदना के समय तटस्थता का भी भाव निहित रहता है। मेरा इनसे क्या प्रयोजन? जैसी वीतरागात्मक स्थिति भी काव्यस्वाद में अन्तराय उपस्थित करती है। दोनों ही स्थितियों में प्रमाता की चेतना व्यक्तिबद्ध तथा देशकाल से नियंत्रित रहती है। अभिनव के अनुसार सुख दुःख आदि का संवेदन होने पर सामाजिक निश्चय ही सुख, दुःख, मोह या माध्यस्थ्यादि के संवेदनों को अपने अन्दर अनुभव करता है, अतः उसका रसबोध निर्विघ्न नहीं हो पाता।[2]

उत्तररामचरितम् तथा हेमलेट में स्वगत परगत देशकालविशेषावेश की स्थितियों का मार्मिक नाट्य-रूपान्तर हुआ है। उत्तररामचरितम् में सीता-परित्याग का दृश्य देख कर राम की मानसिक अन्विति भंग हो जाती है। **राम: वत्स लक्ष्मण! असंविज्ञातमनिबन्धनमन्धतमसमिव प्रविशामि, धारय माम्।**[3]

---

[1] In reality, the concordance will merely render him acutely conscious of his own jealousy; by a sudden reversal of perspective he will no longer see Othello apparently betrayed by Desdemona, but himself in an analogous situation with his own wife.
(Edward Bullough (Rader), p. 398)

[2] नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८०

[3] उत्तररामचरितम्, काणे, पृ० १४५

नाट्य प्रयोग के समय राम प्रत्येक घटना के समानान्तर अपने अतीत जीवन का प्रत्यवलोकन करते हैं—

राम : कामपि दशां कुर्वन्ति मम सांप्रतम् ।
विस्मयानन्दसन्दर्भजर्जराः करुणोर्मयः ।। (७/१२)

टीकाकार घनश्याम[1] ने **संदर्भण सम्बन्धविशेषेण** तथा वीरराघव ने **'स्वसम्बन्धसंभावनार्हताप्रयुक्तप्रीतिविशेषन'**[2] के द्वारा राम की स्वगतप्रतीति मूलक इसी मनोभूमिका की ओर इंगित किया है। हेमलेट के दृश्य को भी इसी के समानान्तर रखना प्रासंगिक होगा। हेमलेट नटों की मंडली से एक दृश्य अभिनीत कराता है, जिसमें उसके पिता की हत्या का समानान्तर दृश्यांकन है। संदिग्ध हत्यारे हेमलेट के चाचा एवं माता उस दृश्य को अपने जीवन से विच्छिन्न कर विशुद्ध नाट्यानुभूति के स्तर पर ग्रहण नहीं कर सकते। होरेशियो इस संदर्भ में कहता है कि नाटक के प्रदर्शन के समय अपनी प्रतिक्रियाओं के प्रदर्शित हो जाने के भय से वे अवश्य खिसक जाएँगे और जैसे ही उद्यान में राजा को जहर दिए जाने का दृश्य प्रस्तुत होता है, पोलोनियस चिल्ला उठता है खेल समाप्त करो। वाण विंधे मृग की तरह वह चला जाता है।[3] अभिनव ने ऐसे सामाजिकों को गोपनेच्छारसिक कहा है, जिनको यह व्यग्रता रहती है कि हमारी प्रतिक्रियाओं का प्रकाशन लक्षित तो नहीं किया जा रहा है। ऐसे सहृदय अपनी लौकिक इच्छाओं से सम्बद्ध प्रतिक्रियाओं को नियंत्रित नहीं कर पाते।

अभिनव ने रसानुभूति में आने वाले स्वगत एवं परगत विघ्नों के निराकरण के लिए रसास्वादन के उपयोगी विविध अभिव्यंजना कौशलों का उल्लेख किया है। अनुकार्य राम, दुष्यंत आदि की वेशभूपा के अनुरूप मुकुट एवं प्रसाधन नट के स्वरूप को आच्छादित कर प्रमाता के सम्मुख उसको जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं, उससे स्वतः एक मानसिक अन्तराल की सृष्टि होती है। **'प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः···तस्मिन् हि सति, 'अस्यैव, अत्रैव, एतर्ह्येव, च सुखं दुःखं वेति न भवति। प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्,**

---

[1] उत्तररामचरितम्, काणे, पृ० १५०

[2] वही, वीरराघवकृत टीका, लाहौर, १९४६, पृ० २००

[3] Hamlet Act-3 Scene-2

रूपान्तरण चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात् । सत्ये तदीयरूपनिह्नवमात्रे एव पर्यवसानात् ।'[1]

निजसुखादिविवशीभाव :

प्रमाता यदि अपने निजी सुख दुःख अथवा व्यवहारिक जीवन की दैनन्दिनी पीड़ा से व्यथित है, तो वह दृश्य-वस्तु में तन्मय नहीं हो सकेगा। इसी के समानान्तर तथ्य यह भी है कि अपने निजी अनुभव संसार के साथ प्रमाता जब काव्य-श्रवण अथवा नाट्य-प्रेक्षण में प्रवृत्त होता है, तो अपनी निजी धारणाओं एवं व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण वह आत्मलीन रहता है। नाट्य के प्रभाव को वह अविकल रूप में ग्रहण नहीं कर पाता। कैनेथ बर्क ने एक भिन्न संदर्भ में इसी ओर इंगित किया है कि मानसिक-स्थिरता, प्रमाद, विद्रूप, अविश्वास एवं अनुदारता के कारण वहुत से प्रेक्षक वस्तु के प्रति वहिर्मुखी आचरण करते हैं।[2]

नाट्यार्थ अथवा काव्यार्थ के ग्रहण के लिए जिस स्वस्थ मानसिकता की आवश्यकता है, वह अनिवार्यतः एक विशिष्ट स्वस्थ परिवेश की साक्षी होती है। पीड़ित मानसिकता अपने अनुभव संसार से भिन्न रचना संसार में प्रवेश नहीं कर सकती। युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानसिकता शेक्सपीयर से साधारणीकृत नहीं हो सकती।[3] मानसिक-स्थिति का परिवर्तन अथवा कालिक

---

[१] Natyasastra Vol. I Abhinavabharati (Baroda), p. 281

[२] On the side of the aesthetic inefficiency, indolence, dissipation, vacillation, mockery, distrust, hypochandria, inconfirmities bad sportsmanship, in short negativism. (Kenneth Burke (Counterstatement) California-1953, p. 111)

[३] We can agree that, if the Bomb fell, there might be precious little of Shakespeare left. And supposing a few persons survived, grubbing for roots, it is unlikely that they would have the repose of spirit necessary for an appreciation of Timon of Athens. (Philip Hobsbaum (A Theory of Communication), London-1970, p. 222)

अन्तर भी प्रमाता के द्वारा कृति के आस्वादन में बाधक हो सकता है।[१]

स्पष्टत: पूर्व रंग के सीमित विधान, नटी एवं विदूषक की चेष्टाएँ भिन्न-भिन्न भाषाएँ, लास्य के अंग, रंगपीठ एवं रंगमंडप का प्रसंगानुकूल अलंकरण तथा नाट्यधर्मियों के सहित अभिनय की विविध रूपताएँ प्रेक्षक के हृदय को व्यक्तित्व की संकीर्ण सीमा से मुक्त कर अधिक उदार और व्यापक बनाने में योग देती है। यही कारण है कि भरत मुनि ने साधारणीकरण की सिद्धि की दृष्टि से रसास्वादन के उपयोगी इन अभिव्यंजना माध्यमों को एकत्र किया है **'स एष सर्वा मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकर-बन्ध समाश्रित इति।'**[२]

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि रंगमंच प्रसाधन अपेक्षाकृत अधिक स्थूल माध्यम हैं। कृति के आन्तरिक संगठन से उत्पन्न प्रभाव प्रेक्षक को एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति प्रदान करते हैं। अरस्तु ने इस ओर संकेत करते हुए कहा कि त्रास और करुणा की उद्‌बुद्धि रंगमंच के उपकरणों से हो सकती है, किन्तु प्रस्तुति की आन्तरिक संरचना से उत्पन्न होने वाले भावों का आश्रय लेना अधिक सुन्दर तथा कवि की उत्कृष्टता का द्योतक है। रंग-विधान द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना उतना कलात्मक नहीं है, जितना कि बाह्य उपकरणों के सीमित उपयोग के द्वारा करुणा और त्रास का उद्रेक है।[3]

फिर भी इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि नाट्य-प्रयोग बाह्य प्रसाधन और कृति की आन्तरिक संरचना के द्वारा ही प्रेक्षक की मनोवृत्तियों को एकाग्र करने में सफल होता है। अत: नाटककारों ने नाट्य-

---

[१] Any reader can have an off day or a quirk of temperament that prevents him responding to a particular work. But again, this can be demonstrated by an appeal to the experience of other readers.

(Ibid. p. 221)

[२] नाट्यशास्त्रम् पृ २८०-८१

[३] Fear and pity may be aroused by spectacular means; but they may also, result from the inner structure of the piece, which is better way, and indicates a superior poet. (p. 49)

प्रयोग की प्रेक्षक-साक्षेपता पर सर्वप्रथम दृष्टि केन्द्रित की है। यथा—**'सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते ।'**[1] **'उदात्तकथावस्तुगौरवाद्वा नवनाटकदर्शनकुतूहलाद्वा भवद्भिरवधानं दीयमानमभ्यर्थये ।'**[2] इत्यादि संदर्भ इस तथ्य के साक्षी हैं कि आन्तर और बाह्य संरचना के प्रति नाट्यकार की सजगता प्रेक्षक को नाट्य-वस्तु में तन्मय करती है।

इस स्थिति में प्रमाता के चित्त को व्यक्तिगत, हर्ष दुःख, रागद्वेष की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठा कर वैयक्तिक संसर्गों से मुक्त करना आवश्यक है। इस संदर्भ में अभिनव ने इस विशेष तथ्य की ओर इंगित किया है कि मूलतः शब्दादि विषय साधारणीकृत अथवा सर्वभोग्य होते हैं **'प्रतिपदार्थनिष्ठासाधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, शब्दादिविषयमयीभिः.........'**[3] आशय यह है कि काव्य तथा नाट्य का अभिव्यंजना-चमत्कार मूलतः निर्वैयक्तिक होता है। फलतः काव्य एवं नाट्य के अतिरिक्त सौंदर्य के व्यूह में घिर कर प्रमाता अपने वैयक्तिक सुख दुःख एवं पूर्वाग्रह से मुक्त हो जाता है तथा मन के एकाग्र हो जाने पर काव्यार्थ के प्रति भी सहिष्णु हो कर काव्य अथवा नाट्य-वस्तु का अन्तर्भावन करता है। वस्तुतः अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य कुछ प्रतीकों में केन्द्रित होता है, जो साधारणीकृत फलतः सर्वभोग्य होते हैं। एक उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट किया जा सकता है। पद्मपुराण में रविषेण ने रामायण के प्रसंगों को जैन विचारधारा के अनुरूप परिवर्तित कर दिया है। उसमें निहित प्रखर साम्प्रदायिकता का स्वर आर्य-आस्था के प्रति आग्रहशील प्रमाता को अग्राह्य (**अश्रद्धेयमिदं सर्वं वियुक्तमुपपत्तिभिः पद्म० २/२३०**) तथा संशय की भावभूमि में पोषित प्रमाता को आकृष्ट भी कर सकता है। किन्तु जैसे ही वह काव्य की रंगभूमि में प्रवेश करता है, उसका प्रथम साक्षात्कार इस अभिव्यंजना वैशिष्ट्य से होता है, तो वह नाद-सौंदर्य में तन्मय हो कर अपनी निजी आस्था को कुछ देर के लिए विस्मृत कर देता है

'जुगुंजुर्मञ्जवो गुंजा विनेदुः पटहा पटु ।
नान्द्यो ननन्दुरायातं चक्वणुः काहलाः कलम् ।।

---

[1] अभिज्ञानशाकुन्तलम पृ० ४ (प्रथम अंक)

[2] वेणीसंहारम् (निर्णय सागर, शक १८४६), पृ० ६

[3] नाट्यशास्त्रम् पृ० २८१

अशब्दायन्त शंखौघाः धीरं तूर्याणि दध्वनुः ।
ववर्णुर्विशदं वंशाः कांसतालानि चक्वणुः ॥
(पद्मपुराण १०५/५२-५३)

क्रमशः उसका विचारविजड़ित हृदय विमलता-सरलता को प्राप्त कर सहृदयता में परिणत हो जाता है। तदनन्तर प्रमाता क्रमशः काव्यार्थ को भी सहिष्णुता एवं तन्मयता से आत्मसात् कर वैयक्तिक रागद्वेष-मूलक चिन्ताधारा से मुक्त एवं आग्रहशून्य हो कर हृदय की विशदता का अनुभव करता है। अभिनव ने इस संदर्भ में नाट्य-प्रयोग की वाह्य संरचना का भी उल्लेख किया है, जिससे शुष्क और अरसिक व्यक्ति भी सरसता प्राप्त कर सहृदय बन जाते हैं। गायन, वाद्य, अनेक प्रकार के नृत्य तथा विदग्ध गणिकाओं के द्वारा मनोरंजन का विधान किया जाता है, जिससे अपेक्षाकृत कम परिष्कृत प्रमाताओं को भी मन के एकाग्र करने में सरलता होती है।[1] कुट्टनीमतं काव्यम् में इस स्थिति का मार्मिक उल्लेख है। रत्नावली की भूमिका में मंजरी विविध संरचनाओं, कण्ठस्वर की भिन्नताओं, वाणी के विविध अर्थों के प्रकाशन की भंगिमाओं, सात्त्विक भावों के उन्मीलन, अभिनय, भूमिका के अनुरूप वेशभूषा, आभूषण-धारण इत्यादि के द्वारा सहज ही प्रमाताओं की वृत्तियों को समाकृष्ट करती है।[2]

नाट्य-प्रेक्षण में सामष्टिक स्तर पर तन्मयीभवन भी एक मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता है। जिन प्रमाताओं की संवेदना एवं कल्पना अधिक प्रखर होती है, वे लिखित पृष्टों के माध्यम से भी सामष्टिक-चेतना में अन्तःप्रवेश कर सकते हैं।[3] उन्हें विभावादि का क्षीण स्पन्दन भी पर्याप्त है। अभिनव के

---

१. आतोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरंजनं समाश्रितम् ।
येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते ।
(ना० शा० भाग-१, पृ० २८१)

२. विविधस्थानकरचनां परिक्रमं गात्रचलनलालित्यम् ।
काकुविभक्तार्थगिरो रसपुष्टिं वासनास्थैर्यम् ।
सात्त्विकभावोन्मीलनमभिनयमनुरूपवर्तनाभरणम् ।
मिश्रामिश्रे वाद्यलयाच्युतिं वर्णयंति मंजर्याः ।
(कुट्टनीमतं ६०३-६०४, पृ० १६६

३. The choice goes by temperamental preference. Literary

शब्दों में 'तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्य हेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमित विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति' ।[1]

प्रतीत्युपायवैकल्यम्

काव्य में रसात्मक प्रतीति के उपाय विभाव-अनुभाव आदि की प्रसंगोपात्त योजना यदि अनवद्य एवं संगत नहीं है, तो प्रमाता काव्य-वस्तु से साधारणीकृत होने में मानसिक आयास का अनुभव करेगा । अभिनव ने पहले भी **विघ्नापसारकाः विभावप्रभृतयः** कह कर विभावों की संगतिपूर्ण योजना को काव्यास्वाद के अनिवार्य प्रतिमान के स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। विभाव का अर्थ है—काव्य में पात्र स्थिति और उनके परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाजन्य अन्तः-व्यापार की अपेक्षामूलक-योजना । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पाश्चात्य काव्य-चिन्तन में भी अरस्तु से लेकर इलियट तक सभी समीक्षक विभावों की सुसंगत योजना को काव्यास्वाद की अनिवार्य भूमिका स्वीकार करते हैं। कवि अपने विचार का सीधा अभिधापरक सम्प्रेषण नहीं करता । वह वस्तुओं और स्थितियों की विम्बात्मक शृंखला को माध्यम बनाता है। इलियट ने मेटाफिजीकल कवियों की प्रशंसा इसी आधार पर की है कि उनमें संवेग के अनुरूप विभाव-योजना अत्यन्त सुसंगत एवं सुनियोजित है। अन्यत्र उनका कथन है कि भावनाओं तथा उनके मूर्तविधान अथवा विभावन व्यापार में पूर्ण सामंजस्य ही भाव-सम्प्रेषण को प्रभावी वनाता है।[2] विभावयोजना का संवंध अभिव्यक्ति के प्रसाधनों से है। प्रसाधनों की अशक्तता अथवा अपूर्णता के कारण रस की अभिव्यंजना में व्याघात उपस्थित होता है। भाषा के रागात्मक प्रयोगों की उपेक्षा कर तथ्य-सूचनात्मक अथवा इतिवृत्तात्मक प्रयोगों

---

persons believe in the unaided script, theatrical persons believe in performance. (Eric Bentley, Life of Drama, p. 148)

[1] नाट्यशास्त्रम् (१) पृ० २८७

[2] The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative, in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of the particular emotion, such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked. (T. S. Eliot, The Sacred Wood p. 100)

तक सीमित रहने वाली अभिव्यंजना प्रसंग के अनुकूल बिम्ब-सृष्टि में असमर्थ रहती है। अतः कवि काव्य को स्वशब्दवाच्यत्व दोष से मुक्त रखने की चेष्टा करते हैं। शंकुक का भी कथन है कि रत्यादि शब्दों का अभिधेय प्रयोग केवल परोक्षात्मक ज्ञान करा सकता है। काव्यार्थ का सम्प्रेषण तो मूर्त विभावन के द्वारा ही हो सकता है। अतः भावों को शब्दों से अभिधेय नही वनाना चाहिए। **भावानां पूर्वमभिधेयता प्रसंगात्।**

ध्वनिकार का कथन है कि सहृदयों से संवेद्य शब्दो में रसाभिव्यक्ति की नैसर्गिक सामर्थ्य शब्दों की चारुता को नियमित करती है। शब्दों का यह चारुत्व मूलतः व्यंजकत्व पर आश्रित होता है **'रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यंजकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्'**[1]। मम्मट के अनुसार **'सव्रीडादयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे'** से भाव का वह मूर्त विम्व उपस्थित नहीं होता, जो **'व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे'** से उभरता है।[2] कविता वस्तुतः वर्णमय चित्र ही होती है। भाव का मूर्त बिम्व उपस्थित कर वह अनुभूति को साधारणीकृत करती है। विचार के विम्व में परिणत होते ही उसमें सार्वभौम चेतना का परिष्पन्द व्याप्त हो जाता है।[3] अतः अभिनव का कथन है, 'परोक्ष प्रतीति उत्पन्न करने वाले शब्द-लिंगों की सत्ता मात्र से प्रतीति की विश्रान्ति नहीं हो जाती, प्रत्यक्षानुभूति की आकांक्षा वनी रहती है।[4] वस्तुतः शाब्दिक कथन मात्र से भावक काव्यार्थ से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता। अभिनव के अनुसार जहाँ नाटक में अभिनय के द्वारा भावों

---

१. ध्वन्यालोक (वाराणसी, १९६२) पृ २११

२. काव्य-प्रकाश (वालवोधिनी, १९२१) पृ ४३४

३. Whether or not one believes in universals, one may see the persistence in literary criticism of a theory that poetry presents the concrete and the universal, or the individual and the universal, or an object which in a mysterious and special way is both highly general and highly particular.
(W. K. Wimsatt, The Verbal Icon p. 71)

४. अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति, स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकांक्षत्वाद्। (ना० शा० पृ० २८१)

का मूर्तीकरण साधित होता है, वहाँ काव्य में भाषा की अभिनय-मुद्रा ही साक्षात्कार के सदृश प्रतीति उत्पन्न कर चित्तवृत्ति को साधारणीकृत करती है। **अभिनयनं हि चित्तवृत्तिसाधारणतापत्तिप्राणसाक्षात्कारकल्पाध्यवसाय सम्पादनमिति ।**[1]

साधारणीकरण में अनुभूति की प्रत्यक्ष संवेद्यता अनिवार्य है, जो अभिनव की **'साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं'** पदावली से स्पष्ट है। विश्वेश्वर के अनुसार रस की यह साक्षात्कारात्मक प्रतीति मूलतः रचना-विधान की उपजीवी है **'संविधानकचातुर्यात्साक्षादिव परिस्फुरन्'**[2]। वस्तुतः उसको लज्जा लगी है' में रसानुभूति के लिए शब्दगत लिंगों का अनुमानपरक आश्रय लेना पड़ता है, अतः अनुभूति धूमिल रह जाती है। 'उसके नेत्र झुक गये' में अनुभूति परोक्षानुभूति की अपेक्षा प्रत्यक्षपरक, अर्थात् साक्षात्कृत रहती है, जो साधारणीकरण की अनिवार्य भूमिका है ।[3] अभिनव ने विभावों की अपूर्ण योजना को स्फुटत्वाभाव के क्रम में विश्लेषित किया है। इन विघ्नों के निराकरण के लिए लोकधर्मी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया है। भरत ने वृत्तियों को सभी काव्यों की मातृकाएँ कहा है।

वृत्तियाँ मूलतः मानवमात्र की चेष्टाओं का मानक रूप प्रस्तुत करती हैं। वाच्यार्थ के रूप में कवियों के हृदय में अवस्थित इन वृत्तियों से काव्य की सृष्टि होती है। अभिनेय अथवा अनभिनेय, दोनों प्रकार के काव्यों में इनके प्रयोग से प्रत्यक्ष भावना आ जाती है[4] तथापि प्रयुज्यमान होने के कारण अभिनेय काव्य इनका अधिक उपयुक्त क्षेत्र है ।[5] वस्तुतः काव्य में भी

---

१. नाट्यशास्त्र २२ अध्याय खंड ३ पृ० १५०

२. चमत्कार-चन्द्रिका पृ० १०७

३. स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यन्यथाभावस्यासंवेदनात् ।
(ना० शा०, पृ० २८१)

४. यद्यपि सर्वेषामभिनेयानभिनेयानां च काव्यानां वृत्तय इष्टा मातर इव, ताभ्योऽपि वाच्यरूपत्वेन कविहृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते ।
(ना० शा० (बालक्रीडा) काशी-२०३२ द्वितीय भाग, पृ० १४३७)

५. तथापि प्रयोगं प्रयुज्यमानत्वात्प्रयोगयोग्यत्वमभिसन्धाय वृत्तिभ्यो विनिस्सृतमभिनेयकाव्यं प्रत्यक्षभावनायोग्यवृत्तिचतुष्टयाभिधायकत्वं (वही)

भाषिक मुद्राओं का प्रयोग शब्दों के प्रतीकीकृत आचरण को व्यक्त करने में योग देता है। ब्लेकमूर ने इसे भाषिक भंगिमा की संज्ञा दी है तथा कैनेथ बर्क इसे प्रतीक का स्पन्दन कहता है।

अप्रधानता

काव्य में गौण वस्तु प्रधान वस्तु की सापेक्षता में ही अपना महत्त्व प्रकट करती है। गुणालंकार की स्थिति तो रस की अपेक्षा गौण ही है, विभाव, अनुभाव अथवा संचारी भी स्थायी की अपेक्षा गौण है। इन सबका पर्यवसान प्रधान भाव में होता है। एक केन्द्रीय भाव विविध संवादी एवं विसवादी संवेदनों से अन्वित होकर काव्य के सारभूत प्रभाव को चरम परिपाक तक पहुँचाता है, अतः चर्वणा का विषय काव्य-नाट्यगत, प्रधान वस्तु या स्थायी भाव का नाट्यान्तर हैं, किन्तु यदि अप्रधान वस्तु का विस्तार ऐसा हो जाए कि भावक की वृत्ति गौण प्रभाव मात्र में केन्द्रित रह जाए तो काव्य के सारभूत प्रभाव के कुण्ठित हो जाने से अप्रधान वस्तु में भी प्रमाता का चित्त विश्रान्ति नहीं पा सकेगा। वार-वार प्रमाता का मन प्रधान वस्तु की ओर दौड़ेगा, किन्तु गौण वस्तु के प्रधान रूप में आविर्भूत होने तथा प्रधान वस्तु के उपेक्षित रह जाने के कारण उसकी मानसिकता अन्वित न हो कर विशृंखलित हो जाएगी। **'अप्रधाने च वस्तु कस्य संविद्विश्राम्यति ? तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्'**।[1] उसी प्रकार विभाव-अनुभाव व्यभिचारी भी निरपेक्ष रूप से प्रमाता की चर्वणा का विषय नहीं हो सकते। विभाव-अनुभाव अचेतन हैं तथा व्यभिचारी भाव परमुखापेक्षी होते हैं।[2] वस्तुतः अभिनव की दृष्टि प्रबन्धात्मकता पर ही विशेष केन्द्रित रही है जिसमें एक केन्द्रीय भाव अथवा अंगी रस को चरम दशा तक पहुँचने का उपक्रम किया जाता है। सम्पूर्ण

---

१. नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) बडौदा, पृ० २८१

२. अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्याभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखप्रेक्षिणि सम्भवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।
(वही, पृ० वही)

प्रबन्ध में एक ही कार्य अभिव्याप्त रहता है।[1] अंगी रस मूलतः मुख्य पात्र की ही स्थायी-वृत्ति का प्रतिफलन होता है। काव्य के सम्पूर्ण विकास में उसी की जिजीविषा, चरम व्यापार अथवा फलागम का निर्धारण करती है। अतः कवि का चरम लक्ष्य यह होता है कि उपनायक या प्रतिनायक प्रमुख पात्र का स्थान ग्रहण न कर ले तथा अप्रधान रसों के आधिक्य से प्रधान रस विच्छिन्न न हो जाए अथवा व्यभिचारी भावों अथवा अनुभावों का मर्यादा-बाह्य संनिवेश न हो जाए, इस स्थिति में कवि को विरोधी रसों के संयत विकास, व्यभिचारियों के संतुलित संयोजन तथा अंगभूत रस की अंगरूपता के प्रति अत्यन्त जागरूक रहना पड़ता है। अतः रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार कवि को ऐसे नाटक की रचना करनी चाहिए, जिसमें एक रस अंगी तथा अन्य रस गौण हों। रसाधिक्य अथवा अत्यधिक अलंकार प्रयोग से कथा अथवा रस का विच्छेद नहीं होना चाहिए।[2] ध्वनिकार ने इसे **वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनं** कहा है तथा काव्य-दोषों में भी उक्त विघ्नों का अन्तर्भाव **अंगस्याप्यति विस्तृतिः** तथा **अंगिनोऽननुसंधानं** या **अनंगस्याभिधानं** में किया है, जिनके पर्यालोचन से अप्रधानता का संदर्भ अधिक बोधगम्य हो सकता है।

अकाण्ड-प्रथनच्छेदन अथवा अनवसर में विस्तार से आशय प्रसंग से असंबद्ध रस वर्णन से है। वेणीसंहार में अनेक वीरों के मरण के अवसर पर दुर्योधन और भानुमती में श्रृंगार चर्चा इसी कोटि में आती है।[3] अंग की अत्यन्त विस्तृति का उदाहरण मम्मट के अनुसार हयग्रीववध काव्य में प्रतिनायक हयग्रीव के क्रियाकलाप का विस्तृत वर्णन है। वस्तुतः अप्रधानता का संदर्भ एक साक्षेप संदर्भ है। आधुनिक समीक्षा-दृष्टि काव्य अथवा नाट्यानुभूति की विशुद्धता को इस शर्त पर स्वीकार नहीं करती कि उसमें विसंवादी अनुभूतियों की योजना न की जाए। रोबर्ट पेन वोरेन तथा रिचर्ड्स श्रृंगारिक कविताओं में विद्रूप तथा यथार्थ के अनुषंगों को एकान्ततः निषिद्ध

---

१. कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
(ध्वन्यालोक, वाराणसी-१९६२, पृ० २३१)

२. नाट्यदर्पण १/१५, पृ० ३७

३. अकाण्डे प्रथनं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य श्रृंगारवर्णनम्।
(काव्य-प्रकाश (बालबोधिनी), पृ० ४४०)

नहीं ठहराते, फिर भी ये अवान्तर संदर्भ कथा की प्रमुख वस्तु का स्थान नहीं ले सकते। उन काव्यों में प्रतिनायक को नायक का गौरवपूर्ण स्थान अवश्य दिया जा सकता है, जिनमें उन्हें कथा के केन्द्र में प्रतिष्ठित कर प्राचीन मूल्यों को भिन्न स्तर पर परिभाषित किया गया है। हरदयालु का रावण, माइकेल मधुसूदनदत्त का मेघनाथ इसी कोटि के पात्र हैं और हयग्रीव प्रतिनायक के गौरव की प्रतिष्ठा के आधार पर इनसे भिन्न नहीं है। मिल्टन ने प्रतिनायक शैतान की प्रतिष्ठा कर सांस्कृतिक मूल्यों को नये स्तर पर परिभाषित किया है। अभिनव भी रसानुभूति की ऋजु रेखा को स्वीकार नहीं करते। उनका अभिमत है कि रसप्रधान रूपक में रति मुख्य रूप से तथा अन्य भाव गौण रूप से सम्बद्ध होते हैं, किन्तु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि भिन्न-रूपकों में एक भाव का दूसरे भाव के प्रति गुणी भाव हो सकता है। इस संदर्भ में उन्होंने एक उल्लेखनीय संकेत यह किया है कि आनन्दमूलक वृत्ति में भी उपरंजक विषयों के कारण दुःख का स्पर्श हो सकता है। **'इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। किन्तूपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्'**।

अभिनव का यह अभिमत आधुनिक समीक्षा में भी स्वीकार्य है। रिचर्ड्स अन्तर्वेशी-काव्य को उस अपवर्जी काव्य से, जिसमें विसंवादी अनुभूतियों का सायास बहिष्कार किया जाता है, इस कारण श्रेष्ठ ठहराते हैं कि उसमें विसंवादी अनुभूतियों की अन्विति एवं संतुलन अनेक आयामी एवं जटिल होता है। कविता में विसंवादी संदर्भों का जैसे जैसे विस्तार होता जाता है. पाठक काव्य-परिवेश को परिवर्तित सांसक्तिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में एक भिन्न कोण से परिभाषित करने लगता है।[2] तद्विपरीत भावुकतापूर्ण ऋजु श्रृंगारिक कविता में प्रेम की अनुभूति से इतर संदर्भों के सायास बहिष्कार का परिणाम यह होता है कि पाठक की जागरूक संवेदना में कविता में निहित अनुभूति का अतिरंजित परिवेश सहज ही उद्घाटित हो जाता है।[3] अभिनव का कथन है कि व्याभिचारिभाव स्थायी भाव की ऋजु संवेदना को

---

१. नाट्यशास्त्रम् (बड़ौदा), पृ० २८२

२, ३. दे० लिटरेरी क्रिटीसिज्म ए शार्ट हिस्टरी (ब्रुक्स, विमसाट), पृ० ६४६

अनेक विचित्रताओं से युक्त कर उसके आयाम को विसंवादी अनुभूतियों के धरातल पर अधिक व्यापक बनाते हैं। **'स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्याभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना रक्त-नीलादिसूत्रस्युत-विरलभावोपलम्मनसम्भावितभङ्गोसहस्र... विचित्रार्थस्थायिसूत्रं च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपि'**[1] वस्तुतः इन व्यभिचारिभावों के योग से ही स्थायिभाव को अनेक रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है तथा सामान्यीकृत पात्र इन्हीं के योग से कभी भी अपनी गत्यात्मकता से शून्य नहीं होते।

संशय-योग

संशययोग का संदर्भ अप्रधानता के संदर्भ से ही जुड़ा हुआ है। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारियों का स्थायिभाव के साथ एकान्त निश्चित संबंध न होने के कारण अनेक बार उनकी सापेक्ष स्थिति के विषय में संदेह उत्पन्न हो जाताहै तथा रस की अप्रतिहत प्रतीति व्याहत हो जाती है। आँसू, हर्ष तथा शोक, दोनों के अनुभाव हो सकते हैं, एक ही व्याघ्र भय तथा क्रोध का आवलम्वन हो सकता है। श्रम तथा चिंता आदि व्यभिचारियों का संबंध उत्साह एवं भय जैसे विरोधी स्थायी भावों के साथ हो सकता है। अतः काव्य में उनका संयोजन इस प्रकार आवश्यक है कि इतर भाव की प्रतीति को प्रतिवद्ध कर एक विशिष्ट भाव अथवा रस की ही असंदिग्ध प्रतीति हो। भरत के संयोग पद में रसों के अवयवों की सुनिश्चित योजना का संकेत निहित है। समग्रता के बोध में संशय का अवकाश नहीं रहता। उदाहरणार्थ जहाँ प्रियजन का विनाश विभाव है, विलाप एवं अश्रुपातादि अनुभाव तथा चिन्ता एवं दैन्य आदि व्याभिचारी हैं, वहाँ शोक ही प्रतीति होगी।[2]

मम्मट आदि ने उक्त विघ्न को विभावानुभाव की कष्ट कल्पना के अन्तर्गत रखा है। वस्तुतः काव्य-खण्ड में यदि विभाव अथवा अनुभावों की

---

[1] नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८३

[2] यथा हि-बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः, चिन्ता दैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एव।
(ना० शा०, पृ० २८४)

योजना की मानसिक पृष्ठ-भूमि स्पष्ट नहीं है तो वह आस्वादक की चेतना को उद्‌बुद्ध करने के स्थान पर चौंका कर रह जाती है। यथा-

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥[१]

यहाँ नायक के शरीर की विषम दशा के चित्रण में रुचि हटने, बुद्धि लुप्त होने, स्खलित आचारण करने आदि जिन क्रियापदों अथवा अनुभावों की योजना हुई है, उसके मूल में कवि की मानसिक वृत्ति विशेष स्फुट नहीं है। नायक की यह प्रतिक्रिया वियोगजन्य है या शोकजन्य, इसकी प्रतीति क्लिष्ट-कल्पना की अपेक्षा रखती है। मानसिक प्रतिक्रिया की अनिश्चतता रागात्मक एवं बौद्धिक सामंजस्य को आघात पहुँचाती है, फलतः चित्र विशृंखलित हो कर भावोद्‌बोधन में असमर्थ प्रतीत होता है। वामन झलकीकर ने उक्त श्लोक में अर्थबोध की इसी संशयनिष्ठता की ओर इंगित करते हुए लिखा है **'अत्र कामिनीरूपो नायक-निष्ठस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्यालम्बनविभावोऽभिमतः स च नोपात्तः। न च रतिपरिहारादिभिरनुभावैराक्षेप्तुमपि शक्यते तेषां करुण-भयानकबीभत्सेष्वपि संभवेन झटित्यनाक्षेपात्।**[२]

प्रमाता काव्य-परिवेश में भावयित्री प्रतिभा अथवा कल्पना के द्वारा प्रवेश अवश्य करता है, किन्तु उसे अपनी निजी अनुभूति अथवा कल्पनाखण्डों का उस काव्य परिवेश में प्रक्षिप्त करने का अधिकार नहीं है। कविता स्वयं में प्रमेय है। आधुनिक समीक्षा में यह बात स्थिर हो चुकी है कि कविता अपने आभ्यन्तर तत्त्व को सम्प्रेषित करने का माध्यम भर है। कविता को स्वयं में पूर्ण इकाई मान कर ही प्रमाता उसके अनुभव खण्ड में सहभोक्ता हो सकता है, किन्तु यदि कविता का भाषिक माध्यम अपूर्ण या असंगत है, तो कविता एवं प्रमाता के बीच सम्प्रेषणीयता अप्रतिहत नहीं रह सकेगी।[३] फिर भी कवि का अनुभव परिवेश ऐसा भी हो सकता है, जिसे प्रमाता पूर्णतः आत्मसात् एवं स्वीकार न करे। एजरा पाउण्ड तथा इलियट की कविता की प्रारंभिक दुरूहता इसका प्रमाण है।[४] इस संदर्भ में काव्य-भाषा की संदिग्धा-

---

[१] काव्य प्रकाश ७/३२६, पृ० ४३८

[२] काव्यप्रकाश (झलकीकर), पृ० ४३८

[३] T. S. Eliot—The Sacred Wood, p. 101

[४] ...Pound, after rejecting the distorting ugliness of pluto-

र्थक प्रवृत्ति की ओर भी संकेत करना आवश्यक है। कवि अनेक बार ऐसी जटिल अनुभूतियों को सम्प्रेषित करता है, जिसमें अनेक विसंवादी तत्त्व समिश्रित रहते हैं। एक काव्यांश में अनेक स्तरों को व्याख्यायित करने के कारण भाषा में अनिश्चयात्मकता का गुण आ जाता है। वस्तुतः यहाँ अनिश्चयात्मकता से आशय उस अनेकार्थक काव्य-प्रवृत्ति से है, जिसमें एक से अधिक संवादी-विसंवादी अर्थ संयुक्त हो कर स्रष्टा के मन की जटिलता का आभास देते हैं। यह जटिलता दो वस्तुओं की तुलना, एक एक संदर्भ में दो भावों के विन्यास, तथा दो भिन्न मूल्यों संदर्भों के विन्यास से आती है, अतः एम्पसन तथा नोवोटोनी[1] भाषा की अनेक स्तरीयता की ओर इंगित करते हुए जब अनिश्चयात्मकता को काव्य की मूल प्रवृत्ति घोषित करते हैं, तो उनका आशय कविता को संशय-गुणों से युक्त करना नहीं है। कविता की अनेक स्तरीयता काव्य को सार्वभौम आधार पर प्रतिष्ठित करती है। अतः रिचर्ड्स उन्हीं प्रतीकों को काव्य-भूमि के अनुकूल मानते हैं, जो पाठक की

---

cracy, has had to grope towards the tentative articulatlon of a private vision...

(John Press, Chequered Shade, p. 138)

१. (a) ...the machinations of ambiguity are among the very roots of poetry.

(William Empson, Seven Types of Ambiguity Penguin-1965, p. 3)

(b) Ambiguity itself can mean an indecision as to what you mean, an intention to mean several things, a probability that one or other or both of two things has been meant, and the fact that a statement have several meanings)

(Ibid. p. 5-6)

(c) The ambiguity of the medium enables the poet, to meet the double demand we make of the language of poetry, that it should deal with both the phenomenal world and the world of values.

(Winifred Nowottony) The language Poets Use, p. 147

अनुभूति में मौलिक स्तर पर अनूदित हो सकें। कवि को सीमित माध्यम के प्रयोग से असीमित संभावनाओं को व्यक्त करना पड़ता है, अतः माध्यम की अनेक स्तरीयता, जहाँ काव्य परिवेश की समृद्धि की ओर इंगित करती है, वहाँ पाठकीय संवेदना के स्तर पर अतिरिक्त संस्कार, अभ्यास एवं सांस्कृतिक परिष्कार की भी अपेक्षा रखती है।

साधारणीकरण की निषेधमूलक भूमिका के निर्माण करने में अभिनव ने जिस मनोवैज्ञानिक एवं सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि का उपयोग किया है, उसमें वस्तुनिष्ठता और आत्मपरकता का समन्वय है। इस स्तर पर वे पाठक की मनोभूमि के विविध सोपानों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक समीक्षा में एडवर्ड बुलो, वर्नन ली ने जिन समानुभूति तथा मानसिक अन्तराल के सिद्धान्तों की उद्भावना की है, उनका पूर्वाभास भी उक्त विवेचन में उपलब्ध है। प्रमाता को यदि स्वस्थ मानसिक परिवेश या नाट्य-परिवेश उपलब्ध नहीं है, तो वह काव्यानुभूति अथवा नाट्यानुभूति में सहभोक्ता नहीं बन सकता है। कुट्टनीमतम् का राजकुमार कहता है—

नाट्यप्रयोगतत्त्वे मतयो न विशन्ति मादृशां प्रायः।
वाहनयानपदातिग्रामादिककार्यदत्तहृदयानाम् ॥"[1]

वस्तुतः नाट्यानुभूति के लिए एक विशिष्ट मानसिक दशा की अपेक्षा की जाती है, किन्तु उस दशा को उत्पन्न करने में नाट्योपकरणों और अभिव्यंजना-प्रसाधनों का भी महत्त्वपूर्ण योग है। अभिनव मात्र परिनिष्ठित सहृदयों के लिए ही नहीं सामान्य अहृदयों के लिए भी नाट्य-प्रयोग की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि आभिजात्य मूल्यों से प्रेरित है। किन्तु वे लोक-चेतना से पराङ्मुख नहीं है। कवि सहृदय एवं काव्य-वस्तु के अन्तःसंबंध के विविध स्तरों का उल्लेख कर उन्होंने साधारणीकरण की प्रक्रिया को एक व्यापक आयाम दिया है। इन विघ्नों की मूल प्रेरणा उन्होंने आनन्दवर्द्धन से ग्रहण की है तथा काव्य-दोषों एवं रस-दोषों की पूर्ववर्ती अवधारणाओं का अध्याहार कर अभिव्यंजना के अनेक स्तरीय प्रयोगों तथा काव्यानुभूति एवं नाट्य-प्रयोगों के आन्तरिक रहस्यों को उद्घाटित किया है। यह बात भिन्न है कि वे प्रमातृगत संवेदना, विभाव-योजना तथा कवि की रचनात्मक निपुणता को अपेक्षाकृत जटिल संरचनाओं से बचा कर

---

१. कुट्टनीमतम् ९२९

प्रख्यात इतिवृत्त मात्र में गतिशील देखना चाहते हैं। अभिनव के रस-विघ्न, विवेचन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसमें प्रमाता की विकीर्ण वृत्तियों को सामंजस्य के अन्त-सूत्र में बाँधने वाली आधुनिक समीक्षा की अवधारणाओं का शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत हुआ है। विघ्न-विवेचन के माध्यम से ही अभिनव साधारणीकरण सम्बन्धी अपनी स्थापनाओं को भट्टनायक की अवधारणाओं के समानान्तर अधिक व्यापकता एवं गतिशीलता देते हैं।

नाट्य में साधारणीकरण

नाट्यानुभूति में काव्यानुभूति की अपेक्षा साधारणीकरण का अधिक अवकाश रहता था। अभिनव के अनुसार इसके संभावित कारण इस प्रकार हैं—

१. नाट्यानुभूति में काव्यानुभूति ऐहिक लाभ के अभिप्राय एवं संस्कार से मुक्त होती है।

२. इसमें प्रमाता को समष्टिगत रसानुभूति में सहभागी होने का अधिक अवसर रहता है।

३. नाट्य-वस्तु के लोकोत्तर होने तथा उसके एक क्रमिक अनुवर्तन में अभिनीत होने के कारण औत्सुक्य का नैरन्तर्य बना रहता है।

४. अभिनय के द्वारा उपस्थित होने के कारण नाट्य में दृश्यमानता अधिक होती है[1]। नाट्यानुरूप गीत एवं आतोद्य तथा भिन्न भिन्न पात्रों के प्रवेश एवं निगर्मन की भूमिकाएँ एवं उचित भावभंगीपूर्वक प्रस्तुत संवाद दृश्य प्रभाव को तीव्र करते हैं।

५. मंचीय उपकरणों एवं नाट्य प्रयोग के मूर्त प्रभाव के कारण प्रमाता अपनी सांसारिक सत्ता को सहज ही विस्मृत कर देता है[2] तथा उसकी

---

[1] सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः (काव्यालङ्कारसूत्र १-३-३०) तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्
(वही, १-३-३३, अभिनवभारती, पृ० ४९२)
तदेवं पाठ्यादिरूपोपक्रमं गीतातोद्यप्राण-अभिनयवर्गपरिपुष्यद्रसचर्वणात्मकं परप्रीतिमयमेव नाट्य। (वही, पृ० १०३)

[2] तेषामपि तु नाट्ये निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। (वही, पृ० ४९३)

व्यक्ति-चेतना देशकालातीत अनुभूति में पर्यवसित हो जाती है।

६. मंचीय तथा नटादि सामग्री से अभिभूत तथा देशकालपरक व्यक्तिचेतना से विनिर्मुक्त सामाजिकता की मानसिक के धरातल पर विभावादि सामग्री भी सम्यक् मिथ्या संशय संभावनादि ज्ञान से रहित तथा प्रमेय के विशेष सम्बन्ध से मुक्त निर्विशेष भूमिका पर प्रस्तुत होती है। इस अनुभूति क्षण में राम रावणादि किसी अपर ज्ञान के विषय नहीं रहते। उनमें सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान अध्यवसित हो जाते हैं। फलतः प्रमाता में चिन्तन-मनन की एक ऐसी अनवरत धारा प्रवहमान होती है, जिसके माध्यम से वह रामादि के चरित में प्रवेश कर तादात्म्य करता है। इस धरातल पर उसकी वैयक्तिक अनुभूति लोकानुभूति वन जाती है। समग्र विश्व को वह रामादि की भूमिका में योग देते हुए देखता है[1]।

७. इस देशकालातीत ज्ञान में प्रमाता के संस्कार तथा उपरंजक सामग्री से उद्भूत संविद् विशेष परस्पर संयुक्त होकर नाट्य वस्तु के जिस सारभूत प्रभाव को ग्रहण करते हैं, उसमें शुभ को ग्रहण करने की प्रेरणा ही अधिकाधिक वलवती होती जाती है।[2]

८. नाटक केवल सहृदय प्रमाताओं को ही साक्षात्कारात्मक अनुभूति प्रदान नहीं करता, अपितु उन प्रमाताओं को भी जिनके संस्कार पूर्ण विकसित नहीं हैं तथा जो प्रवन्ध एवं मुक्तक काव्यों की सूक्ष्म अर्थच्छायाओं को ग्रहण नहीं कर सकते, आनन्द प्रदान करता है। नाटक के दृश्यविधान, गीतवाद्य, गणिका आदि के उपरंजनात्मक उपकरण असहृदयों को भी सहृदय वनाने की क्षमता रखते हैं।[3]

वस्तुतः रसानुभूति में अभिनव का सम्पूर्ण वल साक्षात्कारात्मक अनुभूति पर है। प्रमातृगत अनुभूति के साक्षात्कार-कल्प होने के कारण रसानुभूति का अधिक व्यापक क्षेत्र नाटक ही है। नाट्य-प्रेक्षण का क्षण प्रयोजनातीत

---

[1] तदीयचरितमध्यप्रविष्ट-स्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन् (अभिनवभारती, पृ० १८६)

[2] शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति। (वही, पृ० १८७)

[3] अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि। (वही, पृ० ४९३)

तदाकारिता का होता है, अतः नाट्यानुभूति में तादात्म्य अथवा तन्मयता का अधिक अवकाश रहता है। इसका एक संभावित कारण यह है कि रूपाकारों में प्रमातृगत तन्मयता किसी इतर पदार्थ के अनुचिन्तन का स्वतः अवरोध करती है। बाह्य उपादेयता के पक्ष के क्षीण हो जाने से यह अनुभूति विशुद्ध सौंदर्यानुभूति के रूप में व्यक्त होती है। काण्टका विचार है कि यह अनुभव हमारी प्रयोजनगत आकांक्षा की अपेक्षा क्रीडावृत्ति को उन्मुक्त रूप से लीलायित करता है।

कथा और साधारणीकरण

कथा जीवन को एक भिन्न स्तर पर व्याख्यायित करती है। संरचना की दृष्टि से इसकी वर्णनात्मक वस्तु में सादृश्य एवं रूपकात्मकता का अन्तर्योग होता है। फलतः इतिवृत्त की स्थूल रेखा का अतिक्रमण कर ये जीवन के वैविध्य-मूलक भावसत्यों का साक्षात्कार कराती हैं। ये केवल प्रमाता को रसमग्न ही नहीं करतीं, जीवन की विडम्बनापरक तत्त्वों के उन्मीलन के द्वारा मानवीय आचरण की व्याख्या एवं आलोचना भी करती हैं। जातक, पंचतन्त्र, हितोपदेश, वेतालपंचविशति, कथासरित्सागर, दशकुमारचरितम् की कथाएँ कथावर्णन के माध्यम से जिज्ञासा एवं कुतूहल तृप्ति को ही लक्ष्य नहीं बनाती, पात्रों की अनुभूतियों और संवेगों की मनोवैज्ञानिक स्थितियों को भी व्यंजित करती है।

निश्चय ही कथाओं में नीति-तत्त्व प्रबल रहता है। उनमें चेतना के विविध स्तरों पर एक साथ संक्रमित होने की क्षमता नहीं होती। वे जीवन की आलोचना के माध्यम से ही भाव जगत् में अनुप्रवेश करती हैं। अतः अभिनव का कथन है कि कथाओं में नाटक जैसी समग्र चेतना-व्यापी कलानुभूति का अभाव रहता है। उनमें मन के भीतर ही विभावादि का साधारणीभाव हो जाता है। यहाँ साधारणीभाव से अभिनव का संभवतः तात्पर्य उस मानसिक तादात्म्य से है, जिसमें प्रमाता कथा की इतिवृत्तात्मक संरचना में निहित पात्रों के आचरण में ही जीवन-व्यवहार के नैतिक प्रतिदर्शों का बौद्धिक अनुसंधान करता है। अतः अभिनव कहते हैं कि यद्यपि कथा मात्र में साधारणीकरण हो जाता है, तथापि, मनुष्य अपने कर्म के अनुरूप फल पाता है, जैसे शास्त्रीय वाक्य के अनुरूप प्रमाता उनका अवबोध मात्र करता है। अतः

चमत्कृति के अभाव से उसकी चित्तवृत्ति तन्मय नहीं होती।[1]

स्पष्टतः कथा से अभिनव का तात्पर्य पंचतन्त्र इत्यादि कथाओं से ही है। वासदत्ता कादम्बरी इत्यादि प्रवन्धों को भी कथा कहा गया है। किन्तु उनकी रसभूमि भिन्न है।

'स्फुरत्कलालापविलासकोमला करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव॥'[2]

इसमें संदेह नहीं कि कादम्बरी जैसी कथाओं में भी कथाकार की दृष्टि कथा रसिकों के हृदय में अत्यधिक कौतुक उत्पन्न करने पर ही केन्द्रित रहती है। तथापि उसकी रसभरित भूमि प्रमाताओं को रसमग्न करने में कम योग नहीं देती। वाणसूनु पुलिनभट्ट की स्वीकृति है। **'कादम्बरीरसभरेण समस्त एव मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।'**[3] इस स्तर पर कथा अलंकृत रस-प्रवन्ध ही है, जो नवोढा के समान सरस हाव-भाव प्रदर्शित करती हुई देदीप्यमान दीपक की भाँति सहृदय के हृदय को आलोकित कर अपने वश में कर लेती है।[4]

आलंकारिकों ने कथा की परिभाषा देते हुए उसमें नायक के चरित तथा विविध अनुभूतियों एवं दृश्यों के वर्णन की ओर संकेत किया है। अग्निपुराणकार ने मुख्य कथा के साथ अवान्तर कथा की सृष्टि की ओर भी संकेत किया है तथा विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कादम्बरी को केन्द्र में रख कर सरस वस्तु के गद्यात्मक निर्माण को रेखांकित किया है। **'कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।'**[5]

निश्चय ही कादम्बरी के साधारणीकरण की भूमिका पंचतन्त्र तथा कथासरित्सागर जैसी कृतियों पर ठीक नहीं उतरती। अभिनव की दृष्टि कथा के

---

[1] 'कथास्वपि हृदय एव तावत् साधारणीभावो विभावादीनां जातः। तत्रापि कथामात्रे साधारणीभावः सम्भवति यद्यपि, तथापि एवं ये कुर्वन्ति तेषामेतद् भवति इति वाक्यवद् रंजनातिशयाभावान्न चित्तवृत्तं-निमग्नता भवति।' (अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३ पृ० १८५)

[2] कादम्बरी (चन्द्रकला) चौखम्बा, १९६१ पृ० ५

[3] -वही- उत्तरार्ध पृ० ३

[4] -वही- कथामुख पृ० ५

[5] साहित्यदर्पण ६/८३२ पृ० ५५६ (लक्ष्मीटीका)

साधारणीकरण में वर्णनात्मकता के साथ उपदेश-प्रधानता की भूमि पर अवश्य रही है, किन्तु जीवन को व्याख्यायित, परिभाषित या आलोचित करने की उस विडम्बनापरक भूमिका की वे उपेक्षा कर गये हैं, जो राग की द्रवणशीलता में वैचारिक सघनता का आयाम देती है। पंचतन्त्र की नीतिपरकता जीवन के ठोस संदर्भों को रूपायित करती है। राइडर के अनुसार सुरक्षा, समृद्धि, मैत्री एवं संकल्प के संदर्भ संश्लिष्ट हो कर मानव-आदर्श का कलात्मक निरूपण करते हैं, जिसका अनिवार्य परिणाम आनन्दानुभूति है।[1]

इस संदर्भ में वर्तमान कथा-साहित्य का स्मरण आना स्वाभाविक है। इनमें उपदेशात्मकता का संदर्भ अत्यन्त प्रच्छन्न तथा चरित्रों एवं घटनाओं के घात प्रतिघात से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक अनुभूतियाँ अत्यन्त सघन होती हैं। एक स्तर पर काव्य की गुणालंकारमनोहर वर्णनात्मकता का इसमें परोक्ष योग रहता है तो दूसरे स्तर पर नाटक के समान चारित्रिक अनुभूतियों की इसमें प्रत्यक्षकल्प प्रखर संवेदना उद्रिक्त होती है। चरित्रों के ज्ञान एवं संस्कार से युक्त हो कर प्रत्येक पाठक उनके चमत्कार से युक्त चरित्र में प्रविष्ट हो कर स्वात्मद्वार से समग्र संसार को देखता है। इस तथ्य को व्याख्यायित करने के लिए अभिनव की इन पंक्तियों का आधार लेना प्रासंगिक होगा। **'रामाध्यवसायसंस्कार एव भवन् स चमत्कारतदीयचरितमध्यप्रविष्ट-स्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन्, प्रत्येकं सामाजिको···शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति।**[2] वस्तुतः कथामात्र का साधारणीकरण यहाँ अभीष्ट नहीं है। आभ्यन्तर दृष्टि का उन्मीलन ही पाठकों को तन्मय करता है। इसी भावदर्शन को अभिनव ने **'संविद्विशेषरंजकप्राणवल्लभाप्रतिम-रसास्वादसहत्तर'** कह कर, प्रकारान्तर से वर्तमान उपन्यास की प्राणवत्ता को भी परिभाषित किया है। उपन्यास की संजीवनी चरित्रों के अन्तर्दर्शन में निहित है। यह कोई पूर्वनिर्मित दर्शन नहीं होता, अपितु इसके नीचे जीवन की मुक्त चेतना झिल-

---

१. This is niti, the harmonious development of the powers of man, a life in which security, prosperity, resolute action, friendship, and good learning are so combined as to produce joy.

[(A.W. Ryder) The Panchatantra (Introduction), p. 9)

२. Natyasastra (Abhinavabharati) Vol. 1 (Baroda), p. 36

मिलाती है। वर्जिनिया वुल्फ का कथन है कि उपन्यासकार का कर्तव्य-कर्म उसी चैतन्य को सम्प्रेषित करना है।[1]

मुक्तक और साधारणीकरण

पूर्वापर प्रसंग से निरपेक्ष काव्य खण्ड का[2] भी स्वतन्त्र आस्वाद किया जा सकता है, किन्तु काव्य की अखण्ड चेतना के प्रति समर्पित आचार्यों को समष्टिगत जीवन की विराट् अभिव्यक्ति के लिए मुक्तक अपेक्षाकृत लघुतर माध्यम प्रतीत हुआ। वामन के अनुसार असंकलित रूप वाले मुक्तक काव्य में चारुता नहीं आती। अग्नि के परमाणु पृथक्-पृथक् प्रकाशित नहीं होते।[3] इस प्रकार मुक्तक की महत्ता प्रवन्ध के अंग रूप में ही स्वीकार की गई। दण्डी के अनुसार मुक्तक प्रवन्ध पर आश्रित है। **सर्गबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः'**।[4] अभिनव के अनुसार भी **'तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तनिराकांक्षार्थमपि प्रबन्धमध्यवर्ति न मुक्तकमित्युच्यते'**।[5]

मुक्तक का रूप विधान ही नहीं, उसकी केन्द्रीय संवेदना भी सीमित होती है। भावोद्रेक की तीव्रता तथा आन्तरिक भावनाओं की केन्द्रीयता इसके स्वरूप को आत्मनिष्ठ बना देती हैं, फलतः कवि का वैयक्तिक स्वर इसमें अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठता है। इस संदर्भ में प्रश्न यह है कि मुक्तक की अतिशय आत्मनिष्ठता और वैयक्तिकता साधारणीकरण की मूल प्रक्रिया से कैसे सामंजस्य बैठा सकती है। साधारणीकरण की संकल्पना में

---

[1] ...Life is a luminous halo, a semi-transparent envelope surrounding us from the beginning of consciousness to the end. It is not the task of the novelist to convey this varying, this unknown and uncircumscribed spirit. (Virginia woolf, The Modern Novel, Writers on Writing, p. 131)

[2] पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। (ध्वन्यालोकलोचन, उद्योत, पृ० १४३-१४४)

[3] असंकलितरूपाणां काव्यानां नास्ति चारुता।
न प्रत्येकं प्रकाशन्ते तैजसाः परमाणवः॥
(काव्यालंकारसूत्राणि १/३/२९, पृ० ४१)

[4] काव्यादर्शः, १/१३ (चौखम्बा-१९५८), पृ० १५

[5] ध्वन्यालोकलोचन (तारावती व्याख्या-१९६३), पृ० ७५६

स्वात्म-प्रतीति का निषेध है। अतः समस्या यह है कि कवि की निजी अनुभूतियाँ जो एकान्ततः वैयक्तिक भावोच्छ्वास मात्र आत्म-प्रकाशन हैं, व्यापक प्रमातृवर्ग में किस स्तर पर संवेद्य होंगी ? 'मुक्तक में सीधा आत्म-प्रकाशन होता है तथा कवि की अस्मिता अथवा उसके अहंकार से साधारणीकरण के मार्ग में बाधा उत्पन्न होती है। साधारणीकरण में जो तादात्म्य उत्पन्न होता है, वह कवि और सहृदय, दोनों के अहंकार के आंशिक विलय के उपरान्त ही सम्भव होता है। 'मैं' और 'मैं हूँ' की भावना जब विलीन हो जाती है, तभी कवि अथवा सहृदय अपने सीमित अस्तित्व को समष्टि में समाहित करने के लिए तैयार होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि मुक्तक काव्य में साधारणीकरण अधिक दुष्कर होता है।[1]

रूपात्मक और संवेदनात्मक आधार पर मुक्तक के साधारणीकरण की समस्या निश्चय ही समाधान की प्रत्याशा करती है। प्रबन्ध एवं नाट्य की अपेक्षा मुक्तक की स्थिति अपेक्षाकृत दुर्बल अवश्य है, किन्तु एकान्त उपेक्षणीय नहीं है। आनन्दवर्द्धन ने मुक्तक में निहित रस-बोध की सम्भावनाओं की ओर बड़े कौशल से इंगित किया है। मुक्तक में प्रबन्ध की भाँति रस-बोध की अद्भुत क्षमता है। रस बन्धाभिनिवेशी कवि का औचित्य उसी के आश्रित होता हैं, जबकि अन्यत्र कवि को यथेच्छ वर्णन की स्वतन्त्रता होती है। मुक्तक की रसवत्ता भी प्रबन्ध के समान असंदिग्ध है। अमरुक जैसे कवियों ने मुक्तकों में शृंगार रस की धारा प्रवाहित कर उन्हें प्रबन्ध कोटि में प्रतिष्ठित किया है।[2] वस्तुतः मुक्तक की आंतरिक अभिव्यंजना का मूल्यांकन प्रबन्ध की सापेक्षता में ही प्रासंगिक नहीं है, उसका एक निजी वैशिष्ट्य भी है जो साधारणीकरण की अधिक व्यापक संभावना की प्रत्याशा जगाता है। भोज ने जिसे अहंकार का विस्फुरण कहा है तथा जो अपनी चरम कोटि में शृंगार में पर्यवसित हो जाता है, वह मूलतः स्रष्टा कवि की अस्मिता का

---

१. डा० रामअवध द्विवेदी, साहित्यरूप
(भारती-भंडार इलाहाबाद-२०१८ वि०), पृ० २४७

२. तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। ...मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।
(ध्वन्यालोक (सं० डा० नगेन्द्र, वाराणसी-१९६२), पृ० १८२)

ही विस्तार है। विविध विषयों से सम्पृक्त हो कर वह क्रमशः अभेद भूमि की ओर अग्रसर होता है। भावक सर्वप्रथम प्रेम के मूल संदर्भ पर आत्म केन्द्रित होता है, किन्तु शीघ्र ही उसकी भावना पुनः पुनः सक्रिय हो कर अखण्ड सात्त्विक अहंकार की व्यापक भूमिका पर प्रतिष्ठित हो जाती है। 'यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः साहंकृते हृदि परं स्वदते रसोऽसौ।'[1]

मुक्तक के असंकलित अनिबद्ध अथवा निरपेक्ष रूप का संदर्भ भी साधारणीकरण के प्रश्न को अधिक जटिल नहीं वनाता। मुक्तक में सहृदय अपनी कल्पना से पूर्वापर उचित प्रसंगों की योजना कर व्यापक भूमिका निर्मित कर लेता है।[2] अभिनव ने मुक्तक की इस प्रासंगिकता को स्वीकार किया है, यही नहीं रूप वन्ध के स्तर पर मुक्तक की एक विशिष्टता भी है। प्रवन्ध एवं नाट्य में कल्पना अथवा भावना के सूक्ष्म विस्तार का विशेष अवकाश नहीं रहता। अधिकांश कवि अथवा नाट्यकार संदर्भ को फैलाकर विभावों, अनुभावों एवं व्यभिचारियों के विराट् विम्वों को दर्शक अथवा श्रोता के सम्मुख उपस्थित कर देते हैं। इन विम्वों के मध्य निश्चित अनुक्रम के अनुभावन के लिए किसी सूक्ष्म भावना अथवा कल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ती। अहृदय भी रसानुभूति में समर्थ हो सकते हैं। तद्विपरीत मुक्तक के आस्वादन के लिए अपेक्षाकृत कल्पना का अधिक विस्तार अपेक्षित है। भावक परिमित विभावों के प्रकाशन में भी काव्यार्थ का स्पष्ट साक्षात्कार करते हैं।[3] प्रतीकात्मकता तथा प्रसंगोचित सर्जनात्मक कल्पना के उद्दीप्त होने से प्रमाता उसके सूक्ष्म और दूरव्यापी प्रभाव को ग्रहण कर अधिक व्यापक स्तर पर साधारणीकृत होता है। अपनी भावदशा के अनुरूप मुक्तक के अभिव्यंजनात्मक वैशिष्ट्य में वह सामान्यतः समयोचित जीवन

---

१. शृंगारप्रकाश, (भाग-२), पृ० ३६८ (राघवन शृंगार प्रकाश, पृ० ४६२ से उद्धृत)

२. ...तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे इत्यादि वहुतरं पीठवन्धं रूपं विदधते। (अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३), पृ० ४६२

३. तेन ये काव्याभ्यास-प्राक्तनपुण्यादिहेतुवलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमित-विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। (वही, पृ० -वही-)

सत्य का पुनरनुसंधान करता है, अतः कवि की आत्मनिष्ठ प्रामाणिक अनुभूति का रागात्मक एवं बौद्धिक संस्पर्श उसे आत्मानुसंधान के लिए सहज ही प्रेरित कर सकता है। शास्त्रीय दृष्टि से विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारी भाव का पृथक्-पृथक् उत्कर्ष भी कभी-कभी प्रमाता की रसानुभूति को प्रेरित करता है। विभाव मात्र की प्रधानता के कारण भी साधारणीभाव उद्भूत होता है,[1] जो मुक्तक में संभव है। यह बात भिन्न है कि जीवन के विराट् व्यापक चित्रण की दृष्टि से प्रबन्ध ही रसोत्कर्ष में अधिक सहायक होते हैं। प्रबन्ध-काव्य की सृष्टि विराट् प्रतिभा की अपेक्षा रखती है।

नीति-काव्य और साधारणीकरण

नीतिपरक उक्तियों एवं सुभाषितों की मौलिक शक्ति जीवन और जगत् के अनुभव खण्डों को सामान्यीकृत धरातल पर व्यवस्थित करने में निहित है। इसमें मानवीय आचारण को निर्धारित करने वाले उन सार्वभौम तत्त्वों तथा युग-युग के संचित अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति होती है, जिन्हें ग्रहण करने में प्रमाता को कठिनाई नहीं होती। फिर भी इसमें सम्प्रेषणीयता की गति के ऋजु एवं एकायामी होने के कारण साधारणीकरण का गम्भीर रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। इस संदर्भ में अभिनव ने कथामात्र के साधारणीकरण की जो व्याख्या प्रस्तुत की हैं, वह नीति-काव्य के संबंध में भी सार्थक है।[2]

प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि उक्ति मात्र में साधारणीभाव हो जाता है, किन्तु जो ऐसा करता है, उसको इस प्रकार का फल मिलता है, वाक्य की भाँति रंजना का अभाव होने के कारण चितवृत्ति में निमग्नता नहीं होती। टिलियर्ड का कथन है कि अनुभूति का सीधा, अर्थात् हेतु का सम्प्रेषण, संवेदना के मूल्य को क्षीण करता है। एक उदाहरण इस संदर्भ में द्रष्टव्य है :-

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥
(विदुरनीति ४/६२)

---

१. तत्र विभावप्राधान्येन साधारणीभावो
(वही, पृ० ४९०)

२. नाट्यशास्त्रम् (बड़ौदा), पृ० ३६

इस उक्ति में एक समष्टिगत सत्य का अंकन है। मेल से ही व्यक्ति का उत्थान सम्भव है। इस तथ्य को प्रत्येक सामान्य व्यक्ति स्वीकार करेगा। पद्य की संरचना में उपमा, रूपक एवं अन्योक्ति का कलात्मक विधान है, किन्तु उसका रागतत्त्व शून्य अथवा क्षीण है। कवि ने समष्टिगत अनुभूति का रागात्मक स्तर पर अन्तर्भावन नहीं किया है। जीवन-मूल्य की निरावृत अभिव्यक्ति नैतिक-व्यवस्था के प्रति कवि की प्रतिबद्धता का संकेत मात्र देती है, किन्तु मूल्य के सम्प्रेषण का यह अनुक्रम प्रमाता में किसी गहन रागात्मक प्रतिक्रिया को जगाने में असमर्थ हैं।

इतिहास का साधारणीकरण

अभिनव नाट्यप्रबन्धों अथवा काव्यों में ही नहीं कथा आख्यायिका तथा इतिहास में भी साधारणीकरण की क्षमता का विवेचन करते हैं। इन विधाओं की प्रमाता के स्तर पर ग्राह्यता के नियामक तत्त्वों में अतीत के कालिक बोध का निषेध विशेष प्रमुख है। इतिहास अतीत की चेतना को व्यक्त करता है तथा इसके केन्द्रीय पात्र अतीत के बाह्य यथार्थ में नियंत्रित निजी अस्तित्व-सम्पन्न विशिष्ट ऐतिहासिक पुरुष होते हैं। प्रमाता को वर्तमान चेतना के स्तर पर कालिक अन्तराल को भेद कर उन्हें ग्रहण करना होता है। अतः उनकी असाधारण स्थिति से उभरने वाले वैशिष्ट्य-बोध का निषेध उनके लिए आवश्यक हो जाता है। अपने विशिष्ट व्यक्ति-बोध के धरातल पर ये पात्र लौकिक अस्तित्व रखते हैं तथा उनकी असाधारणता प्रमाता की चेतना के साधारणीकृत होने में बाधक होती है। फलतः तादात्म्य के अभाव में द्रष्टा उनके प्रति उदासीन रह सकता है।[1] कवि भी यदि व्यक्ति-विशेष के अन्तरंग रहस्यों को लौकिक स्तर पर उद्घाटित करता है तो वैयक्तिक पूर्वाग्रह से प्रेरित होने के कारण न तो वह सामान्य जीवन की अखण्ड चेतना को उद्भासित कर सकेगा[2] और न प्रमाता ही क्रोध अथवा

---

१. सर्वेष्वेतेषु पक्षेषु असाधारण तया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्।
(अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३, पृ० १८१)

२. कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्त्वे काव्यस्यैवासम्पत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात्
(वही)

ईर्ष्याजन्य प्रतिबद्धताओं अथवा वैयक्तिक संसर्गों से मुक्त हो कर रसानुभूति कर सकेगा ।[1]

प्रश्न यह है कि यह विशेषरूपता सामान्यरूपता में किस प्रकार परिणत हो सकती है । इस संदर्भ में अभिनव का अभिमत है कि ऐतिहासिक पुरुषों का ज्ञान तो विशिष्ट ही होता है । किन्तु वर्तमान परिवेश में न तो वे पात्र सक्रिय हैं और न उनकी वाह्य उपादेयता है । अब तो उनकी एकान्ततः मानसी सत्ता ही शेष है, जिसमें परिणत हो कर उनके वैशिष्ट्य अथवा वर्तमानता का तिरोधान हो जाता है । विशेष पदार्थ की क्रियाकारिता वर्तमान रूप में ही होती है, किन्तु शब्द-प्रमाण के द्वारा उनकी वर्तमानता लुप्त हो जाती है, जिससे विशेष बुद्धि भी समाप्त हो जाती है । इस तथ्य को अभिनव ने अपनी विशिष्ट शैली में बौद्ध दर्शन के स्वालक्षण्य-सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट किया है ।[2] सौत्रांतिक दर्शन में प्रत्येक पदार्थ की सत्ता केवल वर्तमान क्षण में ही रहती है । उस समय वह स्वलक्षण अर्थात् असाधारण होता है । **'स्वलक्षणानां क्षणानां क्षणिकतया सालक्षण्याभावादेतेन सदृशमपरमिति वक्तुमशक्यत्वात् । ततः स्वलक्षणं स्वलक्षणमिति भावनीयम् ।'**[3] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इतिहास में जिस व्यक्ति-विशेष का ज्ञान होता है, उसकी वर्तमान सत्ता न होने के कारण उसका स्वालक्षण्य सिद्ध नहीं होता । रामायण आदि में वर्ण्यमान होकर उनका सालक्षण्य में पर्यवसान हो जाता है ।

इस संदर्भ में अभिनव का कथन है कि **'एतादृशा वै रामादयो न कदाचन प्रमाणपथमवतार्यन्ते । यदागमेन वर्ण्यन्ते तदा तद्विशेषबुद्धिर्यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्यादुल्लसति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मकस्वालक्षण्यपर्यवसानम् । न च तेषां वर्तमानता इत्यपगता तावद्विशेषबुद्धिः ।**[4]

---

१. लौकिकमिथुनदृशीव सांसारिकहर्षक्रोधायितापत्तेः । उभयदर्शनाकुलतया रससम्पत्यभावाच्च । (वही)

२. अभिनवभारती (दिल्ली-१९७३), पृ० १८३

३. सर्वदर्शनसंग्रह : (चौखम्बा वाराणसी-१९६४), पृ० ६०

४. नाट्यशास्त्रम्, (बड़ौदा, प्रथम-भाग), पृ० ३५-३६

तात्पर्य यह है कि आगमों में राम का स्वरूप वर्णित है, उसका अब प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं किया जा सकता आगम की भाँति ही रामायण में भी विशेष बुद्धि उल्लसित होती है। किन्तु अनुभूति-क्षण में राम की वर्त्तमानता न होने से विशेष बुद्धि तिरोहित हो जाती है। जैसा कि कहा गया हैं विशेष पदार्थ वर्तमान में ही अर्थक्रियाकारिता अथवा स्वलक्षणता को प्राप्त करते हैं और राम में वर्तमान क्रियाकारिता का अभाव है, अतः विशेष बुद्धि के समाप्त हो जाने से उनका साधारणीकरण हो जाता है। स्पष्टतः राम के चरित को अभिनव ने यहाँ ऐतिहासिक पीठिका पर प्रस्तुत मान कर उनके साधारणीकरण की समस्या को ऐतिहासिक धरातल पर उठाया है।

इतिहास एवं काव्य का यदि तुलनात्मक विश्लेपण करें तो इतिहास की विशिष्ट तथा एकायामी प्रकृति काव्य में रूपायित होकर समष्टि चैतन्य के स्तर पर पुनरनुसंधानित होती है। इतिहास यदि व्यक्ति का विशिष्ट रूप प्रदान करता है, तो काव्य उसके सार्वभौम वैश्व रूप की प्रतिष्ठा करता है।[1] फलतः काव्य में ऐतिहासिक कथा को इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि उसमें समष्टि आदर्शों का औचित्य उन्मीलित हो जाता है। ध्वनिकार ने इस ओर इंगित करते हुए कहा है **'औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यंजक यस्तत्र विभावाद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत**।[2]

कालिदास ने शाकुन्तलम् की कथा महाभारत से ग्रहण की है, वहाँ वह ऐतिहासिक स्तर पर वर्णित है। अत. पात्रों में सामष्टिक आदर्श की प्राक्चेतना के स्थान पर व्यक्ति-निष्ठ कूटनीति तथा अवसरवादिता सक्रिय है। दुष्यन्त तथा शकुन्तला का विवाहपूर्व संविदा इसका प्रमाण है। शकुन्तला कहती है **'सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः। मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरम्॥ युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते। यद्येतदेवं-**

---

[1] The one gives us the true in individual, the only other the true universal.

(Thomas Mann 'Schopenhauer', p. 73)

[2] ध्वन्यालोक ३/१४ की वृत्ति, पृ० १९३ (वाराणसी-१९६२)

दुष्यन्त अस्तु मे संगमस्त्वया ।[1] दुष्यन्त की व्यक्तिनिष्ठ अवसरवादिता से प्रेरित उत्तर है—

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाऽविचारयन् ।
अपि च त्वां हि नेष्यामि नगरं स्वं शुचिस्मिते ॥[2]

किन्तु शकुन्तला की दरबार में उपस्थिति पर उसकी प्रतिक्रिया का रूप इस प्रकार है :—

सोऽथ श्रुत्वैव तद्वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि ।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ॥[3]

विशुद्ध व्यावसायिक स्तर पर सौदेवाजी और स्मरण रखते हुए भी 'न स्मरामि' की सामन्तीय विडम्बना से प्रेरित उक्त दोनों स्थल शकुन्तला एवं दुष्यन्ता के कान्ताकान्तभाव को प्रमाता के हृदय में शायद ही साधारणीकृत स्तर पर ग्राह्य बना सकें। कालिदास की रसग्राहिणी चेतना उक्त दोनों संदर्भों को जिन रूपों में परिवर्तित कर उपस्थित करती है, वह इतिहास की नहीं काव्य की भूमि है। आनन्दवर्द्धन का कथन है कि इतिहास के कथा प्रसंग को कवि रसाभिव्यक्ति के अनुकूल परिवर्तित कर सकता है। इतिवृत्तिवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः। यथा कालिदासप्रबन्धेषु।'[4]

इतिहासकार घटनाओं का उसी रूप में वर्णन करता है, जिस रूप में वे घटित होती हैं।[5] कवि उनको विशेष स्थितियों में रूपायित कर आन्तरिक

---

१. महाभारतीयं शकुन्तलोपाख्यानम् (अभिज्ञानशाकुन्तलम्—जीवानन्द विद्यासागर, १९१४, पृ० १८ से)

२. -वही-

३. -वही- पृ० २१

४. ध्वन्यालोक ३/१४ की वृत्ति पृ० १९४

५. The poet from deliberate choice represents significant characters in significant situation, the historian takes both as they come.

(op. cit. p. 73)

भाव एवं अर्थमयता को अभिव्यक्त करता है।[1] स्थूल इतिवृत के मूल में निहित भाव सत्य का अनुसंधान व्यापक प्रतीकात्मकता से अन्वित होकर साधारणीकरण की भूमिका प्रशस्त करता है।

◆

---

[1] The poet comprehends the idea, the inner nature of the man apart from all relation outside all time, the adequate objectivity of the thing in itself.

(Ibid. p. 74)

[५]

विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

विश्वनाथ (१४ वीं शती का प्रारम्भ) : साहित्यदर्पण

यह निर्विवाद है कि आचार्य विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं की व्यापक समन्विति प्रस्तुत कर जिज्ञासु पाठकों के लिए लोकप्रिय पाठ्यग्रन्थ का निर्माण किया है। उनकी अवधारणाएँ प्रायः अभिनव एवं मम्मट की ही उद्धरणी प्रस्तुत करती हैं। एक प्रकार से साधारणीकरण की अवधारणा का भी उन्होंने सरलीकरण ही किया है, किन्तु यह भी सत्य है कि साधारण्याभिमान अथवा भाव साधारण्य सिद्धान्त की विशिष्ट परिकल्पना के द्वारा साधारणीकरण की अवधारणा के विकास में भी उन्होंने अपना सुनिश्चित योग दिया है।

साधारणीकरण सिद्धान्त को विश्वनाथ ने दो स्तरों पर परिभाषित किया है। एक स्तर विभावादि की ममत्व, परत्व के स्वीकार, परिहार के सीमित बोध से मुक्त होकर सभी सामाजिकों के लिए सामान्य धर्म के रूप में उपस्थिति से सम्बद्ध है तो दूसरे स्तर पर यह साधारण्याभिमान की वह भूमिका है, जिसमें आश्रय नामक पात्र में उत्साह जैसे स्थायीभाव की प्रतीति का सामाजिक की मानसिक भूमिका में संक्रमण होता हैं। आश्रय में जैसी अनुभूति होती है, सामाजिक में भी अपने विशिष्ट संस्कार के साधारणीकृत हो जाने से वैसी ही अनुभूति उद्‌बुद्ध हो जाती है। स्पष्टतः अभिनव के समान विश्वनाथ भी इन दोनों ही स्तरों पर अनादि वासना के संस्कार को साधारणीकरण का प्रथम अनिवार्य तत्त्व मानते हैं।

> ‘न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ।’[1]
> वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः ।[2]

अभिनव ने अबोधपूर्वा स्मृति की व्याख्या करते हुए मानव-चेतना में निहित आद्य विम्वों को उन्मीलित करने वाली अनादि वासना को ही प्रकारान्तर से परिभाषित किया है। अनादिवासना की अवधारणा साधारण्याभिमान की मूल प्रेरणा है। इस परिप्रेक्ष्य में रस स्वरूप एवं आस्वाद प्रकार के सूत्र इस प्रकार व्याख्येय हैं—

१. रस लोकोत्तरचमत्कारमय है। इसका आस्वाद केवल अधिकारी प्रमाताओं द्वारा किया जाता है।[3]

२. रस का आविर्भाव सत्त्व के उद्रेक से होता है। सत्त्वोद्रेक के कारण कारण ही वह अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय है। वह इतर वस्तुओं के ज्ञान से शून्य तथा ब्रह्मास्वाद के समकक्ष है। स्पष्टतः इन सूत्रों का सम्बन्ध मूलतः किसी न किसी स्तर पर साधारणीकरण की मूल संकल्पना से है। अतः प्रसंगोपात्त स्थलों पर उनका विवेचन किया गया हैं। यहाँ सूत्रों के व्यवस्थित विधान में निहित चिन्तन के स्रोतों का संकेत देना भर अभीष्ट है। ये संकेत बहुत स्पष्ट हैं।

सत्त्वोद्रेक में भट्टनायक की अन्तर्ध्वनि है। रजोगुण तथा तमोगुण से असंस्पृष्ट अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं।[4] स्पष्टतः यह परिभाषा सात्त्विक भावों के संदर्भ में तो उपयुक्त है, किन्तु काव्यास्वाद में पूर्ण सत्त्वोद्रेक संभव नहीं है। अतः भट्टनायक उसमें रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण आवश्यक मानते हैं। साहित्यदर्पणकार का आशय संभवतः रसास्वाद की ऐन्द्रिय ज्ञान से भिन्नता दिखाकर उसे मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति के रूप में परिभाषित करना है, जब कि भट्टनायक का उद्देश्य रसास्वाद में चित्त के

---

[1] साहित्यदर्पण (सं० कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्बा-१९६७), पृ० ७८

[2] -वही- पृ० -वही-

[3] साहित्यदर्पण (लोचनव्याख्यया समलंकृतः) १९३८ ई०, पृ० ६९-७०

[4] रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम् । तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः ।
-वही-, पृ० ७०

वैशद्य की विभिन्न भूमिकाओं की ओर इंगित करना है। अतः इस संदर्भ में भट्टनायक के सत्त्वोद्रेक का अर्थ चेतना को संकुचित करने वाले रागद्वेष आदि तत्त्वों से मुक्ति अर्थात् आत्म-विश्रान्ति (सत्त्वोद्रकप्रकाशानन्दमय निजसंविद्-विश्रान्ति) तो है रजस्तमस् के अनुवेध में यह अर्थ भी निहित है कि भावना व्यापार में प्रमाता की बुद्धि सीधी अग्रसर नहीं होती। उसकी प्राथमिक चेतना रूप रस के ऐन्द्रियोल्लास तक ही सीमित रहती है। उसका भाव चैतन्य क्रमशः विकसित होता है। साथ ही विसंवादी अनुभूतियाँ भी काव्य के आनन्दात्मक प्रभाव में वैचिव्य प्रदान करती हैं। कवि वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति के प्रति प्रमाता की अनुक्रिया को चार सोपानों (आरोह क्रम) में निर्दिष्ट किया है। आवेगजन्य, ऐन्द्रिय, भावात्मक (कल्पना-प्रवण) तथा आध्यात्मिक। चारों ही अन्तर्दशाएँ प्रकारान्तर से भावक के भावात्मक विकास को भी संदर्भित करती हैं। उदाहरणार्थ प्रथम स्थिति की संकल्पना में कवि प्रकृति के मांसल, ऐन्द्रिय, आनन्द से अभिभूत रहता है। रव करते निर्झर उसे एक आवेग की तरह घेर लेते हैं। एक ऐसी क्षुधा-भावना, एक ऐसी प्रीति जो किसी इतर सुदूर आकर्षण से भिन्न ऐन्द्रिय अनुभूति को ही चरम सार्थक मानती है उसकी प्राथमिक अनुभूति में अन्तर्भूत रहती है।[1] अन्तिम स्थिति में यही अनुभूति अनुचिन्तनात्मक आध्यात्मिक चेतना में पर्यवसित हो जाती है। क्रमशः एक ऐसी सार्वभौम गति की आत्मिक चेतना जो सम्पूर्ण चिन्तन का अतिक्रमण करती है, उसे सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त दिखाई पड़ती है।[2]

---

[1] The sounding cataract haunted me like a passion :
The tall rock,
The mountain, and the deep and gloomy wood,
Their colours and their forms, were than to me
An appetite; a feeling and a love,
That had no need of a remoter charm,
('The Poetical Works of Wordsworth' Ed. Thomas Hutchinson, London-1956, p. 164)

[2] And I have felt
A presence that disturbs me with the joy
Of elevated thoughts; a sense sublime
Of something far more deeply interfused.

(Ibid.)

चरमानुभूति की दशा में यही सत्त्वोद्रेक की भूमिका है। विश्वनाथ ने इसी को **बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः**' कहा है। अभिनव के अनुसार रस मूलतः मानस प्रतीति है।[1] इसका आशय भी यही है कि ऐंद्रिय ज्ञान मानस समाहिति में परिणत हो जाते हैं।

इस सत्त्वोद्रेक का परिणाम ही अखण्डता अर्थात् विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी आदि की समंजित अनुभूति है। विभावादि एवं रति आदि का प्रकाश, सुख एवं चमत्कार सब इसमें एकात्म हो जाता है। आधुनिक गैस्टाल्ट मनोविज्ञान भी इसका समर्थन करता है कि रसानुभूति स्वयं में मानसिक रसायन है। एक ऐसी अखण्ड चेतना है, जिसमें परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ विसंवादिता से मुक्त हो कर अन्वित होती हैं।[2] रिचर्ड्स ने इसे सिन्थेसिस शब्द से अभिहित किया है, जिसमें सन्तुलन वर्जनापरक नहीं होता, भावात्मक होता है।[3] व्यभिचारिभाव स्थायिभाव को विशिष्ट संवादी विसंवादी दिशाओं की ओर उन्मुख करते हैं, किन्तु अन्त में समुद्र में तरंगों की भाँति उसी में विलीन हो जाते हैं। यह चेतना की स्थिरता नहीं है, अपितु सामंजस्य की चेतन-प्रक्रिया है, जिसमें काव्य-वस्तु परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियों में अपने आभ्यंतर स्वरूप को प्रस्फुटित करती है।

सत्त्वोद्रेक का एक अभिप्राय यह है कि यह स्वप्रकाश है, अर्थात् आत्मचैतन्य से उद्भासित होता है। भट्टनायक भी सत्त्वोद्रेक का परिणाम प्रकाश

(तु०) (क) ज्ञानानुकूलव्यापारश्चात्र दृङ्मनोयोगः यस्मिन् सति बाह्यज्ञानं न तिष्ठति (साहित्यदर्पणः जीवानन्द पृ० ७२)
(ख) यथा ज्ञातृज्ञानभेदः प्रतीयते तथात्र नेति भावः (रामचरणतर्कवागीशः पृ० ७८)

[1] न रसनाव्पापार आस्वादनम्। अपि तु मानस एव।
(नाट्यशास्त्रम्, भाग १, पृ० २२०)

[2] What he (Ehrenfels) called a Gastalt quality, or form quality, is present in a whole but not present in any of the parts making up the whole.
(Woodworth, 'Contemporary Schools of Psychology', London-1960, p. 125)

[3] I.A. Richards, Principles of Literary Criticism, p. 196.

अर्थात् आनन्दमय साक्षात्कारजन्य विश्रान्ति स्वीकार करते हैं। सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति' में प्रकाश स्पष्टतः आत्मचैतन्य का का बोधक है। किन्तु विश्वनाथ ने स्व विशेषण लगा कर उसके अर्थ को अधिक अद्वैतपरक बना दिया है। रसचेतना प्रमाता से किसी इतर प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रखती, वह स्वयं में प्रयोजनातीत प्रयोजन है। रागात्मक चेतना कलातत्त्व से युक्त होते ही स्वतः अभिव्यंजित होती है। काण्ट की आसक्तिहीन आसक्ति, क्लाइववेल का कलावाद, ब्रेडले का कला के लिये तथा क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, सौन्दर्यानुभूति की स्वप्रकाश सत्ता को ही प्रकारान्तर से परिभाषित करते हैं।

साधारण्याभिमान

विश्वनाथ ने प्रमाता के आश्रय के साथ अभेद अथवा तादात्म्य पर बल दे कर काव्यास्वाद की प्रक्रिया के मूल्यांकन में एक नवीन दृष्टिकोण को आमंत्रित किया है।

'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधि प्लवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते' ॥[1]

यह सामाजिक के भाव-साधारण्य की भूमिका है। समुद्रलंघन करने वाले हनूमान् (आश्रय) में जिस प्रकार उत्साह स्थायिभाव की प्रतीति होती है, सामाजिक के हृदय में भी वैसी ही अनुभूति होती है। प्रमाता हनूमान् के साथ अभेद अथवा तादात्म्य स्थापित कर लेता है। स्पष्टतः यह तादात्म्य स्वगत प्रतीति का समकक्ष नहीं है।[2] इसमें प्रमाता आश्रय पर अपनी भावना का आरोपण या प्रक्षेपण नहीं करता अपितु साधारण्याभिमान[3] के कारण वैयक्तिक सीमाओं से मुक्त हो कर उसे निर्विशेष रूप में ग्रहण करता है।

---

[1] साहित्यदर्पण: (लोचनव्याख्यासहित) मोतीलाल बनारसीदास-१९३८ (लाहौर), पृ० ७८-७९

[2] रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडातंकादिर्भवेत् । परगत्वेन त्वरस्यतापातः। (वही, पृ० ८०)

[3] उक्तप्रकारेण विभावादीनां साधारणीकरणव्यापारप्रभावेनोत्पन्नस्य स्वात्मनि साधारण्याभिमानबलात् । (लोचन -वही- पृ० ७९)

काव्य-निबद्ध सीतादि आलम्बन-विभाव से स्वयं को प्रमाता से सम्बद्ध रूप में उन्मीलित करते हैं, यह आत्मगतत्व की परिधि में आने वाला व्यापार नहीं है। इसमें एक स्तर पर पात्रों के व्यक्तित्वांश का परिहार एवं निर्विशेषीकरण होता है तो दूसरी ओर सामाजिक की ससीम मानसिकता उस विराट् व्यापार को ग्रहण करने के लिए स्वयं निस्सीम हो जाती है। प्रमाता काव्य-सामग्री को ममत्व परत्व के विकल्प-द्वन्द्व से मुक्त कर इस सम्पूर्ण व्यापार कीद्वन्द्वात्मक समाहिति के स्तर पर ग्रहण करता है।

विश्वनाथ ने इस संदर्भ में साधारण्याभिमान नामक जो नूतन पारिभाषिक शब्द दिया है, उसमें निहित विम्ब एकान्ततः मौलिक न होने पर भी सहृदय तथा कवि-निबद्ध पात्रों को एक सूत्र में निबद्ध करने वाले कारणों की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस पर पृथक् विचार करना आवश्यक है।

साधारण्याभिमान का अर्थ टीकाकारों ने प्रायः अभेदाभिमान अथवा अभेद ज्ञान किया है यथा—साधारण्याभिमानतः-स्वस्मिन् हनुमदाद्यभेदाभिमानतः।' (अनन्तदास-लोचन)[1] 'एषु साधारण्याभिमानात् मनुष्यसामाजिकानामपि रामोऽहं क्रुद्धः स्वरूपानवलोकनोद्दीपितसमुद्रनिग्रहविषयकोत्साहवान् इति प्रतिपत्तिरुत्पद्यते अज्ञानोपनीतस्य श्रीरामोत्साहस्याभेदेन स्वादनाख्य व्यापारेण स्ववासनैव सामाजिकैरास्वाद्यते।' (विवृति)[2] 'साधारण्याभिमानतः हनुमत्प्रभृतिभिः समं तदानीं भेदज्ञाननिवृत्तिपुरःसरं साधारणताज्ञानतः, समुद्रादिलंघनादौ उत्साहालक्ष्मीदिसमुद्बोधः (जीवानन्द विद्यासागर)[3]। 'स्वस्य रामादिभ्योऽभेदज्ञानेन' (व्याख्या, कृष्णमोहन शास्त्री)[4]। केन्द्रीय संवेदना के स्तर पर इन व्याख्याओं में विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु तार्किक अन्विति के आधार पर जो एक समग्र विम्ब बनता है, उसका आयाम अभेद ज्ञान के अर्थ स्तर से अधिक व्यापक है, अर्थात्—

(क) सामाजिक में क्षुद्र मनुष्य चेतना से मुक्ति की भावना उदित होती है। (ख) राम के समुद्र निग्रह के अलौकिक कर्म के साक्षात्कार से

---

१. साहित्यदर्पण: पृ० ७९

२. रामचरणतर्कवागीश: साहित्यदर्पण: विवृत्या समेत: (निर्णयसागर-१९२२), पृ० ८५

३. साहित्यदर्पण: (कलिकाता-१९३४), पृ० ८३

४. वही (लक्ष्मी टीका, चौखम्बा-१९६७), पृ० ८०

प्रमाता की चेतना में लोकोत्तर चेतना अनुप्रविष्ट होने लगती है, जिससे उसे वह अलौकिक कर्म अपने अन्तश्चैतन्य में घटित-सा प्रतीत होता है और वह स्वयं को उसी उत्साह से उद्वेलित अनुभव करता है। परिणामतः वह (प्रमाता) राम (आश्रय) के अनुभावों में स्वयं एकाकार हो जाता है (रामोहं क्रुद्धः)। यह क्रोध एवं उत्साह स्वयं उसकी आत्मा में निहित संस्कार रूप से अवस्थित क्रोध की ही अभिव्यक्ति है। अलौकिक विभावों का यह साक्षात्कार उसकी आत्मा की जड़ता की ग्रन्थियों को भेद देता है और उसके ससीम व्यक्तित्व में विराट् चेतना उद्‌बुद्ध होने लगती है।

स्पष्टतः साधारण्याभिमान एक लोकोत्तर प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक की ससीम मानसिकता में निस्सीम चेतना की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा उद्‌बुद्ध होती है। इस अवधारणा के प्रेरक सूत्र लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव से ग्रहण किए गए हैं तथापि साधारणीकरण की मूलभूत संकल्पना को आचार्य विश्वनाथ ने एक मौलिक दृष्टि दी है। इस संदर्भ में इसके प्रेरक अन्तः सूत्रों की ओर इंगित करना अप्रासंगिक न होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अभेद-ज्ञानमूलक तादात्म्य की भूमिका है, जिसे विश्वनाथ ने साधारण्य के अवान्तर व्यापार के रूप में प्रस्तुत किया है। साधारण्य का अर्थ है—न त्वात्मगतत्वेनैव नैव रामादिगतत्वेनैवेत्यर्थः।[1]

भट्ट-लोल्लट का कथन है—'मुख्यया वृत्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसंधानबलात्-इति।'[2] अर्थात् सामाजिक ऐतिहासिक पात्रों (अनुकार्य की) की मानसिक दशा को अभिनेता में आरोपित करता है। अभिनेताओं के रंगकौशल से सीतादिविषयक रामादिनिष्ठ रत्यादि स्थायी भाव की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है।

निश्चय ही यह भी तादात्म्य की भूमिका है, किन्तु इसमें अभेदमूलक तन्मयीभवन की अपेक्षा संज्ञानात्मकता पर विशेष बल है। सामाजिक की चित्त-वृत्ति अनुकार्य की भावात्मक अनुक्रिया के मौलिक बिम्बों अथवा आद्य प्ररूपों में अभिनेता के परिवर्तित रूप का आरोपमूलक अनुसंधान करती है। प्रमाता अभिनेता में व्यक्त मौलिक चरित्र (अनुकार्य) का परिवर्तित मूल्य और युग परिवेश में जब पुनरनुसंधान करता हैं तो इस परिस्थिति में उसकी विश्लेषक

---

[1] श्री महेश्वर तर्कालंकार, विज्ञप्रिया (साहित्यदर्पण) पृ० ७९

[2] नाट्यशास्त्रम् (बड़ौदा-१९५६) भाग-१, अभिनवभारती पृ० २७२

बुद्धि भी सजग रहती है और पात्र की मानसिकता में प्रवेश करने वाली अभेद बुद्धि भी। परवर्ती समीक्षकों ने लोल्लट की मान्यता को केवल ऐतिहासिक महत्त्व दिया हैं, किन्तु संवेदना और संज्ञान की द्वैत चेतना की अभिज्ञता पर आधृत यह अवधारणा नव्य नाट्यालोचना में उभरते प्रतिमानों का सटीक पूर्वाभास देती है। पात्र से तादात्म्य करने के पूर्व उसके मौलिक-स्वरूप का संज्ञान चेतना में अवश्य अवतरित होता है।[1]

'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' (भट्टतौत) में भी तादात्म्य का अन्तःसूत्र निहित है, किन्तु यहाँ समान शब्द का यह अर्थ उपयुक्त नहीं है कि काव्य के आस्वादयिता सहृदय, कवि अथवा नायक (आश्रय) का काव्यानुभव एक समान होता है। वस्तुतः कवि, नायक और श्रोता काव्य के अनुभव खण्ड में संभागी होते हैं। वे पूर्वनिर्धारित अनुभूति से प्रेरित यंत्र नहीं होते। कवि उस अनुभव-खण्ड को अपने स्तर पर जीता है। नायक-प्रतिनायक काव्य-सृष्टि की अपनी भूमिका पर उस अनुभव-खण्ड को सम्प्रेपित करते हैं और दर्शक उस अनुभव को तोड़ता-बटोरता अपने स्तर पर उसमें सहभोक्ता बनता है। ब्रेख्त ने इसी अनुभूति को प्रमाता का द्वैधीभाव कहा है।

शंकुक ने तादात्म्य के एक मनोवैज्ञानिक सूत्र की ओर संकेत किया है। रसानुभूति के लिए प्रमाता में अन्तर्दर्शन की वह शक्ति अपेक्षित है जिसके द्वारा वह अपनी मानसिक अन्तःक्रिया के विश्लेपण के द्वारा नाट्य-पात्र की अन्तर्दशा में झाँक सके, यही परार्थानुमान है, जिसके मूल में स्वानुभूति का अन्तर्दर्शन निहित है। **"कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः।"**[2] अभिनेता

---

[1] ...a degree of empathy has been the starting point, and provides the norm of theatrical experience, in the construction of a dramatic pattern of feelings, we must first understand by sharing the mind and situation of Agamemnon in order to feel any significant pathos afterwards; in the same way, we must understand Macbeth in order to feel any significant repulsion afterwards.

(J. L. Styan (The Dark Comedy) Cambridge, 1968 p. 272)

[2] नाट्यशास्त्रम् (भाग-१) अभिनवभारती, पृ० २७२

माध्यम मात्र है, वह रामादिगत स्थायीभाव का अनुकरण करता है। अभिनेता में वस्तुतः विद्यमान न होते हुए भी अनुकृत रूप का सामाजिक के द्वारा प्रमाण (हेतुबल) से अनुमान किया जाता है तथा प्रमाता अभिनेता के माध्यम से अनुकार्य की अन्तर्दशा का पुनरनुसंधान करता हैं।

अभिनव ने तादात्म्य को सामाजिक तथा नायक, दोनों के अन्तःसम्प्रेषण की आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में व्याख्यायित किया है। स्वकीय-परकीय भाव से मुक्त होकर विभाव जब सामाजिक की चेतना में साधारणीकृत होते हैं तो नायक की अनुभूति सामाजिक को अपने अस्तित्व के भीतर समाहित करती हुई सी प्रतीत होती है।[1] नायक तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति का तादात्म्य इसी अभेदानुभूति के स्तर पर घटित होता है जिसमें सामाजिक अपने अन्तर्दर्शन में घटित व्यापार के माध्यम से नायक की चित्तवृत्ति में प्रवेश करता है। आशय यह है कि शंकुक के समान अभिनव भी इस अवधारणा में आस्था व्यक्त करते हैं कि सामाजिक अनुमान अर्थात् आत्मानुभूत जीवनानुभूति को ही परानुभूति के साक्षात्कार का माध्यम बनाता है।

विश्वनाथ साधारण्याभिमान की तादात्म्यमूलक अभिन्नता की अवधारणा के लिए लोल्लट, भट्टतौत एवं शंकुक की अवधारणाओं के अन्तःसूत्रों का अध्याहार तो करते हैं, किन्तु उनके सिद्धान्त का वैशिष्ट्य आश्रय की विशिष्ट सत्ता की स्वीकृति के समानान्तर प्रमाता के सामर्थ्य-बोध के विकास में निहित है। तादात्म्य के लिए पूर्वार्जित अथवा बद्धमूल संस्कार अपेक्षित हैं। मिथकीय पात्रों का व्यक्तित्व अपने अलौकिक, असाधारण, औदात्त्य के कारण अवरोध उपस्थित कर सकता है, किन्तु प्रमाता की चेतना में प्रजातीय बिम्बों की एक श्रृंखला विद्यमान रहती है, जिसके पुनरनुसंधान से प्रमाता को प्रत्यभिज्ञान-मूलक आह्लाद प्राप्त होता है। अतः विश्वनाथ की अवधारणा एक स्तर पर अतिप्राकृत तत्त्वों में प्रमाता की तादात्म्यमूलक अनुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है तो दूसरे स्तर पर युग-बोध एवं परिवेश के अनुकूल आश्रय के व्यक्तित्व में निहित जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता को प्रमाणित करती है। परवर्ती

---

[1] स्वपरभावात् प्रच्याविता, अत एव साधारणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च अनुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिकरणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवृत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना, (अभिनवभारती, पृ० ४२८)

आलोचकों ने स्वगत प्रतीति के स्तर पर प्रतिबिम्बित होने के कारण तादात्म्य को साधारणीकरण के मूल सिद्धान्त के विपरीत माना है, तथापि आधुनिक समीक्षा प्रमाता एवं आश्रय के अभेद की तादात्म्यमूलक भूमिका के प्रति अधिकाधिक आग्रहशील होती गई। आचार्य शुक्ल आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य की स्थापना में आस्था व्यक्त करते हैं। परवर्ती हिन्दी समीक्षकों ने पाश्चात्त्य चिन्तन के समानान्तर निःसंगता तथा तन्मयता की द्वैतानुभूति के समानान्तर इस सिद्धान्त का विकास किया। मराठी समीक्षकों ने तो सविकल्प समाधि (न० चि० केलकर), स्वायत्त तादात्म्य (द० के० केलकर), सहानुभूतिपूर्वक ताटस्थ्य (रा० श्री जोग), भावनात्मक तादात्म्य (डॉ० वालिम्बे) इत्यादि की अवधारणाएँ विश्वनाथ के साधारण्याभिमान अथवा अभेद तादात्म्य के समानान्तर ही विकसित की हैं। इन समीक्षकों ने तादात्म्य की सार्थकता मूलतः द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में अन्वेषित की है। हिन्दी-समीक्षकों ने आश्रय के तादात्म्य अथवा साधारण्याभिमान पर आक्षेप करते हुए कहा है कि प्रमाता के तादात्म्य की प्रासगिकता केवल प्रीतिकर भावों को अभिव्यक्त करने वाले आश्रय के संदर्भ में ही हो सकती है। वस्तुतः साधारण्याभिमान का संदर्भ अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है।

रूप गोस्वामी ने तादात्म्य को एक भिन्न स्तर पर परिभाषित किया है। उनके अनुसार समानुभूति का एक स्तर आधुनिक आस्वादयिताओं के विभावादि और रत्यादि भावों का प्राचीन अर्थात् आश्रय भक्तों के विभावादि की समरूपता है।

'एषां स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि यः।
साधारण्यं तदेवोक्तं भावानां पूर्वसूरिभिः।[1]
प्राचीनभक्तानां भावैः सह अर्वाचीनानां भावान् साधारण्यमानयति।'
(दुर्गसंगमिनी)

स्पष्टतः विश्वनाथ की अवधारणा न केवल आश्रय तथा प्रमाता के तादात्म्य की संभावनाएँ प्रमाणित करती है, प्रमाता मात्र के तादात्म्य के निहितार्थ को भी समाहित करती है।

अति प्राकृत तत्त्व एवं साधारणीकरण

भट्टनायक के पूर्वपक्ष के स्तर पर देवता इत्यादि के अलौकिक कृत्यों तथा समुद्रलंघन आदि के असाधारण अतिप्राकृत आचरण के साथ प्रमाता के

---

[1] भ० र० सि०: द० वि: ल० ५: का० ८३-४।

साधारणीकरण की अयोग्यता का प्रश्न उठाया है[1]। आचार्य विश्वनाथ ने भी समुद्र-संतरण आदि अलौकिक असाधारण कृत्यों से सामाजिक की अभिन्नता का संदर्भ उठाया है। राम आदि नायकों के साथ अभेद अथवा तादात्म्य की भावना उद्बुद्ध होने से साधारण्याभिमान[2] के कारण सामाजिक समुद्रबंधन जैसे अलौकिक कर्म के प्रति उत्साहित हो उठता है। इस परिप्रेक्ष्य में अतिप्राकृत तत्त्व तथा साधारणीकरण की भूमिका के परस्पर सम्वम्ध पर विचार करना अप्रासंगिक न होना।

लोकोत्तर शक्तियों में आस्था तथा विश्वास के संदर्भ आदिम तथा अविकसित विश्वासों से लेकर दर्शन के चरम विकसित अर्थ स्तर पर काव्य में वर्णित हुए है। क्रमश: लोकोत्तर तथा अदृश्य शक्तियों में विश्वास का सम्वन्ध धर्म से जोड़ा गया, जिसमें समग्र जड़-चेतन को पराचेतना से अधिष्ठित मान कर अतिमानवीय शक्तियों को मानवीय नियति को संचालित करने वाली यन्त्र-भूमिकाओं के रूप में अंकित किया गया है। स्वर्ग-नरक, मरणोत्तर जीवन तथा मानवेतर विविध दिव्य जातियों की परिकल्पना तथा उनके द्वारा लोकोत्तर कृत्यों का अनुसंधान प्रारम्भ में धार्मिक भावना तथा अनुष्ठान की संकल्पनाओं के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया था। क्रमश: तत्र-मंत्र की सिद्धियाँ तथा यौगिक उपासनाओं का इनसे संबंध जुड़ा। दिव्य शक्तियों एवं सिद्धियों के इस वातावरण में संस्कृत-काव्य एवं नाटकों का विकास हुआ। अत: काव्यरूढ़ियों के रूप में अमानुषी घटनाओं एवं कृत्यों को समाहित किया गया। इनमें आसुरी शक्तियाँ, आकाशगमन, रूपपरिवर्तन, मरणोत्तर-अस्तित्त्व, परकायाप्रवेश, प्राकृतिक तत्त्वों में मानवीय अस्तित्त्व के प्रादुर्भाव जैसी अनेक रूढियाँ जुड़ी। अत: पुराण, रामायण अथवा महाभारत के नाटकीय पात्रों की अधिक संख्या लोकोत्तर दिव्य पात्रों की है। एक ओर ये पात्र राम-कृष्ण शिव-पार्वती जैसे अवतार पात्र हैं तो दूसरी ओर उर्वशी-पुरूरवा

---

१. (क) देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्।
नाट्यशास्त्रम् भाग-१, (बड़ौदा-१९५६) पृ २७६।
(ख) अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुवन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयु: ? (ध्वन्यालोकलोचन बालप्रियासहित पृ० १८१)

२. साहित्यदर्पण ३/९-१० (लोचन) पृ० ७९

जैसे वैदिक पात्र हैं, जिनमें पौराणिक कल्पनाओं के विन्यास का पर्याप्त अवकाश है। उनके लोकोत्तर अलोकसामान्य चरित्र लोक में आस्था के स्तर पर गृहीत हो चुके हैं। संस्कृत नाटकों में मानवेतर यक्ष, गंधर्व, अप्सरा, पिशाच, असुर राक्षस इत्यादि पात्र बीच-बीच में प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत होकर मानवीय क्रिया-कलापों को नियंत्रित करते हैं। दिव्य पात्रों में अदृश्यता की शक्ति, अप्रत्यक्ष का ज्ञान, आकाश-गमन की योग्यता, रूप परिवर्तन की क्षमता आदि वर्णित हैं। एक प्रकार से संस्कृत-नाटक लोकोत्तर विश्व का ही प्रतिदर्श है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि यह संदर्भ काव्य एवं नाटकों की योजनाओं में अभिप्रायों (मोटिफ्स) का रूप ग्रहण कर चुके हैं। मोटिफ्स से आशय उस रचनात्मक वैशिष्ट्य से है, जो एक ही प्रकार की कृतियों में समान स्थिति या समान भाव को जागृत करने में प्रयुक्त होता हैं।[१] यह अभिप्राय प्रायः लोकोत्तर तत्त्वों के माध्यम से विकसित होता है तथा परकायाप्रवेश, रूपपरिवर्तन तथा जादुई पदार्थों के प्रति सामान्य जनों के विश्वास के रूप में परिवर्तित होते हैं।[२] उक्त प्रसंगों के प्रति अविश्वास तत्कालीन दर्शक-वर्ग में प्रायः कम उठता था, श्रोता प्रायः लोकबद्ध धारणाओं और अभिनिवेशों से मुक्त नहीं होता था। पाश्चात्य नाटकों की भाँति संस्कृत नाटकों के मूल में भी आदिम धार्मिक अनुष्ठानों की अन्तःप्रेरणा रही है। अतः मानव पात्रों में भी अतिमानवीय शक्तियों की स्थापना की गई तथा उन्हें कलात्मक अभिप्रायों तथा चमत्कार-सृष्टि के लिए प्रयुक्त किया गया। अतिप्राकृतिक तत्त्व केवल आगन्तुक रूप में ही नहीं नाट्य-संरचना की अन्तः प्रेरणा के रूप में भी कृति का अभिन्न अंग बनकर प्रस्तुत हुए हैं। संभाव्यता के स्तर पर ये मानव प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि देव और असुर-पात्र भी मानव पात्रों की भाँति सहज आचरण करते

---

[१] A motif is an element a type of incident, device, or formula-which recurs frequently in literature.

(M. H. Abrams,) A Glossary of Literary Terms
p. १०१

[२] स च देवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

(ना० शा० ६ पृ० ३२६)

प्रदर्शित किए गए हैं ।[१] इसी परिप्रेक्ष्य में भरत ने मानव प्राणियों के साथ देवों तथा असुरों का भी नाटक में अन्तर्भाव किया है । स्वयं नाट्य की उत्पत्ति के मूल में लोकोत्तर तत्त्व निहित है । नाटक के अभिनय में असुरों पर देवों की विजय दिखाई गई है तथा उसका अभिनय त्रेता युग के प्रारम्भ में स्वर्ग में होता है । नाटक की प्रकृति के विकास में भी अतिप्राकृत तत्त्वों का अनिवार्य योग है । वैचित्र्य तथा चमत्कारिक सृष्टि के लिए अवमर्श तथा विमर्श सन्धि में शाप आदि अतिप्राकृत विघ्नों का उल्लेख है ।[२] अभिनव के अनुसार यह लोकोत्तर असंभाव्यता मनोरथ की प्राप्ति को संभव बनाती हैं ।[३] राजा में भी देवता का अंशज होने के कारण देवों के अनुकरण की संभावना निर्दिष्ट की गई है । साथ ही भरत ने यह निर्देश दिया है कि दिव्य पात्रों की चेष्टाएँ मानव चेष्टाओं पर ही आश्रित होनी चाहिए ।[४] दिव्य पात्रों के आकाश संतरण का भी भरत ने स्पष्ट निर्देश किया है । भरत ने शाप से उत्पन्न इष्टजन वियोग का भी उल्लेख किया है । विक्रमोवर्शीयम् में उर्वशी शाप के कारण ही लता रूप में परिर्वतित होती है ।[५] इसके अतिरिक्त रौद्र रस, भयानक तथा अद्भुत रस में भी भरत ने अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश किया है । भरत के अनुसार विमान, रूप परिवर्तन, इन्द्रजाल, अद्भुत रस के विभाव हैं ।[६]

---

१. देवानामसुराणां च नाट्य वृत्तान्तदर्शकम् ।
ना० शा० १/१८ पृ० ४२ (बड़ौदा-१९५६)

२. शापाद्यथा अभिज्ञानशाकुन्तले पंचमेऽङ्के दुर्वासःशापविमोहितत्वेन त्यक्तायां शकुन्तलायामन्तर्हितायां च षष्ठेऽङ्के अङ्गुलीयकदर्शनेन समुपजातस्मृतौ राजनि दुर्वासःशापविघ्नजो विमर्श. ।
(नाट्यदर्पण, १/३९ की वृत्ति, पृ० १०१, दिल्ली-१९६१)
रामाभ्युदये रावणेन आरब्धकूटसंधौ जालिनीं राक्षसीं सीतारूपेण रामस्य दर्शयता रामस्य जनितो विमर्शः । (नाटकलक्षणरत्नकोष, पृ` ३३)

३. लोकोत्तरासंभाव्यमनोरथप्राप्तौ भवितव्यमद्भुतेन ।
(ना०शा० १८/४३, अभिनवभारती, पृ० १४७४)

४. सर्वभावाश्च दिव्यानां कार्या मानुषसंश्रयाः । ना०शा० २१/१५९

५. प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्तिलताभावेन परिणतमस्या रूपम् ।
(विक्रमोवर्शीयम्, पृ० २०५. कालिदासग्रन्थावली)

६. नाट्यशास्त्र, ६/७४ के अनन्तर, पृ० ३२९

संस्कृत नाटकों के उन प्रसंगों की ओर संकेत करना भी आवश्यक है, जहाँ कथावस्तु में लोकोत्तर तत्त्वों का योग हुआ है। इन तत्त्वों में शाप शकुन भविष्यवाणी जैसी रूढ़ियाँ हैं, जो लोक-विश्वास में रूढ़ होने के कारण साधारणीकरण की कोई स्पष्ट समस्या नहीं जगाती। स्वप्नवासवदत्तम् में पुष्पभद्रक आदि की भविष्यवाणी का उल्लेख है कि मगधनरेश दर्शक की बहन पद्मावती राजा उदयन की रानी होगी। यह सिद्धादेश प्रमाता की चेतना में एक अवश्यंभाविता की आश्वस्ति जगाता है। इसी प्रकार अविमारक में नाटककार ने चण्ड-भार्गव के शाप की योजना की है, जिसके कारण सौविजरा को चाण्डालत्व प्राप्त होता है। इससे नाटक में संघर्ष तीव्र होता है। भविष्यवाणी, शाप, शकुन, की यह परंपरा परवर्ती नाटकों में भी विकसित हुई है। मालविकाग्निमित्रम् में सिद्धादेश साधु की भविष्यवाणी के कारण मालविका एक वर्ष तक दासीत्व का अनुभव करती है। इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कण्व अपनी भविष्य दृष्टि से शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमन के लिए सोमतीर्थ की यात्रा पर गये हुए हैं। दुर्वासा का शाप और मुद्रिका का प्रसंग शाकुन्तलम् के घटनाचक्र को प्रभावित करता है। शाकुन्तलम् में कालिदास ने अशरीरी वाणी की भी कल्पना की है तथा दैव कर्मविपाक का भी उल्लेख किया है। मृच्छकटिक में भी सिद्ध पुरुष की भविष्यवाणी का उल्लेख है। रत्नावली में सिद्ध पुरुष यह भविष्यवाणी करता है कि उसका विवाह जिस व्यक्ति के साथ होगा, वह सार्वभौम राजा बनेगा। स्पष्टतः ये अभिप्राय मानव व्यापार में नियति की भूमिका निर्धारित करते हैं, फलतः प्रमाता के हृदय में काव्य-न्याय के प्रति आस्था दृढ़ होती है। अदृश्य नियामक शक्ति मानवीय सूत्रों का संचालन करती है, यह विश्वास सामाजिक की चेतना में प्रारंभ से ही व्याप्त रहता है, जो उसकी अनास्था का स्थगन करता है।

दूसरी कोटि में वे अतिप्राकृत तत्त्व आते हैं, जिनकी ओर भट्टनायक और विश्वनाथ ने साधारणीकरण के प्रयोजन के परिप्रेक्ष्य में विचार किया है। ये तत्त्व दिव्य और अमानुषिक शक्ति के प्रतीक हैं। यथा हनुमान् का समुद्रलंघन तथा राम का सेतुबन्धन ऐसे ही अमानुषिक कर्म हैं, जिनसे एक स्तर पर प्रमाता की बौद्धिक चेतना तादात्म्य करती है, तो दूसरी ओर आकाश-संतरण अथवा ऊर्द्ध्वारोहण की मिथकीय आदिम चेतना के प्रतीक बनकर ये अलौकिक कर्म रागात्मक सत्य में अनूदित होकर प्रस्तुत होते हैं। रागात्मक चेतना उन्हें भाव सत्य में परिणत कर देती है। बौद्धिक चेतना की विश्रान्ति से आशय अलौ-

किक कार्यों के मूल में निहित मानवीय उत्साह और दुस्साहस के बौद्धिक अनुभावन से है। पर्वताकार वेगशाली मरुत्पुत्र हनुमान् के आवेग, उन्माद तथा संघर्ष का तीव्र संघात[1] प्रमाता की चेतना को परामानव शक्ति से आन्दोलित कर देता है तथा वह अपनी लघु सीमा से ऊपर उठ कर उस महान् साहसपूर्ण कार्य को अपनी आभ्यन्तर चेतना में घटित देखता है। यह कर्म निश्चय ही सम्भाव्यता की परिसीमा में होने के कारण उसे आत्म-चैतन्य में निहित अपनी पराशक्ति के प्रति स्वचेतन बनाता है।

सेतु-निर्माण भी राम के अलौकिक कर्म का साक्ष्य प्रस्तुत करता है, किन्तु प्रमाता जब बौद्धिक स्तर पर उसका अनुभावन करता है, तो वह उसे एकान्त, दुःसाध्य अथवा तर्कातीत प्रतीत नहीं होता।

'हस्तिमात्रान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः।
पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च ॥'[2]

इस संदर्भ के समानान्तर राम के इस साहसपूर्ण संकल्प से तादात्म्य करना कठिन नहीं रह जाता। यह अतिप्राकृत कर्म मानव की आस्था तथा बौद्धिक तादात्म्य की परिधि से बाह्य नहीं है, किन्तु अतिमानवीय लोकोत्तर कर्म भी सामष्टिक आकांक्षा की ही रहस्यमयता को अभिव्यंजित करते हैं। वस्तुतः काव्य तथा नाटक में वर्णित अतिप्राकृतत्व की मिथकीय भूमिका साधारणीकरण में बाधक ही नहीं साधक भी है। अतिप्राकृत तत्त्व प्रमाता के हृदय की एक अद्भुत रहस्यमयता से आवृत कर उन्हें रागात्मक संचेतना

---

[1] एष पर्वतसंकाशो हनूमान् मारुतात्मजः।
तितीर्षति महावेगः समुद्रं वरुणालयम् ॥

यं यं देशं समुद्रस्य जगाम स महाकपिः।
स तु तस्यांगवेगेन सोन्माद इव लक्ष्यते ॥

सागरस्योर्मिजालानामुरसा शैलवर्ष्मणा।
अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपिः ॥

[2] वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड, २२/६०, पृ ११०७
(गोरखपुर सं० २०२५)

से आविष्ट करते हैं।[1] लोकोत्तर अथवा अतिप्राकृत तत्त्व यदि एक स्तर पर लोकोत्तर पात्रों के असाधारण मानवेतर आचरण का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, तो दूसरे स्तर पर उनमें चेतन जगत् की मनुष्येतर योनियों के असाधारण कृत्यों का भी समावेश देखा जाता है, जिनमें सामूहिक अवचेतन के अपेक्षाकृत तर्कातीत गहन संस्कार व्यंजित हैं। निश्चय ही उक्त दोनों संदर्भों में मानवेतर चेतन सत्ता विश्वातीत न रह कर मानवता के विभिन्न स्तरों से ही सम्प्रेषणीयता की ओर उन्मुख होती है। एक प्रकार से इन कृत्यों के साक्षात्कार से प्रमाता आत्मभाव की ही उपलब्धि करता है। इन लोकोत्तर प्रसंगों के अनेक तत्त्व फ्रेजर स्पेंसर, जैसे नृतत्त्ववैज्ञानिकों के अनुसार आदिम युग के विश्वासों से संवद्ध हैं। इनके मूल में समष्टि की अचेतन अभिप्रेरणाओं का प्रतिविम्ब है, जो सामान्य अनुभूतियों को प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान करता है। ये कविता के तर्केतर संवेगाकुल संसार में अपनी अतार्किक प्रकृति के कारण योग देते हैं। लोकोत्तर तत्त्वों के साथ जिस दुर्बोध विराटता तथा विस्मय एवं भय का भाव समिश्रित है, वह यांत्रिक सांस्कृतिक पर्यावरण की कृत्रिमता से मुक्त मानव की आदिम चेतना को ही अनूदित करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आदिम संस्कारों से जुड़े होने के कारण लोकोत्तर तत्त्व मूल संवेगों को झंकृत करते हैं तथा सन्देह-निवृत्ति एवं अविश्वास के स्थगन की प्रक्रिया गतिशील होती है एवं वैयक्तिक संवेदना क्रमशः सामूहिक प्रतीकों में रूपान्तरित होती जाती है। वैयक्तिक अन्तःसंवंधों से मुक्त हो कर (अभिनव के शब्दों में वर्तमान के स्वालक्षण्य से मुक्ति पाकर) ये विश्वास अतीत की ओर अन्तःप्राण करते हुए क्रमशः देशकालातीत हो जाते हैं। प्रमाता सामूहिक मन तथा अतिवैयक्तिक जीवन में क्रमशः उन प्रतीकों का पुनरनुसंधान करता है, जो प्रजातीय विम्बों से निर्मित हैं। आधुनिक समीक्षा में आर्किटाइपल अथवा आद्य विम्बों का अन्वेषण लोकोत्तर तत्त्वों के उस मिथकीय परिपार्श्व

---

१. The apparitions, effigies and other shocks and surprises which could bring the audience in to the desired mystic union with one another, with the action, and with the cruel, primeval, juggernautlike forces governing the world.

(George Wellworth) The Theatre of Protest and Paradox Newyork-1971. p. 27

की ओर इंगित करता है जो स्वर्ग-नरक, भूत-प्रेत इत्यादि मिथकों के माध्यम से अचेतन सामूहिकता का अविष्कार करता है। उदाहरणार्थ सूर्य तथा पृथ्वी के परिणय की लोकोत्तर अभिव्यक्ति उस लौकिक परिणय में हो सकती है, जिसमें दो भिन्न व्यक्ति एक अभिन्न व्यक्ति-तत्त्व में संक्रमित होते हैं।

जुंग ने सामूहिक अवचेतन में निहित प्रजातीय बिम्बों अथवा मिथकों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। मिथकों का संबंध अनिवार्यतः अतिप्राकृत घटनाओं अथवा भावों से होता है, जिनके मूल में समष्टि की अर्द्धचेतन आकांक्षाओं का प्रोद्भास रहता है। मानव और अतिप्राकृत तत्त्व समंजित हो कर प्रमाता को एक समष्टिगत चैतन्य में समभागी होने के लिए निमंत्रित करते हैं।[1] प्रमाता अज्ञात रूप से सहजानुभूति के बल पर अतिप्राकृत जीवन के प्रति एकात्म्य का अनुभव करता है। उदाहरणार्थ समुद्रलंघन की आकांक्षा प्रमाता की ऊर्द्ध्वारोहण की अवचेतननिष्ठ आकांक्षा को मूर्त करती है। अतः इन अतिमानवीय घटनाओं की एक विशिष्ट सार्थकता है, क्योंकि यह एक वस्तु-सत्य के माध्यम से भावगत सत्य का अनुसंधान करती है जिसमें प्रमाता अपेक्षाकृत आदिम बृहत्तर संदर्भ में अन्वित होता है। फ्रायड ने स्वयं को अवचेतन की दमित वासनाओं तक सीमित रखा है तथा अतिप्राकृत तत्त्वों को अतृप्त इच्छापूर्ति का प्रतिफलन माना है। किन्तु जुंग के अनुसार वैयक्तिक अवचेतन मूलतः सामूहिक अवचेतन का भाग है[2], जो सार्वभौम तथा अतिवैयक्तिक मानव प्रकृति के रूप में आत्म-चेतना के स्तर पर सर्वत्र अभिव्याप्त है। अतिप्राकृत तत्त्व अचेतन की अभिव्यक्तियों के साथ सामूहिक सार्वभौम गुणों को भी अन्तर्भुक्त किए हुए हैं, जिनके साक्षात्कार से मानव के संचित संस्कार उद्बुद्ध हो उठते हैं। कालिदास ने प्राक्तन संस्कारों[3] एवं जननान्तर वासनाओं

---

१. There I am utterly one with the world, so much a part of it that I forget all too easily who I really am.
(Jung)-Archetypes of the Collective Unconscious p. 218

२. The necessary and needful reaction from the collective unconscious expresses itself in archetypally formed ideas. The meeting with one self is, at first, the meeting with one's own shadow. Ibid.

३. C. F. Archetypal Patterns in Poetry p. 1

की ओर इंगित कर आदि बिम्ब की इस प्रकल्पना का पूर्वाभास दिया है। निष्कर्षतः प्राकृतिक घटनाओं के मिथकीय रूपान्तर सामूहिक अचेतन की अनेक प्रकल्पनाओं को प्रतीक रूप में अनूदित करते हैं। ये लोकोत्तर वृत्त एक प्रकार से मानवात्मा में बद्धमूल उन अन्तराकांक्षाओं की ही अभिव्यक्ति है, जिसमें अवचेतन प्राकृतिक घटनाओं के माध्यम से स्वयं को चेतन में प्रक्षिप्त करता है। संस्कृति की विकसित चेतना में जब ये तत्त्व प्रतीक-निर्माण में सफल नहीं होते, तो आध्यात्मिक आस्था के लुप्त होने के कारण अपनी अर्थवत्ता खोते जाते हैं। किन्तु उनका प्रतीकात्मक रूप में पुनः अनुसंधान मानव के मौलिक अस्तित्व को कलात्मक रूप में पुनः अनूदित करता है तथा प्राक्तन संस्कारों से निर्मित प्रमाता का मन अन्तःस्तर पर उसके सहज सारूप्य का अन्तर्भावन करता है। उदाहरणार्थ जल अवचेतन का सबसे सामान्य प्रतीक है। जल में अन्तः प्रवेश मानव में जहाँ अपनी मौलिक प्रवृत्तियों के प्रति आत्म-समर्पण का भाव जगाता है, वहाँ आकाश-संचरण ऊँचाइयों के प्रति आस्थाभाव जगा कर विघ्नों को पार करने की अदम्य आकांक्षा को मूर्त करता है।[२] इसमें चेतन मन अवचेतन की आकांक्षा का प्रतिरोध नहीं करता उन्हें पुनरुद्दीप्त करता है तथा आत्मा की उच्चतम मुक्ति का आभास देता है। फलतः प्रमाता ऐसे लोकोत्तर कृत्य के साक्षात्कार से आत्मा के आवरण-मुक्त हो कर अधिकाधिक विशद होते जाने की प्रक्रिया अनुभव करता है। यह तार्किकता का निषेध नहीं है, अपितु चेतना का ऐसा विस्तार है, जिसके माध्यम से प्रमाता अव्याख्येय विराट् लोक में प्रवेश करता है। यह बात भिन्न है कि रसबोध की एक सीमा के अन्तर्गत प्रमाता अपनी धारणाओं और विश्वासों से एकान्त मुक्त नहीं हो पाता। भट्टनायक ने इसको स्वगतप्रतीति कहा है तथा अभिनव ने विश्वास का स्थगन। इस स्थिति में मानवीय अविश्वास अथवा अनास्था अतिप्राकृत शक्तियों के साधारणीकरण में अवरोध डालती है, किन्तु यह रसबोध की अपेक्षाकृत निम्नतर भूमि है, जो श्रद्धा अथवा अश्रद्धा के द्वंद्वात्मक न्याय की भूमि पर अंकुरित होती है। अतः लोकोत्तर शक्तियों में विश्वास को मूलतः वस्तु-सत्य में भाव-सत्य के पुनरनुसंधान के रूप में ही ग्रहण करना होगा।

---

[२] Ibid. p. १४३

पण्डितराज जगन्नाथ (१७ वीं शताब्दी का मध्य भाग) रसगंगाधर

पंडितराज ने प्रमातृचेतना के कल्पित दुष्यन्तत्व आदि से आच्छादित होने तथा विभावादि रूप अलौकिक सामग्री से चैतन्य की आवरणमुक्ति की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के आधार पर साधारणीकरण की निषेधमूलक व्याख्या प्रस्तुत की है। पंडितराज की रत्याद्यवच्छिन्न-भग्नावरणा चिदेव रसः की वेदान्तसम्मत अवधारणा रस-शास्त्रीय चिन्तन में विशेष महत्त्व रखती है। वैसे इस परम्परा में पंडितराज जगन्नाथ नये नहीं हैं। उनसे पूर्व श्रीवत्सलांछन (१३८० ई०), विश्वेश्वर (१४०० ई०) तथा विश्वनाथ देव (१५९२ ई०) वेदान्त की परिनिष्ठत शब्दावली में रसानुभूति की व्याख्या प्रस्तुत कर चुके हैं। यथा—**काव्ये हि विभावादिभिरभिव्यज्यते स्थायी, तस्यां चाभिव्यक्तावन्तः करणवृत्तिरूपायां चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मापि भासते, वेदान्तिनये सर्वस्मिन्नैव ज्ञाने आत्मभाननैयत्यात्।**[1] रसानुभूति की रसो वै सः के स्तर पर व्याख्या प्रस्तुत करने वाले विश्वेश्वर सम्भवतः प्रथम समीक्षक हैं। उनके अनुसार-**स वै रस इति श्रुत्या ब्रह्मणस्समकक्षया। प्रोक्तो रसस्स्वयं भाग्यात् कश्चिदेवानुभूयते ॥**[2]

आचार्य विश्वनाथदेव के अनुसार चैतन्य आत्मा का सम्पर्क पाकर क्षणिक मनोवृत्ति स्वरूप जड़ रत्यादि भी पूर्ण घनानन्द स्वरूप में परिणत हो जाती है। **अस्यां चाभिव्यक्तौ अन्तःकरणवृत्तिरूपायां चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मा अपि भासते। ···काव्यदर्शनश्रवणमहिम्ना उक्त्या चैतन्यस्यानन्दांशे आवरणभंगः क्रियते तथा च रत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यमानन्दांशे भग्नावरणमानन्दरूपतया परिणतं रस इति निर्गलितार्थः**[3]।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि वेदान्ती व्याख्याकी परम्परा का परवर्ती विकास भी हुआ है। इसमें विश्वेश्वर पाण्डेय का योगदान उल्लेखनीय[4] है। पंडितराज की भग्नावरण चित् की प्रकल्पना मूलतः वेदान्त

---

[1] काव्यपरीक्षा (मिथिला विद्यापीठ-१९५६) पृ० १५

[2] चमत्कारचन्द्रिका, दिल्ली-१९७२, पृ० १०७

[3] साहित्यसुधासिन्धु, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली-१९७८, पृ० ९०

[4] रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमावरणभंगादानन्दरूपतया प्रकाशमानं रसपदार्थः। (रसचन्द्रिका, चौखम्बा-१९२६, पृ० ४७)

दर्शन पर आघृत है। शुद्ध बुद्ध भूमाख्य[1] सत्चिदानन्दस्वरूप आत्मा[2] अज्ञानावरणसे आच्छादित हो कर अपने मूल स्वरूप से स्वयं को विच्छिन्न सा अनुभव करता है। आवरण शक्ति[3] जहाँ एक स्तर पर चैतन्य के स्वरूप को आच्छादित करती है, वहाँ दूसरे स्तर पर विक्षेपशक्ति अनेक प्रातिभासिक रूपों की सृष्टि भी करती है। विक्षेप शक्ति रज्जु में सर्पत्व की भावना की भांति जगत् प्रपंच की उद्भावना करती है।

विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपंचादिमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्।[4]

इस अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है, जिसमें आवरण के तिरोधान के अनन्तर अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकारिता चित्तवृत्तिरुदेति।'[5] मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है कि आत्म तत्त्व का साक्षात्कार होने पर बुद्धि में स्थित अविद्या अर्थात् हृदय की ग्रन्थि के विच्छिन्न हो जाने से समग्र संशय नष्ट हो जाते हैं।[6] यही आत्मानन्द की चरम भूमिका है। किन्तु काव्यास्वाद की भूमिका में आत्मा शुद्ध नहीं, रतिविशिष्ट चिद्रूपा होती है। सहृदय भी अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य ही है। उसकी अन्तःकरणस्थ रति चैतन्य से विशिष्ट हो कर प्रकाशित होती है। चैतन्य स्वयं को प्रकाशित करने के साथ ही रति को भी प्रकाशित करता है, जिसके लिए आवरण भंग अपेक्षित माना

---

१. आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धि आत्मस्वरूपं निरतिशयं भूमाख्यं ब्रह्मेति विद्धि।

२. प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञः। माडूक्योपनिषद्

३. आवरणशक्तिस्तु··· ···परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्।

(वेदान्तसारः चौखम्बा-१९६८, पृ० २९)

४. वेदान्तसारः पृ० - वही -

५. - वही - पृ० ८२

६. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(माण्डूक्योपनिषद्)

गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि पंडितराज ने वेदान्त के चिन्तन की पीठिका पर अपनी रससंबंधी अवधारणा को विश्लेषित किया है, किन्तु ब्रह्मास्वाद से रसास्वाद के प्रकृतिगत वैशिष्ट्य को दृष्टि में रखा है। ब्रह्मास्वाद की भाँति काव्यास्वाद सहृदय के स्थायिभावों की आत्मानन्द में परिणति है, तथापि अज्ञानावरण से आवृत आनन्दांश के आविर्भाव के लिए आवरण के तिरोधान का जो प्रतीक प्रस्तुत किया गया है, वह काव्य में विभावन व्यापार की केवल पृष्ठभूमि निर्मित करता है उसका एकान्त स्थानापन्न नहीं है। आशय केवल यह है कि काव्य में विभावन अथवा भावकत्व एक अलौकिक व्यापार है, जिसके द्वारा प्रमाता की अल्पज्ञता का लोप होता है तथा सर्वज्ञता की उद्भूति होती है। पंडितराज ने अपनी विशिष्ट शब्दावली में स्थायिभाव की विभावादि से व्यक्ति अर्थात् व्यंजना वृत्ति से प्रतिपत्ति को आवरणरहित चैतन्य का प्रोद्भास कह कर वेदान्त-चिन्तन तथा रस-चिन्तन का समीकरण प्रस्तुत किया है। इस समीकरण की पृष्ठभूमि को अधिक स्पष्टता से ग्रहण करने के लिए वेदान्त की केन्द्रीय शब्दावली को दृष्टि में रखना आवश्यक है। इस संदर्भ में पंडितराज ने अनिर्वचनीयख्यातिवाद तथा साक्षिवाद का आधार ग्रहण किया है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद

अद्वैतचेतना की उद्भूति तथा द्वैत बुद्धि का निराकरण वेदान्त का चरम उद्देश्य है। अध्यास (अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः) अर्थात् अविद्या के निराकरण के अनन्तर ही अनात्म विषयों का बोध तिरोहित होता है तथा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस संदर्भ में ख्यातिवाद का सिद्धान्त सम्मुख आता है। शुक्ति में रजत का ज्ञान ख्याति है। वेदान्त इस ज्ञान को न तो विज्ञानवादी बौद्धों की भाँति बुद्धिगत मानता है और न नैयायिकों की भाँति रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप ही स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त असत् ख्यातिवाद अख्यातिवाद तथा सत्ख्यातिवाद के सिद्धान्तों को भी वह अस्वीकार करता है। असत्ख्यातिवाद शुक्ति में रजत के अध्यास को असत् स्वीकार करता है। यह मत शून्यवादी बौद्धों का है। इसी प्रकार आख्यातिवाद का समर्थक 'प्रभाकर मीमांसक शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को भ्रम स्वीकार नहीं करता।'[1] सत्ख्यातिवाद विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के सर्व सर्वात्मकम् सिद्धान्त का प्रोद्भास है, जो रजतादि के ज्ञान को मिथ्या न मान

---

[1] अद्वैत वेदान्त (दिल्ली.१९७२) डा० राममूर्ति शर्मा, पृ० २०२

कर सत्य ही मानता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार रजत में शुक्ति की सत्ता अनिर्वाच्य विषय के अन्तर्गत आती है। अनिर्वचनीयख्यातिवाद शुक्ति में अध्यस्त रजत को सत् एवं असत् से विलक्षण मानते हुए उसकी प्रतिभासित सत्ता को स्वीकार करता है।[1] रजत न तो पूर्णतया सत् है और न एकान्त असत् ही। असत् मानने की स्थिति में उसकी भ्रमात्मक प्रतीति भी सम्भव नहीं होती। कहने का आशय यह है कि अनिर्वचनीय होने के कारण जगत् के ज्ञान को एकान्ततः सत् अथवा असत् नहीं कहा जा सकता। यह सद्सद्-विलक्षण है।[2] संदर्भ यह है कि रजत में शुक्ति की सत्यता प्रातिभासिक दृष्टि से ही मान्य है, उसमें व्यावहारिक सत्यता का अभाव है।[3] इसी के समानान्तर विभावादि प्रातिभासिक पदार्थ हैं। साथ ही वे अन्तःकरण के साक्षिचैतन्य स्थायी के प्रकाशक भी हैं। अर्थात् जैसे व्यक्ति शुक्ति में रजत के चाकचिक्य को पूर्वदृष्ट रजत के संस्कार के उद्बुद्ध हो जाने से वास्तविक रजत के स्तर पर ग्रहण करता है, उसी प्रकार दृश्य-काव्य में अभिनेता अथवा प्रमाता पूर्वश्रुत कथा अथवा संस्कार के बल से कृत्रिम दृश्य में दुष्यन्तविषयक ज्ञान का अनुभव करता है। यह प्रातिभासिक स्थिति साक्षिभास्य[4] की प्रक्रिया पर आधृत है। वेदान्त के अनुसार कारण रूप ब्रह्म और कार्य रूप जगत् के बीच अनन्यत्व का सूत्र है।[5] किन्तु मिथ्या जगत् तथा नित्य ब्रह्म की कार्यकारणता में वैषम्य उपस्थित होने के कारण मायाशक्ति-विशिष्ट परमात्मा से अनित्य जगत् की सृष्टि की परिकल्पना की गई।

---

१. ततः ख्यातिबाधान्यथानुपपत्या भ्रान्तिगोचरस्य मायामयस्य रजतादेः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयत्वं सिद्धम्। (सर्वदर्शन संग्रह (माधवाचार्य) चौखम्बा-वाराणसी-२०२१ सं० पृ० ८५२)

२. प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्। गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः (चित्सुखी) -वही- पृ० ८५२

३. प्रातिभासिकसत्यत्वेऽपिव्यावहारिकसत्यत्वाभावेन प्रतिपन्नोपाधौ प्रतियोगित्वसंभवात् -वही- पृ० ८५०

४. विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रंगरजतादीनामिव साक्षिभास्यत्वम्। (रसगंगाधर, सं० मधुसूदन शास्त्री, वाराणसी-२०२०, पृ० १०६)

५. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपंचं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, ब्र० सू० शा० भा० २/१/१४

कहने का आशय यह है कि वेदान्त में माया शक्ति के द्वारा ही परमेश्वर इस इन्द्रजाल सदृश जगत् की सृष्टि करता है। उक्त दृष्टिकोण के अनुसार कार्य तथा कारण चैतन्य के आश्रित हैं। फलतः कारण (अविद्या) तथा कार्य (दुष्यन्त आदि प्रातिभासिक पदार्थ) दोनों चैतन्य में सन्निविष्ट हैं। यह प्रक्रिया विषय एवं अन्तःकरण के समीकरण की प्रक्रिया है (यही अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है) अर्थात् वाह्य परिदृश्य तथा अन्तःकरण के चैतन्य में अभेद हो जाने से ये वाह्य चैतन्य से अन्तश्चैतन्य में संक्रमित हो जाते हैं। क्रमशः इनकी वाह्य सत्ता लुप्त हो जाती है तथा चैतन्ययुक्त अन्तःकरण के धर्म वन कर साक्षिभास्य कहलाते हैं। उक्त दृष्टिकोण के अनुसार नट में दुष्यन्तत्व की प्रतीति शक्ति में रजत के प्रतिभास के समरूप ही है। जिस प्रकार स्वप्न में हाथी, अश्व इत्यादि[1] आकार ग्रहण करते हैं, तथा अन्तःकरण में समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी शकुन्तला एवं दुष्यन्त तथा उनके अन्तः व्यापारों की मनोमयी सत्ता है[2]। यह मानसी सत्ता ही साक्षिभास्य है।

उक्त परिप्रेक्ष्य में पंडितराज जगन्नाथ ने अभिनव तथा मम्मट की केन्द्रीय अवधारणाओं में एक गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित किया है। पंडितराज की आत्म-स्वीकृति है कि उन्होंने अभिनव और मम्मट की मान्यताओं का सार लेकर उसे वेदान्त की चेतना से संवलित कर प्रस्तुत किया है। **'इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।'**[3] अभिनव के अनुसार रति आदि स्थायीभाव जन्मजन्मान्तर के संस्कारों के रूप में संघनित होकर मानव हृदय में वासना रूप में स्थित हैं। अनुकूल कारण सामग्री के उपस्थित होते ही ये उद्बुद्ध हो जाते हैं, किन्तु अभिनव के अनुसार वासना की यह उद्बुद्धि एकान्ततः आनन्दमयी नहीं है, वह आनन्द से उद्भूत अवश्य है, किन्तु

---

[1] स्वाप्नाः पदार्थाः अन्तःकरणधर्मरूपा साक्षिभास्याः (मधुसूदनी) पृ० १०६

[2] काव्येऽपि मनोमयी शकुन्तला मानोरथो दुष्यन्तः, तद्व्यापाराश्च सर्वे-मनोमयाः, अतोऽन्तःकरणस्वरूपतया तद्धर्मरूपतया वा साक्षिभास्याः। (वही - पृ० - वही)

[3] रसगंगाधर प्रथमानन काव्यमाला-१९३०, पृ० २३

उसकी मौलिक प्रकृति में आनन्द के अतिरिक्त राग, विद्या, कला जन्य[1] सक्रियता तथा आकांक्षा का भी योग रहता है। जबकि पंडितराज के अनुसार यह अनुभूति एकान्त आनन्दमयी है तथा प्रमाता चैतन्य में अवस्थित आनन्द रूप में ही उस अनुभूति का साक्षात्कार करता है। 'प्रमाता स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।'[2]

उपर्युक्त विवेचन में निहित प्रमुख तथ्यों की ओर इंगित करने के अनन्तर पंडितराज जगन्नाथ के रस स्वरूप पर विचार करना प्रासंगिक होगा। ये प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं १-व्यक्ति (व्यंजनावृत्ति) से अभिप्राय आवरण-रहित चैतन्य से है अर्थात् आत्मा का चैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है। २-रति आदि अन्तःकरण के धर्म अथवा साक्षिभास्य हैं तथा इन धर्मों में परिणत हो कर विभावादि भी आत्मा के द्वारा भासित हो कर साक्षिभास्य हो जाते हैं। विभावादिकों के आस्वाद की अवधि पर्यन्त ही आवरण भंग रहता है। ३-आवरण भंग की स्थिति में सहृदय में एक अनुभूति उत्पन्न होती है जिसके प्रभाव में वह अपने स्वरूपानन्द का साक्षात्कार कर तन्मय होता है। यह स्वरूपानन्द एक स्तर पर सांसारिक सुखों से विलक्षण विशुद्धचैतन्यस्वरूप है तो दूसरे स्तर पर एकान्ततः समाधिस्थ आनन्द से भी विशिष्ट है। ४-रति आदि से युक्त आवरणरहित चैतन्य का नाम ही रस है।[3]

पंडितराज जगन्नाथ ने अपने मौलिक चिन्तन को इन्हीं सूत्रों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है, किन्तु रस स्वरूप के विविध आयामों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने ११ मतों का उल्लेख किया है, जिनमें अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी मत, भट्टनायक का भुक्तिवाद, लोल्लट का उत्पत्तिवाद तथा शंकुक का अनुमितिवाद तो सम्मिलित हैं ही, नवीन आचार्यों के मत भी उल्लिखित हैं। उन्होंने उक्त सभी मतों का स्वारस्य (सार) ग्रहण कर वेदान्त की पीठिका पर अपना मत प्रस्तुत किया है जो अभिनव तथा नवीन मत के

---

१. भावप्रकाशन २/१५-२०, पृ० ५२

२. वही, पृ० २२

३. रसगंगाधर, काव्यमाला (१९३९), पृ० २५ से २७

संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। उनके अभिमत का एक अंश निम्नलिखित अवतरण के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है।

समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभिः कार्यैश्चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च संभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।[1]

उक्त अवतरण के संभावित सूत्र इस प्रकार हैं—रस सहृदय की आत्मानुभूति का ही आनन्दात्मक साक्षात्कार है। युगयुगान्त से वासना रूप में सन्निविष्ट रत्यादि स्थायिभाव अन्तःकरण के प्रकाशानन्दमय स्वरूप से संवलित होकर अभिव्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति शब्द तथा अर्थ के अलौकिक व्यापार का परिणाम है। औचित्य एवं लालित्य सहृदय के हृदय में शब्दार्थमयी सृष्टि को संप्रेषणीय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। वस्तुतः औचित्य, शब्द और अर्थ की वर्ण्य-विषय तथा सांस्कृतिक मर्यादा के अनुरूप सामान्य स्वाभाविक स्थिति है। पंडितराज ने रस-दोष के प्रकरण में रसानुभूति की औचित्यमूलक भूमिका की ओर अनेक सूक्ष्म संकेत किए हैं यथा, रसांगों में से किसी को अंगी रस की अपेक्षा प्रबल अथवा प्रतिकूल रूप में निवद्ध करने से प्रकृत रस की पुष्टि नहीं हो पाती। प्रसंग से विच्छिन्न हो कर ऐसे रसात्मक संदर्भ सामाजिक को समग्रतः तन्मयीभवन की स्थिति में नहीं पहुँचा पाते[2]। इसी संदर्भ में उन्होंने नायिका के आराध्यत्व तथा दिव्यत्व का प्रश्न भी उठाया है। यह प्रश्न साधारणीकरण के संदर्भ में विशेष प्रासंगिक है। साधारणीकरण व्यापार के विषय में यह भ्रम है कि इसके द्वारा आराध्यत्व का ज्ञान प्रतिवंधित हो जाने से रस का उल्लास निर्बन्ध रूप से

---

१. रसगंगाधर, सं० मधुसूदन शास्त्री, पृ० १०० से १०६ तक।

२. प्रवन्धे प्रकृतस्य रसस्य प्रसंगान्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्र्येण रसास्वादः।

(रसगंगाधर, पृ० २१६, सं० मधुसूदन शास्त्री)

होता है, किन्तु वस्तु-स्थिति इसके विपरीत है। साधारणीकरण की कल्पना उन्हीं आलम्बनों में औचित्यपूर्ण है, जिनके द्वारा रसोद्रेक की संभावना प्रमाण सिद्ध हो चुकी है। अर्थात् प्रत्येक आलम्बन का साधारणीकरण सम्भव नहीं है। जिन दिव्य पात्रों की मौलिक संकल्पना में ही शृंगार वर्णन अनुचित है, उन्हें काव्य में निबद्ध करने के लिए कवि को सांस्कृतिक मूल्यों का अधिक सूक्ष्म अनुभावन करना पड़ेगा[1]। कहने का आशंय यह है कि पंडितराज रसानुभूति की संकल्पना को लालित्य और औचित्य के जिन दो आधार स्तम्भों पर निर्मित करते हैं, वे उनके चिन्तन की विशिष्ट दिशा को प्रमाणित करते हैं। काव्य की मूल संकल्पना में उन्होंने रमणीयता, लालित्य तथा लोकोत्तर आह्लाद का समीकरण प्रस्तुत किया है **'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।'**[2]

रमणीयता का आशय है **'पुन:पुनरनुसन्धानात्मा भावनाविशेषः'**। विभावों का प्रस्तुतीकरण मात्र पर्याप्त नहीं है उनका पुन: पुन: अनुभावन भी अपेक्षित है। वस्तुतः विभाव तो सीमित ही होते हैं, किन्तु जब कवि अथवा प्रमाता अपने अनुभव-क्षेत्र में उनका पुनरनुसंधान करता है तो सामष्टिक चैतन्य का यह अन्तर्भावन गुणात्मक स्तर पर लौकिक प्रकृति से भिन्न अलौकिक हो जाता है। यही कारण है कि पंडितराज जगन्नाथ जब वेदान्त के अद्वैत चिन्तन का आधार लेते हैं तो प्रकारान्तर से व्यक्तिनिष्ठ अन्तश्चैतन्य को वैश्वक अनुभूति के स्तर पर पुनर्व्याख्यायित करते हैं। अनुभूति मात्र का प्रस्तुतीकरण अथवा भावन काव्य नहीं है उस अनुभूति का पुन: पुन: अनुभावन ही उसे अनुभववेद्य बनाता है। यह अनुसंधानात्मक क्रिया प्राचीन प्रभाव (संस्कार) के वर्तमान अनुभव-परिवेश के साथ संयोग होने पर ही घटित होती है। निष्कर्षतः विभाव अनुभाव और व्यभिचारी सहृदय की भावना में लालित्य और औचित्य की जिस भूमिका पर सम्प्रेषणीय बनते हैं तथा मानसिक अनुचिन्तन की विलक्षणता से पुनर्भावित एवं अपने वैशिष्ट्य से मुक्त हो

---

[1] यत्र सहृदायानां रसोद्बोध: प्रमाणसिद्धस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्। अन्यथा स्वमातृविषयकस्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः।

(वही, पृ० २२०)

[2] वही, पृ० १४

करप्रमाता द्वारा स्वप्रकाश आनन्दमय स्वरूप से प्रत्यक्ष किए जाते हैं, वह अनिवार्यतः निर्विकल्प तथा सविकल्प अनुभूतियों की द्वैधी चेतना ही है।

पंडितराज ने सहृदय सामाजिक को इसी द्वैधी चेतना पर प्रतिष्ठित किया है, जिसमें वेदान्त की शुद्ध अतिप्राकृत चेतना के तत्कालीन भौतिक समृद्ध वातावरण के मेल से रसिक योगी की मूर्ति उभरती है[1]। फलतः एक स्तर पर वे **व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्** तथा **'परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा' विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्** का स्वर मुखर करते हैं तो दूसरी ओर भावनादोष का संदर्भ उठा कर सम्पूर्ण रसानुभूति को ही काल्पनिक प्रतीति में पर्यवसित कर देते हैं। पंडितराज की इस अवधारणा का हम आगे विवेचन करेंगे, यहाँ यह स्पष्ट करना मात्र अपेक्षित है कि अत्यधिक समृद्ध इन्द्रियपरायण परिवेश की कलात्मक परिणति सूक्ष्म अतीन्द्रिय निर्विकल्प साधना में ही होती है। पंडितराज का चिन्तन इसका प्रमाण है।

पंडितराज के चिन्तन के मूल सूत्रों को पुनः आकलित करने के अनन्तर उनकी साधारणीकरण-विषयक अवधारणा पर विचार करेंगे। ये सूत्र सहृदय की विषयीपक्षीय मानसिकता, काव्यवस्तु की सन्निवेशचारुता वस्तुनिष्ठ विशेषता तथा दोनों को अन्तःसूत्र में आबद्ध करने वाली भावना विशेष (कल्पना-शक्ति) से अन्वित हैं। पंडितराज की सहृदय संबंधी अवधारणा अभिनव की एक सीमा तक उपजीवी है। अभिनव के अनुसार प्रमाता के निर्मल अन्तःकरण में ही काव्य-वस्तु प्रतिफलित हो सकती है। अभिनव ने सहृदय की मानसिकता की तुलना दर्पण से की है, जिसमें अन्तर्मुखी अनुभावन तथा बाह्य जड़ वस्तु के पुनर्भावन की समानान्तर क्रिया का योग है। यह योग संविद्विश्रान्ति जैसी परिकल्पना की ओर इंगित करता है। सहृदय की आत्मा मूलतः अविद्या एवं निर्मल संस्कारों की द्वैत चेतना से अन्वित मानी गई है। संस्कारों के मलीय आवरण से मुक्त होते ही सहृदय का अन्तश्चैतन्य शुद्ध प्रकाश तथा आनन्द में पर्यवसित हो जाता है। स्पष्टतः

---

[1] यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।

(रसगंगाधर, पृ० ११४)

सहृदय की यह प्रतिमा वेदान्त में निरूपित मुमुक्षु अथवा ब्रह्मवित् योगी की ही है। **'जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसंचितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।'**[1] रसानुभूति का लक्ष्य जीवन्मुक्तता की यही अलौकिक भूमिका है, जिसमें अविद्या के आवरण से मुक्त होकर सहृदय अपने अन्तश्चैतन्य को ब्रह्म साक्षात्कार की भूमिका पर स्थापित कर सकें। अभिनव के दर्पण की तुलना[2] में पंडितराज ने शराव से ढके हुए तथा पुनः उन्मीलित दीपक का बिम्ब प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार सकोरे से आवृत दीपक उससे मुक्त हो कर स्वयं भी प्रकाशित होता है तथा निकटस्थ पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, आत्मा का चैतन्य भी इसी भाँति स्वयं भी प्रकाशित होता है तथा विभावादि से संवलित रति आदि को भी प्रकाशित करता है[3]। कहने का आशय यह है कि दर्पण में बिम्बन अन्तःप्रतिबिम्बन की क्षमता उसकी समष्टिगत चेतना को व्यंजित करती है। अभिनव की अवधारणा एकघनता अथवा समष्टि-प्रभाव को अधिक व्यापक स्तर पर व्याख्यायित करती है। दीपक व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुखता का भाव व्यंजित करता है। अर्थात् काव्य अथवा नाट्य के अर्थों के अन्तश्चैतन्य में प्रकाशित होने से पूर्व स्वयं सहृदय के अन्तश्चैतन्य का प्रकाशित होना अनिवार्य है। अभिनव के समानान्तर पंडितराज की धारणा सहृदय को अभिजात कलात्मक संस्कारों से युक्त मान कर चलती है, जबकि अभिनव अहृदयों के निर्मलीकरण में भी आस्था रखते हैं। वस्तुतः भावना दोष की ओर अन्तःप्रयाण वैश्वक अनुभूति की ओर उन्मुख होती हुई व्यष्टि चेतना को ही परिभाषित करता है। भावना अथवा कल्पना सामष्टिक अनुभूति में एकघनता के स्तर पर व्याप्त नहीं होती, इसमें व्यक्ति-प्रतिभा का वैशिष्ट्य अन्वित रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भावना अथवा कल्पना पर अतिरिक्त बल दे कर

---

[1] वेदान्तसार: (चौखम्बा-१९६८) पृ० ९९-१००

[2] नानाकाव्यानुशीलनताभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे येषां वर्णनीयवस्तुतन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदयाः। (अभिनवगुप्त)

[3] यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान्पदार्थान्प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्।

(रसगंगाधर, पृ० १०७-९)

पडितराज जगन्नाथ काव्य के चारुत्व की भूमि में प्रवेश करते हैं तो यह चारुत्व एकमात्र व्यक्तिनिरपेक्ष चारुत्व न रहकर कला-संस्कृत लालित्य को परिभाषित करता है।

सहृदय की भूमिका का विवेचन करने के अनन्तर काव्य-चारुत्व के वस्तुनिष्ठ स्वरूप का उल्लेख करना अब अधिक प्रासंगिक होगा। पंडितराज नाट्यगत अथवा प्रबन्धात्मक प्रस्तुति की अपेक्षा मुक्तकों के चमत्कार के प्रति आग्रहशील थे, जिनके अनुभावन तथा आस्वादन के लिए कल्पना अथवा भावना की अतिरिक्त प्रखरता अपेक्षित है। शब्दार्थ के अन्तःसंबंध के औचित्य एवं लालित्य को संवेदनशील कल्पना ही अधिक विशदता से ग्रहण कर सकती है। काव्यानुभूति के अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य का विश्लेषण करते हुए वे क्रमशः प्रबन्धात्मक तथा नाट्य-पात्रों की भूमिका पर पहुँचते हैं तो दोनों के मध्य समीकरण का आधार भावना विशेष ही प्रमाणित होती है। प्रबन्धात्मक पात्रों में वैशिष्ट्य की सत्ता मुक्तक की अपेक्षा अधिक होती है, अतः सहृदय की उद्बुद्ध कल्पना-शक्ति के द्वारा उस वैशिष्ट्य का तिरोधान अपेक्षित है। सहृदय की कल्पना के द्वारा अपने विशेष संबंधों से रहित हो कर ये पात्र अलौकिक चेतना से संवलित हो जाते हैं। **'चारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिः अलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः'**[1]। कहने का आशय यह है कि शब्दार्थ के अन्तःसंबंध की सूक्ष्म ललित भंगिमाओं के अन्तर्भावन में संवेदना के अतिरिक्त विवेक-चेतना का भी योग आवश्यक है। मुक्तक की भूमि में विवेक और संवेदना की सहज एकात्मकता प्रबन्धगत अन्तर्भावन में हृदय एवं बुद्धि के संतुलित ऐक्य की भूमिका प्रशस्त करती है। अतः पंडितराज जगन्नाथ भावना की अतिरिक्त सक्रियता की ओर प्रज्ञा और संवेदना के सामंजस्य की भूमि से अग्रसर होते हैं जो मुक्तकगत चमत्कार की सहज भूमि है।

पंडितराज की भावना-विषयक परिकल्पना जैसा कि हमने ऊपर कहा है मात्र संस्कारों के पुनरुद्बोधन पर ही आश्रित नहीं है, उसमें समष्टि की अनुभूति का व्यष्टिगत अनुभव में अनूदन आवश्यक है जो प्रज्ञा और संवेदन की एकात्मकता के द्वारा ही संभव है। भावना के सक्रिय होते ही विभाव,

---

[1] रसगंगाधर, पृ० १०१-२

अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की सहज सत्ता अभिव्यंजनागत सत्ता में रूपान्तिरित हो कर सर्वजनसंवेद्य निर्विशेषीकृत तथा साधारणीकृत हो जाती है। पंडितराज के अनुसार इस अन्तर्भावन के लिए किसी भिन्न व्यापार की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। अभिनव भी शब्दमयी सृष्टि को सर्वभोग्य कहते हैं[1]। आशय यह है कि पंडितराज अभिनव के व्यंजना व्यापार को अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य के स्तर पर अधिक व्यापकता से व्याख्यायित करते हैं। साधारणीकरण काव्य चारुत्व की सहज परिणति है। सहृदय की भावना ही काव्य के इस चारुत्व को सूक्ष्म भंगिमाओं में परिभाषित करने में समर्थ है तथा यह भावना अभिव्यंजना की विशुद्ध स्थिति से ले कर सहृदय की व्यापक मनोभूमियों को समाहित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पंडितराज की भावना संवंधी परिकल्पना वस्तुनिष्ठ होते हुए भी सामाजिक की अन्तश्चेतना की विशुद्ध स्थिति तथा अज्ञान-निवृत्ति की विविध भूमिकाओं को आत्मसात् करती है।

भट्टनायक ने भी भावना व्यापार को साधारणीकरण के पर्याय अथवा अन्तर्भूत [व्यापार के रूप में परिभाषित किया है, किन्तु उनकी दृष्टि दोष-गुणालंकार के सापेक्षिक महत्त्व को स्वीकार करती हुए भी मूलत: विषयीनिष्ठ है। पंडितराज भावना को साधारणीकरण व्यापार की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस संदर्भ में भट्टनायक की अभिधा, भावना तथा भोगीकृति की त्रिक चेतना की आलोचना करते हुए वे भावना को अतिरिक्त क्रिया मानते हैं जो आवरण भंग करने वाली व्यंजना से भिन्न नहीं है।[2] पंडितराज का कथन है कि साधारणीकरण के विघ्नों के निराकरण के लिए ही भावकत्व व्यापार की सार्थकता है, क्योंकि अगम्यात्व ज्ञान का प्रतिबंधन साधारणीकरण मात्र से नहीं हो सकता है। इसके लिए विरोधी ज्ञान का

---

१. ···प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादि-विषयमयीभि (मयैः)··· (नाट्यशास्त्रम्, बड़ौदा पृ० २८१)

२. एवं च त्रयोंऽशाः काव्यस्य-अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च इत्याहुः। मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद्भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः। भोगस्तु व्यक्तिः। भोगकृत्वं तु व्यंजनादविशिष्टम्। अन्या तु सैव सरणिः।

(रसगंगाधर, पृ० १३)

प्रतिबंधन आवश्यक है। "तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्व-व्यापारेण अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूल-धर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तलादेशकाल-वयोस्थादिषु।[1] इस प्रकार पंडितराज ने भट्टनायक के मत को भी अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक एवं दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। इसमें भावकत्व व्यापार को वे जहाँ इस अर्थ में स्वीकार करते हैं कि वह विरोधी ज्ञानों का निराकरण करता है, वहाँ व्यंजना में उसकी गतार्थता स्वीकार कर उसके मौलिक अस्तित्व को अप्रामाणिक भी मानते हैं।[2]

उक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में भट्टनायक के साधारणीकरण संबंधी सिद्धान्त के कतिपय सूत्रों का भी पुनःसंस्कार हुआ है। पंडितराज ने भट्टनायक के अभिमत को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में विश्लेषित किया है, जिसकी मनोविश्लेषणपरक आधुनिक संभावनाओं पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ अभिनव तथा भट्टनायक के चिन्तन के आलोक में पंडितराज ने जिन सूत्रों को ग्रहण किया है, उनका पुनराकलन ही अभीष्ट है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अभिनव के तन्मयीभवन तथा भट्टनायक के प्रतिवन्धन-सिद्धान्त की वैकल्पिक व्याख्याओं को अन्वित कर पंडितराज ने भावना दोष-विषयक सिद्धान्त का निर्माण किया है जो साधारणीकरण को निषेधपरक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करता है। जहाँ तक अभिनव के सिद्धान्त का पंडितराज के द्वारा पुनर्व्याख्यान हुआ है, वह स्वयं में दार्शनिक उपलब्धि तो है, गुणात्मक स्तर पर काव्यशास्त्रीय मौलिक उपलब्धि नहीं है।

पंडितराज ने अभिनव के सिद्धान्त की भी दार्शनिक व्याख्या की है तथा वेदान्त की परिभाषिक शब्दावली के आवरण में उसके स्वरूप को किंचित् परिवर्तित कर दिया है। उनके अनुसार अभिनव का रस-स्वरूप वेदान्त की शब्दावली में 'भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिरेव रसः है' अर्थात् अज्ञानरूप आवरण से रहित चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायिभाव ही रस है, जबकि स्वयं उनके अनुसार अभिनव का रस स्वरूप 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरण चिदेव रसः' के स्तर ही पर स्वीकार्य है। कहने की आवश्यकता नहीं

---

[1] वही, पृ० १२८

[2] भोगकृत्वं व्यंजनादविशिष्टम् समानम्।

(वही, पृ० १३०)

कि पंडितराज के मत में स्थायिभाव विशेषण और चैतन्य विशेष्य है तथा अभिनव के मत में चैतन्य विशेषण तथा स्थायिभाव विशेष्य है। अद्वैत वेदान्त चैतन्य को ही आनन्दरूप स्वीकार करता है, चैतन्य के प्रतिभास होने के कारण नहीं। अभिनव के मत के वेदान्तपरक संस्कार से पंडितराज का अभिमत पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुआ, अतः उन्होंने नव्य मत के रूप में अपनी अवधारणा को अधिक स्पष्ट रूप दिया।

प्रथम नव्य मत को पंडितराज ने अपने अभिमत के स्तर पर प्रस्तुत करते हुए कतिपय नवीन सूत्र भी दिए हैं तथा अभिनव के सूत्रों का भी अध्याहार किया है। पंडितराज के अनुसार काव्य और नाट्य में कवि तथा अभिनेताओं के द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारीभाव शब्दों तथा अभिनयों के द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं। काव्य के पठन और नाटक के दृश्यावलोकन से सामाजिक को विभावादि का ज्ञान होता है, इसके अनन्तर व्यंजनावृत्ति के द्वारा वह दुष्यन्त के हृदय में निहित शकुन्तला के प्रति रति आदि भावों की स्थिति का बोध करता है। इस स्थिति में क्रमशः यह बोध प्रगाढ़ हो जाता है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति प्रणय-भावना से अनुरंजित है। इस बोध के अनन्तर सामाजिक में एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है और उसके प्रभाव में वह दुष्यन्त, शकुन्तला आदि की प्रणयानुभूति का पुनः पुनः अनुसंधान करने लगता है। यह भावना विशेष सहृदयता की उद्भूति है तथा इसके प्रभाव से सामाजिक की अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है। भावनाजन्य दुष्यन्तत्व की इस मानसी भूमिका के कारण प्रमाता स्वयं को दुष्यन्त की भूमिका में ग्रहण करता है। फलतः शकुन्तला के विषय में अनिर्वचनीय साक्षिभास्य रति उत्पन्न हो जाती है। भावना दोष के कारण जैसे सहृदय की आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित होती है, उसी प्रकार शकुन्तलाविषयक रति भी कल्पित रूप में ही उद्भूत होती है। यह अनुभूति सीप के टुकड़े में रजतखण्ड की अज्ञानजन्य प्रतीति के समकक्ष है। कहने का तात्पर्य यह है कि शकुन्तला आदि की रति प्रमाता में वास्तविक रूप में नहीं रहती, तथापि उसकी आत्मा उसका साक्ष्य प्रस्तुत करती है क्योंकि प्रमाता की आत्मा भावना रूप दोष से आच्छादित हो कर कल्पित मनोमय जगत् का निर्माण करने में समर्थ है। इस भावना दोष के कारण स्वयं में दुष्यन्तत्व की परिकल्पना करने वाले सामाजिक में साक्षिभास्य अनिर्वचनीय शकुन्तला-

विषयक रति आदि स्थायिभाव ही रस रूप में परिणत होता है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि रसानुभूति सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय अनुभूति है। प्रमाता प्रत्यक्ष होने के कारण न तो दुष्यन्त शकुन्तला आदि की रति को अवास्तविक मान सकता है और न कल्पित मनोमयी सृष्टि होने के कारण वास्तविक ही।

पंडितराज के इस चिन्तन के सूत्र विश्वनाथ की आश्रय के साथ तादात्म्य की कल्पना से अंशतः ग्रहण किए गए हैं, किन्तु भावना रूप दोष की कल्पना का आधार प्रदान कर उसे उन्होंने निजी विशिष्ट अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया है। आधुनिक दृष्टि से पंडितराज की इस अवधारणा को दोनों स्तरों पर विश्लेषित किया जा सकता है। दार्शनिक दृष्टि इसका वेदान्तपरक समाधान उपस्थित करती है तो आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिन्तन भी इसमें निहित सत्यांश को प्रमाणित करता है। वेदान्त की दृष्टि से काव्यानुभूति अनिर्वचनीय ख्याति पर आधृत है। अनिर्वचनीय ख्याति के दार्शनिक आधार की विवेचना हम ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं, इस अनुभूति में निषेध और स्वीकृति के अन्तःसूत्र मिश्रित रहते हैं। व्यावहारिक सत्यता के अभाव तथा प्रातिभासिक दृष्टि से सत्य होने के कारण इस सदसद् विलक्षण प्रतीति को अनिर्वचनीय कहा गया है। कहने का आशय यह है कि प्रत्यक्ष अनुमान आदि से बाधित होने पर भी अनुभूति का ज्ञाता विद्यमान रहता है। इसी प्रकार कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित प्रमाता की आत्मा में साक्षिभास्य शकुन्तला-विषयक अनिर्वचनीय अनुभूति की मूल प्रकृति प्रमातृपरक ही है। सम्पूर्ण अन्तर्भावन की प्रक्रिया प्रमाता में घटित होती है। इस संदर्भ में पंडितराज इस प्रश्न का भी उत्तर देते हैं कि भ्रमस्वरूपा अनिर्वचनीय रति का, जो न सुख रूप है और न व्यंग्य ही है, उसके अनन्तर उत्पन्न होने वाले सुख के साथ कैसे अभेद ठहराया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि इस अनि-

---

[1] नव्यास्तु काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यंजनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यः शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।
(रसगंगाधर, सं० मधुसूदन शास्त्री, पृ० १३१ से १३३)

र्वचनीय अनुभूति के अनन्तर जिस लोकोत्तर आह्लाद की प्रतीति होती है, उस अनुभूति से अन्वित कर इसे भी आनन्द रूप कहा जाता है। वस्तुतः आनन्द अनिर्वचनीय रति की परवर्ती भूमिका है। किन्तु अव्यवहित होने के कारण पूर्ववर्ती अनुभूति भी आह्लादपरक ही प्रतीत होती है। **'स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात्सुखपदव्यपदेश्यो भवति।'**[1] इसी के समानान्तर तथ्य यह है कि शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्त आदि की रति का व्यंजना वृत्ति के द्वारा ज्ञान तथा भावनादोषजन्य मिथ्यानुभूति का भी भेद ज्ञात नहीं होता। अतः इस परवर्ती अनुभूति को भी व्यंजनावृत्ति से प्रकाशित कहा जाता है[2]। अब प्रश्न यह उठता है कि सहृदयों की आत्मा को आवृत करने वाला अनिर्वचनीय दुष्यन्तत्व का यथार्थ स्वरूप क्या है तथा वह आत्मा का आच्छादन किस प्रकार करता है? प्रथम स्तर पर प्रमाता स्वयं को दुष्यन्त समझता है तथा क्रमशः उसकी यह अनुभूति प्रखर होती जाती है कि यह रति एकान्ततः उसी की है। इस प्रकार न केवल कल्पित दुष्यन्तत्व से प्रमातृ-चेतना युक्त हो जाती है, अपितु विभाव विषयक रति भी प्रमातृचेतना में उद्भूत हो जाती है। कहने का आशय यह है कि शकुन्तलाविषयक रति का संबंध प्रमातृ-चेतना में स्थापित करना ही अवच्छादक संकल्पना का उद्देश्य है[3]। इस अवधारणा को स्वीकार कर लेने पर भट्टनायक की स्वगत परगत प्रतीति संबंधी आपत्तियों का भी समाधान हो जाता है। कल्पित दुष्यन्तत्व से प्रमातृचेतना को आच्छादित मान लेने से सामाजिक का शकुन्तलादि विषयक रति से संबंध स्थापित हो जाता है।[4]

इस संदर्भ में पंडितराज ने साधारणीकरण की पूर्ववर्ती अवधारणा की प्रासंगिकता पर भी विचार किया है। उनका विचार है कि प्राचीन आचार्यों

---

[1] रसगंगाधर (पूर्ववत्, पृ० १३२)

[2] स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात्तद्रतित्वेनैकत्वाध्यवसानाद्वा व्यंग्यो वर्णनीयश्चोच्यते। (वही, पृ० १३३-३४)

[3] अवच्छादकत्वं च रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेदकत्वम्। (वही, पृ० १३४-३५)

[4] स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहतेत्यादिकमपास्तम्। (वही, पृ० १३५)

ने जो विभावादिकों के निर्विशेषीकरण अथवा साधारणीकरण का उल्लेख किया है, यह दोष की कल्पना के अभाव में सिद्ध नहीं हो सकता। काव्य में शकुन्तला का वर्णन दुष्यन्त की प्रेयसी अथवा पत्नी के रूप में ही होता है। प्रमाता की चेतना में वह इसी रूप में अवतीर्ण होती है। कामिनी मात्र की भूमिका पर उसे प्रस्तुत करने के लिए उसकी शकुन्तलाविषयक मौलिकता को लुप्त करना आवश्यक है। उसके निराकरण के लिए दोष की कल्पना आवश्यक है, अतः भावना-दोष की अवधारणा की स्वीकृति से साधारणीकरण की भूमिका सरल हो जाती है तथा प्रमाता के लिए अपनी आत्मा में दुष्यन्त आदि से अभेद तथा तादात्म्य स्थापित करना भी संभव हो जाता है। पंडितराज की शब्दावली से ऐसा प्रतीत होता है[1] कि उन्हें साधारणीकरण की परम्परागत अवधारणा में आस्था नहीं है, किन्तु उनके विकीर्ण अभिमतों के परिप्रेक्ष्य में यह संदेह निवृत्त हो जाता है। साधारणीकरण की अवधारणा को पंडितराज ने अनेक दृष्टिविन्दुओं और आयामों में विश्लेषित किया है।

अगम्यात्व-ज्ञान का प्रतिबन्धन

जैसा कि हमने ऊपर कहा है पंडितराज की सांस्कृतिक दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म और परिष्कृत थी। विलास-संकुल वातावरण की अनिवार्य प्रतिक्रिया नैतिक चेतना के समानान्तर विकास में होती है। फलतः उन्हें गीत गोविन्द जैसे ऐन्द्रियोल्लास से परिपूर्ण कार्य शृंगारिक मर्यादा के प्रतिकूल प्रतीत हुए। इनसे पूर्व आनन्दवर्द्धन भी कालिदास के शिव-पार्वती विषयक सम्भोग शृंगार पर आपत्ति व्यक्त कर चुके थे। अतः रसानुभूति का संदर्भ उपस्थित होने पर उनकी सांस्कृतिक-नैतिक दृष्टि सचेष्ट हो उठी। पंडितराज ने स्पष्ट कहा कि प्रत्येक शृंगारिक वर्णन अनिवार्यतः प्रमाता की चेतना में साधारणीकृत नहीं हो सकता। शृंगार के आलम्बनों का नैतिक प्रतिमानों के निकष पर आराध्यत्व के ज्ञान से मुक्त होना आवश्यक है। यदि यह कहा जाए कि साधारणीकरण व्यापार आराध्यत्व के ज्ञान को निराकृत कर सकता है, तो

---

[1] यदपि विभावादीनां साधारण्य प्राचीनैरुक्तं तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा।

(रसगंगाधर, पूर्ववत्, पृ० १६६)

यह सर्वत्र सम्भव नहीं है। जिन पात्रों के प्रति प्रमाता की चेतना आराध्यत्व के ज्ञान से मुक्त नहीं हो पाती, उनके साथ रति की भूमिका पर वे तादात्म्य नहीं कर सकते। आराध्यत्व के ज्ञान का प्रतिवन्धन स्वीकार न करने की स्थिति में माता-पिता के रति वर्णन में भी सहृदयों की रसानुभूति को स्वीकार करना पड़ेगा। पंडितराज का यह अभिमत प्रकारान्तर से सर्जनात्मक मर्यादा को भी रेखांकित करता है। आधुनिक काव्यों को प्राचीन कवियों की शृंगार-बहुल कृतियों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। 'जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसंमतोऽयं समयो मदोन्मत्तमतंगजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानींतनेन तथा वर्णयितुं सांप्रतम्। तथा विद्यावयोवर्णाश्रमतपोभिरुत्कृष्टैः स्वतोऽपकृष्टेषु न संबहुमानेन वचसा व्यवहर्तव्यम्।'[2] भट्टनायक के प्रसंग में भी पंडितराज ने पूज्य बुद्धि विषयक प्रतिपत्ति पर विचार किया है। उनका कथन है कि शकुन्तला आदि सभी स्त्रियों में सामान्य रूप से रहने वाला कान्तात्व भी सामाजिक की वासना के विकास का प्रयोजक नहीं हो सकता। काव्य शब्द से उपस्थित किये जाने पर अथवा वेशभूषा आदि के द्वारा शकुन्तला को जिस विशिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है, उससे सामाजिक का साधारणीकरण होना संभव नहीं है। यदि यह कहा जाए कि वह स्त्री होने के कारण सामाजिक का साधारण रूप से विभाव बनने में समर्थ है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाता जिसे प्रेम पात्र की भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है, उसके विषय में उसे यह निर्भ्रान्त ज्ञान अवश्य होता है कि वह उसके लिए अगम्या नहीं है तथा उसकी प्रेमास्पद बनने की योग्यता रखती है। यह ज्ञान अप्रामाणिक नहीं होना चाहिए। अन्यथा स्त्री तो बहन आदि भी होती है, फिर वे भी विभाव कहीं जाएँगी। अतः जिसे प्रमाता विभाव स्वीकार करता है, उसके विषय में अगम्यात्व के ज्ञान की उत्पत्ति का अभाव किसी प्रतिबन्धक के सिद्ध हुए बिना सम्भव नहीं है। पंडितराज ने भावना दोष के आधार पर इसका समाधान प्रस्तुत किया है। आधुनिक मनोविश्लेषण सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में भी इसका औचित्यमूलक समाधान अनु-

---

[१] यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्। अन्यथा स्वमातृविषयकस्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः।
(रसगंगाधर, पृ० २२०)

[२] वही, पृ० २२०-२१

संधेय है। फ्रायड के चिन्तन के समानान्तर अगम्यात्व के प्रतिबन्धन सिद्धान्त का विश्लेषण अपनी सुनिश्चित त्रुटियों और सीमाओं के होते हुए भी इस प्रश्न का आंशिक समाधान उपस्थित कर सकता है।

अगम्यात्व का प्रतिवन्धन साधारणीकरण की प्रमुख प्रक्रियाओं में से है। प्रमाता जिसे अपना विभाव स्वीकार करता है, उसके विषय में यह प्रामाणिक ज्ञान अनिवार्य है कि वह अगम्या नहीं है। **'न च कान्तात्वं साधारणां विभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्। अप्रामाण्यनिश्चयानालिंगितागम्यात्व प्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटावश्यं निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः।'**[1] अर्थात् कान्तात्व मात्र ही रति के आलम्वनत्व के लिए पर्याप्त नहीं है, उसमें अगम्यात्व ज्ञान का प्रतिवंधन भी अनिवार्य है।

फ्रायड का अभिमत है कि मानव मन के अवचेतन स्तर पर काम की अनेक अतृप्त दमित एषणाएँ निहित रहती हैं। शैशव के प्रारंभिक विकास में माता ही उसके काम-संवेग मूलक प्रेम का प्रथम आलम्वन होती है। इस अर्थ में शिशु पिता का प्रतिद्वन्द्वी[2] होता है। क्रमश वह रति के समानान्तर विकास-क्रम में पिता की मानसिकता का अपने अहं में तादात्म्य कर इस मातृसंबंधी आसक्ति का उदात्तीकरण करता है। माता के प्रति उसकी अनुरक्ति चेतन स्तर पर आविर्भूत नहीं होती। वह दमित हो कर नैतिक मन के कठोर अनुशासन में अवचेतन स्तर पर गतिशील रहती है। सामाजिक एवं नैतिक शक्तियों के प्रभाव में यह ग्रन्थि लुप्त-सी प्रतीत होती है, किन्तु अज्ञात रूप से वह अनेक मनोविकृतियों एवं दिवास्वप्नों की सृष्टि करती है।

प्रमाता की नाट्यानुभूति के समानान्तर यदि इस प्रक्रिया का विवेचन करें तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि नाट्य-प्रयोग के साक्षात्कार के क्षण में प्रमाता की दमित रागात्मकता उद्भिन्न हो कर प्रच्छन्न रूप में परितोष पाती

---

[1] रसगंगाधर : प्रथमो भाग : (सम्पादक श्री मधुसूदन शास्त्री)
(बनारस २०२० पृ० १२३-२५)

[2] ......this interest soon gives rise to a feeling of sexual attraction towards the mother associated with feelings of jealousy or resentment directed against the father, who has become the boy's rival in his mother's affection.
(J. A. C. Brown : (Freud and post-Freudians, p. 23)

है। यह सुरक्षात्मक, गत्यात्मक प्रक्रिया है, जो नैतिक मन के अनुशासन में कामुकतारहित साध्य की ओर अग्रसर होती है। नैतिक मन सांस्कृतिक संस्कारों से परिष्कृत अहम् का विकसित रूप है एवं अहम् जैव आवश्यकताओं की अबाध पूर्ति का प्रतिबन्धक तत्त्व है। क्रमशः नाट्यास्वाद के घनीभूत क्षण में दमित अवचेतन नैतिक मन के अनुशासन से मुक्त हो कर दमित आकांक्षा की पूर्ति की ओर अग्रसर होता है। दुष्यन्त उसका पितृस्थानीय प्रतिद्वंद्वी तत्त्व है, किन्तु उससे प्रत्यक्ष तादात्म्य अथवा अभेद स्थापित कर वह उसका प्रत्यक्ष स्थानापन्न नहीं वन सकता। पंडितराज ने उपयुक्त ही कहा है कि अभेद बुद्धि मात्र ही अगम्यात्व के ज्ञान की प्रतिबंधिका नहीं हो सकती; इसमें प्रमाता को अपनी हीनता का परिज्ञान भी रहता है।

'स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तथेति चेत्, न, नायके धराधँरेयत्व-धीरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्व-कापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तोरभेदबोधस्यैव दुर्लभत्वात्।'[1]

कहने का आशय यह है कि प्रमाता का स्वयं को अभेद वुद्धि के आधार पर दुष्यन्त समझ लेना मात्र उस विरोधी ज्ञान का प्रतिबंधक नही है, प्रमाता और दुष्यन्त के मध्य एक विस्तृत मानसिक अन्तराल (वैधर्म्य) है, अतः प्रमाता अज्ञात रूप से विस्थापन, प्रतीकीकरण, अथवा अचेतन विम्वों की कल्पना का आधार ग्रहण करता है। पंडितराज ने अपने विशिष्ट चिन्तन परिवेश में इसे भावना-दोष कहा है।

मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो प्रमाता की प्रच्छन्न रागात्मकता प्रतिकार के भय से मुक्त हो कर पिता के इस नूतन प्रतिनिधि दुष्यन्त में रागात्मक साहचर्य का प्रतीकान्तर करती है। उसके माध्यम से प्रमाता शकुन्तला को अपने रागात्मक विषय का वैकल्पिक लक्ष्य बनाता है। फ्रायड का मत है कि व्यक्ति वैकल्पिक विषय में अपने प्रथम प्रेम को खोजता है[2]। अतः शकुन्तला की ओर अनुधावित प्रमाता की रागात्मक ऊर्जा अपने मूल प्रणय-केन्द्र से विस्थापित हो कर उदात्तीकृत होती है।

---

[1] १. रसगंगाधर   (उपरिवत्, पृ० १२६-२७)

[2] २. फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका (कैल्विन एस० हाल) राजकमल दिल्ली, पृ० ७९

वस्तुतः यह भावनादोष आत्ममोह का पुनरनुसंधान है, जिसमें प्रमाता द्वारा पूर्व वरण किए गए निषिद्ध रागात्मक मूल्यों को संस्कार मिलता है। शकुन्तला में वह जिस मातृ-बुद्धि का पुनः वरण करता हैं, निषेधों एवं वर्जनाओं के शिथिल हो जाने से वह मातृ-चेतना प्रेयसी चेतना में रूपान्तरित हो जाती है। अतः विकल्प का यह वरण मूल का ही रूपान्तरित वरण है, जिसमें अगम्यात्व का ज्ञान प्रतिबंधित हो जाता है। प्रारम्भ के अवरुद्ध वरण की ऊर्जा अब कल्पित भाव-तादात्म्य में उदात्तीकृत हो कर निर्बाध परितोष पाती है। उल्लेखनीय यह भी है कि जिन व्यक्तियों में बौद्धिक अनुशासन अधिक प्रखर होता है, वे वरण के मूल उद्गम के उद्घाटित होने के भय से गोपनेच्छाप्रिय हो जाते हैं। अतः वे नाट्य-प्रयोग का निर्बाध आस्वाद नहीं ग्रहण कर सकते। अभिनव के शब्दों में **'तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः'**[1]।

वस्तुतः ये व्यक्ति शमन-ग्रन्थि से पीड़ित हैं, जो प्रवृत्तिमूलक विषय के चेतन स्तर पर आने में अवरोध डालती है। फ्रायड के अनुसार अगम्यात्व का दृढ़ निषेध निषिद्ध विषय की तीव्र इच्छा का ही द्योतक है।[2] निषेध की दीर्घ परम्परा के कारण यह ग्रन्थि शमित हो कर अवचेतन के गहन स्तर में लुप्त हो जाती है। अतः चेतन स्तर पर इसके दमन के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। विभाव के स्तर पर पुनः उसकी प्रतीकीकृत उद्बुद्धि से स्वप्न जैसी प्रतीकात्मक सन्तुष्टि प्राप्त होती है, जो अयथार्थ अनुभूति को मानसिक आह्लाद में बदल देती है। मातृ-रति ग्रन्थि की फ्रायडी अवधारणा भारतीय चिन्तन की विशिष्ट नैतिकता के विपरीत प्रतीत हो सकती है, किन्तु भारतीय वाङ्मय में सरस्वती को ब्रह्मा की दुहिता, प्रेयसी एवं माता कहा गया है,[3] यह प्रकारान्तर से इस तथ्य का द्योतक है कि काव्य-सृष्टि के उपादान वर्जना-मुक्त होकर ही कवि सहृदय के आस्वाद के विषय बनते हैं।

---

१. नाट्यशास्त्रम् भाग-१, पृ० २८०

२. फ्रायड मनोविज्ञान प्रवेशिका पृ० ७५

३. (क) धातुश्चतुर्मुखीकण्ठशृंगाटकविहारिणीम्; (सुभाषितरत्नभाण्डागार, निर्णयसागर-१९५२, पृ० ३)
   (ख) देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा। नैषधीयचरितम् १/६६ (निर्णयसागर-१९५२) पृ० ४६७
   टि०—सरस्वती को विष्णु की पत्नी कहना प्रकारान्तर से ब्रह्मा की माता कहना है।

[६]

साधारणीकरण-विषयक इतर अवधारणाएँ

धनंजय (१०वीं शती): दशरूपक, धनिक: अवलोक

धनंजय की साधारणीकरणविषयक अवधारणा भट्टनायक से प्रेरित है। उसकी प्रक्रिया का विवेचन उन्होंने शंकुक की शैली में किया है तथा चिन्तन के मूल सूत्र लोल्लट से ग्रहण किए हैं। लोल्लट की भाँति वे अभिधा शक्ति के योग से ही समस्त रसादि रूप वाक्यार्थ के बोध की संभावना व्यक्त करते हैं; व्यंजना जैसी किसी भिन्न शक्ति की कल्पना उनके अनुसार व्यर्थ का प्रयास है। भट्ट लोल्लट के दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार को धनिक ने तात्पर्य शक्ति की अवधारणा से संयुक्त कर प्रस्तुत किया है। ध्वनिवादी तात्पर्य के अविश्रान्त होने तक तात्पर्य शक्ति का अस्तित्व मानते हैं तथा उसके विश्रान्त होने पर अर्थान्तर-प्रतीति को ध्वनि का विषय स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार वाच्य से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, यह ज्ञान प्रकरणसंवेद्य होता है, उसी प्रकार विभावानुभाव व्यभिचारी के द्वारा स्थायिभाव काव्य के वाक्यार्थ अथवा तात्पर्य के रूप में संवेद्य होता हैं अर्थात् स्थायिभाव वाच्य बुद्धिस्थ रूप में विभाववादि से युक्त हो कर रस-रूप में परिणत होता है।[1]

लोल्लट की सरणि पर रस का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते हुए धनंजय उसे मूलत: आस्वादपरक ही स्वीकार करते हैं। ‘आनीयमान: स्वाद्यत्वम्[2]’ से स्पष्ट है कि स्थायिभाव का उपचित रूप रस आस्वादन का विषय है,

---

[1] वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥
दशरूपकम् (चौखम्बा-१९६७) पृ० २४५-४६

[2] वही- ४/१, पृ० १८२

किन्तु उपचार-वश उसे आस्वाद रूप कहा जाता है। पुनः, धनिक की, निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः' की व्याख्या में निहित रस की वस्तु-निष्ठता क्रमशः विषयि-निष्ठता की ओर उन्मुख होती हुई रसानुभूति के केन्द्र में सामाजिक को भी स्थापित करती है। "तेन रसिकाः समाजिकाः काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत्"[1] में स्पष्टतः रसिक रसानुभवकर्ता मात्र ही नहीं रस का अधिष्ठान भी है।

अनुभूति को काव्यास्वाद के मूल में स्थापित करते हुए धनिक संगीत और काव्य-कला का अन्तर स्पष्ट करते हैं। संगीत में पद या वाक्य अनावश्यक होते हैं, अतः वाच्य और वाचक सम्बन्ध का विशेष उपयोग नहीं हो पाता, जबकि काव्य में पद स्थानीय विभावादि और वाक्य-स्थानीय में स्थायी होने के कारण विशिष्ट विभावादि सामग्री के परिज्ञाता की आवश्यकता बनी रहती है। विशिष्ट विभावादि का बोध रखने वाले तथा रत्यादि भावों से युक्त कुछ विशिष्ट सहृदयों को ही रसपरक आनन्द की अनुभूति होती है। अरसिक विभावादि के ज्ञान से शून्य होने के कारण रसास्वाद के अधिकारी नहीं हैं।[2] इससे यह निष्कर्ष निकालना अप्रासंगिक न होगा कि धनिक की सहृदयविषयक अवधारणा अभिनव की ही सहृदयविषयक दृष्टि का अनुमोदन करती है। इस संदर्भ में धनिक काव्य तथा सहृदय के अन्तःसम्बन्ध को एक अन्य स्तर पर भी व्याख्यायित करते हैं। यह स्तर भट्टनायक के भावना-व्यापार का है। काव्य भावक है और रस भाव्य है तथा ये दोनों सहृदय द्वारा भावना के विषय बनाये जाते हैं। 'काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते[3]।' यह भावना व्यापार केवल काव्य में ही नहीं, मीमांसा इत्यादि में भी देखा जाता है। मीमांसकों ने भावना क्रिया में भाव्य-भावक सम्बन्ध माना है। मीमांसक यागादि क्रिया रूप कारण के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति रूप कार्य की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। इसमें यागादि क्रिया भावक तथा स्वर्गप्राप्ति भाव्य है। काव्य में भी भावक पदों के प्रयोग से ही रस

---

१. वही, पृ० वही

२. विशिष्ट विभावादिसामग्री विदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूतेः। (दशरूपकम् पृ० २४८)

३. दशरूपकम् पृ० २५२

की भावना होती है ।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भावक-भाव्य सम्बन्ध भट्टनायक का उपजीवी है, किन्तु इस सम्बन्ध की स्वीकृति यहाँ शंकुक के अनुमितिवाद के धरातल पर है । प्रश्न यह है कि पदों से स्थायिभावों का परिज्ञान किस प्रकार होता है ? इसका समाधान भावनावादी इस प्रकार देते हैं कि संसार में प्रणयी युगल में जिस प्रकार प्रणय भावों की बोधक चेष्टाएं दृष्टिगोचर होती हैं, वैसी ही काव्य में भी उपनिबद्ध होती हैं ।[2] इन चेष्टाओं के द्योतक शब्दों को सुनने से उस अनुभूति का साक्षात्कार हो जाता है । स्पष्टतः इस अवधारणा में यदि मौलिकता है तो वह भट्टनायक तथा शंकुक के सिद्धान्तों के समवन्य में ही लक्षित होती है । फिर भी यह प्रतीत अवश्य होता है कि धनिक किसी नई अवधारणा की ओर संकेत कर रहे हैं । यह अवधारणा चित्रतुरग-न्याय की नई व्याख्या है जो सहृदय के अनुभव-संसार तथा काव्य-परिवेश के अन्तःसम्बन्ध को क्रीडापरक अवधारणा के आधार पर विश्लेषित करती है ।

आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त में काव्यास्वाद की क्रीडापरक व्याख्या का भी एक आयाम जुड़ा है, किन्तु उल्लेखनीय यह है कि इस व्याख्या पर भी धनिक मूलतः भट्टनायक तथा शंकुक की अवधारणाओं को समन्वित करके ही पहुँचे थे । अतः उन अवधारणाओं का पुनरवलोकन उसी अर्थवत्ता का संकेत दे सकता है । भट्टनायक ने अनुकार्यगत रस का निषेध करने के अनन्तर ही साधारणीकरण की अवधारणा प्रस्तुत की है । धनंजय का कथन है कि रस मूलतः रसिकनिष्ठ है, उसका अनुकार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि अनुकार्य रसानुभूति के क्षण में विद्यमान नहीं रहता[3], अतीत के क्रोड में लुप्त हो जाता है । दूसरा तथ्य यह है कि रसानुभूति अनुकार्य को नहीं सहृदय को होती है । अतः यह भावक का अनुभूत संवेद्य है । यदि अनुकार्य में रसस्थिति मानी जाए तो लौकिक शृंगार की भाँति एक प्रणयी युगल की प्रणयचर्या मात्र लज्जा,

---

[1] भावनाक्रियावादिभिस्तथांगीकृतत्वात् (वही, पृ० २५२)

[2] लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाऽविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः ।

(वही, पृ० २५३)

[3] नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः । (दशरूपकम् पृ० २५३)

ईर्ष्या राग अथवा द्वेष को ही उद्बुद्ध कर सकती है।[1] सामाजिक अपने विशिष्ट संस्कार के कारण भी अनुकार्यस्थ रति का आस्वाद नहीं ले सकता, किन्तु रसानुभूति की वास्तविक सत्ता है और यह सत्ता शब्द के माध्यम से आकार ग्रहण करती है। इस प्रकार धनंजय भी लौकिक शृंगार, आराध्यत्व के प्रतिबन्धन[2] तथा अनुकार्य की वर्तमान क्षण में अविद्यमानता को दृष्टि में रख कर साधारणीकरण की आवश्यकता की ओर इंगित करते हैं। काव्यास्वाद की विशिष्टता यह है कि वह सहृदय की अनुभूति के लौकिक ईर्ष्या राग इत्यादि से मुक्त होकर निर्विशेषीकृत रूप में उसके अनुभव क्षेत्र में संक्रमित होता है। धनिक का तर्क है कि काव्य वर्ण्य अथवा नाटक में दृश्यमान पात्र अपने मौलिक रूप में जिस प्रकार आचरण करते थे, इसका अनुसंधान कवि का लक्ष्य नहीं है। कवि योगी नहीं है कि समाधि में ध्यानस्थ हो कर उनकी तत्कालीन अवस्थाओं का इतिहासकार की भाँति यथा-तथ्य विवरण प्रस्तुत करे। वस्तुतः काव्य इतिहास नहीं है, इतिहास का सर्जनात्मक पुनर्भावन है।[3] तात्पर्य यह है कि कवि कल्पना से रामादि की धीरोदात्तादि अवस्थाओं[4] को लोकसंवेद्य धरातल पर प्रस्तुत करता है। वह उनकी लोकमात्र सामान्यता का भावना द्वारा पुनः साक्षात्कार करता है[5] तथा निर्विशेषीकृत स्तर पर सम्प्रेषणीय बनाता हैं। अरस्तु ने भी

---

१. यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृंगारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शनेन लौकिके इव नायके शृंगारिणि स्वकान्तासंयुक्तं दृश्यमाने शृंगारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन्। दशरूपकम् (अवलोक) पृ० २५५

२. कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेन अविरोधः ? दशरूपकम् (अवलोक) पृ० २५५

३. नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामदीनामवस्थामितिहासवदुपानिबध्नन्ति, (अवलोक, द०रू०, पृ० २५५-५६)
तुलनीय - न हि महाकविभिर्वाल्मीकिप्रमुखैरिव ध्यानदृष्टया रामादीनामवस्थाः प्रातिस्विका निरूप्यन्ते. किन्तु रामादिकमाश्रयतया परिकल्प्य स्वप्रतिभाप्रभावलब्धाः सर्वसाधारणा इति। कुमारस्वामी रत्नापण (प्रतापरुद्रीयम्‌मद्रास-१९७० पृ० १९०

४,५.सर्वलोकसाधारण्यात् स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधयो धीरोदात्ताद्यवस्थाः (वही- पृ० २५६)

ऐतिहासिक पात्रों में निहित सार्वभौम देशकालातीत तत्त्वों के सम्भावनात्मक पुनःसर्जन पर विचार किया है। अरस्तु का कथन है कि 'कवि का कर्त्तव्य-कर्म जो कुछ हो चुका है, उसका वर्णन करना नहीं है वरन् जो हो सकता है, जो सम्भाव्यता या आवश्यकता के नियम के आधीन सम्भव है, उसका वर्णन करना है।···परिणामतः काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। इसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की। सामान्य (सार्वभौम) से मेरा तात्पर्य यह है कि विशेष प्रकार का कोई व्यक्ति सम्भाव्यता अथवा आवश्यकता के नियम के अनुसार किस अवसर पर कैसे बातचीत या व्यवहार करेगा। नाम-रूप से विशिष्ट-व्यक्तियों के माध्यम से इसी सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होता है।'[1]

अरस्तु के इस कथन का तार्किक निष्कर्ष यही है कि काव्य सार्वभौम मानव-सत्य की सम्भाव्यता के आधार पर पुनः प्रतिष्ठा करता है। इस सम्भाव्यता में मानव के चरम आदर्शों का सामान्य स्तर निहित रहता है। धनंजय भी धीरोदात्त की परिकल्पना को इसी स्तर पर व्याख्यायित करते हैं। अनुकार्य का मौलिक रूप किसी भी प्रकार का हो सकता है; किन्तु कवि की परिकल्पना से पुनरुद्भावित हो कर वह धीरोदात्त आदि की जिस अवस्था का द्योतन करेगा, वह अवस्था वस्तु-सत्य के मूल में निहित, भाव-सत्य के पुनरनुसंधान का ही पर्याय है। आचार्य द्विवेदी ने 'धीर' विशेषण की व्याख्या करते हुए कहा है 'एक पुराना 'धीर' शब्द भी था जो 'धी' (सहज-बुद्धि, मनोभाव) शब्द से बनता था। इस शब्द से निष्पन्न 'धीर' शब्द का अर्थ होता था सहज बुद्धि वाला, मनोभाव-सम्पन्न। वह शब्द नाट्यपरंपरा में सुरक्षित रह गया है। 'धीर' का अर्थ है स्वाभाविक बोध-सम्पन्न। धीरोद्धत का अर्थ है स्वभावतः उद्धत। नाट्यदर्पणकार देवता और राक्षस आदि को धीरोद्धत कहते हैं। इस प्रकार उदात्त, प्रशान्त, ललित और उद्धत नायक स्वभाव से ही ऐसे होते हैं, इसलिए उनके साथ 'धीर' विशेषण लगाया जाता है'[2]। आचार्य द्विवेदी की इस परिकल्पना को धनंजय की धीरोदात्तविषयक अवधारणा के सामानान्तर रखना प्रासंगिक है। कवि ऐतिहासिक पात्र को प्रजातीय प्रतिदर्शों (आर्किटाइपल

---

[1] अरस्तु का काव्य (सम्पादक-डा० नगेन्द्र) इलाहाबाद-२०२३, पृ०२५-२६

[2] भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक का भूमिका-भाग, पृ० ४२

पेटर्न्स) के सामान्य बिम्ब के रूप में प्रस्तुत करता है। आदिकवि की रामसम्बन्धी परिकल्पना मानव के इन्हीं चरमादर्शों के प्रतीक के रूप में निर्मित हुई थी। इस परिकल्पना के अन्तर्गत ही धनंजय पात्र के निर्विशेषीकरण की संभावना व्यक्त करते हैं। जब ये पात्र अपने व्यक्तिनिष्ठ बिम्ब का परित्याग कर जीवन के चरमादर्श के रूप में पुनरनुसंधानित होते हैं तो अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से मुक्त होकर सामान्यीकृत अथवा साधारणीकृत हो जाते हैं **'ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः।'**[1] कुमार स्वामी का भी कथन है कि कवि जब मालती आदि विशेष पात्रों को प्रस्तुत करता है तो वे पात्र अपने वैशिष्ट्य से मुक्त होकर अनुभूति मात्र में पर्यवसित हो जाते हैं तथा सहृदय उसमें अपने अभीष्ट प्रिय पात्र का पुनः स्मरण कर सकता है।[2] धनंजय स्वकान्तास्मृति का संदर्भ तो नहीं उठाते, किन्तु यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि सीता जनकतनयात्व के वैशिष्ट्य से मुक्त होकर आराध्यत्व के प्रतिबंध से भी मुक्त हो जाती है। अतः प्रकारान्तर से सहृदय उसमें अपने आदर्श बिम्ब का पुनः साक्षात्कार कर सकता है। राम और सीता सामान्य प्रणयी-युग्म की भूमिका में उसकी चेतना में अवतरित होते हैं। **'तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः'**।[3]

इस चिन्तन के मूल में तर्कयुक्ति की एक विशिष्ट प्रेरणा है, जो भट्टनायक से प्रेरित उक्त मन्तव्य को शंकुक की अवधारणा की ओर मोड़ती है। उल्लेखनीय यह है कि धनंजय का विवेचन शंकुक के समान स्थिति का अति सरलीकरण नहीं करता। धनंजय अपनी संकल्पना को प्रख्यात पात्र तक ही सीमित नहीं रखते। सहृदय के अनुभूति क्षेत्र में अन्तर्भावित हो कर प्रख्यात अथवा उत्पाद्य, दोनों ही पात्र अपने मौलिक अस्तित्व में रूपान्तरित हो जाते हैं। स्थिति का एक कोण यह भी है कि कुछ पात्रों के प्रति आराध्यत्व की संकल्पना जुड़ी रहती है। उनके उस मौलिक आराध्य रूप को सुरक्षित रखते हुए एक स्तर पर प्रमाता को उनके अगम्यात्व के प्रतिबन्ध से मुक्ति दिलानी है तो दूसरे स्तर पर उनके प्रणय भाव का मौलिक रूप भी

---

[1] दशरूपकम् ४/४०, पृ० २५६

[2] सामान्यप्रतीतौ विशेषस्मरणमनयोरविनाभावमूलमित्यनुसंधेयम्।
(रत्नापण पृ० १६०)

[3] अवलोक पृ० २५६

अनुसंधेय है। धनंजय इसका समाधान अवास्तविक अनुभूति की आस्वाद—भूमिका पर करते हैं। (पंडित राज ने भावना-दोष के रूप में इसकी पुनर्व्याख्या की है।) धनंजय ने शंकुक से प्रेरणा ग्रहण कर काव्यास्वाद को कृत्रिम अनुभूति के अन्तर्गत एक विशिष्ट विन्यास के रूप में व्याख्यायित किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार बालक मिट्टी के बने हुए हाथी आदि से खेलते हुए उत्साह और आनन्द का अनुभव करते हैं तथा उन्हें वास्तविक हाथी समझ कर हृदयसंदाद स्थापित करते हैं, उसी प्रकार काव्य अथवा नाट्य के श्रोता प्रेक्षक भी शब्दोपहित अथवा अनुकृत पात्रों में प्रणय अथवा उत्साह आदि भावों की अभिव्यक्ति देख कर आनन्दित होते है।[1] पात्र की असत्यता काव्यास्वाद में व्याघात उपस्थित नहीं करती, अपितु लौकिक अनुभूति को अलौकिक अनूभूति में परिवर्तित कर देती है। तात्पर्य यह है कि धनंजय काव्यार्थ की आस्वाद्यता उसी भूमिका में स्वीकार करते हैं, जब वह सहृदय के द्वारा ज्ञायमान होकर उसके आत्मानन्द से समुद्भूत हो। सहृदय की मानसिकता ही विविध्र रसों के साक्षात्कार से विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप जैसी अवस्थाओं में परिणत होती है।[2] धनिक काव्यार्थ के अनुशीलन के साधारणीकरण को अभिनव के स्व-पर-सम्वन्ध के स्वीकार-परिहार की भूमिका पर भी व्याख्यायित करते हैं। काव्यार्थ के द्वारा सहृदय स्व तथा पर के विभाजन को भूल कर अनुकार्य की अवस्थाओं में तद्रूप हो जाता है। **विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः।**[3]

काव्यास्वाद की क्रीडावृत्ति के रूप में व्याख्यायित करने की परम्परा पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र में भी रही है। काण्ट, शिलर, स्पेंसर तथा कोनार्ड लेंज ने क्रीड़ा में सम्मोहन का विवेचन किया है। क्रीड़ा की प्रवृत्ति

---

[1] क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः॥
दशरूपकम् पृ० २५६

[2] स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥
वही, पृ० २५७

[3] अवलोक पृ० २५८

में ऐन्द्रिय सहज ज्ञान, जीवन-शक्ति तथा कल्पना का उद्देश्यहीन उपयोग होता है। क्रीड़ा में एक सहज आत्मसम्मोहन तथा भौतिक विभीषिका से अवास्तविक कल्पना जगत् में अन्तःपलायन का भाव पाया जाता है। क्रीड़ा भी कला की भाँति प्रयोजनातीत होती है। कोनार्ड लेंज तथा ग्रूस ने कलात्मक अनुभूति तथा सामान्य क्रीड़ा के सादृश्य को रेखांकित करते हुए कहा है कि कला और क्रीड़ा के माध्यम से मनुष्य आत्म-वंचना के अहेतुक आनन्दलोक में पहुँच जाता है।[1] किन्तु, कला तथा क्रीड़ा में एक विशिष्ट अन्तर भी है। क्रीडारत शिशु कोई सर्जना नहीं करता, वह केवल अपनी ऊर्जा का विसर्जन करता है जवकि कला में कल्पनात्मक सहानुभूति सक्रिय रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि धनंजय ने क्रीड़ा को विशुद्ध ऊर्जात्मक विस्फुरण अथवा अहेतुक विनोद के रूप में न देखकर पुनः सर्जना की उस भूमि में ही देखा है, जहाँ स्रष्टा अथवा प्रमाता आत्मास्वाद अथवा आत्मानुभूति से कलात्मक पुनःसर्जन करता है। यद्यपि धनंजय ने क्रीड़ा-वृत्ति के किसी दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक संदर्भ को अपनी अवधारणा के मूल में स्थापित नहीं किया है, किन्तु अनुकार्य के काव्योपहित स्वरूप के साथ प्रमाता के अन्तः सम्बन्ध की संकल्पना का एक विशिष्ट धरातल इस व्याख्या से उद्घाटित हुआ है।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि धनंजय अथवा धनिक ने सहृदय-निष्ठ रस की व्याख्या करते हुए वस्तुनिष्ठ काव्य-दृष्टि का ही परिचय दिया है। धनंजय विभावों की वस्तुनिष्ठ सार्थकता, भावों का परिज्ञान कराने एवं उन्हें पुष्ट करने में स्वीकार करते हैं। धनिक के अनुसार उनमें एक अतिशयता का गुण होता है[2] जो लौकिक अनुभूति को अतिक्रान्त कर उसे एक संभाव्यता की ओर अग्रसर करता है। यह अतिशयता जहाँ स्वरूप के स्तर पर विभावों को वैशिष्ट्य प्रदान करती है वहाँ समग्र प्रभाव के स्तर

---

१. ......play......is a conscious and voluntary self-deceptive activity, by means of which man provides himself and others with a disinterested pleasure.

The Earl of Listowel (Modern Aesthetics p. 24)

२. एवमयम् एवमियम् इत्यतिशयोक्तिरूपकादिकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः। (अवलोक पृ० १८३)

पर अनुभूति को सर्वजनसंवेद्य भी बनाती है। शब्दमयी सृष्टि में परिवर्तित होते ही विभावों की लौकिक वस्तुपरकता धूमिल पड़ जाती है तथा संवेदना का आभ्यन्तरीकरण हो जाता है[१]। परिणातमः विभाव बुद्धिस्थ हो कर वर्तमान एवं अतीत के कालिक तथा दिक्परक व्यवधान से मुक्त हो कर भावक की चेतना में पर्यवसित एवं प्रत्यक्षीकृत होते हैं[२]। लौकिक भाव एकान्त व्यक्तिनिष्ठ तथा प्रत्यक्ष संवेदनों से सम्पृक्त होने के कारण साधारणीकृत नहीं होते, किन्तु, शब्दोपहित अथवा अभिनीत होते ही वे केवल संसूचनात्मक नहीं रहते ; अपितु उनमें प्रमाता के भावों को वासित तथा उसके द्वारा अनुभव के स्तर पर ग्राहय होने की अद्भुत क्षमता आ जाती है[3]। ये अनुभव समानभूतिक स्तर पर स्वयं सामाजिक के अनुभव से अभिन्न हो जाते हैं। वस्तुतः धनिक का यह अनुभावन विभावों की अनुभूति का अज्ञात एवं अनायास आभ्यन्तरीकरण ही है। जिसे ली ने एम्पैथी कहा है[3]। धनिक के अनुसार भावों में जहाँ कवि की अनुभूति को सम्वेदनापरक रासायनिक प्रक्रिया में अनवरत विकसित रखने की स्वाभाविक शक्ति होती है[४],

---

१. अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मानां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरीवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता। अवलोक पृ० १८४

२. तदुक्तं भर्तृहरिणा-शब्दोपहितरूपास्तान्बुद्धेःविषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥
(वही पृ० १८४)

३. एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभायतां साक्षाद्भावकानामनुभवकर्मतयानुभुयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते। अवलोक पृ० १८६

३. Empathy signifies an experience in which one identifies himself with an object of perception and seems to participate in its physical sensations, especially in sensations to bodily posture and motion. Empathy is often described as 'an involuntary projection of ourselves in an object. (A Glossary of Literary Terms - Macmillan-1978 P. 46)

४. यत्तु 'रसान्भावयन्भावः, इति, कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भावः' इति च तत् अभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्।
(वही पृ० १८७-८८)

वहाँ भावक के हृदय को अनुवासित करना भी उनकी मूल प्रकृति के अन्तंगत ही है[1]।

भोजराज (११वीं शती पूर्वार्द्ध) सरस्वतीकण्ठाभरण, शृंगारप्रकाश

साधारणीकरण सिद्धान्त का भोज ने स्पष्ट रूप से विवेचन तो नही किया है[2], किन्तु अहंकार-सिद्धान्त, शृंगार को एकमात्र रस मानने की अवधारणा तथा भावना-व्यापार के विवेचन के संदर्भ में उन्होंने ऐसे अनेक संकेत दिए हैं, जिनके माध्यम से साधारणीकरण के परिकर वृत्त में आने वाले अनेक संदर्भों पर प्रकाश पड़ता है।

भोज के रस-चिन्तन में मौलिकता का उन्मेष उनकी रस की अभिमान अथवा अहंकारपरक व्याख्या में दिखाई पड़ता है। रस, अभिमान, अहंकार अथवा शृंगार भोज के अनुसार पर्याय ही हैं। प्राणियों की अन्तरात्मा में अहंकार की उद्भूति अदृष्ट के कारण होती है तथा यही आत्मा के सम्यक् गुणों के उन्मीलन का कारण है। निश्चय ही अहंकार कवि अथवा सहृदय की उस अहन्ता का पर्याय नहीं है, जिसका उन्मेष स्वगत प्रतीति के स्तर पर रस में बाधक होता है। यह तो जन्मानुबन्धि संस्कार[3] अथवा रागात्मक चेतना है, जो समप्रभावी संवेदनों से झंकृत होकर दुःख को भी सुख रूप में ग्रहण

---

१. सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः।
(वही) पृ० १८७

२. The principle of sadharanikarana is not stated anywhere expressly by Bhoja. (V. Raghavan) Bhoja's Srngara Prakasa, Madras-1963 P. 482

३. रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते॥
विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु।
आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते॥
(सरस्वतीकण्ठाभरणम् (जीवानन्द विद्यासागर कलिकाता-१८९४ ई० पृ० ५३८ (५/१२)

४. आत्मविशेषनिष्ठस्य उत्कृष्टादृष्टजन्मनः अनेकजन्मानुभवसंस्काराहितद्रढिम्नः। (राघवन) भोज शृंगारप्रकाश) पृ० ४०९ से उद्धृत)

कर अनुकूलवेदनीय बनाती है। इसी के योग से बाह्य परिवेश के क्षीण स्पन्दन भी काव्य की कमनीयता में परिणत होकर आस्वाद्य होते हैं। अतः व्याख्याकार भट्टनरसिंह का कथन है : **'येन रस्यते, येन अनुकूलवेदनीयतया दुःखमपि सुखत्वेन अभिमन्यते, येन रसिकैरहंक्रियते, येन श्रृंगम् उच्छ्रयो रीयते, स खलु तादृशोऽस्ति।'**[1]

'रसिकैरहंक्रियते' से स्पष्ट है कि अहंकार काव्य की सर्जन प्रक्रिया का ही बीज नहीं है, काव्यास्वाद की भी प्रेरणा-भूमि है। अभिनवगुप्त ने जिस **'सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवाद'**, कहा है, भोज ने उसे **'अनेकजन्मानुभवसंस्काराहितद्रढिम्नः'** के स्तर पर परिभाषित किया है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि यह रसानुभूति विशिष्ट अदृष्ट के कारण ही उत्पन्न होती है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति रसिक नहीं कहला सकता। स्पष्ट है कि भोज रसानुभूति का विवेचन सहृदय की जिस भूमिका के स्तर पर करते हैं, वह अभिजात संस्कारों की अत्यन्त परिष्कृत भूमि है। इसी से सम्बद्ध उनकी अहंकार संबंधी अवधारणा का यह सूत्र है, जो वासना-संवाद को एक सीमा तक व्याख्यायित करता हैं। मनोविश्लेषण में लिबिडो (फ्रायड) तथा एलेन वाइटल (जुंग) के अनेक सिद्धांत भोज की इस अवधारणा की समकक्षता में रखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि अहंकार सामान्य कोटि के लौकिक अभिमान से भिन्न विशेष धर्म है। भोज ने इसका विवेचन ऊर्जस्वित, रसवत् एवं प्रेयस् अलंकारों के परिप्रेक्ष्य में किया है। ऊर्जस्वी रूढाहंकार है। यह रस की पराकोटि तथा मूलभूत सोपान है। रसवत् मध्यमावस्था है, जिसमें अभिमान अनेकधा विभक्त होकर अनेक भावों में परिणत होता है। प्रेयस् की उत्तराकोटि में ये सब भाव समन्वित हो जाते हैं। **'प्रेयः प्रियतराख्यानम् इत्यनेन समस्तभावमूर्धाभिषिक्तायाः रतेः परप्रकर्षाधिगमाद् भावनाधिगमे भावरूपतामुल्लंघ्य प्रेमरूपेण परिणतायाः उपादानात् भावान्तराणामपि परप्रकर्षाधिगमे रसरूपेण परिणतिरिति ज्ञापयन् अहंकारस्य उत्तराकोटिम् उपलक्षयति।'**[2] इस प्रकार भोज केवल एक भाव प्रेम अथवा एक रस श्रृंगार की ही सत्ता स्वीकार करते हैं, जो रति, हास, उत्साह इत्यादि विविध भावों का परिणत रूप है, क्योंकि युद्ध, परिहास अथवा अमर्ष में मनुष्य इसलिए

---

१. -वही- पृ० ४०८ से उद्धृत।

२. सरस्वतीकण्ठाभरणम् (पूर्ववत्) पंचम परिच्छेद पृ० ७६०

प्रवृत्त होता है कि इनमें वह प्रियता की अनुभूति करता है। अलंकार-कौस्तुभकार कवि कर्णपूर के शब्दों में **'उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्ड-रसत्वतः। सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।'**[1]

स्पष्टत: भोज ने सम्पूर्ण अनुभूति-संघात को शृंगार में अन्तर्भूत कर रस की उस साधारणीकृत चेतना की ओर इंगित किया है, जिसमें विविध अनुभूतियाँ संश्लिष्ट होकर प्रमाता की अनुभूति को एक अखण्ड चेतना में पर्यवसित कर देती हैं।

शृंगारप्रकाश में भोज ने अभिमान, अहंकार एवं शृंगार रस के समीकरण की विशद व्याख्या की है। रस का अधिष्ठाता रसिक है तथा रसिक की आत्मा रस का आश्रय है। यह रसिक अनिवार्यत: प्रेक्षक अथवा सहृदय नहीं है, कवि तथा कथा के पात्र भी रसिक हैं। अहंकार के कारण ही रामादि पात्र में भाव उद्बुद्ध होते हैं। ये भाव ही रस हैं तथा इन भावों को अभिव्यक्त करने के कारण काव्य को भी रसाश्रय कहा जाता है। अन्यथा अचेतन होने के कारण शब्दार्थ-रूपात्मक काव्य को रस कहना उपचार मात्र है। इस प्रकार राम (पात्र) और कवि, दोनों रसवान् है। कवि और सहृदय समान हैं, अत: भोज का कथन है कि कवि यदि शृंगारी नहीं हैं, तो सम्पूर्ण जगत् नीरस हो जाएगा।[2] कहने का आशय यह है कि भोज की दृष्टि में रस केवल कवि एवं सहृदय के वस्तुनिष्ठ संबंध को ही द्योतित नहीं करता, अपितु उस हृदय-संवाद की भूमिका की ओर भी इंगित करता है, जो पात्र, पात्रों की विविध चित्तवृत्तियों की अनुक्रिया तथा रसिकों के द्वारा उन अनुक्रियाओं की आस्वाद्यता को संदर्भित करती है।[3] निश्चय ही यह रसिक सुसंस्कृत व्यक्ति है, उसी के रसत्व अथवा आत्म-शक्ति के कारण रसिक संज्ञा चरितार्थ होती

---

[1] अलंकारकौस्तुभ पृ० १४५/६

[2] शृंगारी चेत्कवि: काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥ सरस्वतीकण्ठाभरणम् ५/३, पृ० ५३८

[3] रसवतो रामादे: यद्वचनं तद् रसमूलत्वाद् रसवत्। अभेदसमध्यारोपाच्च कविना अनुक्रियमाणस्य तस्य अनुकरणमपि रसवत्। शृंगारप्रकाश, भाग-२, पृ० ३७०

कर अनुकूलवेदनीय बनाती है। इसी के योग से बाह्य परिवेश के क्षीण स्पन्दन भी काव्य की कमनीयता में परिणत होकर आस्वाद्य होते हैं। अतः व्याख्याकार भट्टनरसिंह का कथन है : **'येन रस्यते, येन अनुकूलवेदनीयतया दुःखमपि सुखत्वेन अभिमन्यते, येन रसिकैरहंक्रियते, येन शृंगम् उच्छ्रयो रीयते, स खलु तादृशोऽस्ति ।'**[1]

'रसिकैरहंक्रियते' से स्पष्ट है कि अहंकार काव्य की सर्जन प्रक्रिया का ही बीज नहीं है, काव्यास्वाद की भी प्रेरणा-भूमि है। अभिनवगुप्त ने जिस **'सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवाद'**, कहा है, भोज ने उसे **'अनेकजन्मानुभवसंस्काराहितद्रढिम्नः'** के स्तर पर परिभाषित किया है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि यह रसानुभूति विशिष्ट अदृष्ट के कारण ही उत्पन्न होती है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति रसिक नहीं कहला सकता। स्पष्ट है कि भोज रसानुभूति का विवेचन सहृदय की जिस भूमिका के स्तर पर करते हैं, वह अभिजात संस्कारों की अत्यन्त परिष्कृत भूमि है। इसी से सम्बद्ध उनकी अहंकार संबंधी अवधारणा का यह सूत्र है, जो वासना-संवाद को एक सीमा तक व्याख्यायित करता हैं। मनोविश्लेपण में लिबिडो (फ्रायड) तथा एलेन वाइटल (जुंग) के अनेक सिद्धांत भोज की इस अवधारणा की समकक्षता में रखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि अहंकार सामान्य कोटि के लौकिक अभिमान से भिन्न विशेष धर्म है। भोज ने इसका विवेचन ऊर्जस्वित, रसवत् एवं प्रेयस् अलंकारों के परिप्रेक्ष्य में किया है। ऊर्जस्वी रूढाहंकार है। यह रस की पराकोटि तथा मूलभूत सोपान है। रसवत् मध्यमावस्था है, जिसमें अभिमान अनेकधा विभक्त होकर अनेक भावों में परिणत होता है। प्रेयस् की उत्तराकोटि में ये सब भाव समन्वित हो जाते हैं। **'प्रेयः प्रियतराख्यानम् इत्यनेन समस्तभावमूर्धाभिषिक्तायाः रतेः परप्रकर्षाधिगमाद् भावनाधिगमे भावरूपतामुल्लंघ्य प्रेमरूपेण परिणतायाः उपादानात् भावान्तराणामपि परप्रकर्षाधिगमे रसरूपेण परिणतिरिति ज्ञापयन् अहंकारस्य उत्तराकोटिम् उपलक्षयति ।'**[2] इस प्रकार भोज केवल एक भाव प्रेम अथवा एक रस शृंगार की ही सत्ता स्वीकार करते हैं, जो रति, हास, उत्साह इत्यादि विविध भावों का परिणत रूप है, क्योंकि युद्ध, परिहास अथवा अमर्ष में मनुष्य इसलिए

---

१. -वही- पृ० ४०८ से उद्धृत।

२. सरस्वतीकण्ठाभरणम् (पूर्ववत्) पंचम परिच्छेद पृ० ७६०

प्रवृत्त होता है कि इनमें वह प्रियता की अनुभूति करता है। अलंकार-कौस्तुभकार कवि कर्णपूर के शब्दों में **'उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्ड-रसत्वतः। सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।'**[1]

स्पष्टतः भोज ने सम्पूर्ण अनुभूति-संघात को शृंगार में अन्तर्भूत कर रस की उस साधारणीकृत चेतना की ओर इंगित किया है, जिसमें विविध अनुभूतियाँ संश्लिष्ट होकर प्रमाता की अनुभूति को एक अखण्ड चेतना में पर्यवसित कर देती हैं।

शृंगारप्रकाश में भोज ने अभिमान, अहंकार एवं शृंगार रस के समीकरण की विशद व्याख्या की है। रस का अधिष्ठाता रसिक है तथा रसिक की आत्मा रस का आश्रय है। यह रसिक अनिवार्यतः प्रेक्षक अथवा सहृदय नहीं है, कवि तथा कथा के पात्र भी रसिक हैं। अहंकार के कारण ही रामादि पात्र में भाव उद्‌बुद्ध होते हैं। ये भाव ही रस हैं तथा इन भावों को अभिव्यक्त करने के कारण काव्य को भी रसाश्रय कहा जाता है। अन्यथा अचेतन होने के कारण शब्दार्थ-रूपात्मक काव्य को रस कहना उपचार मात्र है। इस प्रकार राम (पात्र) और कवि, दोनों रसवान् है। कवि और सहृदय समान हैं, अतः भोज का कथन है कि कवि यदि शृंगारी नहीं हैं, तो सम्पूर्ण जगत् नीरस हो जाएगा।[2] कहने का आशय यह है कि भोज की दृष्टि में रस केवल कवि एवं सहृदय के वस्तुनिष्ठ संबंध को ही द्योतित नहीं करता, अपितु उस हृदय-संवाद की भूमिका की ओर भी इंगित करता है, जो पात्र, पात्रों की विविध चित्तवृत्तियों की अनुक्रिया तथा रसिकों के द्वारा उन अनुक्रियाओं की आस्वाद्यता को संदर्भित करती है।[3] निश्चय ही यह रसिक सुसंस्कृत व्यक्ति है, उसी के रसत्व अथवा आत्म-शक्ति के कारण रसिक संज्ञा चरितार्थ होती

---

[1] अलंकारकौस्तुभ पृ० १४५/६

[2] शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥ सरस्वतीकण्ठाभरणम् ५/३, पृ० ५३८

[3] रसवतो रामादेः यद्वचनं तद् रसमूलत्वाद् रसवत्। अभेदसमध्यारोपाच्च कविना अनुक्रियमाणस्य तस्य अनुकरणमपि रसवत्। शृंगारप्रकाश, भाग-२, पृ० ३७०

है। भोज ने स्पष्ट कहा है कि सभी व्यक्ति अहंकार अथवा शृंगार से युक्त नहीं होते। इसके मूल में जन्मानुबंधी संस्कारों की दृढ़ परम्परा अपेक्षित है।

भोज की भावनासंबंधी अवधारणा भी रस, अहंकार तथा शृंगार के समीकरण की भूमिका निर्मित करती है। भावना से भोज का आशय एक ऐसी अनुचिन्तनात्मक अथवा कल्पनात्मक प्रक्रिया से है, जिसमें भावों का पुनः पुनः चिन्तन होता है। इस पुनः चिन्तन के द्वारा ही रसिक के हृदय में रस संक्रान्त होता है। प्रकर्ष को प्राप्त भाव, भाव ही रहते हैं, किन्तु रस भावना की सीमा का अतिक्रमण कर सर्वातिशायी और असीम हो जाता है। कहने का आशय यह है कि रति, हास आदि भाव नाना रूपों में भावना पथ में ही विचरण करते हैं। उनका पुनः पुनः अनुचिन्तन जब तक उन्हें एक अखण्ड अनुभूति में परिणत नहीं कर देता, तब तक वे भाव ही रहते हैं, किन्तु जब भावना पथ से अतीत होकर रस अहंकार के रूप में हृदय के द्वारा आस्वाद्य होता है, तभी उसकी रस संज्ञा सार्थक होती है। तात्पर्य यह है कि भावनासम्बन्धी भोज की अवधारणा का भट्टनायक की भावना विषयक संकल्पना से यह साम्य साधारणीकरणविषयक भोज के अभिमत को भी व्यंजित करता है। जैसा कि राघवन का कथन है[1] कि भट्टनायक की सत्त्वगुण तथा रस को आस्वादपरक आनन्द-भूमिका भोज के सिद्धान्त में स्थान ग्रहण करती है। भोज के अनुसार जब अनुभूति आत्मा में संक्रान्त होती है, तभी रस कही जाती है। यह आस्वाद सत्त्वगुण-जन्य है। अतः इसमें भट्टनायक के भोजकत्व सिद्धांत का सादृश्य देखा जा सकता हैं। ये भाव प्रकर्ष को प्राप्त होने पर भी भाव हैं, किन्तु भावना पथ का अतिक्रमण कर रस संज्ञा को प्राप्त करते हैं।

आभावनोदयमनन्यधिया जनेन यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः साहंकृते हृदि परं स्वदते रसोऽसौ ॥[2]

---

[1] Bhoja's theory shows affinities to Bhatta Nayaka's theory. Bhatta Nayaka it is who analysed Bharata's description of Bhavas and Bharata's Vyutpatti of the word Bhava and arrived at a power in poetic and dramatic expression called Bhavana, (V. Raghavan) Bhoja's Srngara Prakasa p. 482

[2] शृंगारप्रकाश, भाग-२, पृ० ३६७/८ (राघवन पृ० ४६२ से उधृत)

भोज ने इस भावना-प्रक्रिया के द्वारा ही रसास्वाद की प्रक्रिया को निर्मित किया है। कवि प्रबन्धगत वर्णन के द्वारा विषय-वस्तु को सामाजिक की मानसिक भूमिका में संक्रमित करता है। फलतः सामाजिक की भावना उद्बुद्ध हो जाती है तथा वह अनन्य मन से एकाग्र होकर रत्यादिभावित भावों में तल्लीन हो जाता है। पुनः इस भावोदय की भूमिका का अतिक्रमण कर वह अहंकार तत्त्व में अवस्थित क्षेत्र में पहुँचता है तथा आत्म-शक्ति के द्वारा उस अहंकार तत्त्व को आस्वाद का रूप देता है।[1] यह रूप ही शृंगार है। कहने का आशय यह है कि शृंगारात्मक अखण्ड अनुभूति अभिमान तत्त्व का ही परिणत रूप है। इस प्रक्रिया में विभिन्न भावों का रत्यादि भावों में पर्यवसान दिखाकर भोज शृंगार की जिस अद्वैत भूमि का निर्माण करते हैं, वह साधारणीकरण की अद्वैत चेतना ही है, जिसके मूल में हास्य, रौद्र, वीर सभी प्रीतिकर अनुभूति में पर्यवसित होकर शृंगार के विवर्त प्रतीत होते हैं।

महिमभट्ट (१००० ई० के लगभग) व्यक्तिविवेक

काव्यानुभूति प्रमाता में क्षणिक उत्तेजना या गलदश्रुराग-विह्वलता उत्पन्न न करके उसकी निर्णय शक्ति एवं चिन्तन को भी उद्बुद्ध करती है, फलतः महिमभट्ट रस को काव्य की आत्मा एवं चरम प्रयोजन स्वीकार करते हुए भी रसानुभूति को मूलतः अनुमान-प्रक्रिया के अन्दर ही विश्लेपित करते हैं।[2] महिम की अनुमान-प्रक्रिया एकांत तर्काश्रित घटना नहीं है, अपितु वह विभावन-प्रक्रिया में निहित उस पौर्वापर्यक्रम की ओर इंगित करती है, जिसमें भावानुभूति के बीच प्रमाता की बौद्धिक चेतना भी सजग रहती है। कुमार

---

[1] समस्तभावमूर्धाभिषिक्ताया रतेः परप्रकर्षाधिगमाद् भावनापथातिक्रमे भावरूपतामुल्लंघ्य प्रेमरूपेण परिणतायाः उपादानाद् भावान्तराणामपि परप्रकर्षाधिगमे रसरूपेण परिणतिरिति ज्ञापयन् अहंकारस्य उत्तरां कोटिमुपलक्षयति।

- वही - पृ० वही

[2] यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भावमर्हतीति।··· ते हि रत्यादीनां भावानां कार्यकारणसहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीन् निष्पादयन्ति, त एव हि प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। इत्यवश्यंभावी तत्प्रतीतिक्रमः।

संभव में वसंत पुष्पों से अलंकृत पार्वती का बिम्ब प्रमाता की शृंगार चेतना को ही उद्बुद्ध नहीं करता, आगामी त्रासद घटना के लिए वह वैषम्यमूलक भूमिका भी निर्मित करता है, जिसमें प्रेम और काम को ध्वस्त करने वाली निवृत्ति-साधना स्वयं ध्वस्त होकर राग-चेतना में विकास पाती है। विसंगति का यह प्रभाव चिन्तन क्रम के द्वारा उद्घाटित होता है जिसकी परिणति इस भाव-सत्य के उन्मीलन में है कि किसी भी क्षण कुछ भी घटित हो सकता है। सब कुछ संभावना की सामान्य कार्यकारणमूलक संकल्पना से नियंत्रित नहीं है।[1]

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि महिमभट्ट ने विभाव एवं रति की सहभाव प्रतीति को अस्वीकार कर जिस साध्य-साधन क्रम की (अनुभूति की) अवधारणा प्रस्तुत की है, वह नाट्य-चिन्तन की इस नव्य धारणा को भी पुष्ट करती है कि पात्र क्रमशः प्रमाता की चेतना में अवतीर्ण होते हैं।[2] विविध अन्तःसम्बन्धों के क्रमिक उन्मीलन में ही वे कथ्य की आभ्यन्तर संभावनाओं को संप्रेषित करते हैं।

महिम की दृष्टि में बौद्धिक सजगता काव्यानुभूति का अपेक्षित प्रतिमान है। अभ्यस्त प्रमाता ही व्याप्ति-ग्रहण में समर्थ होता है। अनुभूति का एक क्षीण सा स्पन्दन (वाच्य) काव्य के मर्मज्ञ के सम्मुख कार्यकारण की सम्पूर्ण शृंखला को मूर्त कर देता है।

तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः।
ख्याप्येते विदुषां वाच्यौ हेतुरेव च केवलः॥[3]

---

१. Cf : Here too the audience can ask what is going to happen next but than anything may happen, so that the answer to this question can not be worked out according to the rules of ordinary probability.
(Martin Eselin) the Theatre of the Absurd, p. 406)

२. Cf : Then the character's responsibility towards others, his place in a family, his relationship to a social group, moves into the field of the spectator's consciousness.
(J L Styan) op. cit. p. 252.

३. व्यक्ति-विवेक (चौखम्बा १९६४) पृ० ६९

महिम के रस-चिन्तन की मूल-शक्ति इसी अवधारणा में निहित है कि काव्यानुभूति मूलतः एक संज्ञानात्मक प्रक्रिया है, जिसमें पौर्वापर्यक्रम निहित रहता है। ध्वनिकार के कथन में भी संलक्ष्यक्रम के गर्भितार्थ निहित हैं। प्रदीप के समान अर्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही अर्थान्तर में परिणत होता है। घटादि का बोध करा देने के अनन्तर प्रदीप का प्रकाश समाप्त नहीं हो जाता, प्रदीप को भी प्रकाशित करता रहता है। इसी प्रकार व्यंग्य के प्रतीयमान होने पर वाच्यार्थ का बोध लुप्त नहीं होता, अविनाभाव से उसे आलोकित करता है[1]। वस्तुतः: गम्य-गमक भाव की स्वीकृति वाच्य और प्रतीयमान अर्थों के प्रतीतिक्रम का ही साक्ष्य देती है। अतः विभावादि के प्रतीत होने पर रस की जिस अविनाभाव से अनुभूति होती है, उसमें कार्य-कारण क्रम निहित अवश्य रहता है, किन्तु वह लक्षित नहीं होता। वाच्य और प्रतीयमान का व्यंग्य-व्यंजक क्रम लिंगलिंगी भाव सम्बन्ध ही है; किन्तु काव्य में साध्य और हेतु का तर्क-शास्त्र निरूपित क्रम अपेक्षित नहीं होता। व्याप्तिमूलक दृष्टांत काव्य की सीमा में नहीं आते। इस संदर्भ में व्याख्याकार रुय्यक का कथन है कि काव्यानुमान तर्कानुमान से विलक्षण है, चमत्कार ही उसका सार है[2]।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अनुमान-प्रक्रिया भी मूलतः साधारणीकरण की उस प्रक्रिया को ही रेखांकित करती है, जिसके विषय में अभिनव का कथन है कि साधारणीकरण परिमित नहीं होता, अपितु धूम और अग्नि की व्याप्ति के समान व्यापक होता है तथा देशकाल आदि के नियामक तत्त्वों से मुक्त होकर साधारणीकरण पुष्ट होता है। **'तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्। अपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः। भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति।'**[3]

व्याप्तिग्रहण की प्रच्छन्न स्वीकृति अभिनव के मन्तव्य में भी है। मूल तथ्य यह है कि देशकालपरक प्रतिबन्ध विशिष्ट व्यक्तियों और लौकिक

---

१. -वही- पृ० ६६

२. काव्यानुमानं तर्कानुमानविलक्षणं काव्यस्य चमत्कारसारत्वात्।

३. नाट्यशास्त्रम् भाग-१, पृ० २७९

स्थितियों की ही अवतारणा करते हैं, किंतु काव्य-भूमि में त्रासक और त्रस्त का भय-कम्प दुष्यन्त और हरिण तक ही सीमित न रहकर सामान्यीकरण की व्यापक भूमिका में पहुँच जाता है। आशय यह है कि काव्य में निहित व्याप्तिसंबंध लौकिक व्याप्ति संबंध से इस अर्थ में भिन्न है कि लोक में हेतु और साध्य अवास्तविक तथा देशकाल के बन्धन से एकान्तमुक्त नहीं होते। महिम भी काव्य के व्याप्तिसंबंध अथवा गम्यगमकभाव की लौकिक अनुमान-प्रक्रिया से भिन्नता स्वीकार करते हैं।[1]

लोकानुभूति एवं काव्यानुभूति में अन्तर स्पष्ट करते हुए महिमभट्ट प्रकारान्तर से इस तथ्य की ओर भी इंगित करते हैं कि रति आदि भावों की विशिष्ट स्थिति में सहृदयों को सुख नहीं मिल सकता। ननु कुतोऽयंरत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वादसम्भवः।[2] लोक में भी अश्रु आदि को देखकर साध्यभूत शोक आदि का अनुमान होता है, तथा व्यक्तित्वांश के तिरोहित न होने से उनसे शोक और दौर्मनस्यादि की अनुभूति हो सकती है। यह प्रश्न उन्होंने पूर्व पक्ष के रूप में उठाया है, किन्तु इस तथ्य से उनकी पूर्ण सहमति है कि काव्य का एक मौलिक स्वभाव है जो लोक स्वभाव से भिन्न विभावन व्यापार की सृष्टि हैं। अतः लौकिक हेतुओं की अपेक्षा विभावादि गुणात्मक स्तर पर भिन्न होते हैं तथा उनके द्वारा भावों का अनुभव ही रसास्वाद है और यही सहृदयों द्वारा संवेद्य हैं।[3] स्पष्टतः यह साधारणीकरण के उस प्रमुख पक्ष की आवृत्ति है, जिसमें लौकिक अनुभव

---

१. तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव। काव्यविषये च वाक्यव्यंग्यप्रीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति।

तत्र हेत्वादिभिरकृत्रिमैरकृत्रिमा एव प्रत्याय्यन्ते। तत्रैषामनुमेयत्वमेव न व्यंग्यत्वगन्धोऽपीति, कुतस्तत्र सुखास्वादलवोऽपि सम्भवति। एष एव लोकतः काव्यादावतिशय इत्युपपद्यत एव रत्यादौ गम्ये सुखास्वादप्रयोजनो व्यंग्यत्वोपचार इति।

(व्यक्ति-विवेक पृ० ७८)

२. व्यक्ति-विवेक पृ० ७०

३. यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदयः (वही, पृ० ७०)

विशिष्ट मानसिक अन्तराल के द्वारा काव्यानुभूति में परिणत होता है। उन्होंने आनुवंश्य श्लोक में इसे परसंविद्गोचरता कहा है[1], जिसकी व्याख्या करते हुए रुय्यक कहते हैं कि यह अनुभव लोकोत्तर प्रतीति से अभिन्न है तथा अपने ज्ञान का आकार बनकर विषय रूप से स्फुरित होता हुआ परसंवेदन का विषय बनता है। 'तथाभूतः सन् परसंवित्तिगोचरः लोकोत्तरायाः प्रतीतेरभिन्नोऽपि साकारतया विषयत्वेन स्फुरन्नास्वादस्वभावः।'[2] स्पष्टतः यह चेतना की उस अतीन्द्रिय स्थिति का आस्वाद है जो वैयक्तिकता का अतिक्रमण करती हुई काव्य-वस्तु को एक ओर तो निषेधात्मक स्तर पर लौकिक प्रयोजनों अर्थात् देशकालपरक प्रतिबन्धों से मुक्त (निर्वैयक्तिक) करती है और दूसरी ओर धनात्मक दिशा में मानसिक अन्तराल के द्वारा उनका व्यक्ति-चेतना से मुक्त अनुभावन भी कराती है।[3]

लोक में जो रामादिनिष्ठ विशेष रत्यादि मानसिक अवस्थाएँ हैं, वे कवि-वर्णित अर्थ को आत्मसात् करके रसों को भावित कराती हैं। इसी स्तर पर महिम प्रत्यक्षानुभूति तथा काव्यानुभूति में अन्तर स्पष्ट करते हैं। प्रत्यक्ष साक्षात् संवेद्यमान अर्थ उतना चमत्कारपूर्ण नहीं होता, जितना कवि की वाणी में उद्भूत होकर वह सहृदयों को चमत्कृत करता है। वस्तुतः कवि की प्रतिभा द्वारा प्रस्तुत पदार्थों में सहृदय को भाव-तन्मय करने की अद्भुत शक्ति निहित होती है। प्रत्यक्ष पदार्थों से वह अनुभूति उतनी स्फुरित नहीं होती, जितनी अभिव्यंजना में रूपान्तरित होकर। प्रत्यक्षानुभूति का प्रश्न भट्टनायक ने स्वगत प्रतीति के संदर्भ में उठाया है। प्रत्यक्षानुभूति में स्रष्टा, द्रष्टा अथवा भोक्ता का व्यक्तित्व अनुभूति विषय से एकान्तमुक्त नहीं हो पाता। उसकी मानसिकता, राग, द्वेष, आस्था अथवा पूर्वाग्रह के अनेक स्तरों से संयुक्त

---

[1] भावसंयोजनाव्यंग्यपरसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥ (वही, पृ० ७०)

[2] वही, (विमर्श) पृ० ७१

[3] C.f. It has a negative, inhibitory aspect, the cutting out of the practical sides of things and of our practical atttitude to them-and a posit!ve side-the elaboration of the experience on the new basis created by the inhibitory action Distance. (Edward Bullough) Distance And Dehumanization P. 396

रहती है, किन्तु कवि प्रतिभा से अन्तर्भावित होकर वह अनुभूति रस रूप में भाव्यमान होती हैं। महिम का कथन है कि कवि शक्ति से समर्पित पदार्थों में सामाजिक को तन्मय कर देने की विलक्षण क्षमता होती है। इसका सम्भावित कारण यह है कि प्रत्यक्षानुभूति मूलतः भावना तथा कल्पना को देशकाल से नियंत्रित पदार्थों तक सीमित रखती है, जबकि अनुमान पर आश्रित अनुभूति प्रमाता की कल्पना को देशकालातीत संदर्भों में मुक्त कर देती है।

'कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल ॥' इति।[1]

महिम के अनुसार अनुमान वस्तु के बाह्य बोध मात्र में सीमित नहीं है। उसकी भूमिका काव्यार्थ की निःसीम व्यापकता से लेकर सहृदय की अन्तश्चेतना में निहित संस्कारों के पुनरनुसंधान एवं पुनरुद्बुद्धि तक व्याप्त है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अनुमान-प्रक्रिया के मूल में प्रमाता तथा काव्यार्थ के अन्तःसंबंध का निरूपण रागात्मकता तथा बौद्धिकता के विशिष्ट संधिस्थल पर है। वाच्यार्थ और अनुमेयार्थ में व्याप्ति-संबंध स्वीकार कर लेने पर एक ओर तो बोध का अनियंत्रित व्यापार औचित्य की सीमा में आ जाता है, दूसरी ओर अर्थ-बोध में पौर्वापर्य क्रम स्वीकार कर लेने पर उसमें रागतत्त्व के साथ बौद्धिकता के अनुषंग भी समाहित हो जाते हैं।

महिम ने इस प्रक्रिया को प्रतिविम्बकल्पा अनुभूति के स्तर पर व्याख्यायित किया है। कवि जब कृत्रिम विभावादि को स्थायिभाव में अन्तः प्रतिविम्बित कर अनुभूति का विषय बनाता है तो उसमें हृदय-संवाद की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। कहने का आशय यह है कि काव्यानुभूति (अथवा हृदयसंवाद) एक साथ दो ध्रुवों पर सक्रिय होती है। कवि तथा उसके अन्तश्चैतन्य से निःसृत काव्यार्थ उसका एक ध्रुव है तथा प्रमाता अथवा सहृदय का ग्रहणशील अन्तश्चेतन इसका दूसरा ध्रुव। अतः जो रति आदि भाव काव्यार्थ में उद्भिन्न होते हैं, उन्हीं के प्रतिविम्ब प्रमाता के हृदय में संस्कार रूप में पूर्वतः विद्यमान रहते हैं, उनके साक्षात्कार से वे

---

[1] व्यक्तिविवेक, पृ० ७५

उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। सहृदय अथवा प्रमाता अपने अन्तश्चैतन्य में निहित भाव संस्कारों को काव्यार्थ के भाव प्रतिविम्बों के द्वारा पुनरनुसंधान कर उनका आस्वाद लेता है। इस प्रकार इस प्रतिविम्बन के मूल में अन्तर्दर्शन की अनुभूति सक्रिय है, जिसमें प्रमाता अपने भाव संस्कारों का प्रतिविम्बकल्प अनुमानजन्य आस्वाद ग्रहण करता है। ये भाव प्रतिविम्ब अथवा मिथ्या हो सकते हैं, किन्तु प्रमाता में वे जो रसानुभूति जगाते हैं, वह वास्तविक होती है। अतः महिमभट्ट का कथन है कि विभावादि कृत्रिम एवं मिथ्या होते हुए भी प्रमाता के स्थायिभाव में निहित तुल्य प्रतिबिम्ब में संक्रांत कर दिए जाने पर वास्तविक तथा हृदय-संवाद के कारण आस्वाद्यता को प्राप्त होते हैं।[1]

इस अवधारणा को दृष्टि में रखकर यह कहना अब प्रासंगिक होगा कि अनुमिति का वस्तु-निष्ठ आधार लेकर भी महिम प्रमाता के भाव संस्कारों को कम महत्त्व नहीं देते। नायक अथवा नायिका का चरित्र काव्य अथवा नाटक में वर्णित होकर तब तक मिथ्या एवं कृत्रिम रहता है, जब तक सहृदय की मानसिक भूमि में पुनरनुसंधानित होकर उसकी अनुभूति का विषय नहीं बन जाता। एक स्तर पर यह कवि-प्रयुक्त भावमय भाषा अथवा अभिव्यंजना कौशल का भी परिणाम है जिसके माध्यम से कवि का संवेद्य पाठक या प्रेक्षक में समान अनुभूति जगाता है। इस प्रकार कवि अथवा अनुकर्ता द्वारा प्रस्तुत किए गए कृत्रिम स्थायी एवं विभाव प्रमाता अथवा सामाजिक द्वारा अनुभूयमान होकर मात्र अनुकार्यनिष्ठ नहीं रहते, सामाजिक के संस्कार का अभिन्न अंग बन जाते हैं, जिन्हें महिम ने प्रतीति-परामर्श की संज्ञा से अभिधानित किया है। 'विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति व्यपदेशा मुख्यवृत्या उपपद्यन्त एव, तत्प्रीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविकः।'[2] स्पष्टतः परामर्श शब्द महिमभट्ट की रस-प्रक्रिया को सामाजिक के रागात्मक

---

[1] 'यतस्तैरैव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिविम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। न च कारणादिभिः कार्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः सहैव प्रकाशितुमुत्सहन्ते कार्यकारणाभावावसायस्यैवावसादप्रसंगात्।

(व्यक्ति-विवेक, पृ० ८३)

[2] व्यक्ति-विवेक पृ० ७४

संस्कारों के स्तर पर व्याख्यायित करता है।

परवर्ती चिन्तकों ने अनुमानवाद का खण्डन इस आधार पर किया है कि अनुमान में विशुद्ध हेतु आवश्यक है, जबकि काव्य में हेतु अवास्तविक होते हैं। अनुमान-प्रक्रिया में अनेकान्तिक विरुद्ध और अशुद्ध हेतुओं के कारण निःशेष-च्युत···श्लोक में आचार्यों ने चन्दनच्यवन, रागराहित्य आदि हेतुओं को सम्भोग मात्र का ज्ञापक न मानकर उनके अनुमापक-सम्बन्ध का निषेध किया है, वहाँ व्यंजनावादियों ने उपपत्ति सिद्धि के लिए ऐसी अनिवार्यता को अपेक्षित नहीं माना है। **एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ [उपपत्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तत् अदूषणम्।**[1] कहने की आवश्यकता नहीं, महिम शास्त्रीय एवं काव्यहेतुओं के द्विविध प्रयोगों में स्पष्ट अन्तर मान कर चलते हैं। सहृदयों के लिए गम्य और गमक की सत्यता का प्रश्न निरर्थक है। लोक में वास्तविक पदार्थों से अवास्तविक पदार्थों का बोध कराया जाता है। किन्तु उनकी अनुमेयता में व्यंग्यत्व का संस्पर्श न होने से उनमें सुखात्मक आस्वाद का अंश भी सम्भव नहीं होगा। **'तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव। काव्यविषये च वाच्यव्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यत इति।**'[2] रिचर्डस के अनुसार काव्य में विसंगति हेत्वाभास एवं अतिशयता का अनिवार्य संस्पर्श पाया जाता है। संवेग की वास्तविकता का सम्प्रेषण तथ्य की अवास्तविकता से धूमिल नहीं बनता, अधिक जीवन्त बन जाता है। वैज्ञानिक भाषा में अभ्युदेशनों की तार्किक संगति आवश्यक है, काव्य भाषा में यह महत्वहीन है।[3]

स्पष्टतः व्यंजना में निहित हेत्वाभास एवं विसंगति काव्य-तत्त्व के भावन में बाधक न होकर साधक ही हैं, वस्तुतः महिम यह स्वीकार करते हैं कि जब लौकिक अनुमान में अकृत्रिम पदार्थों से कृत्रिम पदार्थों का प्रत्यायन कराया जाता है, तो उनमें अनुमेयता तो होती है, किन्तु व्यंग्यत्व की अनुपस्थिति के

---

[1] काव्य प्रकाश (बालबोधिनी), पृ० २५१

[2] व्यक्ति-विवेक, पृ० ७८

[3] But for emotive language the widest differences in reference are of no importance if the further effects in attitude and emotion are of the required kind.

Principles of literary criticism p. 211

कारण उनकी अनुभूति एकान्ततः प्रीतिकर नहीं होती।[1] आशय यह है कि लोकानुभूति एवं काव्यानुभूति की स्पष्ट चेतना महिमभट्ट के रस-चिन्तन को अपने संदर्भ में विशिष्टता प्रदान करती है। इस आधार पर उनके योगदान का यदि मूल्यांकन करें तो उनके रस-निरूपण में मौलिकता के उन्मेष तथा विषय में उपस्थित जटिलताओं के सुलझाने के स्तुत्य प्रयास के वैशिष्ट्य को सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। 'रसनिष्पत्ति के विषय में महिमभट्ट की देन कम महत्त्व की नहीं है। ये प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने विभावादि के लौकिक हेत्वादि से पार्थक्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। और इस प्रकार काव्यानुभूति के लौकिक अनुभूति से सर्वथा भिन्न होने की प्राचीन आचार्यों की उक्तियों के लिए आधार का प्रतिपादन हो गया। मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों ने महिम की सरणि पर ही विभावादि की हेतुता का खण्डन किया है।'[2]

महिम ने यद्यपि साधारणीकरण का स्पष्ट विवेचन नहीं किया है, तथापि प्रमाता के भाव-संस्कार किस प्रकार कवि द्वारा समर्पित कृत्रिम विभावों के साक्षात्कार से उद्‌बुद्ध होकर प्रतिबिम्बकल्प नायक और नायिका को पुनरनुसंधानित करते हैं, यह प्रक्रिया स्वयं में साधारणीकरण की अवधारणा को ही प्रकारान्तर से रेखांकित करती है। प्रेक्षक उन्हीं भावों का आस्वाद करता है. जो उसके भाव-संस्कारों में निहित प्रतिविम्ब के अनुरूप काव्यादि से उद्‌बुद्ध होते हैं। परवर्ती चिन्तक विश्वेश्वर ने चमत्कार-चन्द्रिका में इस तथ्य की पुष्टि की है। प्रतिबिम्बवाद के समकक्ष महिम ने विभावादि के द्वारा असत्य रत्यादि के अनुभावात्मक परामर्श का आख्यान कर सामाजिक के भाव-संस्कार को एक नया आयाम दिया है। असत्यमूलक रत्यादि से वास्तविक काव्यानुभूति के अनुसंधान की प्रक्रिया का विवेचन भी साधारणीकरण की अवधारणा के परिकर में ही आता है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र (१२ वी शती का पूर्वार्द्ध) नाट्यदर्पण

रामचन्द्र गुणचन्द्र रसस्थिति को परमार्थ (लोक में) तथा अपरमाथ (काव्यनाटक इत्यादि लोकोत्तर) दोनों रूप में स्वीकार करते हैं। लोक में

---

१. व्यक्ति-विवेक पृ० ७८

२. डा० व्रजमोहन चतुर्वेदी (महिमभट्ट, (दिल्ली-१९६८) पृ० २२०)

तो विशेषनिष्ठता और सामान्यनिष्ठता दोनों संभव हैं, किन्तु काव्य-नाट्य में सामान्यविषयक ही रसानुभूति होती है।

पूर्ववर्ती आलंकारिक नियतविषयता के अतिक्रमण के अनन्तर अनियतविषयता के स्तर पर साधारणीकरण को स्वीकृति प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में लौकिक तथा लोकोत्तर काव्य-भूमि में स्पष्ट विभाजक रेखा है, किन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्र रिचर्ड्स की भाँति ही लौकिक अनुभूति और काव्यानुभूति को गुणात्मक स्तर पर भिन्न नहीं मानते।[1] रिचर्ड्स के अनुसार सामान्य अनुभूति की अपेक्षा काव्यानुभूति में अनुभूतियों का सामंजस्य अधिक व्यापक होता है, उसमें आवेग अधिक मात्रा में परितृप्त होते हैं, फलतः हम वस्तुओं को अधिक निर्विशेषता और व्यापकता से देख सकते हैं तथा इतर उपादानों से असंपृक्त हो जाते हैं।[2] काव्यानुभूति के क्षण में अनुभूतियों की सामान्य प्रकृति उभर आती हैं और इसी के समानान्तर हमारी अभिप्रवृत्ति निर्वैयक्तिक हो जाती हैं। विविध आवेग व्यवस्थित और संघनित हो जाते हैं। नाट्यदर्पणकार का कथन है कि लौकिक चित्तवृत्तियाँ ही विशिष्ट रूप में अन्वित होकर रस रूप में परिणत होती हैं। चित्तवृत्तिविशेषो हि रसः। लौकिक चित्तवृत्ति की अपेक्षा कलात्मक अभिप्रवृत्ति में अन्तर यह है कि एक व्यक्ति की अनुभूति दूसरे की अनुभूति में बाधक नहीं होती और न वह अनुभूतियों के संघात और उनके सामंजस्य को आघात पहुंचाती है, उसमें विशेषता की अपेक्षा सामान्यता उद्बुद्ध हो जाती है।[3]

नाट्यदर्पणकार का यह सिद्धान्त कि किसी एक का रसास्वाद अन्य प्रमाताओं की रसानुभूति में बाधक न होकर ही बहुसाधारणत्व की ओर उन्मुख

---

[1] एवं च लोके काव्यं वा सर्वरसिकसाधारणो रसास्वादो···।
(ना० द० दिल्ली - १९६१, पृ० २९९)

[2] Our emotion assumes a more general character, and we find that correspondingly our attitude has become impersonal. The various impulses......have becomc further systematised and intensified.
(1.A. Richards Foundations of Aesthetice 2nd ed. p. 75)

[3] 'अभिनय-काव्यार्पितानां च विभावानां बहुसाधारणत्वाद् य एकस्य रसास्वादः सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा, इत्ययोगव्यवच्छेदेन न पुनरन्ययोगव्यवच्छेदेन। (नाट्यदर्पण पृ० २९८)

होता है, रिचर्ड्स की इस अवधारणा से साम्य रखता है कि कोई कृति अनेक मूल्यवान अनुक्रियाओं को प्रमाताओं के अनेक स्तरों पर घटित करती है। वह विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों को समीकृत करती है। नाट्यदर्पण-कार ने 'अन्ययोग-व्यवच्छेद' के सिद्धांत का सूत्रपात कर रसानुभूति के प्रमुख संदर्भ की ओर ध्यान आकर्षित किया है। काव्य-नाटक में एक का रसास्वाद दूसरे व्यक्तियों के रसास्वाद के निषेधक के रूप में नहीं होता। लोक में रसास्वाद विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित होता है, किन्तु काव्य का रसास्वाद साधारणीकृत होता है। प्रकारान्तर से नाट्य-दर्पणकार रसास्वाद में बहुसाधारणत्व पर बल देकर भी व्यक्ति-प्रमाता के एकान्तिक रसास्वाद की उपेक्षा नहीं करते। व्यक्ति प्रमाता उस अनुभव-खण्ड का समान भोक्ता है, वह अयोग-व्यवच्छेदेन उसका आस्वाद करता है। विभावन की प्रक्रिया के अन्दर वह पात्रों की मूल प्रकृति का क्रमशः अनुसंधान करता हुआ स्वयं को ही क्रमशः उद्घाटित करता चलता है। किन्तु यह आत्मानुसंधान मूल प्रकृति के अनुभूति-संश्लेष के अन्दर ही घटित होता है। अतः वह अन्य प्रमाताओं के रसास्वाद में बाधक नहीं होता। वह अन्य का प्रतिक्षेपक नहीं होता अर्थात् उसकी अनुभूतियों में स्वगतप्रतीतिमूलक रागद्वेष बाधक नहीं होते।

लौकिक रति में सामान्य और विशेष मूलक विभाजन होता है, किन्तु लोकानुभूति के स्तर पर सामान्य अनुभूति की प्रकृति काव्यानुभूति से भिन्न होती है, उसमें अनुभूतियों की समाहिति संघनित न होकर व्याहत होती हैं। एक वनिता का अनेक पुरुषों में अनुराग हो सकता है, किन्तु वह अनुभूतियों के उस सामंजस्य के प्रतिकूल होगा, जिससे पराकोटि को प्राप्त रति शृंगारता में परिणत होती है। उसकी अनियतविषयता अद्वन्द्वमयी समाहिति की अपेक्षा सामंजस्य की शिथिलता का आभास देती है।

यत्र तु परानुरक्तां वनितामवलम्ब्य सामान्यविषया रतिरुपचयमुपैति तत्र न नियतविषयः श्रृंगाररसास्वादः। विभावानां सामान्यविषये स्थाय्याविर्भावकत्वात्।[1]

उल्लेखनीय यह है कि सामान्यविषया लौकिक रति में भी नाट्य-दर्पणकार रसवत्ता का एकान्त निषेध करके नहीं चलते, पात्रों, विभावों तथा

---

[1] नाट्यदर्पण पृ० २९७

उनकी रति को रस-संज्ञा से अभिधानित करते हैं। यह स्पष्टत: प्राचीन शास्त्रीय परम्परा से भिन्न दृष्टि है। किन्तु जैसा हमने ऊपर स्पष्ट किया है, वे लौकिक तथा काव्यगत रसानुभूति में प्रकृतिगत अन्तर स्वीकार नहीं करते। वे सम्प्रेषणीयता के भिन्न माध्यमों तथा अनुभूतियों के सामंजस्य के स्तर पर उनमें गुणात्मक भेद करके चलते हैं। कवि की अभिव्यंजनाकौशल तथा नट के कलानैपुण्य का 'भिन्न माध्यम पाकर सामान्यानुभूति ही काव्यानुभूति में परिणत होकर प्रमाता की बुद्धि को सम्मोहित करती है एवं हृदयसंवादिता का अधिक व्यापक आयाम पाती है। दूसरा तथ्य अनुभूतियों के व्यापक सामंजस्य तथा उनकी अद्वन्द्वमयी प्रकृति से सम्बद्ध है। सामान्यानुभूति अन्य अनुभूतियों से निरन्तर व्याहत होती रहती है। उसमें रागद्वेष आदि का निरन्तर अनुप्रवेश होता रहता है। किन्तु काव्यानुभूति अन्ययोगव्यवच्छेदक होती है; अत: लोक की नियतविषया (विशेष रति) काव्य-भूमि में अनियत-विषया होकर साधारणीकृत होती है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि सामान्यविषया रति भी पुन: साधारणीकृत होती हैं।

लोक में नियतविषया रति विभावों के अविद्यमान होने पर स्मर्यमाण हो सकती है। उसमें व्यक्ति विशेष की मूर्ति ही स्मृति में उद्वेलित होगी।[1] काव्यास्वाद की एक कोटि यह भी हो सकती है कि 'पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशष आ आती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है, तो श्रृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी।[2] स्पष्टत: शुक्ल जी की अवधारणा लौकिक (परमार्थ) भूमि के काव्यास्वाद की साधारणीकृत भूमिका की ओर बाह्य स्तर पर गतिशील होती है, जबकि रामचन्द्र गुणचन्द्र रसानुभूति के इस व्यक्तिनिष्ठ आयाम को संकीर्ण काव्यास्वाद की भूमिका में रखते हैं। वे इस

---

[1] यत्र विभावा: परमार्थेन सन्त: प्रतिनियतविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति तत्र नियतविषयोल्लेखी रसास्वादप्रत्यय:। युवा हि रागवर्ती युवतिमवलम्ब्य तद्विषयामेव रतिं श्रृंगारतयास्वादयति (ना० द० पृ० २६६)

[2] चिन्तामणि भाग - १ पृ० २३०

तथ्य से परिचित हैं कि प्रमाता की भावना में स्मर्यमाण होकर विशेष की कल्पित मूर्ति उद्भूत होती है;[1] किन्तु यह प्रतिनियत-विषयता अपेक्षाकृत संकीर्ण विमावन है। वास्तविक विभावन व्यापार नाट्य-दर्पणकार के अनुसार अपरमार्थ स्तर पर घटित मानसी साक्षात्कारात्मिका वृत्ति जैसा है, जिसमें काव्य का अभिनय के द्वारा भावोपनीत पात्र (विभाव) काव्य के श्रोता अनुसंधाता और प्रेक्षक, तीनों के स्थायिभाव सामान्यविषयक रतिरूपता को प्राप्त होते हैं। यहाँ रसास्वाद में ममत्व, परत्व, सामान्य, विशेष का विभाजन अप्रासंगिक होता है।[2] स्पष्टतः यह काव्यानुभूति की परम व्यापक असंकीर्ण भूमि है, जिसमें नियतप्रमातृत्व का विगलन होकर विभावादि का भी साधारणीकरण होता है। राम का सीताविषयक श्रृंगार सीता से सम्बद्ध व्यक्तिविशेषपरक श्रृंगारानुभूति मात्र नहीं रहती, अपितु सामान्य स्त्री-विषयक रति में परिवर्तित हो जाती है।[3]

स्पष्टतः नाट्य-दर्पणकार साधारणीकरण की भट्टनायक द्वारा निरूपित अवधारणा स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु काव्यास्वाद और लोकानुभूति के अन्तः संबंध को वे जिस यथार्थ-मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं, उसमें अनुभूतियों के सामंजस्य के गुणात्मक कोटि क्रम की आधुनिक अवधारणा उनके चिन्तन को विशिष्ट बना देती है।

शारदातनय (तेरहवीं शती ईस्वी का मध्य) भावप्रकाशन

साधारणीकरण के सम्बन्ध में शारदातनय का मौलिक योगदान भट्टनायक के रसाभिमत का शैवदर्शन की पारिभाषिक पदावली में पुनः संस्कार है। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने कुछ ऐसे सूत्र दिये हैं, जिससे साधारणीकरण के इतर आयामों के पुनः परिष्कार का उपक्रम लक्षित होता है। भोजराज की भाँति शारदातनय भी अहंकार को रसमात्र में अनुस्यूत रहने वाले मूल

---

[1] नियतविषयस्मरणादिना स्थायिनः प्रतिनियतविषयतायां तु प्रतिनियत-विषय एव रसास्वादः। (ना० द० पृ०२९८)

[2] ये पुनरपरमार्थसन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते श्रोतृअनुसन्धातृ-प्रेक्षकाणां सामान्यविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति अत्र च विषयविभागानपेक्षी रसास्वादप्रत्ययः। (ना० द० २९८)

[3] अपि तु सामान्यस्त्रीविषयः (वही)

तत्त्व के रूप में परिभाषित करते हैं। अहंकार अथवा अभिमान शब्द के प्रयोग से इस तथ्य की ओर भी ध्यान जाता है कि रस की मूल प्रकृति आनन्दात्मक शृंगार को ही अनुभूति के केन्द्र में प्रतिष्ठित करती है। इस संदर्भ में शारदातनय का कथन है कि माधुर्य के समान कटुतिक्त आदि रस भी जिस प्रकार समय तथा व्यक्ति की विशेष रुचि एवं मानसिकता के अनुरूप आह्लाद प्रदान करते हैं, उसी प्रकार वीर करुण भयानक आदि रसों की नाट्यात्मक अथवा काव्यात्मक प्रस्तुति भी विभिन्न रुचि के श्रोताओं की विभिन्न अनुभूतियों को आन्दोलित करती हैं।[1] ये सभी प्रतीतियाँ भिन्न हो सकती हैं, किन्तु आह्लाद एवं आस्वाद का तत्त्व इन्हें एक सूत्र में अनुस्यूत करता हैं, क्योंकि रस मूलत: आह्लादस्वरूप है।[2]

रस नायक अथवा नायिका के अहंकार या अभिमान का आस्वाद है, जो गुणों तथा भावों के अनुरूप विविध रूपों में अभिव्यंजित होता हैं। जब नाट्य-प्रस्तुति के क्षण में प्रेक्षक भी नायक-नायिका की चित्तवृत्तियों से तादात्म्य कर उन्हीं की मानसिकता में अनुप्रवेश करते हैं तो पात्र-विशेष के प्रति अपने चित्त में अभिमान का उद्रेक होने पर वे भी रावण द्वारा संत्रस्ता सीता के कारुण्य या भीम और हनुमान के उत्साहोद्रेक का अनुभव करते हैं। इस प्रकार प्रेक्षक की मनोभूमियों में अहंकार की विविध विवृतियां विवर्तों के रूप में उद्भूत होती हैं। रस नायक-नायिका के अहंकार और अभिमान का ही प्रोद्भास हैं जो भाव और गुणों के अनुरूप विविध रूपों में प्रेक्षक की चित्तवृत्ति में संक्रांत होता है।

'प्रमदाद्यनुभावेन भावितो वासितो रसः।
तत्तद्रूपस्याभिनयैः सभ्येषु व्यज्यते स्फुटम् ।।

---

[1] यथा नृणां तु सर्वेषां सर्वेऽपि मधुरादयः।
मुक्ता रसात्मतां यान्ति देशकालादिभेदतः ।।
तथा जाता जनिष्यन्तो जायमानाः परस्परम्।
परस्परस्य सर्वत्र मित्रोदासीनशत्रवः ।।
तस्मात्सामाजिकैः स्वाद्या रसवाच्या भवन्ति ते।
प्रकृतीनां च भिन्नत्वादवस्थादिविभेदतः ।।
(भावप्रकाशन, बड़ौदा, १९६८, पृ० ४०)

[2] - वही - पृ० ४०

संवित्प्रकाशानन्दात्मा गम्यः स्यात्स्वानुभूतितः ।
अहंकाराभिमानात्मा बाह्यार्थेषु प्रकाशते ॥[1]

तथ्य यह है कि शृंगार आदि विविध रसों की अनुभूति में अहंकार ही कारण है तथा जिस प्रकार की मनोवृत्ति अथवा अनुभूति होती है, अहंकार या अभिमान उसी मनोभाव में परिवर्तित हो जाता है ।[2]

प्रेक्षकों का मन रजोगुण तथा सत्त्व गुण से युक्त होता है । रजोगुण के उद्रेक से ही वह सक्रिय होकर बाह्य वस्तु में प्रवृत्त होता है । बाह्य वस्तु के प्रति अहन्ता का भाव अभिमान है किन्तु यह अभिमान ममत्व की संकीर्ण परिधि में अनुभूति को केन्द्रित नहीं करता । वह दृश्य वस्तु के अनुरूप उसे वैविध्य का आयाम देता है । विविध रसों की अनुभूति मूलतः प्रेक्षकों की मनोवृत्ति अथवा अभिमान का ही विविध रूपों में विस्तार है ।[3] जहाँ तक प्रेक्षक द्वारा नाट्यानुभूति के ग्रहण करने का प्रश्न है, शारदातनय शंकुक की चित्रतुरग-न्याय पर आधृत अनुमानप्रक्रियाजन्य अनुभूति से सहमत नहीं हैं ।[4] शारदातनय प्रेक्षक की रसानुभूति के स्वरूप और प्रक्रिया के विवेचन में भट्टनायक की अभिधा भावकत्व और भोजकत्व के त्रिक का अनुसरण करते हैं, किन्तु रसानुभूति के परब्रह्मानन्दपरक स्वरूप में शैव दर्शन के अनुरूप किंचित् परिष्कार करते हैं । भट्टनायक के अनुसार यह व्यापार लौकिक स्मृति से विलक्षण लोकोत्तर रसानुभव है, जबकि शैव दर्शन के अनुरूप इसकी

---

१. भावप्रकाशन पृ० ४१

२. - वही - पृ० ४३
साऽभिमानात्मिका वृत्तिस्तत्त दिन्द्रियगोचरा ।
बाह्यार्थालम्बनवती शृंगारादिरसात्मताम् ॥
याति तत्र विभावादिभेदाद्भेदं प्रयाति च ।
विभावा ललिताः सत्त्वानुभावव्यभिचारिभिः ॥

३. यतोऽष्टधा मनोवृत्तिः सभ्यानां नाट्यकर्मणि ।
अष्टावेवानुभूयन्ते तासूडा (क्ता) स्तै रसाः पृथक् ॥
(भावप्रकाशन पृ० ४६)

४. चित्रै लिखितवस्तूनां मन्यन्ते कृत्रिमात्मताम् ।
सर्वेऽपि यत्ततश्चित्रतुरगात्मा न धीर्भवेत् ॥
नटादेश्चेतनत्वेन चित्रस्याचेतनत्वतः । (वही पृ० ५१)

लौकिक चेतना को एकदम विस्मृत नहीं किया जा सकता। प्रमाता मूलतः जीव की भूमिका में है तथा राग, विद्या और कला, इन तीन तत्त्वों से संसार के सुख-दुःखों का अनुभव करता है। अतः उसकी अनुभूति को एकान्त लोकोत्तर सुखात्मक अनुभूति नहीं कहा जा सकता।

जीव अपने लौकिक नित्यप्रति के जीवन में विविध अनुभूतियों का संग्रह करते हैं तथा रंगमंच अथवा काव्यपाठ में उन्हीं अनुभवों का साक्षात्कार करने के कारण उनके लौकिक संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। उस तन्मयता के क्षण में वे अपनी लौकिक अनुभूतियों को विस्मृत कर काव्य-वस्तु अथवा दृश्य-वस्तु से तदाकार हो जाते हैं। शारदातनय ने इस प्रक्रिया को भोग प्रक्रिया कहा है। प्रेक्षक शोक, भय, ग्लानि से उद्‌भूत करुण, भयानक वीभत्स आदि रसों का भी इन्हीं आत्मस्थ राग विद्या और कला के द्वार। चर्वण करता है। इनमें राग सुखत्व का अभिमान है तथा विद्या नामक तत्त्व अविद्या से आच्छन्न चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाला रागात्मक उपादान है। इसी चैतन्य की मल से अवरुद्ध आत्मा को प्रदीप्त करने वाला तत्त्व कला है, अतः रसानुभूति मात्र सुखात्मक अनुभूति नहीं है, लौकिक अनुभूति के समकक्ष यह अनिवार्यतः दुःखात्मक अनुभूतियों से भी मिश्रित है।[1] शारदातनय की अवधारणा निराधार नहीं है। स्वयं भरत ने 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्' तथा कालिदास ने 'त्रैगुण्योद्‌भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।' के द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की है। लौकिक जीवन का अनुकीर्तन होने के कारण नाटक की तुलना सांसारिक जीवन से ही की जा सकती है। अतः वह ब्रह्मानन्द के समकक्ष न होकर सांसारिक आनन्द के ही समकक्ष रसानुभूति का प्रेरक है। कहने का आशय यह है कि शायदातनय रसानुभूति का विश्लेषण मूलतः प्रेक्षक की वैविध्यमयी चित्तवृत्ति के स्तर पर करते हैं। उनकी साधारणीकरण की अवधारणा भी उनकी अभिमानाश्रित इसी अवधारणा का विकास है, जिसकी पुष्टि के लिए वे भट्टनायक का आंशिक समर्थन प्राप्त करते हैं। उनका कथन है कि सहृदयों का आत्मास्वाद ही नायक-नायिका के अनुभावों से वासित और तदाकार होकर उनके भावाभिनय से साधारणीकरण रूप में आह्लादकर प्रतीति का रूप ग्रहण करता है।[2]

---

[1] भावप्रकाशन, पृ० ५२-५३

[2] तादात्विकेन प्रमदाद्यनुभावेन वासितः।
स्वादः सहृदयानां यो ह्लादात्मा हृदयंगमः॥ (पृ० ५२)

विद्यानाथ (१३वीं शती का अन्तिम चरण) प्रतापरुद्रीयम्

अभिनव तथा परवर्ती रसचिन्तक रस का आश्रय मूलतः सामाजिक को ही स्वीकार करते हैं। रस उसी की वासना का विकास अथवा आत्मास्वाद है। अभिनव के विपरीत विद्यानाथ साधारणीकरण प्रक्रिया की व्याख्या रस के नायक (अनुकार्य) निष्ठ स्वरूप के अन्तर्गत करते हैं। विद्यानाथ के अनुसार रस नायकाश्रित है तथा सामाजिक नट के नैपुण्य अथवा काव्य बल से उसे अन्तर्भावित करता है। इस प्रकार परगत रस भी सम्यग्भावित होकर परम आह्लाद की सृष्टि करता है।[1] इस प्रक्रिया में मालती शब्द योषित मात्र तथा रावण शब्द शत्रु मात्र की प्रतीति कराने लगते हैं, क्योंकि सामाजिक की स्मृति पर आरूढ़ तथा अपने विशिष्ट व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित अभिलषित प्रेमास्पद अथवा अनभिलषित शत्रु इन विशेष पात्रों के वैशिष्ट्य को तिरोहित करके उभरने लगते हैं; तथा मालती एवं रावण का साधारणीकरण हो जाता है।

अत एव मालत्यादिशब्दभ्यो योषिन्मात्रप्रतीतौ (रावणादिशब्देभ्यः शत्रुमात्रप्रतीतौ च) स्मृत्यारूढेन तत्तद्योषिद्विशेषेण सामाजिकाश्रयत्वमपि न विरुद्धम्।[2]

वस्तुतः इस प्रक्रिया के तीन सोपान हैं—प्रथम स्तर पर प्रमाता की चेतना में मालती आदि विशिष्ट पात्र शृंगार-रस की भूमिका में अवतीर्ण होते हैं। दूसरे स्तर पर उसके प्रेमास्पद का बिम्ब उतकीर्ण होता है तथा तृतीय

स भावाभिनयात्साधारणीकरणरूपया।
भावकत्वव्याप्रियया भाव्यमानः स्वभाववत्॥
भोगेन संविदानन्दमयेनैवोपभुज्यते।
भोक्तृभोग्यार्थसंबन्धप्रकारश्चाभिधीयते॥

-(वही - पृ० ५२)

[1] अत्र रसो नायकाश्रय एव। यदि परं निपुणनटचेष्टया तथाविध-काव्यश्रवणबलेन च सामाजिकैः साक्षात् भाव्यते, तदा परगतस्यापि रसस्य सम्यग्भावनया परत्र निरतिशयानन्दजननमविरुद्धम्

(प्रतापरुद्रीयम् पृ० १९०)

[2] वही, पृ० १९०

स्तर पर इस बिम्ब में संक्रमित होकर नायक अथवा नायिका के वैशिष्ट्य का लोप हो जाने से उसका निर्विशेषीकरण अथवा साधारणीकरण हो जाता है। फलतः सामाजिक उस रति का आत्मस्थ रूप में आस्वाद करता है। व्यापक अर्थ में लौकिक रस अनुकार्य में स्थित है, किन्तु नाटक में वह सामाजिकस्थ हो जाता है।

लोके स्यादनुकार्य एव कथितो नाट्ये तु सामाजिके।[१]

उल्लेखनीय यह है कि साधारणीकरण की विशिष्ट प्रक्रिया का आख्यान करते हुए भी विद्यानाथ साधारणीकरण शब्द का प्रयोग नहीं करते, किन्तु राघवन के अनुसार सामाजिकाश्रयत्व को साधारणीकरण की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जा सकता है,[२] जिसका आशय यह है कि रस की सामाजिक में स्थिति मौलिक नहीं, आगन्तुक है। सामाजिक में रस-स्थिति का संक्रमण ही साधारणीकरण है, जिसके बीज कवि कल्पित पात्रों में निहित होते हैं। टीकाकार कुमारस्वामी इस संदर्भ की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विशेष का स्मरण तथा सामान्य की प्रतीति इस प्रक्रिया में अभिन्न रूप से संश्लिष्ट है। **सामान्यप्रतीतौ विशेषस्मरणमनयोरविनाभावमूलमित्यनुसंधेयम्।**[3] काव्य में विशेष की विवक्षा नहीं होती, क्योंकि कवि ऐतिहासिक पात्रों का इतिवृत्तात्मक निरूपण नहीं करता, अपितु उन पात्रों को आश्रय वनाकर अपनी अन्तर्दृष्टि से उन्हें सर्वसाधारण का आलम्बन वना देता है।[४] उन पात्रों के साक्षात्कार से प्रमाता की स्मृति उद्बुद्ध होती है और अपने अभिलषित पात्र का उसमें आरोप कर वह उनका निर्विशेष रूप से आस्वाद करता है।[५]

---

१. वही पृ० १९५

२. According to Vidyanatha it is the Rasa of another of, the Nayaka, that the Samajika by attunement, enjoys. By the process of sadharenikarana, this samajikasrayatva can be accepted. -(V. Reghavan, 'Prataparudriya', P. 25

३. प्र० रु० पृ० १९०

४. न हि महाकविभिर्वाल्मीकिप्रमुखैरिव ध्यानदृष्ट्या रामादिनामवस्थाः प्रातिस्विका निरूप्यन्ते, किन्तु रामादिकमाश्रयतया परिकल्प्य स्वप्रतिभाप्रभावलब्धाः सर्वसाधारणा इति। (रत्नापणव्याख्या, पृ० १९०)

५. ननु सामाजिकानां श्रूयमाणमालत्यादिविशेषपरिहारेण स्वाभिलषितनायिकास्मरणे किं प्रमाणमिति न शंकनीयम्। (वही, पृ० १९०)

इस कथन में सत्य का यह अंश अवश्य है कि कविनिबद्ध पात्र कवि की अनुभूति का ही मूर्त साधारणीकृत रूप है और प्रमाता अपनी भावना में विनिर्मित मूर्ति के अनुभावों से ही उसे अपनी वासना में संक्रमित करता है।

विद्यानाथ की अवधारणा लोल्लट शंकुक की लोकोन्मुख तथा अभिनव की आदर्शीकृत रस दृष्टि की स्वाभाविक परिणति है। जैसा कि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि अनुकार्य अथवा नायक का आद्य-बिम्ब प्रमाता की अन्तश्चेतना में बद्ध मूल होता है तथा प्रमाता आत्म स्तर पर उसका पुनरनुसंधान करता है। लोल्लट के चिंतन का यह मिथकीय मनोवैज्ञानिक यथार्थ है। विद्यानाथ उक्त प्रक्रिया को अनुमान प्रक्रिया से संयुक्त कर देते हैं, जिसमें प्रमाता अपनी स्मृति में वद्धमूल कान्ता-मूर्ति को नाटकीय पात्रों की मानसिकता में प्रक्षिप्त कर रस को आत्मनिष्ठ कर लेता है। स्पष्टत: अभिनव तथा भट्टनायक 'स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्' जैसे शब्दों में उक्त प्रक्रिया का निषेध करते हैं, जबकि रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इसे प्रतिनियत विषयक रसास्वाद की कोटि में रखा है। इसमें स्मर्यमाण व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध ही रसास्वाद होता है।

'नियतविषयस्मरणादिना स्थायिनः प्रतिनियतविषयतायां तु प्रतिनियतविषय एव रसास्वादः। (नाट्यदर्पण पृ० २९८)

वस्तुत: विद्यानाथ का प्रस्तुत चिंतन लौकिक भाव दशा तथा रस की लोकोत्तरता के स्पष्ट पार्थक्य के निषेध का परिणाम है। रस के भावित होने पर विद्यानाथ भी आस्वाद को आत्मास्वाद ही मानते हैं।

'निर्वेदाद्युपभोगभावितनिजास्वादातिरेको रसो।'[1]

कुमार स्वामी के अनुसार—निर्वेदादीनामुपभोगेन चर्वणया भावित उत्पादितः निजः स्वगोचर इत्यर्थः। स्वस्मादभिन्नस्यापि स्वरूपस्य स्वेनैव विषयीकरणसंभवात्। यदाहुः—'आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्' इति तथाभूतः स्वादातिरेकोऽलौकिकचमत्कारात्मा यस्य स तथोक्तः सन् रसोऽखण्डानन्दात्मको भवति।[2]

स्पष्टत: अनुकार्यगत रसाश्रय का जहाँ तक प्रश्न है, कुमारस्वामी के अनुसार इसमें सत्य का यह अंश अवश्य है कि रस को यदि क्रमगलित

---

[1] प्र० रु० रस-प्रकरणम् ९४ श्लोक पृ० १९५

[2] रत्नापण टीका पृ० १९५

वेद्यान्तर माना है[1], तो यह औपचारिक प्रयोग है। ब्रह्मास्वाद में चरमानन्द के अतिरिक्त अन्य अनुभूति नहीं होती, किन्तु रस में विभावादि की वेद्यता तो बनी ही रहती है, विभावेतर पदार्थों का परिज्ञान अवश्य नही होता।[2] अतः विभावादि की सत्ता की आद्योपान्त अनुभूति इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि रस की सत्ता नायक में ही है, सामाजिक तो उसका स्वयं पर आरोप मात्र करता है। नरहरि के अनुसार काव्यास्वाद लौकिकास्वाद का ही रूपान्तर है, जो कलात्मक अनुभूति में परिणत होकर उच्चतर स्तर के आनन्द में परिणत हो जाता है। जिस प्रकार ब्रह्मानन्द योग के द्वारा गम्य है, रस विभावादि के अनुसंधान से ग्राह्य है। 'इयांस्तु विशेषः ब्रह्मानन्दो योगगम्यः अयं तु विभावाद्यनुसंधानगम्यः।

रूपगोस्वामी (१६वीं शती उत्तरार्द्ध) भक्तिरसामृतसिन्धु

चैतन्यमत के अचिन्त्य-भेदाभेदपरक दार्शनिक सिद्धान्त के अनुयायी रूपगोस्वामी के भक्तिरसामृतसिन्धु में साधारणीकरण की अवधारणा भक्तिरस की पीठिका पर आधृत है; किन्तु कठिनाई यह है कि भक्ति स्वयं में रस की वह वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्या स्थिति है, जिसमें कामनाएँ निःशेष हो जाती हैं, ज्ञान और कर्म का आवरण भंग हो जाता है तथा एक मात्र कृष्ण की ही संविद्गोचरता शेष रह जाती है। नारदपंचरात्र का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं—सब प्रकार की उपाधियों से विनिर्मुक्त विशुद्ध तन्मयता से समस्त इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण का सेवन भक्ति कहलाता है।[3]

अन्य रसों की परिणति जिस आत्मविश्रान्ति रूप में होती है, भक्ति रस की यह प्रस्थान भूमि है। साधारणीकरण के लिए असाधारणता की पूर्वस्थिति आवश्यक है। नामरूपात्मक नायक-नायिका के क्रमशः निर्विशेषत्व में परिणत

---

१. प्र० रु० पृ० १९३

२. रत्नापण पृ० १९४

३. अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्म्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥ (प्रथमा सामान्यभक्तिलहरी)
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० १०, ११)

होने के अनन्तर ही प्रमाता की चित्तवृत्ति उनमें अन्तर्लीन होती है, किन्तु भक्तिरस में प्रमाता की आराध्यता के साथ ही तदाकारता की अनुभूति होती है। उसमें विभावादिसाधारणीकरणात्मा वाली स्थिति नहीं आती। जैसा कि मधुसूदन सरस्वती का कथन है—**तदाकारतैव हि सर्वत्र वृत्तिः शब्दार्थास्माकं दर्शने।** वस्तुतः साधारणीकरण में जो स्थिति साध्य है, वह यहाँ सिद्ध स्थिति है। भगवदाकारता अमिश्रित भावना नहीं है; इसमें प्रेम की तन्मयता और श्रद्धा की तटस्थता का योग है। यशोदा की कृष्ण के प्रति वत्सलता की अनुभूति के साक्षात्कार में प्रमाता कृष्ण का शिशु के रूप में साधारणीकरण ही नहीं करता, आराध्य के विराट् माहात्म्य के सम्मुख लघुता की अनुभूति से श्रद्धानत भी रहता हैं, अतः कथा के विभिन्न पात्रों की अन्तर्लीनता कृष्ण में जिस रूप में घटित होती है, उससे सहृदय के मनोविश्रान्ति गुणात्मक स्तर पर भिन्न होती है। साधारणीकरण भेदाभेद प्रक्रिया से घटित होता है, जिसमें प्राचीन परिभाषा के अनुसार प्रमाता के चिदावरण भंग होने से आनन्दांश का प्रादुर्भाव अवश्य होता है, किन्तु विभाव का सामान्यीकरण नहीं होता। अतः अभेद बुद्धि की परम्परित स्वीकृति भक्तिरस में नहीं है। अभेद बुद्धि के स्तर पर परमात्मा के स्वरूप में रूपान्तरित होने वाले भाव को रूपगोस्वामी स्वीकार नहीं करते।[1] साधारणीकरण की मूल स्थिति अभेदरूपता **'तदभावभावितस्वान्ताः'**[2] तक ही समीचीन है। यही कारण है कि भक्तिरस में साधारणीकरण की भूमिका मूलतः प्रमातापरक है। भगवद्रति में स्वयं रसरूपता है। प्रौढ़ प्रमाता उसके श्रवण मात्र से अलौकिक रसास्वाद में निमग्न हो जाता है, किन्तु नवीन रत्यंकुर होने के कारण अप्रौढ़ प्रमाता को काव्य और नाटक की किंचित् विभावकता रति को उद्‌बुद्ध एवं पुष्ट करने में योग अवश्य देती है।[3]

रति एकरूप होते हुए भी प्रमाता की विशेषताओं के कारण विभावादि के द्वारा अनेक रूपों में उद्‌भावित होती है। इस संदर्भ में यह तथ्य भी उल्लेख-

---

१. भ० र० सि० (पूर्वविभागे तृतीया भावलहरी), का० ३०-३१ पृ० १०४

२. तदेव, पृ० १७६

३. नवे रत्यंकुरे जाते हरिभक्तस्य कस्यचित्
विभावत्वादिहेतुत्वं किंचित्तत्काव्यनाट्ययोः
हरेरीषच्छ्रुतिविधौ रसास्वादः सतां भवेत्। (पृ० ३००)

नीय है कि लौकिक विभाव अनेक बार विपरीत प्रभाव उत्पन्न कर वैरूप्य की सृष्टि भी कर सकते हैं[१]। अतः काव्य-नाट्य द्वारा पुनर्भावन की अपनी सार्थकता है, क्योंकि इसमें भाव साधारणीकृत हो जाते है।[२] जीवगोस्वामी के अनुसार भक्त प्रमाताओं की रति का प्राचीन प्रमाताओं की तदनुरूप रति से सायुज्य हो जाता है, अतः उनकी लौकिक रति भी साधारणीकृत होकर अलौकिक हो जाती है।[३] लौकिक स्तर पर राधा और कृष्ण की लीला में स्वगत और परगत प्रतीति का भेदांश बना रहने से वैरूप्य हो सकता है[४], किन्तु अलौकिक स्थिति में इन भावों का प्रवेश नहीं हो सकता। काव्य में श्रवण के समय निरन्तर अन्तरनुसंधान की प्रक्रिया चलती रहती है, जिसमें आत्मनिष्ठ दुःख या परनिष्ठ सुख विलीन हो जाते हैं और आनन्द का आविर्भाव होता है।[५] इसका परिणाम स्व-पर-सम्बन्ध का अनिर्णय है अर्थात् प्रमाता की अपने परिमित भाव से मुक्ति। यह अभिमत अभिनव तथा विश्वनाथ से प्रेरित है। रूपगोस्वामी ने इसे भरतोक्त कहा है। रूपगोस्वामी की दृष्टि मे स्व-पर-सम्बन्ध का यह निषेध ही प्राचीनोक्त साधारणीकरण अथवा साधारण्य है। इस स्तर पर वे साहित्य-दर्पण की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं कि विभावादि में साधारणीकरण की अपूर्व शक्ति होती हैं, जिसके कारण प्रमाता अपनी परिमित चेतना में विभावादि से अभेद की अनुभूति करने

---

१. वैरूप्यं तु विभावादेरनौचित्यमुदीर्य्यते ।
अलौकिक्या प्रकृत्येयं सुदुरूहा रसस्थितिः ।

२. यत्र साधारणतया भावाः साधु स्फुरन्त्यमी ।
एषां स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि यः
साधारण्यं तदेवोक्तं भावानां पूर्वसूरिभिः ।
(दक्षिणविभागे पंचमस्थायिभावलहरी (का० ८३-८४), पृ० ३०१)

३. तादृशी रतिरेव प्राचीनभक्तानां भावैः सहार्वाचीनानां भावान् साधारण्य मानयति साधारण्यप्रापकेण भावेन येन रसस्थितिरपि तादृशी स्यात् ।
(दुर्गसंगमिनी पृ० ३०४-३०५)

४. रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन व्रीडातंकादिभर्वेत् परगतत्वेन रस्यता न स्यात् इति भावः । मुनिवाक्ये तु भेदांशः स्वयमस्ति । (पृ० ३०५)

५. तत्काव्याद्वक्तृमुखाद्वा संक्षेपात् श्रुतस्य तच्छ्रवणादिसमयेऽप्यन्तर नुसंधान वर्तत ऐवेति यथा सीताहरणादौ । तदेव पृ० ३०६

लगता है ।[1] निश्चय ही यह उक्ति भक्तिरस की मौलिक चेतना की विसंवादी उक्ति नहीं है । इसमें विभावों का निर्विशेषीकरण नही होता, अपितु वे अपनी आभ्यन्तर शक्ति अथवा मूल प्रकृति के प्रभाव से प्रमाता में अभेदानुभूति सी जाग्रत करते हैं । अत: जहाँ स्वसम्बद्ध से प्रतींत होने वाले लौकिक दुःख अलौकिक आनन्द में परिवर्तित हो जाते है, वहाँ पराश्रित से प्रतीत होने वाले सुख भी आनन्द में ही परिणत हो जाते हैं । निश्चय ही प्रस्तुत चिन्तन प्राचीन रस-चिन्तन की आधार भूमि पर ही विकसित है, किन्तु जहाँ अन्य रसों में अनुकार्य में रस-स्थिति की परिकल्पना स्वीकार्य नहीं हो सकी है, वहाँ भक्ति रस में अनुकार्य की अलौकिक रति ही भक्तों के द्वारा आस्वाद्य होती है, क्योंकि कृष्ण-लीला-परिकर के विभाव प्रमाता की चेतना में इतने संस्कारावस्थित एवं बद्धमूल हैं कि उनका संकेत मात्र ही मनश्चक्षुओं के सम्मुख उनकी लीलाचेष्टाओं एवं संवादी विसंवादी अनुभूतियों की शृङ्खला रूपायित कर देता है ।[2]

स्पष्टत: रूपगोस्वामी ने परम्परानिष्ठ साधारणीकरण की अवधारणा को भक्तिरस के अनुरूप व्याख्यायित करने में किंचित् अन्तर्विरोध का आश्रय लिया है । इसका कारण सम्भवत: यह है कि वे अपनी अवधारणा को भरत, अभिनव अथवा विश्वनाथ का परम्परापुष्ट समर्थन प्रदान करना आवश्यक समझते हैं । अत: व्याख्या के स्तर पर उक्त अभिमतों को किंचित् परिवर्तित रूप में स्वीकार करना प्रासंगिक अनिवार्यता है । वस्तुत: विभावादि में परित्यक्त-विशेषता-हेतु का अभाव तथा अनुकार्यनिष्ठ रति की स्वीकृति की पृष्ठभूमि में श्रद्धा एवं प्रेम के भेदाभेद संबंध पर आधृत प्रमाता की भगवद्रति का साधारणीकरण ही रूपगोस्वामी को इस संदर्भ में अपेक्षित है ।

---

[1] शक्तिरस्ति विभावादेः काऽपि साधारणीकृतौ ॥८४॥
प्रमाता तदभेदेन स्वं यया प्रतिपद्यते ।
दु:खादय: स्फुरन्तोऽपि जातु स्वीयतया हृदि ॥८५॥
प्रौढानन्दचमत्कारचर्वणामेव तन्वते ।
पराश्रयतयाप्येते जातु भान्तः सुखादय: ॥८६॥
(दक्षिणाविभागे पंचमस्थायिभावलहरी, पृ० ३०२)

[2] श्रीकृष्णलीलापरिकरगतविभावादैः किंचिन्मात्रस्यापि सद्भावश्चेज्जायत आधुनिक तत्ततसवासनभक्तानां हृदि यदि भवति तदा विभावानुभाव सात्त्विकसंचारिण इति चतुष्टयस्याक्षेपात् स्फोरणात् पूर्णतैवोपपद्यते सिद्धयति । (जीवगोस्वामी, दुर्गसंगमिनी पृ० ३०६)

रसशास्त्रीय ग्रन्थ एवं साधारणीकरण:

अल्लराज (१६०३ ई० शती के लगभग) रसरत्नप्रदीपिका

रसरत्नप्रदीपिका रससम्बन्धी एक सामान्य पुस्तिका है, जिसमें रस और रसांगों के सामान्य लक्षण एवं उदाहरण देने पर लेखक की दृष्टि विशेष केन्द्रित रही है। साधारणीकरण जैसे शास्त्रीय विषय को उनकी रस की स्निग्ध भूमि में अवकाश नहीं मिला है, तथापि लेखक ने उन कतिपय अवधारणाओं का संकेत अवश्य दिया है, जिनका विवेचन साधारणीकरण की कुक्षि में ही आता है। सहृदय में रस का अधिवास, रस की ब्रह्मास्वादपरक अलौकिक स्थिति तथा काव्यार्थ का प्रत्यक्षायमाणत्व, ऐसे ही कतिपय बिन्दु हैं। अल्लराज का कथन है कि सुखी स्थिरमनस्क सहृदयों में रस वासना रूप में अवस्थित रहता है।[1] हृदय से उनका आशय वासना-संयुक्त बुद्धि से है, जो अर्जित ज्ञान-संस्कार से निरन्तर परिष्कृत होती रहती है।

प्राचीनवासनायुक्ताप्यङ्गविद्याभिराश्रिता।
बुद्धिर्या हृदयं तां च कथयन्ति विचक्षणाः।'[2]

रसास्वाद में रागतत्त्व के साथ विचारतत्त्व का अनुप्रवेश भी अनिवार्य है। अल्ल की यह मान्यता निश्चय ही व्यापक है। उनके अनुसार रस, वासनारूप और व्यक्त रूप दो प्रकार का होता है। सहृदय में वासना रूप में स्थित रस अव्यक्त है, जो अभिनेताओं अथवा काव्य-निबद्ध पात्रों के द्वारा अभिव्यक्त होकर भावित होता है।

'तद्बीजबोधकान्भावानधिगम्य जनैः कृतान्।'[3]

बीभत्स तथा करुण रस की आनन्दरूपता पर भी अल्लराज ने विचार किया है, किन्तु उनका समाधान भी परम्परित सरणि पर ही है। यथा दुःख सामग्री से भी सुख उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जैसे कुछ स्थलों पर त्रासद अथवा पीड़ाकर अनुभूति भी प्रीतिकर होती है।

---

१. एवं सहृदयानां च सुखीनां स्थिरचेतसां।
नियतं वासनारूपो रसस्तिष्ठति मानसे॥ (रसरत्नप्रदीपिका पृ० ३८)

२. वही, पृ० ३८

३. वही, पृ० ३८

कुछ स्थलों पर नखांकन अथवा अधरखण्डन आनन्द कर ही होते हैं।

'कुत्रचिद्दुःखसामग्रयात्सुखमुत्पद्यते ध्रुवम् ।
प्रहारो दुःखमूलं हि क्रीडासमयकल्पितः
जायते च सुखायैव तद्वत् चरणकुट्टनम्
खंडनं वाधरस्यैव नखांकानि कुचस्थले ॥

इत्थं यत्सुखरूपेण नरो गृह्णाति चेतसा ।'[1]

निष्कर्ष रूप में अल्ल कहते हैं कि सुख दुःख मूलतः मन की ग्रहणशीलता पर निर्भर है । प्रमाता दुःख को भी यदि सुख की मानसिक भूमि पर ग्रहण करता है, वह सुख ही होता है । यही कारण है कि काव्य की मानसी भूमि में लौकिक दुःख सुखमय हो जाते हैं ।

अतस्तु लौकिकं यत्तु तदेव दुःखवर्धनम् ।
रसरूपं यदेतच्च सर्वं हि सुखसुन्दरम् ।[2]

इसी संदर्भ में काव्य की चरम आनन्दरूपता का प्रश्न भी उठता है, जिसका विवेचन अल्ल ने परम्परित सरणि से किंचित् हट कर किया है। अल्ल के अनुसार सुख नित्य एवं अनित्य दो प्रकार का होता है—नित्य ब्रह्मस्वरूप, अनित्य विषयोद्भूत है। नित्य विरल है तथा अनित्य नाना रुचियों को समाहित करता है, फिर भी वह इतना प्रीतिकर नहीं है। रस की स्थिति इन दोनों की मध्यवर्तिनी हैं ।[3] यही उसकी अनिर्वाच्यता का रहस्य है । प्रकारान्तर से इसमें यह संकेत निहित है कि विषयोन्मुख सुख में नाना रुचियों के समाश्रयण के कारण साधारणीकरण की अधिक सम्भावना है । शान्त स्वयं वेद्यान्तर-शून्य स्थिति है । उसकी अपेक्षा शृङ्गार का साधारणीकरण अधिक सरल है। कुमारस्वामी ने भी रत्नापण टीका में काव्यास्वाद एवं ब्रह्मास्वाद का मौलिक अन्तर इसी भूमिका पर स्पष्ट किया है। 'इयांस्तु विशेषः । ब्रह्मानन्दो योगगम्यः । अयं तु विभावाद्यनुसंधानगम्य इति । इदमपि

---

[1] र० र० प्र०, पृ० ४४

[2] वही, पृ० ४४

[3] नित्यं ब्रह्मस्वरूप हि अनित्यं विषयोद्भवम् ।
प्रचारो विरलस्तस्य लोकेऽस्मिन् विषयोन्मुखे ॥
यत्सुखं विषयोत्थं हि नानारुचिसमाश्रयम् ।
तदेव बहुधा भिन्नं प्रान्ते नैवातिसुन्दरम् ॥ (वही, पृ० २)

तेनैवोक्तम्—'सर्वत्रैकेवानन्दव्यक्तिलौकिकं सुखमिति व्यवह्रियते । अलौकिकविभावाद्यभिव्यक्त्या कविसमयमात्रप्रसिद्ध्यनुसारादलौकिको रस इति कथ्यते ।'[1] वस्तुत: प्राय: आचार्यों ने ब्रह्मास्वाद को स्थायी तथा काव्यास्वाद को अस्थायी (विभावादिजीवितावधि) मान कर ही परितोष ग्रहण कर लिया है । इस दृष्टि से उक्त अभिमतों का अपना मूल्य है । अल्लराज प्रसंगप्राप्त स्थलों पर इन उल्लेखों के अतिरिक्त किसी शास्त्रीय चर्चा में नहीं पड़े हैं ।[2] फिर भी कतिपय संदर्भ उल्लेखनीय अवश्य हैं । उनका अभिमत है कि काव्य में वर्ण्यमान होकर लौकिक तथा अति-प्राकृत तत्त्वों में रसास्वादन की अद्भुत क्षमता आ जाती है । कवि-मेधा का स्पर्श पाकर अतीतकालीन दृश्य भी मनश्चक्षुओं के सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठते हैं ।

आलंकारिकों ने भाविक अलंकार के अन्तर्गत प्रत्यक्षमाणत्व का विवेचन किया है । परवर्ती चिन्तकों की सर्वहृदय-साधारण्या दशा इसी के समकक्ष है । रुय्यक ने तो स्पष्टत: इसकी विवेचना साधारणीकरण की भूमि से ही की है[4] । अभिनव की 'पुर इव प्रस्फुरन्' जैसी शब्दावली भी इसी भूमिका की तलस्पर्शी है ।

शिंगभूपाल (१३वीं शताब्दी का मध्य भाग) रसार्णवसुधाकर

रसार्णवसुधाकर मूलत: नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है, जिसमें रंजकोल्लास, रसिकोल्लास तथा भावोल्लास नामक उल्लासों में रूपक के तीनों अंगों-नेता,

---

१. प्रतापरुद्रीये रत्नापणव्याख्या, पृ० १९६

२. RRP cannot lay any claim to originality...discussion of controversial points is scrupulously avoided. RRP P. 7-8

३. तस्मादसारे संसारे साररूपो रसो मत: ।
यत्र प्रीति: सुविपुला वर्धते च दिने दिने ।।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्र रामादयोऽपि च ।
पारिजाततरुच्छायामास्थिता: किन्नरस्त्रिय: ।।
सुरवारांगना यत्र नृत्यन्ते भावभूषिता: ।
विजृम्भमाणकिरणविस्फुरद्रत्नभूमय: ।।
इत्थं विचित्रा भावास्तु हर्षोत्कर्षप्रदायिन: ।
निमज्जयन्ति मनुजान् निस्सीमसुखसागरे ।।
(र० र० प्र० पृ० २)

४. अलंकारसर्वस्वम्, पृ० ३२८

रस एवं वस्तु का क्रमशः विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय उल्लास (रसिकोल्लास) में उन्होंने रसस्वरूप वर्णन के प्रसंग में साधारणीकरण के सिद्धान्त के प्रति भी किंचित् जागरूकता प्रदर्शित की है, किन्तु उनकी दृष्टि में सहृदय-संवेदन-सिद्ध रस की प्रमाण-सिद्धि का यह शास्त्रसिद्ध श्रम स्वयं में एकान्त रोचक व्यापार नहीं है।[1] शिंगभूपाल की रसविषयक कोई मौलिक परिकल्पना अथवा मान्यता भी नहीं है। उनके अनुसार अभिनेताओं के अभिनय कौशल से स्थायी अपने-अपने विभावों, व्यभिचारियों अनुभावों एवं सात्त्विकों से संयुक्त होकर सामाजिक के मन में स्वादुरूपता में परिणत हो जाता है।[2] रस का अन्तिम भोक्ता भावक ही है, किन्तु स्थायी अथवा रस की मूलभूत स्थिति उसमें नहीं है। नायक अथवा नट में भी रस की स्थिति ग्राह्य नहीं है। रस की नायक, नट तथा सहृदय-निष्ठता का प्रबल तर्कों से प्रत्याख्यान करते हुए शिंगभूपाल कहते हैं कि नायकनिष्ठ रस को अन्यानुभव होने के कारण प्रमाता ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि यदि नायक साक्षाद्दृष्ट है तो उसकी प्रणय-लीला सामाजिक में व्रीडा जुगुप्सा ही प्रेरित करेगी और यदि वह मात्र श्रुत अथवा अनुकृत है तो उसके अस्तित्व के प्रति प्रमाता की आस्था दृढ़ नहीं हो सकेगी। नट में भी रस उसके अभ्यास-नैपुण्य के रूप में ही प्रतीत होता है। अनुभाव अथवा व्यभिचारियों का यथार्थ अस्तित्व उसकी मनोभूमि में नहीं होता। सामाजिक में अनुभाव अथवा भावना विद्यमान रहती है, किन्तु वह अनुकार्य मालविकादि को प्रेयसी की समकक्षता में नहीं रख सकता।[3] प्रथम तो मालविका अविद्यमान है, दूसरे वह प्रमाता की आत्मचेतना से बाह्य विशेष व्यक्तित्व मात्र है।[4] प्रकारान्तर

---

[1] सकलसहृदयहृदयसंवेदनसिद्धस्य रसस्य प्रमाणान्तरेण संसाधनपरिश्रमः श्रोतृजनचित्तक्षोभाय केवलं, नोपयोगायेति।

(र० सु० पृ० १०४)

[2] नटाभिनययोगतः साक्षात्कारमिवानीतैः प्रापिताः स्वादुरूपताम्।
सामाजिकानां मनसि प्रयान्ति रसरूपताम् ॥

(र० सु० पृ० १०३)

[3] वही, पृ० १०३

[4] ननु मालविकादिविभावविशेषस्यानौचित्याद् भावस्यासन्निहितत्वाच्च सामाजिकानामपि न नटवदेवं रसाश्रयत्वं प्रसज्ज्यते।

(र० सु० पृ० १०३)

से ये विप्रतिपत्तियाँ साधारणीकरण की आवश्यकता की ओर इंगित करती हैं। विविध सिद्धान्तों का आश्रय लेकर भी स्थायी-निष्ठता का कोई अमिश्रित या मिश्रित समाधान नहीं है। अतः भट्टनायक अथवा अभिनवगुप्त-प्रतिपादित साधारणीकरणपरक सिद्धान्तों की भूमि पर ही इसका समाधान अनुसंधेय है। इस संदर्भ में शिगभूपाल **'केचन समादधे'** के द्वारा प्रायः भट्टनायक का जो अभिमत प्रस्तुत करते हैं, उसकी शब्दावली उनकी एकान्त अपनी है।

शिग के अनुसार प्रमाता की चेतना से बाहर विभावों का अस्तित्व मूलतः असाधारण होता है, शब्दोपकरणों के द्वारा वे अन्तर्भावित होते हैं। काव्य में यह प्रक्रिया अभिधापरक भावना व्यापार से घटित होती है, जिसका मूलतत्त्व साधारणीकरण व्यापार है। भावक के अन्तःकरण में अनुप्रविष्ट होकर विभाव अपने विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त एवं विपरिवर्तित हो जाते हैं। प्रमाता अनौचित्य की अनुभूति से मुक्त निर्विघ्न उन्हें अपना आलम्बन स्वीकार करके निस्तरंग विश्रान्ति-भाव से उनका भोग करता है।[1] शिग ने भट्टनायक के अभिमत को यथावत् ही प्रस्तुत किया है। विशेष उल्लेखनीय यह है कि उन्होंने भावना-व्यापार को अभिधा के पर्याय रूप में ग्रहण किया है। उनका अभिप्राय यह है कि शब्दोपकरणों से अन्वित हो कर लौकिक भाव जिस रूप में काव्य में अभिव्यंजित होते हैं, वे अभिधा के विशिष्ट व्यापार के अन्तर्गत ही आते हैं। आधुनिक शब्दावली में काव्य की अभिधा में अनिवार्यतः भावना अर्थात् रागात्मक संवेदना एवं कल्पना के अनुषंग संपृक्त रहते हैं। साधारणीकरण से शिग का आशय संभवतः सम्बन्धों की विपरिवर्तमानता से है, जिसमें निर्विशेषत्व की प्रच्छन्न स्वीकृति तो है, किन्तु बल विभाव और प्रमाता के अन्तः सम्बन्धों के कल्पनापरक एवं अन्तरालयुक्त होने पर है।

'अन्ये त्वन्यथा समाधानमाहुः' के अनन्तर शिग दूसरा अभिमत अभिनव

---

[1] विभावादिभावानामनपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपादानादेवासादितसद्भावानामानुकूल्यापेक्षया निस्साधारणानामपि काव्ये नाट्ये चाभिधापर्यायेण साधारणीकरणात्मना भावनाव्यापारेण स्वसम्बन्धितया विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनत्वाद्यविरोधादनौचित्यादिविप्लवरहितः स्थायी निर्भरानन्दविश्रान्तिस्वभावेन भोगेन भावकैर्भुज्यते। (र० सु० पृ० १०३-१०४)

का प्रस्तुत करते हैं, जिसकी शब्दावली प्राय: काव्यप्रकाश की अनुवर्तिनी है। 'लोके प्रमदादिकारणादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटवात् सहृदयानां काव्ये नाट्ये च विभावादिपदव्यपदेश्यैरस्वसम्बन्धित्वेन च साधारण्यात् प्रतीतैरभिव्यक्तभूतो वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणो लोकोत्तरचमत्कारकारिपरमानन्दमिव कन्दलयन् रसरूपतामाप्नोति।'[1] द्रष्टव्य यह है कि यहाँ भी शिंग का बल अस्वसंबन्धित्वेन साधारण्यात् पर ही है। भट्टनायक की 'स्वसम्बन्धितया विभावितानां विपरिवर्तमानाम्' की अवधारणा से इसमें विशेष अन्तर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टनायक की भुक्तिसंबंधी अवधारणा तथा अभिनव के व्यक्तिपक्ष के प्रति अनास्थाशील रह कर भी साधारणीकरण के उस पक्ष को वे अवश्य स्वीकार करते हैं, जिसमें पात्र अपने विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त हो कर प्रमाता की अन्तश्चेतना में अनुप्रवेश करते हैं। प्रमाता के स्तर पर साधारण्याभिमान, रागद्वेष से मुक्ति, सम्बन्धों के स्वीकार-परिहार जैसी विप्रतिपत्तियों में वे नहीं पड़े हैं।

भुक्ति तथा व्यक्ति दोनों पक्षों की, शिंग के अनुसार, सीमा यह है कि सामाजिक में रसाश्रयता स्वीकार कर लेने पर अभिव्यंजना के अन्य पक्ष धूमिल पड़ जाते हैं। शिंग के अभिमत में ये स्थायी सामाजिक के मन में मुद्रामुद्रितन्याय से विपरिवर्तित. वासित, अभिवर्द्धित होते रहते हैं। काव्यार्थ में परिणत तथा बहिर्मुख (बाह्यार्थावलम्बनात्मक) ये स्थायी भाव विकास, विस्तार, क्षोभ, विक्षेप-परक विभिन्न स्वरूप में आस्वादित होते हैं।

निष्कर्षत: साधारणीकरण के अभावात्मक प्रसंग को उठा कर शिंग ने जो विभिन्न समाधान प्रस्तुत किए है, वे एकान्त नूतन अथवा विशिष्ट तो नहीं हैं, फिर भी वे दो प्रश्नों की ओर ध्यान अवश्य आकृष्ट करते हैं। प्रथम यह कि रस की आत्मनिष्ठा पर अत्यधिक बल देने का अर्थ अभिनयनैपुण्य तथा काव्य के कला-पक्ष को अपेक्षाकृत गौण तथा विभावों के वैशिष्ट्य और उनके परिवेश के स्पन्दन को क्षीण करना है। दूसरा यह है कि साधारणीकरण में चित्तवृत्तियों की एकतानता के प्रति आग्रह अनुभूतियों के वैविध्य के प्रति न्याय नहीं कर पाता। अत: आकस्मिक नहीं कि शिंग की ऋजुरेखीय दृष्टि में साधारणीकरण का प्रश्न आप्रासंगिक प्रतीत हुआ है।

---

[1] रसार्णवसुधाकर पृ० १०४

भानुदत्त (१४८० से १५७० ई०) रसतरंगिणी

भानुदत्त ने शृंगार-रस को ही परमप्रतिष्ठा देते हुए रसमंजरी का प्रणयन जहां नायिकाभेद प्रधान ग्रन्थ[1] के रूप में किया है, वहाँ रसतरंगिणी को रस-विवेचन के सैद्धान्तिक ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण के प्रति विशेष आग्रह न होने के कारण साधारणीकरण जैसे तार्किक विषय को उन्होंने अपनी विवेचन सीमा से बहिष्कृत ही रखा है। वे सहृदय पाठक तक ही काव्य-विमल-रस की सम्प्रेषणीयता में आस्था रखते हुए अरसिकों के प्रवेश को काव्यक्षेत्र में निषिद्ध ठहराते हैं।[2] प्रकारान्तर से तन्मयीभवन तथा उसके अधिकारी सहृदय में बौद्धिकता की अपेक्षा रागात्मक अनाविलता को प्रश्रय देकर वे साधारणीकरण के मूल सिद्धान्त की ओर भी इंगित करते हैं। साथ ही तन्मयीभवन या मनोविश्रान्ति को रस के लक्षण के स्तर पर स्वीकार कर वे संविद्विश्रान्ति तथा वेद्यान्तर-शून्यता की संकल्पना में आस्था व्यक्त करते हैं। 'भावविभावानुभावव्यभिचारिभावैर्मनोविश्रामो यत्र क्रियते स वा रसः। अभिनव के अनुसार यही अर्जनादि संसर्गरूप विघ्न से मुक्त तटस्थ स्वगत प्रतीतिजन्य दुःख द्वेष आदि से असंस्पृष्ट अलौकिक चेतना है।[3] स्थायी भाव की परिभाषा देते हुए भानुदत्त कहते हैं कि भाव के आत्म स्वरूप को वास्तविक रूप में स्थायी भाव ही प्रकाशित करता है। किन्तु, अन्य अनुकूल एवं प्रतिकूल भाव उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करने में योग देते हैं।[4] यह चरम-समय-पर्यन्त स्थायी

---

१. तत्र रसेषु शृंगारस्यभ्यार्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरूप्यते। रसमंजरी, पृ० ४-५

२. भारत्याः शास्त्रकान्तारश्रान्तायाः शैत्यकारिणी।
क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी॥
र० त०, पृ० २-३

गिरां देवि तरंगिण्यां वारय क्रूरवारणान्।
यद्भविष्यति लोकानामाविलो विमलो रसः॥
र० त०, षष्ठस्तरंग : पृ० १०३

३. नाट्यशास्त्रम्, पृ० २८५-८६

४. सजातीयविजातीयभावानाभिभाव्यः प्रथमः। पृ० ६

की संकल्पना एकान्त मौलिक नहीं है, किन्तु इसमें यह तथ्य अवश्य निहित है कि राम-सीता के बाह्य संदर्भ क्रमशः साधारणीकृत रति भाव में परिणत हो कर आत्मस्वरूप (कान्तात्व) का उन्मीलन करते हैं। यह उन्मीलन ऋजुरेखीय नहीं होता। उसमें विजातीय एवं विसंवादी उपादानों का योग रहता है, जिनसे उनका मौलिकस्वरूप कालातीत हो कर क्रमशः चरम क्षण तक उन्मीलित होता जाता है। **'चरमसमयपर्यन्तस्थायिभावत्वादस्य स्थायित्वव्यपदेशः'**।[1] इतर भाव के उपनायकत्व शब्द के प्रयोग में भी एक विधेयात्मक अन्तर्-ध्वनि है, अर्थात् विसंवादी भावोपकरणों के अन्तर्ग्रथन के बिना रसानुभूति चरम समय पर्यन्त स्थायी नहीं हो सकती। विभाव और अनुभाव की परिभाषाएँ भी यद्यपि भानुदत्त ने परम्परित रूप में ही दी हैं, किन्तु दोनों को एक-दूसरे की सापेक्षता में प्रस्तुत कर यह संकेत दिया है कि रस की अनुभूति आन्तरिक होती है; अतः उसकी अनुभूति ज्ञापक के बिना संभव नहीं है। ज्ञापक के रूप में अनुभावों की ही अपेक्षा की जाती है। विभाव तो रस को विशेष रूप से भावित मात्र करते हैं, किन्तु उनका आभ्यन्तरीकरण अनुभावों की अनुभूति से ही सम्भव है।[2] शंकुक एवं भट्टनायक के अभिमतों के समन्वय से उन्होंने विशेषाभिमुख विभावों के साधारणीकरण की ओर उन्मुख होने तथा उनका बोध कराने में अनुभावों की भूमिका का विवेक-सम्मत आख्यान प्रस्तुत किया है। अनुभावों के अभाव में साधारणीकरण असम्भव है। अनुभाव अनुभावकता के कारण हैं तथा रसनिष्पत्ति के प्रतिबन्धकों (फलायोग) का व्यवच्छेदन या निराकरण करते हैं।[3]

भानुदत्त यह स्वीकार नहीं करते कि सात्त्विक भावों में सकलरससाधारण्य या परगतदुःखभावनायामत्यन्तानुकूलत्वम् जैसी विशेषताएँ हैं। वे उन्हें शारीरभाव मानते हैं और इस स्तर पर सात्त्विक भाव और सत्त्वोद्रेक के मध्य स्वीकृत सम्बन्ध का निषेध कर अपनी लोकोन्मुखी वृत्ति का संकेत देते हैं। भानुदत्त की लोकोन्मुखी वृत्ति अलौकिक संयोगजन्य अलौकिक रस के साथ लौकिक संयोगजन्य लौकिक रस की भेद-स्वीकृति में भी व्यक्त हुई

---

[1] प्रथमतरंग (पृ० ७)

[2] रसतरंगिणी, पृ० २२

[3] करणत्वेनाऽनुभावकता करणत्वं च फलायोगव्यवच्छेदसम्बन्धित्वम्।
(रसतरंगिणी पृ० ३६)

है ।[1] अलौकिक सन्निकर्ष का विवेचन इस अवधारणा पर आधृत है कि अननुभूत वस्तु का साक्षात् भी पूर्व जन्म के संस्कार के कारण ज्ञान की अनुभूति कराता है । अलौकिक रस स्वप्नविषयक, मनोरथविषयक और औपनयिक तीन प्रकार का है । औपनयिक काव्य-नाटक के पद-पदार्थ के चमत्कारों के द्वारा आनन्दानुभूति प्रदान करता है ।[2] लौकिक रस से उनका आशय, प्रत्यक्षानुभूति से नहीं है । अलौकिक रस के समानान्तर यह चेतन मन से गृहीत काव्य का संज्ञानात्मक या ऐन्द्रिय आनन्द है, जिसमें प्रमाता भाव-संस्कार की अपेक्षा रूप रस गंध पर आश्रित बहिर्ज्ञानेन्द्रियजन्य मांसल बिम्बों में आनन्द ग्रहण कहता है । उससे इतर किसी आत्मिक या अनुचिन्तनात्मक अनुभूति की ओर वह उन्मुख नहीं होता । रिचर्ड्स का कथन है कि कुछ पाठक इतने संवेदनशील होते हैं कि पठित अक्षर भी उनकी कल्पना में अनुनादित होने लगते हैं ।[3] तद्विपरीत कुछ अन्य प्रमाता भावप्रवण होते हैं । उनके काव्य-संस्कार अत्यन्त प्रबल होते हैं । वे काव्य का आस्वादन उपचेतन तथा संकल्पात्मक अनुभूति की सम्मोहनावस्था में करते हैं ।[3] अननुभूत होते हुए भी सामूहिक अवचेतन में निहित आद्य प्ररूपों में रूपान्तरित होकर काव्य अथवा नाट्यवस्तु आदिम संस्कारों को झंकृत करती है । इन आद्य प्ररूपों का हमने अन्यत्र विवेचन किया है । जुंग के अनुसार ये सामूहिक अवचेतन के प्रोद्भास हैं । ये एक नाटकीय प्रक्रिया की तरह, अप्रत्याशित रूप से स्वप्न-प्रतीकों की भूमिका में उद्घाटित होते हैं; तथा इनकी अनुभूति युग-युगान्त के आद्य पुरातन बिम्बों की छद्मलीला का आभास देती हुई सी घटित होती है ।[4]

---

१. रसतरंगिणी, पृ० १०५

२. औपनयिकश्च काव्यपदपदार्थचमत्कारे नाट्ये च । (वही पृ० १०४)

३. Any line of verse or prose slowly read, will for most people, sound mutely in the imagination somewhat as it would if read aloud.

(I.A. Richards, Principles of Literary Criticism Indian Edition P. 91)

४. Usually the process runs a dramatic course, with many ups and downs. It expresses itself in, or is accompanied by, dream symbols that are related to the 'representations collectives, which, in the form of mytholgical motifs,

वस्तुत: औपनयिक एवं मनोरथिक दोनों ही काव्यानुभूति हैं तथा लौकिक एवं लोकोत्तर चेतना के मध्य ये प्रमाता की द्वैधी चेतना का साक्ष्य देती हैं, जिसमें रागात्मक सम्मोहन के मध्य संज्ञानात्मक अनुभव भी तीव्र हो जाता है। इस द्वैधी चेतना की परिणति माया रस की उस संकल्पना में अभिव्यक्ति पाती हैं, जो प्रेम और सम्मोहन, विकर्षण और आकर्षण की द्विमुखी प्रक्रिया के अन्दर से विकसित हुई है। प्रबुद्ध मिथ्याज्ञानवासना ही माया रस है,[1] जिसमें रति-हास, शोक-क्रोध, उत्साह-भय, जुगुप्सा विद्युत की भाँति उत्पन्न और विलीन होते हैं।[2] यह नवीन रस का नहीं रस-दशा का ही विवेचन है। संवादी-विसंवादी अनुभूतियों की इस द्वैधी चेतना में ही केन्द्रीय संवेदना विकर्षण-आकर्षण के सूत्रों से बंधी हुई एक नवीन चेतना में रूपान्तरित होती है। शंकुक इसी सूत्र के माध्यम से रस की कल्पितानुसंधान की भूमि पर पहुँचे थे।[3]

प्रभाकर (१६वीं शती) रसप्रदीप (रचनाकाल-१५८३ ई०)

प्रभाकर ने रसानुभूति को विविध निषेधों के मध्य द्वन्द्वात्मक स्तर पर व्याख्यायित किया है। रस विभावादि की लौकिक सीमा का अतिक्रमण करता हुआ भी विभावादि से मुक्त नहीं है। आत्मसाक्षात्कार की भूमिका का स्पर्श करता हुआ भी वह स्वप्न-दर्शन के समान मिथ्या प्रतीति है। एकान्त बाह्य विषयों की अनुभूतियों से मुक्त होने पर भी अपनी उपादान सामग्री बाह्य लौकिक जगत् से भी ग्रहण करता है। प्रमाता अथवा कवि की मानसिक साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होने पर भी लौकिक जगत् से ही उसके अन्तःसूत्र

---

have portrayed psychic processes of transformation since the earliest times.

The Archetypes of Litereture, Twentieth Century Criticism, P. 232)

[1] प्रबुद्धमिथ्याज्ञानवासना मायारसः।

(र० त०, पृ० १४६)

[2] विद्युत इव रतिहासशोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। (र० त०, पृ० १४६)

[3] नाट्यशास्त्रम्, अभिनवभारती सहित (बड़ोदा संस्करण), पृ० २७३

उद्भिन्न होते हैं।[१] तात्पर्य यह है कि रसप्रदीपकार की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा मानस-साक्षात्कार की भूमिका पर निरूपित हुई है,[२] किन्तु उसमें कवि अथवा प्रमाता के बाह्य परिवेश की उपेक्षा नहीं है। रस की अतीन्द्रिय भूमिका भी अन्ततः ऐन्द्रिय जगत् के उपादानों से ही संघटित होती है। उसकी अन्तिम परिणति अवश्य विगलितवेद्यान्तर मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति ही है।

प्रभाकर ने भट्टनायक, अभिनव तथा धनंजय की अवधारणाओं का विश्लेषण करने के उपरान्त मूलतः एक समन्वित दृष्टि का परिचय दिया है, जिसमें अभिनव की सम्बन्ध विशेष के स्वीकार परिहार, (प्रमाता के वस्तुगत तथा विषयीनिष्ठ संसर्गों की मुक्ति)[3] भट्टनायक की सीतादि के कामनीत्व मात्र में पर्यवसान की भूमिका[४] तथा धनंजय की काल्पनिक प्रतीतिजन्य तादात्म्य की अवधारणाओं[५] का अन्तर्भाव है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि प्रभाकर नैतिक तथा अनैतिक के द्वन्द्वों की अपेक्षा सौष्ठववादी भूमिका पर ही साधारणीकरण की अवधारणा में आस्था व्यक्त करते हैं। सीतादि का स्त्रीत्वादि के रूप में पर्यवसान जहाँ उपदेशात्मक अनुकरण अथवा नैतिक मूल्यों के पुनरनुसंधान के स्तर पर विश्लेषित हुआ है, उन्हें ग्राह्य नहीं है। विभावादि के साधारणीकरण में नैतिक दृष्टि अवरोध नहीं डालती। **तस्माद्विभावत्वादिप्रकारेण भानमेव साधारण्येन मानम्। स्त्रीत्वादिमानं पुनरास्तां न वेत्यन्यदेतदिति वयम्।**[६] यह बात अवश्य है कि साधारणीकरण की आवश्यकता के मूल में पूज्य बुद्धि के

१-२. विभावाद्यनधीनमपि तदधीनमिव विभावादिसमयसमनियतमात्मानमादर्शयन् स्वप्नविषयक मनोगम्योऽपि बाह्यविषयवदितरेन्द्रियविषयमिव स्वात्मानं परिस्फोरयन् हृदयमिव प्रविशन् परिमितोऽप्यपरिमितः। (रस-प्रदीप (प्रभाकरभट्ट, प्रयाग-१९२५) पृ० २९)

३. सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारानवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तो··· (वही, पृ०, वही)

४. सीतात्वादिमपहाय स्त्रीत्वादिमात्रेणेव स्फुरणात्। (वही, पृ० ३०)

५. दृश्यते हि मृण्मयान् द्विरदानपश्यतो विम्भस्य मृण्मयादित्वविशेषमपहाय द्विरदसामान्यप्रतिभासः। (वही, पृ० ३०)

६. रसप्रदीप, पृ० ३१

लोप कीं समस्या भी है । पूज्या होने के कारण, प्रमाता, सीता के प्रति राम की रति के साथ सम्बन्ध स्थापित कर उसे विभावरूप में स्वीकार नहीं कर सकेगा ।[1] आशय यह है कि साधारणीकरण के प्रयोजन के मूल में नैतिक, अनैतिक के द्वन्द्व को प्रभाकर स्वीकार करते हैं, और अन्तिम रसात्मक परिणति को मूलतः द्वन्द्वमयी भावनोपनीत चेतना मानते हैं ।[2]

भट्टनायक के विवेचन में भी प्रभाकर ने मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है । उन्होंने भावना, साधारणीकरण, भावकत्व एवं वासना संस्कार को एक ही धरातल पर प्रस्तुत किया है । भावना की संस्कार निष्ठा के कारण रामादि अनुकार्य तथा सामाजिक की रति का अभेदाध्यवसान हो जाता है ।[3] भावना को संस्कार के स्तर पर ग्रहण करना भट्टनायक की व्यापारवादी दृष्टि के विपरीत अवश्य पड़ता है किन्तु संस्कार को भावना के स्तर पर स्वीकार कर लेने से अभिनव के साथ भट्टनायक का सामंजस्य स्थापित हो जाता है । अभिनव के अनुसार प्रमाता में काव्यार्थ को साधारणीकृत रूप में ग्रहण करने के लिए एक विशेष प्रकार का संस्कार अभीष्ट है ।

भट्टनायक के मन्तव्य को प्रभाकर अपने वैशिष्ट्य से संवलित कर इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं —अभिधा सम्पूर्ण काव्यार्थ को प्रस्तुत करती हैं, किन्तु उसे सामाजिक की रत्यादि का विषय भावना ही बनाती है । भावना विभावादि को साधारणीकृत करने वाली कोई विशिष्ट वासना या संस्कार है । भावकत्व गुणालंकार परिग्रहात्मक है, फिर भी संस्कार (भावना) तथा भावकत्व (गुणालंकारयुक्तता) में अन्तःसंबन्ध है । आशय यह है कि संस्कारविशिष्ट प्रमाता काव्य के अन्तश्चमत्कार को अन्तर्भावित करने में समर्थ हो सकता है ।[4] भावना प्रभाकर की दृष्टि में सहृदय की आत्मास्वाद-

---

[1] सीतादीनां सामाजिकरतावकारणत्वात् स्वकान्तात्वसंवेदनाभावात् । आराध्यत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वाच्च । (वही, पृ० २६)

[2] भावनोपनीतो रामादिरत्यादिः सामाजिकचिदानन्दाख्यः साक्षात्कारविषयो रसः । (वही, पृ० वही)

[3] भावना च विभावादिसाधाकरणीकरणात्मा भावकत्वाख्यः कश्चन वासनापरनामा संस्कारः तेन च रामादिरत्यादिभिः सह सामाजिकरत्यादीनामभेदाध्यवसानम् । (वही, पृ०)

[4] भावकत्वं च समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकम् ।···दृश्यते हि तदेव काव्ये मुहुर्मुहुश्चर्वयन् सहृदयो लोकः । (रसप्रदीप, पृ० २६)

मयी काव्यानुभूति का पर्याय है। यह एक प्रकार की धारावाही अन्तश्चेतना है। अभिनव के मत को प्रभाकर ने उसके मूल रूप में ही प्रस्तुत किया है किन्तु भट्टनायक के मत को अंशतः उसकी व्याख्या की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि रसानुभूति को प्रभाकर अनुकार्यगत न मानकर सामाजिकनिष्ठ ही मानते हैं, क्योंकि रामादि की रति प्रमाता के लिए अननुभूत होने के कारण पुनर्भावित नहीं हो सकती। परम्परित दृष्टि से रसप्रदीपकार अनुमिति से रसाभूति का निषेध करते हैं। यद्यपि इस संदर्भ में पूर्वपक्ष के रूप में उन्होंने शंकुक के मत को साधारणीकरण की भूमिका के स्तर पर ही व्याख्यायित किया है[1], किन्तु धारावाहिकता अर्थात् प्रेक्षक की तन्मयावस्था को, प्रभाकर इस कारण असंगत ठहराते हैं कि वह जिस प्रदर्शित रति का पुनरनुसंधान करता है उसे अनुव्यवसायात्मक ज्ञान के रूप में नहीं, रस की वास्तविक अनुभूति के रूप में ग्रहण करता है। रस मूलतः मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति है, जो भावना अथवा संस्कार-निष्ठ भूमिका पर ही अंकुरित होती है। संस्कार अथवा वासना की मूलभूत अवस्थिति प्रत्येक सहृदय में सम्भाव्य है, अतः अभिनेता में भी काव्यार्थ के भावन का एकान्त निषेध नहीं किया जा सकता। निष्कर्षतः साधारणीकरण के मूल में भावना तथा संस्कारविशेष को स्वीकृति प्रदान कर प्रभाकर भट्टनायक और अभिनवगुप्त को एक ही धरातल पर उपस्थित कर देते हैं।

भूदेव शुक्ल (१६६० ई०) रसविलास

भूदेव का रसविलास मूलतः प्राचीन आलंकारिकों की ही उद्धरणी प्रस्तुत करता है। रसगंगाधर का वह सर्वाधिक उपजीवी प्रतीत होता है। विचित्र तथ्य यह है कि उन्होंने अन्य आलंकारिकों का नामग्रह पूर्वक स्मरण किया है, किन्तु पंडितराज का नामोल्लेख नहीं किया है। वस्तुस्थिति यही प्रतीत होती है कि भूदेव ने ही पंडितराज जगन्नाथ का अनुहरण किया है। उनकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है—'इत्यावेदितमस्माभिर्नवं नात्र प्रकल्पितम्।'[2]

१- अनुमितस्यापि तन्मयीभावापादकधीरूपवासनावशात्पुनः पुनरनुसन्धाने दोषाभावात्। इयमेव ह्यस्मिन् मते चर्वणा। (वही, पृ० २४)

२. रसविलास पृ० ९९

रस-स्वरूप एवं साधारणीकरणसंबंधी विचार उन्होंने अविकल रूप से रसगंगाधर से ग्रहण किए हैं। इनसे केवल यह ज्ञात होता है कि इस प्रक्रिया में उनकी आस्था हृदय-संवाद, भावना-विशेष की महिमा से दुष्यन्तरमणीविशेष अर्थ के विगलन, आनन्दांश के भंग तथा परिमित प्रमातृभाव के तिरोधान जैसे प्रत्ययों पर ही है। पण्डितराज के समान भूदेव की भी यही मान्यता है कि व्यंजना-व्यापार के आविर्भाव से प्रमाता के आनन्दांश को आवृत करने वाला अज्ञान तिरोहित हो जाता है तथा भावना-विशेष रूप साधारणीकरण व्यापार की महिमा से उसमें स्थित परिमितप्रमातृता समाप्त हो जाती है तथा प्रमाता अपने अन्तःकरण में स्थित स्वप्रकाशचैतन्य रूप आनन्द को हृदय में वासना रूप से अवस्थित रत्यादि से संवलित कर आस्वाद करता है।

'इत्थं च समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन सर्मापतैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः अश्रुपातादिभिः कार्यैश्चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च संभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वतितानन्दांशावरणज्ञानेन अत एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।'[1]

स्पष्टतः भूदेव का मन्तव्य ही नहीं उक्त अंश भी रसगंगाधर से उद्धृत है। साधारणीकरण के संबंध में भूदेव की देन अनुभाव एवं व्यभिचारी की सापेक्ष संयोजना के विवेचन में है। साधारणीकरण के मूल में असाधारणता की प्राक्कल्पना आवश्यक है। विभावादि के असाधारण होने के कारण व्यभिचारी भाव अन्य भावों का आक्षेप करके तथा उनसे संयुक्त हो कर ही रस के व्यंजक होते हैं। अमरुक के 'दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं' इत्यादि श्लोक पर उनकी टिप्पणी है कि 'एषां विभावादीनामसाधारण्येनान्यद्वयाक्षेपकत्वेनात्रापि मिलितानामेव व्यंजकत्वात्। अथैते यद्यसाधारणास्तर्हि किमन्यद्वयाक्षेपेण। एकैकव्यभिचारे हि त्रयापेक्षा। यदि साधारण्यमेवैषां कथं तर्हि स्थायिविषयोग्यविभावाद्याक्षेपकत्वमिति। उच्यते। एकैकस्य व्यभिचारात् मिलितानां व्यञ्जकत्वे स्थितेऽसाधारणेनापि इतरद्

---

[1] वही, पृ० ३

द्वयमाक्षिप्यते । किञ्च रसस्य विभावादिसमूहालम्बनरूपत्वादेकैकस्मादसाधारणादपि व्यक्त्यभावात् मिलितानामेव व्यंजकत्वम् अतोऽसाधारण्येऽपि इतरद् द्वयमाक्षिप्यते ।[1]

अनुभाव एवं व्यभिचारी एक से अधिक स्थायिभावों के साथ संयुक्त हो सकते हैं तथा एक ही विभाव रौद्र अद्भुत वीर रसों में संयुक्त हो सकता है। अतः किसी विशिष्ट रस की निष्पत्ति के लिए इनकी असाधारण योजना आवश्यक है। रस समूहालम्बनात्मक है, अतः किसी एक के असाधारण होने से रस की निष्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक अन्य दो के आक्षेप से उसकी असाधारणता को पुष्ट न किया जाए। अभिनव ने रसानुभूति के इस विलक्षण व्यापार की ओर संकेत किया है।[2] भूदेव की मौलिकता यही है कि उसने असाधारणता की कुक्षि से उभरने वाले साधारण्य की ओर मनोवैज्ञानिक संकेत किया है।

विश्वेश्वर पाण्डेय (१८वीं शती का आरम्भ) रसचन्द्रिका

भट्टनायक, अभिनव गुप्त तथा पंडितराज जगन्नाथ की अवधारणाओं के समन्वय से विश्वेश्वर ने अपनी साधारणीकरणसम्बन्धी अवधारणा निर्मित की है। भट्टनायक की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए विश्वेश्वर कहते हैं कि अभिधा शक्ति सीता को सीतात्व के रूप में उपस्थित करने में ही समर्थ है जो रसानुभूति के विपरीत है। भावकत्व व्यापार से ही सीतादि की कान्तात्व रूप में परिणति सम्भव है।[3] आशय यह है कि उनकी दृष्टि में भावकत्व, आराध्यत्व ज्ञान का प्रतिबन्धक तथा भोगकर्तृत्वव्यापार का प्रेरक है। स्थायी भावकत्व-व्यापार से साधारणीकृत होते हैं तथा इस प्रक्रिया में सुख-दुःख-मोह आदि क्रमशः प्रकाशित होते हैं किन्तु सत्त्वोद्रेक शेष गणों को अभिभूत

---

[1] रसविलास पृष्ठ ८

[2] ये पुनरमी ग्लानिशंकाप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्ममध्येऽपि न भवन्त्येव। तथा हि—रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति। यस्यापि भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति।
(नाट्यशास्त्र पृ० २८३)

[3] रसचन्द्रिका (चौखम्बा-१९२६) पृ० ४५

कर रसानुभूति को सुखमात्र में पर्यवसित कर देता है। विश्वेश्वर भट्टनायक के सिद्धान्त को सांख्यसिद्धान्त के अनुकूल ही व्याख्यायित करते हैं[1]।

लौकिक अनुभूति विशेष रूप से ही ग्राह्य होती है। इस अनुभूति का आधार मूलत: अनुमान होता है, अतः यह चमत्कारपूर्ण नहीं होती। काव्य में वाक्यार्थ बोध के अनन्तर चमत्कार का उद्रेक होता है, अतः काव्यानुभूति अलौकिक तथा आनन्दात्मक होती है। कहना न होगा कि विश्वेश्वर काव्यानुभूति को काव्य-भाषा की सर्जनशीलता के आधार पर लौकिक अनुभूति से भिन्न ठहराते हैं। काव्य-भाषा के प्रतिमान के अतिरिक्त निर्विशेषीकरण की अवधारणा का आधार ले कर वे अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—**'काव्यादौ वाक्यार्थबोधानन्तरं चमत्कारविशेष इत्यनुभवसिद्धत्वात्। एतेन शकुन्तलादीनां सामाजिकैरसम्बन्धात् कथं तेषां रसोद्बोध इति निरस्तम्। काव्यादौ तेषां साधारणीकरणमिति स्वीकारात्।'**[2] इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि जब रसात्मक बोध की शाब्दबोधविषयता का निषेध किया जाता है तो वह स्पष्टतः रसबोध की स्वशब्दवाच्यता का निषेध है, अन्यथा रस भी वाक्यार्थ के रूप में ही विभावादि के द्वारा संवेद्य होता है। पंडितराज ने भी रसादिबोध रूप आनन्दात्मिका अनुभूति को शब्दव्यापारजन्य न मानने में कोई हानि नहीं देखी **'तेन रसास्वादस्य काव्य-व्यापारजन्यत्वेऽपि न क्षतिः'**[3]। रसास्वाद की व्याख्या विश्वेश्वर, पंडितराज जगन्नाथ की वेदान्तसम्मत अवधारणा के आधार पर भी करते हैं। रस साक्षात् आत्मचैतन्य का स्व-प्रकाशन ही है। चैतन्य के अंश को ले कर ही रस के नित्य स्व-प्रकाशन अलौकिकादि विशेषणों की सार्थकता है, अतः आनन्दांश के आवरण भंग से ही रसानुभूति संभव है **'रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमावरणभंगादानन्दरूपतया प्रकाशमानं रसपदार्थः'**।

विश्वेश्वर की अन्तिम आस्था साधारणीकरण की स्वीकृति में ही है। पंडितराज की भाँति वे भावना-दोष में साधारणीकरण की संभावना नहीं देखते। उनकी दृष्टि में भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त की समन्वित दृष्टि ही

---

१. उद्रेकश्च स्वेतरद्वयाभिभव इति साङ्ख्यसिद्धान्तात् (वही, पृ० ४६)

२. वही, पृ० ४६

३. रसगंगाधर (सं० मधुसूदन शास्त्री) हिन्दू विश्वविद्यालय सं० २०२० पृ० १३९-४०

स्वगत परगत आदि अनास्वाद्य प्रतीतियों तथा आराध्यत्व आदि ज्ञानों का निषेध करने में समर्थ है। भट्टनायक के मत की उपस्थापना में वे भावकत्व नामक शब्दगत द्वितीय व्यापार से सीता आदि की सामान्य कान्ता रूप में उपस्थिति स्वीकार कर उन की अवधारणा को किंचित् भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी साधारणीकरण की स्थापना को भी विश्वेश्वर ने किंचित् वैशिष्ट्य के साथ प्रस्तुत किया है 'एवं साधारणीकरणेन भावकत्व-निवृत्तौ तृतीयस्य भोगकर्तृत्वव्यापारस्य प्रभावात् रजस्तमसोरभिभवे सत्त्वोद्रेके च प्रकाशमाना आनन्दमयी या संवित् तत्र विगलितवेद्यान्तरत्वेन स्थितिरूपा या विश्रान्तिस्तत्स्वरूपेण साक्षात्कारेण विषयीक्रियमाणो रत्यादिस्थायिभावो रसः।'[1] उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस-चन्द्रिका-प्रणेता विश्वेश्वर भट्टनायक की भावना या भावकत्व को तथा अभिनवगुप्त की व्यंग्य-व्यंजक-भावरूप सम्बन्धपरता को परस्पर विरुद्ध न मान कर एक दूसरे के पूरक रूप में ही उपस्थित करते हैं। दोनों ही अवधारणाएँ परिहृतविशेषता तथा प्रमातृ-विशेषनिष्ठता की परिमितता के निषेध तथा स्वगत परगत प्रतीतियों के दोषपरिहार की भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। पण्डितराज की अवधारणा ने इन्हें समन्वित करने में अतिरिक्त योग दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं विश्वेश्वर की दृष्टि वस्तुनिष्ठ न होकर विषयीनिष्ठ तथा वेदान्त-दर्शन प्रधान है।

विद्याराम (१८ वीं शती का प्रारम्भ) रसदीर्घिका—रचनाकाल-१७०६ विक्रम

विद्याराम ने साधारणीकरण का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु सहृदय तथा कवि के हृदय-संवाद की अनुभवपरक भूमिका की ओर वे अवश्य इंगित करते हैं। कवि अपने अनुभूयमान भावों एवं विचारों को सहृदय तक तभी सम्प्रेषणीय बना सकता है, जबकि प्रामाणिक अनुभूति के स्तर पर उसने स्वयं उनका अन्तर्भावन किया हो। वस्तुतः कवि के आत्मानुभव की ओर इंगित करने वाली विद्याराम की दृष्टि आधुनिक काव्यचिन्तन का पूर्वाभास देती है : 'रस्यतेऽनुभवं स्वस्यानीयते यः स वा रसः'[2]। तालस्ताय के अनुसार भी

---

[1] रसचन्द्रिका पृ० ४५-४६

[2] रसदीर्घिका, (जोधपुर राजस्थान-१९५९, पृ० २)

सम्प्रेषित भाव का वैशिष्ट्य कलाकार की भावानुभूति की प्रमाणिकता में ही निहित है। कवि ने जिन अनुभूतियों को निजी जीवन में अनुभव किया है, उन्हीं को यथार्थ स्तर पर वह दूसरों तक संक्रमित करता है तथा प्रमाता भी समानुभूति के स्तर पर तत्परता तथा आवेग-प्रवणता के साथ सम्प्रेणित भाव का अनुभव करता है।[1] विद्याराम ने रस की मौलिक संकल्पना में सम्पूर्ण विश्व को विष्णु की भाँति अभिव्याप्त तथा रसमय करने की संभावना व्यक्त की है।[2] भावों का वैशिष्ट्य इसमें है कि वे समग्रतः चित्त को आप्लावित कर देते हैं[3] तथा सहृदय का हृदय किसी विलक्षण अनुभूति से उद्वेलित हो कर रागोद्रेक में तन्मय होता है। सहृदय का तन्मयीभाव भावोद्रेक की इसी घनीभूतता की अनिवार्य परिणति है।

जगन्नाथ मिश्र (१८ वीं शती का पूर्वार्द्ध) रसकल्पद्रुम (रचनाकाल-१७३५)

रसकल्पद्रुमकार की आस्था रस की सुखात्मक अनुभूति में ही है। दुःख की वेद्यान्तर अनुभूति से भिन्न सुखसामान्य में विभावादि की परिणति रस है।[4] इस सूत्र से लेखक भट्टनायक के मत को उपेक्षणीय मानता हुआ अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की ओर अग्रसर होता है। रस की अभिव्यक्ति जैसी अनुभूति प्रमाता से अभिन्न अनुभूति है जो अखण्ड, चिदानन्दमयी

---

[1] पूर्वदृष्टो यः कोऽपि वृत्तान्तः अग्रे गत्वा स्वयमनुभवगोचरीक्रियते तर्हि सोऽपि किं रसव्यपदेशो भवति स्थूलस्थूलोऽपि साधारणतया योऽर्थो ऽवगम्येत सोऽपि काव्येषु रसबोधसीमनि सामाजिकम् प्रापयेदिति रस-दीर्घिकानिर्मातुः तात्पर्यम्।
(भट्ट मथुरानाथ शास्त्री, वही, पृ० ४)

[2] रसो वै स इति श्रुत्या रसस्य विष्णुरूपता।
अतो विष्णुमयं विश्वं यथा रसमयं तथा॥
(वही, १/८, पृ० २)

[3] भावैस्तैस्तर्हि यच्चित्तै पूर्यमाणः समन्ततः।
उद्रिक्तः कोऽपि निर्यायात् भावः सान्द्रो रसः स्मृतः॥
(वही, १/९, पृ० २)

[4] रसकल्पद्रुम (उड़ीसा साहित्य अकादमी-१९६५), पृ० ३८।

अतिरिक्त संसर्गशून्य ब्रह्मास्वाद-सहोदर जैसी अनुभूति है।[1] यह अनुभूति एकान्त, आध्यात्मिक अनुभूति भी नहीं है, क्योंकि विभावादि की सामग्री का सम्मेलन[2] स्थायिभाव के रसरूप में परिणत करने के लिए आवश्यक है। समानान्तर तथ्य यह है कि काव्यानुभूति प्रमाता की चेतना में तभी संक्रमित हो सकती है, जब उसे स्थितियों की सुनियोजित शृंखला के माध्यम से मूर्त किया जाए। काव्यानुभूति की सफलता इसी में है कि स्थायिभावों और उनके मूर्त विधान (विभावन व्यापार) में पूर्ण सामंजस्य और एकरूपता हो। इलियट ने आग्रहपूर्वक यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि कवि को अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए मूर्त्त संदर्भों का प्रसंगोचित आधार लेना चाहिए। इस संदर्भ में लेखक ने वेदान्त के 'तत्त्वमसि' महावाक्य का आधार लेकर सामाजिक की आस्वाद की चेतना की व्याख्या में योग दिया है। जीव तथा परमात्मा की एकता कालिक तथा स्थानिक अंशों के परित्याग पर ही निर्भर है। इसी प्रकार सामाजिक की रसानुभूति भी तभी अनवद्य रूप में पूर्ण हो सकती है, जब एतद्देशीय एवं एतत्कालिक अंशों (प्रतिबन्धों) का परित्याग कर दिया जाए। इन प्रतिवन्धों के तिरोहित हो जाने से सामाजिक नायक रूप में विवर्तित हो जाता है।[3] सहृदय तथा काव्य-निवद्ध आश्रय के तादात्म्य की वेदान्तसम्मत दार्शनिक भूमिका यही है। योगी जिस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास के द्वारा स्वप्रकाशानन्द रूप ब्रह्म का अभेद भाव से साक्षात् करते हैं,[4] उसी प्रकार सामाजिक भी काव्यगत विभावों एवं पात्रों से तादात्म्य करता है।

गंगाराम 'जडी' (१८ वीं शती का उतरार्द्ध) रस-मीमांसा (१८०८ वि० सं०)

गंगाराम 'जडी' के चिंतन पर अभिनव के अतिरिक्त विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। साधारणीकरण की

---

१. वही, पृ० -वही-

२. वही, पृ० ३७

३. रत्यादिरूपान्तःकरणवृत्त्युपहितचैतन्यस्थसमग्रविषयगृहीतत्वांशपरित्यागेन सामाजिकः एवास्वाद्यकाव्याद्याप्रतिपाद्यनवद्यनायकरूपेण विवर्तते।
(वही, पृ० ३८)

४. (वही, पृ० वही)

प्रक्रिया के अन्तर्गत वे विभावादि तथा स्थायी भावों के साधारणीकरण, संबंधों के स्वीकार परिहार मूलक अन्तःसंबंध, पात्र तथा प्रमाता के वैशिष्ट्यों के तिरोधान के संदर्भों के अतिरिक्त सर्वसाक्षिक दोष-महात्म्य तथा आत्म-चैतन्य की आवरणमुक्ति जैसी अवधारणाओं को संयुक्त करते हैं। उनके चिन्तन के संभावित अन्तः सूत्र इस प्रकार हैं :-

क. विभावादीनां स्थायिनां वा साधारणीकरणहेतुः ।
ख. सम्बन्धि-विशेषावच्छिन्नत्वेनागृह्यमाणत्वम् ।
ग. व्यापारः सर्वसाक्षिकं दोषमाहात्म्यमेव वा ।
घ. तस्मात्तु स्वतः प्रकाशज्ञानावरणमपसरति द्राक् ।
च. साधारणीकरणं नामागम्यात्वादि·प्रकारज्ञानाविषयकान्तात्वादिनाऽवगम्यमानत्वम् ।[1]

उक्त सूत्रों में विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कवि चिरकाल से समष्टि-चेतन में स्थित स्थायिभावों का ही काव्य में वर्णित अनुभावों के द्वारा पुनः पुनः अनुसंधान करता है।[2] फलतः स्थायी से संयुक्त होकर विभाव-अनुभाव-व्याभिचारी सहृदय के स्तर पर साधारणीकृत होते हैं। अनुसंधान का मूल उत्स यद्यपि लोल्लट के चिंतन में निहित है, किन्तु उसमें व्यापक चेतना की प्रतिष्ठा पंडितराज ने ही की है। **'कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसंधानात्मा।'**[3] वस्तुतः काव्यतत्त्व अनुभूति मात्र नहीं हैं। कवि और प्रमाता के स्तर पर अनुभूति का पुनः अनुसंधान है। विश्व के प्रति रागात्मक संचेतना कवि की मनोभूमि पर जिस रूप विधान में ढलती है, वह समष्टि सत्य का ही पुनरसंधान है। अनुभूति का पुनः अनुसंधान या अन्तर्भावन कल्पना की क्रिया है, जो एक स्तर पर प्रमाता की वासना या चित्तवृत्ति में संश्लिष्ट संस्कार-खण्डों एवं स्मृति-चित्रों का काव्योपकरणों के माध्यम से प्रत्याह्वान कर उसकी तात्कालिक अनुक्रिया को देश कालातीत बनाती है तो दूसरे स्तर पर काव्यानुभूति उसमें निहित वैयक्तिकता का परिहार कर जैसे सामष्टिक चेतना के धरातल पर स्वयं को पुनः रूपायित करती है।

---

१. रस-मीमांसा, पृ० ३-४

२. वही, पृ० २

३. रसगंगाधर (संपादक श्री बदरीनाथ झा), पृ० ११

स्पष्टत: गंगाराम 'जडी' अनुभूति की पुन: पुन: चर्वणा को ही रस मानते हैं, जिसमें विभावादि और स्थायी-भाव साधारणीकृत होकर उपस्थित होते है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के विवेचन में वे पंडितराज की शब्दावली का आधार ग्रहण करते हैं। साधारणीकरण रस-विरोधी अगम्यात्व ज्ञान का प्रतिबंधक है, जिसमें सीतादि का वैशिष्ट्य तिरोहित होकर पुन: कान्तात्व आदि धर्मों से युक्त होकर पुनरुद्भावित होता है। इस प्रक्रिया से सम्वन्ध-विशेष की अवच्छिन्नता तिरोहित हो जाती है तथा काव्यानुभव के अनुभूति मात्र में पर्यवसित हो जाने से आत्म-चेतना का आवरण हट जाता है। इस अर्थ में साधारणीकरण अलौकिक व्यापार ही है। जडी के अनुसार यह व्यापार सर्वसाक्षिक अथवा दोष-माहात्म्य रूप है। अपनी सहृदयता से उल्लसित भावनाविशेष दोष की महिमा से सामाजिक स्वयं को कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित कर लेता है। शुक्ति में जिस प्रकार रजत का रूप अज्ञानवश उत्पन्न हो जाता है तथा इन्द्रियप्रमाण के विना संवेद्य (साक्षि-भास्य) होता है, उसी प्रकार स्वयं को दुष्यन्त कल्पित करने के कारण प्रमाता में शकुन्तला के प्रति साक्षि-भास्य से रति उत्पन्न हो जाती है।[1] इस व्यापार का दूसरा स्तर भी है जिसमें आत्मचैतन्य का स्वत:प्रकाश ज्ञान उन्मीलित होता है तथा आनन्दांश के आवरण के भंग हो जाने से व्यंजना का प्रादुर्भाव एवं रसानुभूति का वृत्त पूर्ण होता है।

इस परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट: है कि जडी ने प्राचीन सिद्धान्तों को यथासंभव समन्वित किया है। अनुसंधान में यदि लोल्लट, शंकुक एवं पंडितराज की अन्तर्ध्वनि है तो 'व्यापार' में भट्टनायक की। संबंधों के परिहार की अवधारणा में अभिनव तथा विश्वनाथ की स्पष्ट प्रेरणा है। इस विवेचन की मूल चेतना अद्वैत-चिन्तन पर आधृत पंडितराज के विवेचन की ऋणी है।

शिवराम त्रिपाठी- रसरत्नहार:

शिवराम त्रिपाठी की रस-अवधारणा की विशेषता यह है कि उन्होंने बड़ी सजगता से रस के स्वरूप विवेचन में सहृदय की अनुभूति को स्पष्ट स्वीकृति प्रदान की है। सहृदय के अन्त:करण में रत्यादि भाव अनुचिन्तन के माध्यम

---

१. रसगंगाधर (सं० उपरि) पृ० ८७ पर आधृत।

२. भूम्ना कान्ताद्यालम्बनोपलक्षित: सन् प्रकाशते चिद्विषयी भवति।
(रा० मी० पृ० ७)

से जब पुनः पुनः भावना का विषय बनाये जाते हैं, तो उनमें स्वतः आस्वाद-चेतना के रूप में उद्रिक्त होने की क्षमता आविर्भूत हो जाती है। इस संदर्भ में स्थायिभाव की रसानुभूति में परिणति के तीन अनुबन्ध हैं। स्थायिभाव की स्थिति, उसका पुनः पुनः उद्बोधन तथा आस्वाद चेतना में उसकी परिणति श्रोतृ-प्रेक्षकाणामन्तःविपरिवर्तमानो रत्यादि वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरतां नीयमानो रसः।'[1] विपरिवर्तमानः से स्पष्ट है कि रसानुभूति अनुभूति की निरावृत अभिव्यक्ति नहीं है। वह अनुभूति के पुनः पुनः भावन का परिणाम है। आस्वाद के धरातल पर अनुभूति का अन्तर्भावन साधारणीकरण की सीमा में आता है। इस संदर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि काव्य तथा नाट्य-रस के समीकरण के लिए लेखक ने 'श्रोतृ प्रेक्षक' समीकरण का प्रयोग किया है। रुद्रभट्ट ने भी शृङ्गार-तिलक में भरत आदि आचार्यों की नाट्य के प्रति रसस्थिति की आग्रहशीलता देख कर काव्य में रसस्थिति का समानान्तर विवेचन प्रस्तुत करने का आग्रह व्यक्त किया है। वस्तुतः साधारणीकरण की भूमिका में नाटक तथा काव्य की मौलिक अनुभूति एक ही स्तर पर उन्मीलित होती है। श्री त्रिपाठी के अनुसार काव्य मूलतः आनन्द-संविद् का हेतु है।[2] प्रकारान्तर से उनका अभिमत सुख दुःखात्मक रसानुभूति को अस्वीकार करता है तथा रस की चरम परिणति को संविद् के आनन्दपरक उन्मीलन में ग्राह्य मानता है। 'इत्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्'।

सौजन्यभूषणकवेरनुजः (लेखक का नाम तथा रचना तिथि अज्ञात) रसविवेक (अपरनाम काव्यादर्श)

रसानुभूति की परब्रह्मास्वादसविध योगियों की मुक्तावस्था से तुलना एक अतिशय आदर्शीकृत प्रकल्पना है। काम का तिरस्कार करने वाले योगी भी अन्ततः काव्यार्थ के आस्वादन में मोक्षानुभूति ही ग्रहण नहीं करते शृंगारिक नाटकों के माध्यम से परमानन्द में प्रवृत्त भी होते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में रसविवेककार रसानुभूति और साधारणीकरण की

---

[1] रसरत्नहार (निर्णयसागर-१९३०) काव्यमाला षष्ठगुच्छक नामसंग्रहे पृ० ११९

[2] काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुर्भावेन रसवत्।
(वही, पृ० ११९)

केन्द्रीय-समस्या में लोकानुभूतिजन्य रागात्मक संवेदनों का एकान्त तिरस्कार कर नहीं चलते। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि कवि जिस रसानुभूति के लिए प्रयत्नशील होता है निश्चय ही अनुकार्य एवं नट उस वृत्त से बाहर हैं। अनुकार्य अविद्यमान है और नट में धनाकांक्षाजन्य भावशून्यता है, इसलिए सहृदय ही रसानुभूति का परिशिष्ट भोक्ता है; किन्तु नट भी यदि सहृदय है, उसमें भी भावकतुल्य काव्य के रसास्वाद की परिकल्पना अनुपयुक्त नहीं है।[1] यह लेखक की समन्वय-मूलक लौकिक दृष्टि है, जो कवि, नट एवं सहृदय की रसानुभूति की प्रेरक मनोदशा में एकता का अनुसंधान करती है। लौकिक अनुभूति काव्यानुभूति में विभावित अथवा भावरूप में परिणत होकर आत्मा को उत्कर्ष प्रदान करती है। 'भावस्य चायमेवोत्कर्षः यत्रानन्दमयः स्वात्मा परिस्फुरति' नाट्य अथवा काव्य में उस अनुभूति को गोचर एवं हृदयंगम करते ही श्रोता अथवा प्रेक्षक की वृत्तियाँ एकतान हो जाती हैं।[3] इस संदर्भ में विवेककार ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित किया है। लोकानुभूति को काव्यानुभूति में परवर्तित करने वाला मूल तत्त्व अभिव्यंजना-तत्त्व है। शब्दों में आविष्ट होते ही लौकिक भाव अलौकिकता में परिणत हो जाते हैं। 'स खलु शब्दस्य कोऽपि महिमा येन लौकिका अपि भावा तदभिधेय-दशामाविशन्तो लोकोत्तरचमत्कारकारित्वेनालौकिका सम्पद्यन्ते।'[4] इस पृष्ठभूमि में यदि रसविवेककार की साधारणीकरणविषयक विकीर्ण अवधारणाओं एवं संवेदनों को समीकृत किया जाए तो कतिपय सदर्भों में लेखक की अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता का परिज्ञान सहज ही हो जाता है। लेखक ने अनेक स्थलों पर विशेष और अविशेष के द्वन्द्व को रेखांकित कर साधारणीकरण की अवधारणा को अधिक व्यापक आयाम दिया है। विभाव मूलतः असाधारण ही होते हैं, किन्तु भावक के निरन्तर अभ्यासजन्य काव्य-संस्कार

---

१. यदि नटोऽपि सहृदयः स्यात् तदा तस्यापि भावकस्यास्वादवत् काव्यारसास्वादो युज्यत एव। (र० वि० पृ० ४०)

२. रसविवेक, पृ० १०

३. नाट्य-काव्ययोः गोचरीक्रियमाणाः स्वसौंदर्यातिशयात् श्रोतृप्रेक्षकाणां वासनात्मिकायां स्वाभिव्यंजकतायां भावलक्षणायां वृत्तौ प्रसादातिशयं निदधाति। (र० वि० पृ० १०)

४. वहीं, पृ० १०

से वे अनुभाव और व्यभिचारियों से अनुविद्ध होकर विपरिवर्तित हो जाते हैं।[1] यदि विभाव असाधारण न होंगे तो वे किसी भी अप्रस्तुत अर्थ की अभिव्यंजना कर रसान्तर में परिणत हो जाएँगे तथा प्रमाता रसस्थिति से साधारणीकृत न हो सकेगा। **'यस्मिन् सति साधारणत्वेनाप्रस्तुतमप्याक्षिपन् रसान्तरमपि ध्वनयति।'**[2] साधारणीकरण की मूलभित्ति विभावों की असाधारणता की इसी भूमि पर प्रतिष्ठित है। इस संदर्भ में दूसरा तथ्य यह है कि यदि अनुभावों के मूल में विभावों का वैशिष्ट्य नहीं है तो अनुभाव अपनी साधारणता के कारण अन्य रसों के व्यभिचारियों को भी आक्षिप्त कर लेंगे और शृङ्गारादि में करुण रस की भी अनुभूति होने लगेगी।[3] 'परिहरति' में नायक के शरीर की विषम दशा के चित्रण में रुचि हटने, बुद्धि लुप्त होने, स्खलित आचरण करने आदि जिन अनुभावों की व्यंजना है, वे विभाव विशेष तक सम्बद्ध नहीं है। नायक की यह प्रतिक्रिया वियोगजन्य है अथवा शोकजन्य, इसकी प्रतीति क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा रखती है। मानसिक प्रतिक्रिया की अनिश्चितता प्रमाता के रागात्मक एवं बौद्धिक सामंजस्य को विशृङ्खलित कर देती है। बौद्धिक सामंजस्य की अनिवार्यता साधारणीकरण की मूल प्रेरणा है।

अन्य आचार्यों के साधारणीकरण-विषयक संदर्भ

राजशेखर (८८०-९३० के मध्य) काव्यमीमांसा

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के चतुर्थ अध्याय में भावयित्री प्रतिभा के विवेचन के संदर्भ में ऐसे कुछ सूत्र दिए हैं, जिनसे साधारणीकरण की

---

[1] तथापि तस्य असाधारणत्वेन भावकानामभ्यासपाटवाच्च तेन व्याप्तमन्यतमपि चिन्तानतरविपरिवर्तित एवेति।

(रसविवेक, पृ० १३)

[2] वही, पृ० वही

[3] इत्यत्र यथोक्तविशेषविरहादेव रतिपरिहरादिरूपोऽनुभावः शृंगारानुगुणो विभावव्यभिचारिणावाक्षिप्य शृंगारमुद्भावयन् यदि करुणस्यापि साधारणत्वाद् तदनुगुण विभावं व्याभिचारिणञ्चाक्षिप्य करुणमपि ध्वनयति

अवधारणा को अधिक व्यापक आयाम मिलता है। राजशेखर सहृदय में एक विशिष्ट संवेदनशीलता के अतिरिक्त विवेकनिष्ठा को भी अपेक्षित महत्त्व देते हैं। सत्य यह है कि सहृदय की संवेदनीयता के संदर्भ में ही कवि के सर्जन-कर्म की प्रासंगिकता है। राजशेखर ने इसे भावयित्री प्रतिभा कहा है, जो कवि के श्रम और अभिप्राय को पूरा करती है।[1] इस संदर्भ में वे कवि और भावक की अभिज्ञता का उल्लेख करते हुए कालिदास के साक्ष्य पर दोनों को इस आधार पर भिन्न स्वीकार करते हैं कि कवित्व में जहाँ रचनाकर्म का तत्त्व प्रमुख है, वहाँ भावकत्व में अंशतः मूल्यांकन की प्रक्रिया भी गतिशील रहती है।[2] वे भावकों की कोटि भी निर्धारित करते हैं, किन्तु उनका श्रेणी विभाजन का आधार मूलतः कवि-कर्म के प्रति भावक की सहानुभूति और विवेकनिष्ठा है। राजशेखर के अनुसार इन भावकों की चार कोटियाँ हैं[3] (१) अरोचकी, (२) सतृणाभ्यवहारी, (३) मत्सरी, (४) तत्त्वाभिनिवेशी।

अरोचकी भावक की अरोचकता ज्ञानजन्य अथवा स्वभावसिद्ध, दोनों प्रकार की हो सकती है। यदि यह ज्ञानजन्य है, तो अलौकिक अथवा विशिष्ट काव्य-रचना के द्वारा उसमें रुचि उत्पन्न की जा सकती है।[4]

अभिनव ने इस स्तर पर काव्यास्वाद में असमर्थ सहृदय की आस्वाद-प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इस कोटि के भावकों में प्रायः बिम्बविधायिनी कल्पना-शक्ति दुर्बल होती है, अतः वे शब्दार्थ के अन्तः सम्बन्ध का साक्षात्कार नहीं कर पाते। उनकी भावयित्री प्रतिभा को उद्दीप्त

ततश्च यथोक्त-विशेषसंयुक्ता विभावादयः केवलापि प्रत्येकं प्रकृतानुरूपं स्वान्यतमद्वयमाक्षिपन्तः सहृदयहृदयान्तर्विपरिवर्तमाना रसं निष्पादयन्तीति निरुपपद्यते। (रसविवेक, पृ० १४)

[1] भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री - स हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। (काव्यमीमांसा, विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-१९६५, पृ० ३२)

[2] एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः। (वही, पृ० ३२)

[3] चतुर्द्धा इति यायावरीयः मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च। तत्र विवेकिनः पूर्वं तद्विपरीतास्तु ततोऽनन्तराः इति वामनीयाः। (वही, पृ० ३३)

[4] ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवति वचसि रोचकितावृत्तिरेव। (वही, पृ० ३३)

करने के लिए नाटक ही अधिक उपयुक्त माध्यम है, जिसमें गीत, वाद्य आदि के द्वारा उनकी सहृदयता को उन्मीलित किया जा सकता है।[1]

सतृणाभ्यवहारिता अधिक व्यापक और साधारण है। इस कोटि के भावक कृति की अपेक्षाओं और सम्भावनाओं का आकलन न कर अपनी मानसिकता को ही कृति में आरोपित करते हैं।[2] वे रचना का समग्रता से आस्वादन नहीं करते। मत्सरी अपने व्यक्तिगत रागद्वेष के कारण कृति के सौंदर्य-बोध की अवमानना करते हैं। अतः राजशेखर तत्त्वाभिनिवेशी को ही वास्तविक भावक मानते हैं, जो अपेक्षित संवेदनशीलता, विवेकशक्ति तथा काव्य के अभिव्यंजनापरक तत्त्वों की विशेषज्ञता के अनिवार्य गुणों से अन्वित होकर काव्य का आस्वादन करता है। स्पष्टतः राजशेखर के अनुरूप भावक की योग्यता का प्रतिमान कृति के साथ भावात्मक एवं बौद्धिक तादात्म्य ही है। यद्यपि भावक की मानसिकता के अनुरूप वे काव्यास्वाद के विभिन्न स्तरों की ओर भी इंगित करते हैं,[3] तथापि उनका अभिनिवेश मूलतः तन्मयीभवन की उस प्रक्रिया में ही है, जिसमें निहित मानसिक साक्षात्कारात्मिका प्रतीति की ओर अभिनव ने इंगित किया है।

भावक की विभिन्न मानसिक भूमियों के उक्त विश्लेषण में भरत की नाट्यसिद्धि का आदर्श रूप समाहित हुआ है। भरत ने भावक के हृदय में उल्लखित गूढ़ विकारों की अभिव्यक्ति का उल्लेख भी किया है। राजशेखर का कथन है कि कुछ भावक वाणी द्वारा, कुछ हृदय द्वारा कुछ सात्त्विक आंगिक चेष्टाओं के द्वारा हृदयगत भावों को व्यक्त करते हैं।[4] स्पष्टतः भरत ने नाट्यास्वाद कीभूमिका को मानुषी सिद्धि कहा है। राजशेखर की दृष्टि मूलतः अभिजातवादी है, वे सर्वसाधारणी अवसादक्षमता की अपेक्षा तत्त्वाभिनिवेशीमूलक आस्वाद प्रक्रिया के प्रति आग्रह व्यक्त करते हैं, जिसमें अनिवार्यतः

---

[1] नाट्यशास्त्रम् भाग-१, (बड़ौदा-१९५६) (वही, पृ० २८)

[2] यथाहि व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति। (वही, पृ० ३४)

[3] वाग्भावको भवेत्कश्चित्कश्चिद्हृदयभावकः।
सात्त्विकैरांगिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः।। (वही, पृ० ३५)

[4] वही, पृ० ३५

बौद्धिक एवं रागात्मक कलासंस्कारिता की अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट एवं विरल भूमिका अपेक्षित है।[1] यह आकस्मिक नहीं है कि कालिदास ने शाकुन्तलम् में ऐसे तत्त्वाभिनिवेशी भावकों की अपेक्षा उन सर्वसाधारण भावकों को महत्त्व दिया है, जो अपनी विवेक तथा रागात्मक परिवेश के अनुकूल सहज ही मधु संग्रह कर लेते हैं। राजशेखर का यह विवेचन दो दृष्टियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है—प्रथम स्तर पर वे इस विवेचन में रुचिभेद को स्वीकृति देते हैं[2] तथा दूसरे स्तर पर वे रसास्वाद की उस आदर्श भूमिका की संभावनाओं की ओर इंगित करते हैं, जो भट्नायक एवं अभिनवगुप्त जैसे आदर्शनिष्ठ रसचिन्तकों में अधिक दृढ़ आधारभूमि पर प्रतिष्ठित हुई है। राजशेखर इस सन्दर्भ में साधारणीकरण के सीमांकन की ओर भी प्रकारान्तर से इंगित करते हैं। सर्वसाधारणी प्रतिभा काव्य-तत्त्वों की अविवेकपूर्ण ऋजु स्वीकृति है,[3] जबकि साधारणीकरण अपेक्षाकृत जटिल प्रक्रिया है, जो प्रत्येक अविवेकपूर्ण अनुक्रिया के लिए उन्मुक्त नहीं है। अधिकारी प्रमाता ही इसमें नूतन क्षितिजों का अनुसंधान करता है। **परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते।**'[4]

अविवेक तथा विभ्रम[5] का निराकरण रसास्वाद की भूमिका के लिए अनिवार्य है। अभिनव ने रसविघ्नों के संदर्भ में इनका स्पष्ट उल्लेख किया है। दुराराध्यता एवं मत्सरग्रस्तता काव्यास्वाद को अभेद्य बना देतीं है। कहने का आशय यह है कि काव्यकृति के आस्वाद के लिए राजशेखर एक ऐसे विशिष्ट प्रमाता के अस्तित्व की संभावना व्यक्त करते हैं, जिसमें काव्य

---

[1] शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः।
(काव्यमीमांसा, पृ० ३५)

[2] अभियोगे समानेऽपि विचित्रो यदयं क्रमः।
तेन विद्मः प्रसादोऽत्र नृणां हेतुरमानुषः।
(वही, पृ० ३६)

[3] सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारणी। (वही, पृ० ३४)

[4] वही, पृ० ३४

[5] विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते। (वही, पृ० ३४)

के कलापक्ष और भावपक्ष अर्थात् अभिव्यक्ति एवं अनुभूति की सूक्ष्म अर्थच्छाया को आत्मसात् करने की नैसर्गिक एवं अर्जित प्रतिभा है।

कुन्तक (१०वीं-११वीं शती) वक्रोक्तिजीवितम्

काव्य-सर्जन की वक्रोक्तिमूलक भूमिका में सहृदय की आस्वाद प्रक्रिया के भी सूत्र निहित हैं। कुन्तक के अनुसार अपरिष्कृत काव्य-वस्तु भी कवि की प्रतिभा से उद्भासित हो कर अभूतपूर्व दीप्ति से उद्भासित हो उठती है। यह प्रतिभासमान काव्य-वस्तु विदग्ध कवि के वाक्य में उपारूढ हो कर सान पर परिष्कृत किए हुए मणिखण्ड के समान सहृदयों को आह्लादकर होती है।[1]

वक्रता द्वारा गुणों तथा अलंकारों के सौन्दर्य का परस्पर स्पर्धान्वित हो जाना काव्यत्व का प्रयोजक है। अतः अर्थ-सम्प्रेषण में समर्पकत्व (अर्थबोधकता) तभी उत्पन्न होता है, जब एक शब्द का स्वजातीय शब्द की अपेक्षा भिन्न शब्द के साथ तथा एक अर्थ का दूसरे अर्थ के साथ परस्पर समर्पणभाव लक्षित हो।[2] इस सौन्दर्य के परिज्ञान के अभाव में तद्विदाह्लादकारित्व सम्भव नहीं है। यह स्पर्द्धा क्रमशः संवादी तथा विसंवादी अनुभूतियों को संघनित करती है। अवान्तर वाक्य एक दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए से काव्य के अनिर्वचनीय सौंन्दर्य को अभिव्यक्त करते हैं। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि कहीं संवादी और कहीं विसंवादी अलंकारों की रसानुकूल-योजना सम्प्रेषण में व्याघात उपस्थित कर काव्यांश को विरस भी बना सकती है।[3] रस का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जिस अर्थ के सामंजस्य से है, उस अर्थ

---

[1] प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाणशकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति।
(वक्रोक्तिजीवितम् (दिल्ली विश्वविद्यालय-१९५५) पृ० २३)

[2] अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया।
(वही, पृ० ६०)

[3] दीपकालंकारस्य च काव्यशोभाकारित्वेनोपनिबद्धस्य निर्वहणावसरे त्रुटितप्रायत्वात् प्रक्रमभंगविहितं सरसहृदयवैरस्यमनिवार्यम्।
(वही, पृ० ३३)

विशेष के अभिव्यंजक शब्द तथा अर्थ मूलत: चारुत्वविषयक होकर ही सहृदय-संवेद्य हो पाते हैं। उस चारुत्व-विशेष का प्रतिमान एक स्तर पर सहृदय-संवेद्यता है तो दूसरे स्तर पर रसमय काव्य के स्वरूप-परिज्ञान की कुशलता है जो शब्दों पर आधृत रसाभिव्यक्ति की चारुता की अभिज्ञता पर निर्भर है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यदि काव्यार्थ के सम्प्रेषण की भूमिका अलंकारों पर निर्भर है, तो अलंकारों का प्रयोग भी रस अर्थात् काव्यार्थ की व्यंजना पर ही निर्भर है। जैसा कि ध्वनिकार का कथन है, अलंकार-प्रयोग की शक्ति होने पर भी रसानुरूप अलंकारों की योजना होनी चाहिए। अलंकरण-प्रयोग का अनौचित्य रस-भंग का कारण होता है। कुन्तक ने काव्य के चारुत्वविधायक रूप में उपनिबद्ध अलंकारों के त्रुटिप्राय हो जाने पर प्रक्रमभंग से उत्पन्न सरस हृदयों के वैरस्य का उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में शब्दार्थ का अन्तःसम्बन्ध व्याहत होता है तथा समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ स्फुरित होता हुआ भी निर्जीव-सा प्रतीत होता है।[1] अर्थ के वैशिष्ट्य के अभाव में शब्द वाक्यान्तर की ओर उन्मुख होकर भी वाक्य का भार बन जाता है। तात्पर्य यह है कि काव्यार्थ का व्यापक अर्थ-संबंध जिस आभ्यन्तर मूल्यवत्ता से सम्बद्ध है, वह रचनात्मक उपकरणों तथा काव्य के मूलवर्ती अभिप्राय के द्वन्द्वात्मक सन्तुलन पर निर्भर है। जिन्हें जीवन के विराट्तर मूल्य कहा गया है, वे भी काव्य में शब्दोपहित होकर ही प्रस्तुत होते हैं। काव्य-भाषा काव्यानुभवों के बीच उन जीवन मूल्यों का ही क्रमिक अनुसंधान करती है, जिसमें रचनातत्त्वों की संवादी विसंवादी योजना चित्तवृत्ति को द्रुत, विकसित और स्फारित करती हुई द्वन्द्वात्मक समाहिति की ओर उन्मुख करती है।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि चारुत्व मूलतः कवि-कल्पना पर आश्रित है। कवि की कल्पना कवि के व्यक्तिनिष्ठ अनुभूत सत्य को सार्वभौमिकता का आयाम देती है। अलंकार तथा वक्रोक्ति जिस वैचित्र्य की सृष्टि करते हैं, उससे कवि की परम्परित अभिव्यक्ति में एक वैशिष्ट्य तथा उस वैशिष्ट्य से साधारणीकृत चेतना का उद्भव होता है। कुन्तक इस संदर्भ में आधुनिक चिन्तन का पूर्वाभास देते हैं। शब्द जिस विवक्षित अर्थ का बोध कराता है, वह मूलतः कवि का विशिष्ट अनुभव-खण्ड होता है,

---

[1] वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० ३२

किन्तु उस अनुभूति का व्यक्तिगत वैशिष्ट्य कहीं विशिष्ट शब्द से प्रकाशित होता है और कहीं सामान्य से, किन्तु सामान्य का बोधक हो अथवा विशिष्ट वस्तु का विधायक, शब्द काव्य के आन्तरिक, यथार्थ को ही अभिव्यक्त करता है।[1]

कुन्तक के अनुसार किसी विशेष परिस्पन्द से स्फुरित होता हुआ एवं प्रकृति, प्रकरण के अनुरूप विशेष अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ शब्द ही चमत्कारजनक होता है। अतः उस विशेष अर्थ के प्रतिपादन में जहाँ समर्थ विशेषणों का अभाव होता है, वहाँ काव्य का चारुत्व क्षतिग्रस्त हो जाता है। कवि के अनुभव की अद्वितीयता और विशिष्टता विभावों की असाधारण योजना में रूपायित होती है। सामान्यीकृत होकर वे साधारणीकरण के अयोग्य हो जाते हैं। अतः काव्य में प्रयुक्त पदार्थ नानाविध धर्मों से युक्त हो सकता है, किन्तु उस संदर्भ में एक विशिष्ट सन्दर्भ से युक्त होकर एक धर्मविशेष की प्रतिष्ठा स्वतः हो जाती है, जिसमें रस को परिपुष्ट करने की क्षमता अभिव्यक्ति पाती है। इस विशिष्ट अभिव्यक्ति में अन्य व्यापारों के नियन्त्रण के द्वारा वस्तु की स्वाभाविक महत्ता लक्षित होती है। कुश और समिधा को लेने के लिए जाते हुए वाल्मीकि जब रोने की ध्वनि की ओर अग्रसर होते हैं तो वाल्मीकि के स्वभाव में निहित अन्य धर्मों का संरोध करते हुए कालिदास केवल कारुण्यभाव से संवलित व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करते हैं। निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥

यहाँ वाल्मीकि के विराट् नानाविध व्यक्तित्व का, जनकपुत्री सीता के दर्शन से विवश अंश ही प्रमाता की चेतना के केन्द्र में उभरता है। जिस परम कारुणिक क्षण में निषादविद्ध पक्षी के दर्शन मात्र से उद्भूत शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था, वह कारुणिक विशिष्ट अनुभव ही यहाँ क्रमशः सहृदय के मन में संक्रान्त होता है।[2] इस प्रकार सामान्य लोकभूमि की संचेतना से उठाए हुए विशिष्ट क्षण चारुत्व में परिणत हो कर निर्विशेषीकृत होते हैं।

---

[1] शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुंदरः ॥ (वही, १/९, पृ० ३८)

[2] ...विवशवृत्तेरन्तःकरणपरिस्पन्दः करुणरसपरिपोषांगतया सहृदयहृदयाह्लादकारी कवेरभिप्रेतः। (वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० ४६)

औचित्य साधारणीकरण का नियामक तत्त्व है। कुन्तक ने विशिष्ट सन्दर्भों के स्तर पर अभिव्यंजना तथा भाव के इस औचित्य का विवेचन किया है। भर्तुर्मित्रम् श्लोक में कुन्तक ने 'अविधवे' इत्यादि पदों की सार्थकता पर विचार कर उस पदार्थ परिस्पन्द को मूर्त किया हैं, जो मेघ के दौत्य कर्म का प्राणतत्त्व है । यक्ष की पत्नी के लिए अन्यान्य विशेषणों के द्वारा नियंत्रित अविधवे पद से विप्रलम्भ और सम्भोग शृंगार की उस द्वन्द्वात्मक चेतना का मूर्त चित्र उपस्थित होता है, जिस में पत्नी, प्रिय की जीवित अवस्था में भी उसके करुण वियोग की अनुभूति के लिए अभिशप्त है।[1] यह असाधारणता ही क्रमशः यक्ष-पत्नी के सौभाग्य का द्वाभामूलक चित्र उपस्थित करती है। निष्कर्षत: कुन्तक काव्य के चारुत्व की विविध भंगिमाओं का विवेचन करते हुए सहृदय के मनःसंवाद की प्रासंगिकता को विस्मृत नहीं करते।[2]

क्षेमेन्द्र (काव्य काल १०१५ से १०६६ तक) औचित्य-विचार-चर्चा

औचित्य मूलतः काव्याभिव्यञ्जना की प्राकरणिक अनुरूपता है[3], विशिष्ट संदर्भों की अनुरूपता में ही कविका अभिव्यंजना वैशिष्ट्य काव्यार्थ को प्रमाता की अंतश्चेतना में संप्रेषणीय एवं स्वीकार्य बनाता है। अत: काव्यवस्तु की अभिव्यंजना और उसकी सहृदयसापेक्ष नियोजना एक अंश में साधारणीकरण के परिकरवृत्त में ही आती है और यद्यपि क्षेमेन्द्र ने साधारणीकरण का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, तथापि उनकी विवेचन प्रक्रिया में ऐसे सूत्र प्रकृतित: अन्त:समाहित हो गये हैं, जिनमें साधारणीकरण संबंधी कतिपय मूल्यवान अभिज्ञताएँ निहित हैं।

साधारणीकरण सहृदय-साधारण की आस्वाद-प्रक्रिया का समाधान प्रस्तुत करता है। इसकी प्रक्रिया गुणालंकार-संस्कृत शब्द-व्यापार से प्रारम्भ हो

---

१. वही, पृ० ४७

२. रसादिपरमार्थज्ञमनः संवादसुन्दरः। (वही, पृ० ११०)

३. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्। ...यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते। तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति। अधुना सकलकाव्य-शरीरजीवितभूतस्य औचित्यस्य...

(औचित्यविचारचर्चा पृ० ३)

कर रस के विविध अवयवों की वैशिष्ट्यमुक्ति को आयत्त करती हुई परिमित प्रमातृभाव की मुक्ति तक व्याप्त है। स्पष्टतः अभिव्यंजना अर्थात् काव्यवस्तु की सहृदय-सापेक्ष विनियोजना एवं सहृदय की अनुक्रिया के विविध व्यापार औचित्यमूलक नियोजन की ही अपेक्षा रखते है। अन्तर यह है कि औचित्य-विचार में सर्जन-प्रक्रिया को केन्द्र में रखा गया है, जबकि साधारणीकरण मूलतः आस्वाद-प्रक्रिया का आख्यान है। तथ्य यह है कि क्षेमेन्द्र अभिव्यंजन की सहृदयसापेक्षता की कहीं उपेक्षा नहीं करते और इस दृष्टि से उनका विश्लेषण साधारणीकरण के मौलिक संदर्भों को भी प्रकारान्तर से रेखांकित करता है। यथा—

(क) गुणः काव्ये भव्यः सौभाग्यवत्तामवाप्तः सहृदायनन्दसंदोहमिन्दुरिव स्यन्दति।[1]

(ख) विप्रलम्भभरभग्नधैर्याया: कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना माधुर्य-सौकुमार्यादिगुणयोगेन पूर्णेन्दुवदनेव प्रियंवदत्वेन सहृदयानन्ददायिनीं दयिततमतामातनोति।[2]

साधारणीकरण में संविद्विश्रान्ति अर्थात् प्रमाता के अन्तःकरण में काव्यार्थ का निरुद्विग्न उन्मीलन आवश्यक है। क्षेमेन्द्र भी गुण-अलंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की सार्थकता सहृदय के अन्तःकरण की विशदता में ही निरूपित करते हैं। विरह-विधुरा की पीड़ा-दशा की अभिव्यक्ति में माधुर्य की अपेक्षा ओज की स्फूर्जा परुषभाषिणी के समान चित्त में अनौचित्य का संचार करती है।[3] तद्विपरीत ललित उपमा शृंगाररस में अन्तःकरण को चमत्कृत करती हैं।

'वत्सेश्वरस्य कुसुमचापेनोपमा शृंगारावसरसरचारुतरतामौचित्येन कामपि चेतश्चमत्कारिणीमाविष्करोति।'[4]

इसी प्रकार वे काव्यानुभूति के क्षण में प्रमाता की चित्तवृत्तियों की विविध अन्तर्दशाओं का सूक्ष्म निरूपण प्रस्तुत करते हैं। यथा—

(क) 'हृदयसंवादसुन्दरमप्यनुचितत्वेन सहसैव चेतसः संकोचमिवाद-

---

[1] वही पृ० १२

[2] वही पृष्ठ १३

[3] स्फूर्जितोर्जितस्वभाकाधिवासिता सूक्तिः लावण्यपेशलतनुर्ललितललनेव परुषभाषिणी झटित्यनौचित्यं चेतसि संचारयति। (वही पृष्ठ १४)

[4] वही पृष्ठ १५

घाति ।"[1]

(ख) योऽर्थस्तु हृदयसंवादी स यद्यनौचित्यस्पर्शलेशरहितस्तदधिकतरामलंकारशोभां पुष्णाति ।[2]

वस्तुतः अभिव्यंजना की सार्थकता हृदय-संवाद में ही है। क्षेमेन्द्र के अनुसार अनौचित्य का परिहार करके ही काव्यार्थ हृदयसंवादी सौन्दर्य को अभिव्यक्त करता है।[3] रस की शक्ति भी उसकी सकलजनहृदय-व्याप्ति में ही निहित है तथा यह संवादिता औचित्य की भूमि में ही अंकुरित होती है। 'औचित्यस्पर्शपरिहारेण केवलं हृदयसंवादसौन्दर्यमेव स्वादुतामादधाति।' ...औचित्येन भ्राजिष्णुः शृंगारादिलक्षणो रसः सकलजनहृदयव्यापी वसन्त इवाशोकतरुमंकुरितं मनः करोति।[4]

कहने का आशय यह है कि क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य की विविध अन्तर्दशाओं की जो व्याख्या की है, वह भी प्रकारान्तर से प्रमाता के अन्तःकरण पर पड़ने वाले संवादी-विसंवादी संवेगात्मक अनुषंगों का संप्रेषणात्मक अनुभव ही है। यथा—हास्य, औचित्यमूलक शृंगाराभास से संवलित होकर ऐसी स्वादु अनुभूति प्रदान करता है जैसे आम्ररस से संवलित आसव।[5] इसी प्रकार बीभत्स से अभिभूत होकर हास्य लहसुन की गन्ध से युक्त पुष्प-गंध की भाँति अप्रीतिकर आस्वाद देता है।[6] करुणरस की अनुभूति पशुओं के हृदय में संक्रान्त होकर उनके अनुभाव-चित्रण के माध्यम से संवेद्यभाव को अधिक तीक्ष्ण एवं दारुण बनाती है।[7] अश्वत्थामा की क्रूर प्रतिज्ञा केवल

---

१. वही पृष्ठ १६

२. वही, पृ० १६

३. अनौचित्यसंस्पर्शपरिहारेण केवलं हृदयसंवादसौन्दर्यमेव स्वादुतामादधाति। (पृ० १७)

४. औ० वि० च० पृ० १७

५. तदंगभूतशृङ्गाररसाभासस्पर्शेन हास्यरसस्य वरासवस्येव सहकाररसवेधेन सचमत्कारमौचित्यमाचिनोति। (वही पृ०)

६. अत्र हास्यरसस्य बीभत्सरसाधिवासितस्य लशुनलिप्तस्येव कुसुमशेखरस्यातिजुगुप्सितत्वादनीप्सितस्य परमानौचित्येन चमत्कारस्तिरोहितः। (वही, पृ० २१)

७. वही, पृ० २२

उसकी स्थिरमनस्कता को विज्ञापित करती है; प्रमाता का हृदय उसमें योग नहीं देता ।[1] अनुभावों के निर्देश के अभाव में भयानक रस उचित संभ्रम का भाव संक्रमित नहीं कर पाता[2]—इत्यादि निष्कर्ष प्रमाता की अनुभूति में संक्रान्त होने वाले उन विविध रागात्मक प्रभावों की ओर इंगित करते हैं, जो गुणात्मक स्तर पर भिन्न-भिन्न कोटि की रसानुभूति उद्बुद्ध करते हैं। भट्टनायक ने द्रुति, विस्तार, विकास इत्यादि के उल्लेख के द्वारा रस की इन विविध मानसिक भूमियों की ओर संकेत किया है। साधारणीकरण की व्यापक भूमि में ये विविध अन्तर्दशाएँ औचित्य के आधार पर ही हृदयसंवादी होती हैं।

क्षेमेन्द्र ने देशकाल सत्त्व इत्यादि के औचित्य का भी प्रतिपादन किया है, किन्तु इनका प्रतिमान भी सहृदय के हृदय-संवाद की योग्यता ही है। यथा—

(क) **देशविषयौचित्येन हृदयसंवादिना काव्यार्थः सतां व्यवहार इव परिचयसूचकः शोभते ।**[3]

(ख) **कुलोपचितमौचित्यं विशेषोत्कर्षकारणम् ।**
काव्यस्य पुरुषस्येव प्रियं प्रायः सचेतसाम् ॥[4]

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि भावानुभूति की अभिव्यंजना सापेक्षता की ओर होरेस ने जो संकेत दिये हैं, वे भी मूलत: पात्र-परिस्थिति तथा संवेग की औचित्यपूर्ण स्थापना पर ही आश्रित हैं। यथा शोकार्त्त व्यक्ति के मुख से दुःखपूर्ण शब्द शोभा देते हैं और क्रुद्ध व्यक्ति के मुख से रोषपूर्ण शब्द। प्रफुल्लमन व्यक्ति के मुख से परिहासपूर्ण शब्द अच्छे लगते हैं और परुष शब्द गम्भीर मुख से उपयुक्त होते हैं। प्रत्येक परिस्थिति को सहने के लिए प्रकृति पहले हमारे अंतरंग भावों को ढालती है। वह हमें या तो आह्लाद की ओर प्रवृत्त करती है या रोष की ओर अथवा मन को अवसाद से भर देती है और घोर वेदना से आच्छन्न कर देती है। तब वाणी की

---

१. विषमव्यथाकश्मलशिथिलमश्वत्थाम्नः स्थेमानं प्रतिज्ञापयति ।
(वही, पृ २८)

२. वही, पृ० २४

३. औ० वि० च० पृ० ६५

४. वही, पृ० ६७

सहायता से वह भाव का अभिव्यंजन करती है।[1]

क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस काव्य में किसी जीवन-सत्य की मार्मिक एवं औचित्यपूर्ण योजना के प्रति सहृदय का काव्यबोध अधिक सुनिश्चित होता है वही काव्य अधिक हृदयसंवादी होता है।

'काव्यं हृदयसंवादी सत्यप्रत्ययनिश्चयात्।
तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयतां कवेः॥[2]

समग्रतः क्षेमेन्द्र के अभिव्यंजना तथा रसविधान के औचित्यपरक सूत्र सहृदय के तादात्म्य एवं रसानुभूति के संदर्भों का आकलन कर साधारणीकरण की अनेक अनालोचित दिशाओं की ओर इंगित करते हैं। दृष्टि उनकी सौष्ठवपरक है, जिसमें मनोवैज्ञानिक अन्तःसूत्र उभर कर अमूर्त चिन्तन को मूर्त्त एवं सघन करते हैं।

मम्मट (११वीं शती उत्तरार्द्ध) काव्यप्रकाश)

अभिनव के अनन्तर साधारणीकरणविषयक विप्रतिपत्तियों को एक विराम मिला। मम्मट तथा हेमचन्द्र जैसे चिन्तक अपने अनुभूत परिवेश से उद्भूत प्रश्नों के समाधान की अपेक्षा पूर्वनियोजित स्थापनाओं के व्यवस्थित निरूपण में प्रवृत्त हुए। मम्मट ने आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव की उपलब्धियों को तो निर्भ्रान्त सुनियोजित प्रतिष्ठा की ही, अभिनव-पूर्ववर्ती लोल्लट एवं भट्टनायक की अवधारणाओं को भी उन्हीं के चिन्तन के आलोक में अधिकाधिक विषयीनिष्ठ बनाकर प्रस्तुत किया। परिणामतः सामाजिक का दृष्टिकोण उनके रसचिन्तन के केन्द्र में अधिकाधिक उद्भासित होता गया। साधारणीकरण के विवेचन में भी वे निर्भ्रान्त मान्यता अभिनव के मत को ही देते हैं। किन्तु भूमिका रूप में भट्टनायक के अभिमत को भी यथावत् प्रस्तुत करते[3] हुए साधारणीकरण को भावकत्व व्यापार की आत्मा सिद्ध करते हैं। परवर्ती टीकाकारों के आलोक में साधारणीकरण की व्याख्या में सीतादि कामिनी की सामान्य रूप में उपस्थिति अथवा विभावादि

---

[1] काव्य-कला (होरेस) पृ० ६

[2] औ० वि० च० पृ० ७०

[3] ...काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।
(काव्यप्रकाशः (बालबोधिनी) पृ० ६०)

एवं स्थायी के विशेषांश का परिहार अथवा सम्बन्धवैशिष्ट्य से मुक्ति इत्यादि के अनुषंग[1] उनकी अवधारणा में अनुस्यूत होते गये हैं। प्रसंगप्राप्त स्थलों पर इनका विवेचन हुआ है।

अस्तु, अभिनवगुप्त के अभिमत में विशेष आस्था प्रदर्शित करते हुए उन्होंने विशेष बल विभावादि में निहित व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित अंश के तिरोधान कर दिया है।

मम्मट के अनुसार विभावादि शब्दों से अभिधानित प्रमदा आदि कारण, कार्य एवं सहकारी सम्बन्धविशेष के स्वीकार अथवा परिहार के अनिश्चय के कारण व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से रहित साधारणीकृत रूप से अभिव्यक्त होते है। सामाजिक अपनी वासना में विद्यमान रति आदि स्थायिभावों का भी साधारण उपाय से व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से मुक्त होकर आस्वाद करता है। उसमें परिमित प्रमातृभाव का तिरोधान हो जाता है तथा वेद्यान्तर अनुभूतियों के शून्य हो जाने पर अपरिमित प्रमातृभाव उन्मीलित होता है। यह अनुभूति समस्त सामाजिकों के हृदयों को समान रूप से आस्वाद्य होती है। प्रमाता आत्मसाक्षात्कार में चिद्रूप से अभिन्न आनन्दमय आत्मा के विषयरूप में रसानुभूति को ग्रहण करता है। यह आस्वाद्यरूप अनुभूति प्रमाता के हृदय में प्रविष्ट होकर अन्य अनुभूतियों को निराकृत करती हुई ब्रह्म-साक्षात्कार के रूप में ही अनुभव होती है।[2] आशय यह है कि नियत प्रमातृभाव की मुक्ति, वासना-संवाद के कारण रस की

---

[1] भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत् सीताविशेषांशकामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धविशेषानवच्छिन्नत्वेन। (काव्य प्रदीप, पृ० ३८)

[2] अन्यसंबन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषांशपरिहारेणोपस्थापनं साधारणीकरणं तदात्मना।

(काव्यप्रकाश, पृ० ९१)

...ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति संबन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः रत्यादि।

(काव्यप्रकाश (झलकीकर), पृ० ९१-९२)

एकघनप्रतीति तथा रति आदि स्थायिभाव की देशकालातीत चेतना एवं अनुभूति का साधारण्य मम्मट की साधारणीकरणविषयक अवधारणा के मूल सूत्र हैं, जो अनिवार्यतः अभिनव के चिन्तन में उनकी आस्था व्यंजित करते हैं।

मम्मट नेति नेति की निषेधमूलक भूमिका[1] पर दो विशिष्ट संदर्भों में सामान्यीकृत चेतना का भी अनुसंधान करते हैं। उल्लेखनीय यह है कि अभिनव की शब्दावली का पुनरनुवाद करते हुए भी मम्मट प्रत्यभिज्ञादर्शन को पूर्णतः स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि मूलतः सौष्ठववादी तथा एक अंश तक व्यावहारिक है, जिसे वे दार्शनिक अतिवाद से मुक्त रखते हुए अद्वैत वेदान्त के काव्योचित धरातल पर प्रस्तुत करते हैं।

हेमचन्द्र (काल १०८८ से ११७२ ई०) काव्यानुशासनम्

हेमचन्द्र का काव्यानुशासन अभिनवभारती, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक तथा लोचन के अनेकानेक उद्धरणों और अभिमतों का संग्रह होने के कारण कोई मौलिक अवधारणा तो प्रस्तुत नहीं करता, किन्तु रस-चिन्तन के सदर्भ में अभिनव की अवधारणा में आस्था व्यंजित कर साधारणीकरण की शृंखला में अपना योग अवश्य देता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनव भारती का रस-प्रकरण काव्यानुशासन विवेक में पूरा-पूरा उद्धृत है, अतः साधारणीकरण-विषयक अवधारणा की दृष्टि से उसका मौलिक योग नहीं है। केवल उल्लेखनीय यह है कि काव्यानुशासन के मूल अंश में मम्मट का मत प्रस्तुत किया गया है। यही अवधारणा हेमचन्द्र की निजी अवधारणा प्रतीत होती है। लोक में प्रमदा आदि विभाव काव्य तथा नाटक में लौकिक कारणत्व की संज्ञा से मुक्त हो कर विभावन-व्यापार में परिणत हो जाते हैं।[2] फलतः ये विभाव मेरे शत्रु के या तटस्थ के हैं, अथवा ये न मेरे

---

[1] स च न कार्यः। विभावादिविनाशेऽपि तस्य संभवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासंभवात्।

(वही पृ० ९३-९४)

[2] काव्यनाट्यशास्त्रप्रसिद्धैरालम्बनोद्दीपनस्वभावैर्ललनोद्यानादिभिः, स्थायि-व्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनोऽनुभवन्ननुभाव्यते।

(काव्यानुशासनम् (निर्णयसागर-१९३४) पृ० ६७)

हैं, न शत्रु के, न तटस्थ के ही, इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के स्वीकार अथवा परिहार का अनिश्चय होने से साधारण रूप में अभिव्यक्त होने लगते हैं।[1] इस प्रकार हेमचन्द्र साधारणीकरण की स्थिति दोनों स्तरों पर स्वीकार करते हैं। एक स्तर पर प्रमाता अपने वैशिष्ट्य से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक स्तर पर काव्य का आस्वाद करता है तो दूसरे स्तर पर काव्य में उपस्थित विभाव आदि निर्विशिष्ट हो कर सामाजिक की आस्वाद-चेतना में अभिन्न रूप से समंजित हो जाते हैं। वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्यता, अपरिमितप्रमातृभाव, सहृदय का हृदय-संवादजन्य साधारण्य हेमचन्द्र की अवधारणा के विशिष्ट बिन्दु हैं।

सागरनन्दी (नाटकलक्षणरत्नकोश) ११वीं शती

सागरनन्दी ने प्रत्यक्षतः साधारणीकरण का विवेचन नहीं किया है, अतः उनका तत्सम्बन्धी योगदान निम्नलिखित संकेतों की दृष्टि से ही उल्लेखनीय है।

नाटक के लक्षण में उन्होंने महारस एवं महाभोग्य शब्दों का प्रयोग किया है, जो रस के सर्वसाधारण-भोक्तृत्व को परिभाषित करते हुए नाटक की केन्द्रीय चेतना में साधारणीकरण की मौलिक संभावना व्यक्त करते हैं।

'महारसं महाभोग्यमुदारवचनान्वितम्।
महापुरुषसंचारम् सालंकारन्तु नाटकम्॥'[2]

नाटक में, प्रख्यात वस्तु अथवा प्रसिद्ध आख्यान में 'लोकानुरंजन कर्म' ही संभावना के केन्द्र में रहता है, अतः वैश्व संदर्भ प्रमुख तथा वैयक्तिक सन्दर्भ गौण हो जाते हैं।

'तत्र प्रख्यातवस्तुविषयमिति राजर्षिवंशजातानाम् राज्ञां प्रसिद्धमाख्यानम्

---

[1] लोके कारणकार्यसहचारिशब्दव्यपदेश्यैर्ममैवैते परस्यैवैते न ममैते न परस्यैते इति संबन्धिविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायात्साधारण्येन प्रतीतेरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनारूपेण स्थितः स्थायी रत्यादिको भावो नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् सहृदयहृदय-संवादभाजा साधारण्येन गोचरीक्रियमाणतैकप्राणो...स्वसंवेदनसिद्धो रसः (वही पृ० ६८)

[2] ना० ल० र० पृ० ४

वस्तु यत् खलु लोकानुरंजनकर्म ।[1]

सागरनन्दी के अनुसार नाटकीय वस्तु के केन्द्र में ही नहीं सारभूत प्रभाव में भी सर्वलोकानुरंजनत्व अपेक्षित है। 'नाटकविद्येयं सर्वलोकानुरंजनी'। यह दृष्टि निश्चय ही काव्य के समष्टिगत आस्वाद के अन्त:संदर्भ को निर्धारित करती है। सागर का कथन हैं कि रस एवं भाव में परस्परोपकारत्व रहता है। भाव रस को तथा रस भाव को उपकृत करते हैं। तथा परस्पर सम्बद्ध हो कर प्रेक्षकों को आह्लाद प्रदान करते हैं।[2] यह दृष्टि साधारणीकरण की अन्तरंग परिकल्पना से भिन्न नहीं है। अभिनव के अनुसार अनुभूतियों में परस्पर गुणभाव भी होता है। प्रमाता नाटक में यद्यपि मुख्य रस में ही तन्मय होते हैं, किन्तु अपनी वस्तुपरक अथवा सूक्ष्म दृष्टि के कारण एक ही रूपक में वे पृथक्-पृथक् प्रभाव ग्रहण करते हैं। **'यद्यपि चैषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽस्ति तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां लक्ष्यते ।**[3]

सर्वेश्वर कवि (साहित्यसार:) ११०० ई०

सर्वेश्वर कवि के 'साहित्यसार' में रस तथा भाव संबंधी कतिपय परम्परागत सूचनाएँ ही उपलब्ध हैं, तथापि उनकी प्रेक्षक की परिभाषा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि वे मात्र प्रमाता की तन्मयता पर ही बल नहीं देते, वस्तुतत्त्व के प्रति उसकी विवेक-परक अन्त:प्रक्रिया को भी अनिवार्य मानते हैं।

वस्तुनस्तत्त्वमास्थाय तन्मयत्वेन भावक: ।
सुप्रसन्नाशय: प्रोक्त: प्रेक्षको नाट्यकोविद: ॥'[4]

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रमाता के रागतत्त्व में विवेक की संपृक्ति आधुनिक नाट्य-समीक्षा की विशिष्ट देन है। स्पष्ट है कि सर्वेश्वर की

---

[1] वही

[2] यथा भोक्तुरन्नं व्यंजनमुपकुरते व्यंजनमन्नं ततो रस: स्यात्तथैव भावान् रसा: रसांश्च भावा उपकुर्यु: परस्परं सर्वदा सम्बद्धा: प्रेक्षकान् मनांसि प्रमोदेनोपतिष्ठन्ते । (पृष्ठ १८३)

[3] नाट्यशास्त्रम् (संपादक-रामकृष्ण कवि) पृ० २८२

[4] सा० सा० पृष्ठ १० (प्रथम प्रकाश)

काव्य-दृष्टि एकान्त आत्मनिष्ट नहीं है। अनुकार्य में स्थित सुख-दुःखात्मक भावों के निरन्तर समुद्भेद के अनुभावन की ओर इंगित कर वे अपनी वस्तुनिष्ठ दृष्टि का स्पष्ट परिचय देते हैं।

सुखदुःखादिभिर्भावैरनुकारिण्यवस्थितैः ।
निरन्तरसमुद्भेदैः भावस्तद्भावभावनम् ॥[1] (पंचम प्रकाश: ५/६)

रामचन्द्र गुणचन्द्र (१२वीं शती का पूर्वार्द्ध) भी रस की अनुभूति को सर्वत्र सुखात्मक न मान कर दुःखात्मक भी मानते हैं।[2] उनकी अवधारणा सर्वेश्वर के समानान्तर ही विकसित हुई है। 'कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेन ग्रथ्नन्ति।'[3]

अग्निपुराण (१२०० ई० के लगभग)

अग्निपुराण में रस-विषयक निरूपण भोज की सरणि पर ही है। किन्तु, शैव-दर्शन अथवा वेदान्त-चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में यह अवधारणा कुछ अंश में भोज के रस-चिन्तन से भिन्न हो गई है। यह सम्पूर्ण सृष्टि अक्षय शाश्वत एवं अजन्मा परब्रह्म से अभिव्याप्त है। आनन्द उसका सहज गुण है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति सदैव नहीं होती। जब वह अभिव्यक्त होता है, तो उसी का चैतन्य चमत्कार रस रूप से अभिहित होता है।[4] अभिव्यक्ति का प्रथम विकार, अहंकार है, जिससे अभिमान की उत्पत्ति होती है। अभिमान से रति तथा रति व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर श्रृङ्गार रस में पर्यवसित हो जाती हैं। इस स्तर पर अग्निपुराण में अहंकार की लौकिक भूमिका को चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रथम विकार के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[5] अहंकार रसात्मक परिणति की सीमा नहीं है, वह चिदानन्द ब्रह्म

---

१. वही पृष्ठ ४१

२. सुखदुःखात्मको रसः (नाट्यदर्पण, श्लोक १०६, पृ० २०६)

३. हिं० ना० द० पृ० २६१

४. आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
(अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग ३/२, पृ० ३७)

५. आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
(वही, पृ० वही)

की आनन्दमयता का अवान्तर व्यापार है। रसानुभूति की चरमकोटि इसी आनन्दमयता में निहित है। दार्शनिक प्रतीकों से मुक्त कर यदि इस विवेचन को देखा जाए तो अभिनवगुप्त एवं भट्टनायक[1] की साधारणीकरण विषयक अवधारणा के कुछ सूत्र इसमें सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। ब्रह्म रस-स्थानीय है, उसके आनन्दमय स्वभाव के निवारण के लिए अहंकार का रति रूप में परिणत तथा व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होना आवश्यक है[2], तभी रसाभिव्यक्ति की चैतन्य चमत्कारपरक भूमिका स्थापित होती है। भोज ने रसास्वाद की प्रक्रिया को भावना व्यापार के अन्दर से गतिशील बनाकर अखण्ड सात्त्विक अहंकार की आस्वादपरक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। अग्निपुराण इस अहंकारात्मक भूमिका को आनन्दमय परिणति का साधन मानकर सत्त्वोद्रेक एवं आनन्दमय प्रकाश की संविद्विश्रान्ति तक पहुंचता है। रसास्वाद की चिदावरण-भंग-मूलक अवधारणा का पूर्वाभास अग्निपुराण के रस-चिन्तन में निहित है, और यह अवधारणा साधारणीकरण की प्रक्रिया को बल देती है।

साहित्यमीमांसा (रचनाकाल १८वीं शती) अज्ञात (अथवा मंखुक) कर्तृक

रसानुभूति, शब्दार्थ में पुनर्भावित जीवनानुभूतियों के लोकोत्तर परिवेश को परिभाषित करती है। अपनी रूपात्मक पूर्णता के लिए काव्यानुभूति का शब्दबद्ध होना अनिवार्य है। इस संदर्भ में साहित्यमीमांसा काव्यानुभूति के क्षेत्र में भावना के महत्त्व को बड़ी प्रबलता से स्वीकार करती है। वेश्यादि का आलिंगन भी आनन्दप्रद हो सकता है, इसकी प्रत्यक्षानुभूति रसानुभूति नहीं है। रसानुभूति का क्षेत्र शब्दार्थजन्य भावना ही है। **'वरांगनालिंगनादि जनितरसभावनया न परमरसप्राप्तिः। शब्दार्थभावनाया एवं शक्यत्वात्'[3]** लेखक का कथन है कि लौकिक अनुभूति दुःखद भी हो सकती है, किन्तु काव्यार्थ का क्योंकि अनुभावन प्रतिभावन किया जाता है, अतः बाह्य लौकिक ऐन्द्रिय अस्तित्व से मुक्त होकर वह निर्बाध सन्देह-रहित इन्द्रियातीत स्वरूप

---

[1] सत्त्वादिगुणसंतानाज्जायन्ते परमात्मनः। (वही, ३/६, पृ० ३८)

[2] वही, ३/४, पृ० ३७

[3] साहित्यमीमांसा (अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली) १९३४, पृ० १६१

में परिणत हो जाता है। फलत: मेरे तेरे[1] का भेद समाप्त हो जाने से सभी प्रमाता एक ही सुखात्मक अन्त:सूत्र में निबद्ध हो जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि केवल लौकिक अनुसंधान अथवा ज्ञान मात्र से रसानुभूति का उद्रेक नहीं होता, पुनः पुनः भावनात्मक अनुसंधान के द्वारा ही काव्यार्थ को मानसी प्रतीति का विषय बनाया जाता है। मैं राम का अनुसंधान करता हूँ या काव्यात्मक प्रतीकों से उसके स्वरूप को पहचानता हूँ, यह बोध रसोत्पत्ति में चरितार्थ नहीं हो सकता।[2] संविद् का संवेदन मात्र पर्याप्त नहीं है, पुन: पुन: शब्दों के माध्यम से उस प्रतीति का अनुभावन अपेक्षित है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि शब्द का रागात्मक अनुसंधान किया जाये। 'पश्यति स्त्री' से वह रागात्मक बिम्ब नहीं उभरता, जो 'विलोकयति कान्ता' में मूर्त होता हैं। कवि अपने अनुभव को कला-संस्कार के माध्यम से ही सम्प्रेषणीय बनाता है, यह कला-संस्कार शब्दों के विशिष्ट प्रयोग पर अवलम्बित हैं।[3] रिचर्ड्स ने संकेतात्मक और रागात्मक भाषा-संदर्भों का उल्लेख किया है। किसी विशिष्ट रस-सम्प्रदाय से निरपेक्ष मंखुक (?) का यह विवेचन शब्द और भावना के सर्जनात्मक तथा संवेदनात्मक विकास की इन संभावनाओं से युक्त है।

वाग्भट्ट प्रथम (१२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) वाग्भटालङ्कार तथा वाग्भट्ट द्वितीय (१४वीं शताब्दी के लगभग) काव्यानुशासन

काव्यविषयक आवश्यक तथ्यों तथा अलंकारों के विवेचन के अतिरिक्त वाग्भटालंकार के अन्तिम (पंचम) परिच्छद में रस-लक्षण, रस-भेद एवं नायिका-भेद का भी विवेचन है। वाग्भट की दृष्टि में रसहीन काव्य उत्तम रीति से पकाये हुए निर्लवण भोजन की भाँति अनास्वाद्य है।

'साधुपाकेऽप्यनास्वाद्यं भोज्यं निर्लवणं यथा।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ॥[3]

---

१. वही, पृ० १५९

२. वही, पृ० १५९

३. तच्च शब्दस्य माहात्म्यमरसोऽपि मनो यत:।
शब्दो नावस्थितोऽयं करुणो विरसीकृत: ॥ (वही, पृ० ७९)

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि काव्यानुशासन के पंचम अध्याय के प्रारम्भ में भी यही श्लोक है ।[१] किन्तु दोनों ही आचार्यों ने रसानुभूति की आस्वाद्यता को किसी शास्त्रीय अशास्त्रीय आधार पर विश्लेषित नहीं किया है । दण्डी तथा भट्टलोल्लट के समान ही वाग्भट की भी अवधारणा है कि विभाव अनुभाव, व्यभिचारियों से उत्कर्ष को प्राप्त स्थायिभाव ही रस कहा जाता है ।

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकै व्यभिचारिभिः ।
आरोप्यमाण उत्कर्षः स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥[१]

भट्ट लोल्लट के अनुसार यदि 'विभावादिभिरुपचितो रसः' या दण्डी के अनुसार 'श्रृंगारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन' है तो वाग्भट्ट आरोप्यमाण उत्कर्षः के द्वारा इस तथ्य की ही आवृत्ति करते हैं । स्पष्ट है कि भट्टलोल्लट की सीमा का अतिक्रमण कर भट्टनायक अथवा अभिनव के अभिमतों की ओर वे उन्मुख नहीं हो सके हैं । वाग्भट द्वितीय अवश्य रसों के स्वरूप निर्णय में चित्त के विकास, विस्तार, संकोच इत्यादि का उल्लेख कर रसानुभूति की नानारूपता की ओर इगित करते हैं, जिसके मूल में भट्टनायक के द्रुति विस्तार, विकास की अवधारणा का योग है । प्रतिभा के संबंध में वाग्भट द्वितीय का कथन है कि वह ज्ञानावरण की उपक्षायिका है ।[२] इस धरातल पर वाग्भट-द्वितीय साधारणीकरण की पार्श्वरेखा का स्पर्श कर जाते हैं ।

विजयवर्णी (१३वीं शती ई० प्रारम्भ) श्रृङ्गारार्णवचन्द्रिका (अपरनाम अलङ्कारसंग्रह)

श्रृङ्गारार्णवचन्द्रिका का प्रतिपाद्य श्रृङ्गार ही नहीं है, इसमें शब्दार्थ-रसभाव, गुण रीति, वृत्ति, शैय्या पाक, अलंकार आदि का पृथक्-पृथक् दस अध्यायों में संक्षिप्त निरूपण भी है । तृतीय 'रसभाव-निश्चय' नामक अध्याय में रस के विविध अवयवों का संक्षिप्त विवेचन है । उनकी धारणा है कि नीरस काव्य सहृदयों के मन को आकर्षित नहीं करता,[३] किन्तु सहृदय तक वह कैसे संक्रमित होता है, इस विषय पर उनका अभिमत है कि रसिक

---

१. काव्यानुशासनम् निर्णयसागर-१९८४ सं० ५/१ पृ० ५३
२. वाग्भटालंकार ५/२ (चौखम्बा-१९५७) पृ० ९८
३. सा च ज्ञानावरणीयादिकर्मक्षयोपहेतुका (का० अनु० पृ० २४)

अपने कर्मों के अनुसार रसों का भोग करते हैं।[1] प्रकारान्तर से वे प्रमाता के संस्कार-वैभिन्य तथा रुचि को महत्त्व देते हैं।

काव्य में रस की अनुभूति श्रव्य बिम्बों पर आधृत है, जो रस भावार्थ के मर्मज्ञों को आवेदित करती हैं। नाटक में रसानुभूति दृश्य बिम्बों के माध्यम से प्रेक्षकों को आस्वाद्य होती है,[2] किन्तु काव्य-रस मूलतः सामाजिक की स्मृति पर आधृत होने के कारण अधिक तात्त्विक होते हैं। इसमें प्रमाता की अन्तश्चेतना जागृत रहती है, जबकि नाट्य-रस काल्पनिक दृश्यों की अवतारणा से कल्पनाजन्य सम्मोहन का आस्वाद प्रदान करता है।

> दृश्यत्वाद् रसभावानां नटे काल्पनिको रसः।
> सामाजिके तात्त्विकस्तु रसो निजरसस्मृतेः ॥[3]

अभिनव ने भी प्रबन्ध की अपेक्षा नाटक को अधिक सशक्त माध्यम माना है, किन्तु काव्य में प्रमाता की अन्तश्चेतना की परिपक्वता अधिक आवश्यक है। इन पार्श्विक रेखाओं के अतिरिक्त साधारणीकरण की मूल समस्या पर लेखक ने अपना अभिमत व्यक्त नहीं किया है।

जयदेव (१३वीं शती मध्यकाल) चन्द्रालोक

पीयूषवर्ष जयदेव की प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी। मम्मट के काव्यलक्षण का व्यंग्य-चमत्कार-पूर्ण ढंग से प्रत्याख्यान अथवा पुनर्मूल्यांकन कर उन्होंने अपनी विशिष्टता प्रदर्शित की है, किन्तु अनुष्टुप् की परिमित परिधि में निरूपणीय विषय के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करने की सूत्रबद्धताजन्य अनिवार्यता के कारण साधारणीकरण जैसे तार्किक विषय की वे उपेक्षा कर गये हैं। साधारणीकरण की परिधि में आने वाले, पूर्वप्रतिष्ठित वेद्यान्तर-

---

[1] भुवने रसिका लोका रसान् स्वाभाविकानलम्।
भुञ्जते निजकर्मानुसारेण बहुधा सदा ॥ (३/२४ पृ० १४)

[2] काव्येषु ते विभावाद्याः श्रूयमाणा रसं नृणाम्।
श्रोतृणां पोषयन्त्यत्र रसभावार्थवेदिनाम् ॥
दृश्यमाना नाटकेषु ते भावा जनयन्त्यलम्।
प्रेक्षकाणां रसं सर्वे नाट्यशास्त्रार्थवेदिनाम् ॥
(३/१०-११ पृ० १२-१३)

[3] वही, पृ० १४

शून्यता के प्रतिमान के प्रति उन्होंने अवश्य आस्था दिखाई है। वस्तुतः षष्ठ मयूख में रसस्वरूप का विवेचन किसी वस्तु-निष्ठ पुनर्व्याख्या की अपेक्षा उनके आत्म-सत्य का ही अधिक साक्ष्य देता है। उनका विचार है कि काव्य नाट्य के स्तर पर कल.सृष्टि मूलतः लौकिक अनुभूति का ही विभावों द्वारा पुनर्भावित स्वरूप है। कार्य के स्तर पर विभावों द्वारा विभावित हो कर यही अनुभूति रसानुभूति में परिणत होती है, जो निश्चय ही आह्लादकर एवं आस्वाद-स्वरूप है। अनुभूति के इस उल्लास-क्षण में ज्ञातव्य पदार्थों से भिन्न पदार्थों की अनुभूति नष्ट हो जाती है।

गलद्वेद्यान्तरोद्भेदं हृदयेष्वजडात्मनाम् ।
मिलन्मलयजालेप इवाह्लादं विकासयन् ॥२॥
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावितः ।
आस्वाद्यमानैकतनुः स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥३॥[1]

स्पष्टतः **'विभावाद्यैर्विभावितः'** में उनकी आस्था विभावादि के साधारणीकरण में प्रतीत होती है, किन्तु यह विभावन व्यंजना-व्यापार के माध्यम से ही उन्हें स्वीकार्य है। **अजडात्मा** शब्द स्पष्टतः 'अधिकारी चात्र विमल-**प्रतिभानशालिहृदयः**' सहृदय की ओर संकेत है, किन्तु विवेकपरकता और राग-चेतना को समन्वित कर उन्होंने अपनी अवधारणा को अधिक अर्थपूर्ण एवं व्यापक बना दिया है। समग्रतः उनकी अवधारणा अभिनव की उपजीवी है। उन की आस्था है कि काव्यास्वाद मूलतः जडता, नीरसता तथा हृदय की मलीनता को दूर कर सहृदय के अन्तःकरण को चैतन्यपूर्ण बनाता है।[2] यह साधारणीकरण की भूमिका है।

अलंकारमहोदधि (१३वीं शती) लेखक नरेन्द्रप्रभसूरि

साधारणीकरण की अवधारणा का अन्वेषण नरेन्द्रप्रभसूरि ने प्राचीन आचार्यों की परम्परा में किया है। उन्हीं की तार्किक शैली तथा निष्कर्षों से सूरि ने अपनी अवधारणा गुम्फित की है। भट्टनायक की सरणि पर सूरि ने बड़े कौशल से उत्पत्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद का खण्डन कर भावना-व्यापार को प्रतिष्ठित किया है। प्रमाता तटस्थ रूप से रस की अनुभूति नहीं कर सकता, क्योंकि आश्रय उसके अनुभव क्षेत्र से बाहर है। आत्मगत

---

[1] चन्द्रालोक. ६/३ पृ० २५४

[2] वही, १/१-२ पृ० १, ३

रूप में भी रसानुभूति सम्भव नहीं है। सीतादि विभावों के प्रति प्रमाता कामभावना नहीं रख सकता। विभावादि कारणों के निवृत्त हो जाने पर रसबोध भी समाप्त हो जाता है। अतः रस की उत्पत्ति मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि उत्पन्न पदार्थ कारण के समाप्त हो जाने पर भी शेष रहते हैं[1], इत्यादि अवधारणाएँ केवल परवर्ती काव्यशास्त्रीय विकास के ऐतिहासिक संदर्भ को इंगित करती हैं। भट्टनायक की भाँति नरेन्द्रप्रभसूरि काव्यनाट्य में अभिधा के अनन्तर उदभूत होने वाले भावना-व्यापार से पुनर्भावित संविद् विश्रान्ति की ओर संकेत करते हैं।[3] भावक व्यापार में व्यंजना-व्यापार की अपेक्षा कोई विशिष्टता नहीं है[3] यह विचार भी भट्टनायक की आलोचना-यात्रा का परम्परित बिन्दु है। इस संदर्भ में उनके सिद्धान्त की नवीनता अनुबन्धों की योजना में लक्षित होती है। अनुबन्ध-प्रक्रिया रसानुभूति की विविध दिशाओं को परिभाषित करती है।[4] मूलतः यह अनुभावों के स्थायी भावों के साथ अनुबन्धन की प्रक्रिया है। जब अनुभाव एकाकी या सम्मिलित होकर पूर्व उन्मीलित रति स्थायी अथवा अन्य भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं तो उनके पुनः पुनः उद्बुद्ध होने, एकत्र होने अथवा सम्मिलित होने में वैचित्र्य का उद्रेक होता है।

विश्वेश्वर (१४वीं शती का पूर्वार्द्ध): चमत्कारचन्द्रिका

ग्रन्थ के शीर्षक से स्पष्ट है कि विश्वेश्वर काव्यास्वादजन्य अनुभूतियों की अन्विति का नियामक चमत्कार को मानते हैं, किन्तु तथ्य यह है कि चमत्कार की प्रामाणिकता भी अंशतः प्रमाता के आनन्दोद्रेक में ही निहित

---

[1] न ताटस्थ्येन रसः प्रतीयते स्वव्यतिरिक्ताश्रयप्रतीतो रसनीयत्वाभावात्। नाप्यात्मगतत्वेन सीतादावपि कामित्वप्रसंगात्। नाप्युत्पद्यते विभावादिकारणानां निवृत्तावपि घटादिवत् तस्यावस्थानप्रसंगात्। न च व्यज्यते प्रदीपाद्यभिव्यंग्यघटादिवत् पूर्वसिद्धत्वाभावात्। (अलंकारमहोदधि बड़ौदा-१९४६ पृ० ५७।)

[2] काव्ये नाट्ये वाभिधानन्तरोद्भवेन परमानन्दसंवलितसंविद्विश्रान्तिरूपेण ......(वही)

[3] भावकव्यापारस्य व्यंजनाव्यापारादाधिक्यममृष्यन्। (वही)

[4] भावो जन्मानुबन्धोऽथ निष्पत्तिपुष्टिसंकरै ह्रासस्येति बुधैः सप्तरसस्य प्रक्रिया (पृ० ९०)।

है। **'चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।'**[1] इसका स्पष्ट आशय यह है कि कवि गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या अथवा अलंकृति के माध्यम[2] से जो रचना चमत्कार उत्पन्न करता है, उसकी चरम सार्थकता भी चेतोरंजन[3] अथवा सहृदयों की चित्तवृत्तियों की आनन्दानुभूतिपरक एकतानता में ही निहित है। विश्वेश्वर की दृष्टि में काव्य का प्राणतत्त्व रस ही है। इसका प्रबल प्रमाण है कि कविता विशिष्ट संस्कार-सम्पन्न प्रमाता को ही ग्राह्य होती है।[4] रस ही काव्य की कमनीयता का चरम प्रतिपाद्य है। **'तदन्वयेन काव्यश्री: कमनीयत्वमागता।**[5] विश्वेश्वर की दृष्टि में रस की सत्ता का सबसे प्रबल साक्ष्य सहृदय की निजी अनुभूति ही है। **'स्वानुभूतिविलसनमेव रसस्य सद्भावे प्रमाणमिति परमं रहस्यम्'**[6] रस की मूल शक्ति इस तत्त्व में निहित है कि भावयित्री प्रतिभा-सम्पन्न सहृदय अपनी-अपनी भावना विशेष के अनुरूप समानुभूति के स्तर पर काव्यार्थ का अनुभावन करते हैं।[7] यह अनुभावन एक स्तर पर बाह्य लौकिक प्रयोजनों का निषेध करता है तथा दूसरे स्तर पर पुन: पुन: अनुचिन्तन के माध्यम से काव्यार्थ को भावनासिद्धि में पर्यवसित कर देता है।[8] भावनासिद्धि का आशय यह है कि रसबोध मानस साक्षात्कार से अभिन्न अनुभूति है, जिसमें एक ऐसी विशिष्ट भावना की सहकारिता अपेक्षित रहती है, जो संस्कार और दीर्घ अभ्यास की भूमि में अंकुरित होती है।

---

१. चमत्कारचन्द्रिका पृ० २

२. गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्याम् अलंकृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधा:॥ (वही पृ० १)

३. चेतोरंजनकरीति वृत्तिकलिता। ('पृ० १)

४. शय्यामञ्चति कामिनीव कविता कस्यापि पुण्यात्मन:। (वही. पृ० १)

५. चमत्कारचन्द्रिका पृ० १०७

६. वही, पृ० १२८

७. ननु कोऽयमाकारो रसस्य येनायं भावुकमानसैरनुभूयत इति चेत् स्वस्वानुभवैकनिवेदनीये तस्मिन्नाकारे कथमस्मादृशां वाचो व्यापारमात्मीयमापूरयेयु: (वही, पृ० १२७)

८. विगलितवेद्यान्तरमिति वचनपरिपाटीं मनसि मुहुरावर्तयता भावनासिद्धिपर्यन्तं सन्तोष्टव्यमायुष्मता। (वही, पृष्ट १२७)

यह स्वत: सिद्ध है कि विश्वेश्वर साधारणीकरण का उल्लेख नहीं करते, किन्तु उपर्युक्त दृष्टि से और रसबोध की सामाजिकनिष्ठ व्याख्या की दृष्टि से भी वे ऐसे कतिपय सूत्रों की अवतारणा करते है, जिनमें साधारणीकरण के मूल तत्त्व निहित हैं। अभिनव के समान वे भी रसबोध के लिए विशिष्ट संवेदनशील आन्तर-प्रतिभा की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं।[1] रस-प्रतीति तर्क-ज्ञान की कर्कश वागाडम्बरयुक्त भूमि से एकान्त भिन्न संवेदना की भूमि है।[2] किन्तु विश्वेश्वर रस की सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, ऐतिह्य, संभव एवं अभाव प्रमाणों का आधार ग्रहण करना भी आवश्यक मानते हैं। इस संदर्भ में वे कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत देते हैं यथा—रस निर्विकल्पक बोध नहीं है, क्योंकि यह भावविशेष की अनुसंधानात्मक प्रतीति है। प्रकारान्तर से यह तथ्य कि रसबोध मूलत: निर्विशिष्ट नहीं होता[3] आधुनिक चिन्तन का तलस्पर्शी है। प्राचीनों ने स्वशब्दवाच्यत्व के निषेध के रूप में इसका आख्यान किया है। किन्तु अभिव्यंजनावाद में इसका अधिक सबल आधार पर पुनराख्यान किया गया है। आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य का विषय सदा विशेष होता है. सामान्य नहीं बह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं; यह बात आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है···काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब या मूर्त्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं, बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।[4] वस्तुत: विश्वेश्वर की अवधारणा भाव की उसके प्रकृत रूप में प्रतिष्ठा से सम्बद्ध है, आस्वाद की भूमिका से नहीं। विभाव तो काव्य में विशेष रूप में ही उपस्थित होते हैं, काव्यानुभूति के क्षण में वे निर्विशिष्ट होते हैं। विशेष एवं

---

१. वासना प्रौढपरिपाकभावनाविशेषसहकारिणां सहृदयानां मानसे गोचरीकृता। (वही, पृ० १२७)

२. अस्यापि पुनरियं वागाडम्बरदिडम्बनाविविधचर्चाकण्डूलधिषणा प्रकाण्डानां वादिनां मुदे विलिख्यते। (वही, पृ० १२८)

३. नाद्य: वस्तुस्वरूपमात्रावभासकस्वभावत्वान्निर्विकल्पकस्य रसस्य भुवि भावादिविशेषानुसंधानपूर्वकप्रतीतिस्वभावत्वात्। (पृ० १२८) निर्विशिष्टविषयोल्लेखिनो ज्ञानस्यैवासंभवात् (वही)

४. चिन्तामणि भाग-१ पृ० २२८

निर्विशेष का द्वन्द्व साधारणीकरण का महत्त्वपूर्ण पक्ष है और विश्वेश्वर ने विषय वस्तु की दृष्टि से इस ओर सजग संकेत किया है।

रस की अनुमान-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए विश्वेश्वर कहते हैं कि यथार्थ के चरम साक्षात्कार की प्रतिक्रियाएँ विशिष्ट ही होती हैं और इस दृष्टि से तत्त्व का साक्षात् करने वाला ही रस का अधिकारी होता है। 'अमी सामाजिका रसानुभववन्तः ये ये विवक्षितचेष्टाविशिष्टाः तस्माद्रसानुभववन्त एवेति; यथा तत्त्वसाक्षात्कारानुभवितारः तथा चेमे चेष्टाविशिष्टा तस्माद्रसानुभववन्त एवेति।[1]

विश्वेश्वर का सबसे उल्लेखनीय योगदान 'रसो वै सः, की संभवतः काव्यानुभूति के क्षेत्र में सर्वप्रथम अवतारणा से सम्बद्ध है। पंडितराज जगन्नाथ की रसो वै सः की श्रुतिसम्मत व्याख्या मूलतः विश्वेश्वर की ही उपजीवी है।

स वै रस इति श्रुत्या ब्रह्मणस्समकक्षया।
प्रोक्तो रसः स्वयं भाग्यात् कैश्चिदेवानुभूयते ॥[2]

विश्वेश्वर मूलतः अभिनव की परंपरा के ही व्याख्याकार हैं, किन्तु रसानुभूति के पक्ष को सविकल्पक ज्ञान तथा वैशिष्ट्यमूलक अर्थबोध से सम्बद्ध कर वे रसानुभूति की लोकोत्तर आदर्श संकल्पना को यथार्थ का आधार देते हैं।

श्रीवत्सलांछनभट्टाचार्यविरचिता काव्यपरीक्षा (स्थिति काल १३२३ से १३८० के मध्य)

श्रीवत्सलांछन ने रस-निष्पत्ति तथा साधारणीकरण की प्रक्रिया का विवेचन नव्य वेदान्त की शैली में किया है। पंडितराज जगन्नाथ का चिन्तन श्रीवत्सलांछन के चिन्तन का ही विकास प्रतीत होता है। काव्य में स्थायी भाव विभावादि से अभिव्यंजित होते हैं। यह प्रक्रिया चैतन्य के आनन्दांश के आवरणभंग की वेदान्तसम्मत प्रक्रिया के समानान्तर है।[3]

---

[1] चमत्कारचन्द्रिका पृ० १२८

[2] वही, पृ० १०७

[3] काव्ये हि विभावादिभिरभिव्यज्यते स्थायी, तस्यां चाभिव्यक्तावन्तः करणवृत्ति रूपायां चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मापि भासते, वेदान्तिनये सर्व-

अन्तःकरण वृत्ति के रूप में स्थायी चैतन्यानन्दस्वरूप प्रकाशित होता है। किन्तु वह प्रकाश अनात्मसामग्री के कारण आवृत रहता है। काव्यदर्शन-श्रवण की महिमा से वह आवरण भंग हो जाता है 'तथा च रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमानन्दांशे भग्नावरणतया आनन्दरूपतया प्रकाशमानं रस इति पर्यवसितार्थः।[1] रस-चर्वणा आनन्दांश की अभिव्यक्ति ही है, जो मूलतः काव्यार्थ के ज्ञान का पर्याय है। इस संदर्भ में श्रीवत्सलांछन ने जिस साधारणीकरण-प्रक्रिया का विवेचन किया है, वह अंशतः अभिनवगुप्त की अवधारणा की उपजीवी हैं।[2] सामाजिकों की वासना रूप में स्थित रत्यादिक स्थायिभाव निर्विशेष विभावादि से व्यंजित होते है। यह व्यंजना उन भावों के पुनः पुनः अनुसंधान का परिणाम हैं। इस प्रक्रिया में एक स्तर पर विभावादि वैशिट्य से मुक्त होते हैं तो दूसरे स्तर पर प्रमाता संबंधों के वैशिष्ट्य से मुक्त होकर उन विभावों को साधारण्य की भूमिका में ग्रहण करते हैं। यह प्रक्रिया विभावादि के पौनःपुन्य की प्रक्रिया है। पुनः पुनः भावनात्मक अनुसंधान के द्वारा रामादि से अभेद तादात्म्य स्थापित कर प्रमाता तन्मयीभवन की भूमिका में पहुँच जाता है।[3]

अमृतानन्दयोगी (१४वीं शती ई० अन्तिम चरण) अलंकार-संग्रहः

अमृतानन्दयोगी ने अलंकार-संग्रह के तृतीय परिच्छेद में रस, रसभेद रसोत्पत्ति इत्यादि का विवेचन किया है। उनकी आस्था अभिव्यक्तिवाद में प्रतीत होती है। **ज्ञायमानैर्विभावाद्यैर्व्यक्तः स्थायी रसः स्मृतः।**[4] से स्पष्ट

स्मिन्नेव ज्ञाने आत्मभाननैयत्यात् (काव्यपरीक्षा, मिथिला विद्यापीठ-१९५६ ई०, पृ० १५)

१. वही, पृ० वही

२. परिहृतविशेषैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैव तेन शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्वन्धिविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायात्-साधारण्येन······ (वही, पृ० १६)

३. काव्यनाट्यश्रवणदर्शनमहिम्ना रत्यादिभावानां सामाजिकस्य वर्णनीयेन सह तन्मयीभावसंपादकत्वाच्च रामादिभेदाग्रहे सति साधारण्येन प्रतीतिर्जायते। (वही, पृ १६)

४. अ० सं० ३/२ पृष्ठ १०

है कि रस को वे सामाजिकनिष्ठ मानते हैं। रसोत्पत्ति के दो ध्रुव हैं—एक विभावादि तथा दूसरा सामाजिक। किन्तु रसोत्पत्ति में सहायक काव्यात्मक विभाव ही होते हैं। श्रव्य अथवा दृश्य संदर्भों में परिवर्तित होकर वे लौकिक कारणों की संज्ञा से मुक्त हो जाते हैं।

श्रूयमाणैर्विभावाद्यैः काव्येषु रससंभवः।
दृश्यमानैः सदस्यानां नाटकेषु रसादयः॥[1]

रस के वे दो भेद मानते हैं। लौकिक अनुभूति को भी वे रस स्वीकार करते हैं तथा उसे स्वाभाविक रस की संज्ञा देते हैं। सामाजिकस्थ रस स्वभाव रस हैं। लौकिक अनुभूति तथा काव्यानुभूति (स्वभाव रस) के तात्त्विक संबंध का विवेचन उन्होंने नहीं किया है, किन्तु श्रूयमाणता, दृश्यमानता तथा नटों में रस भावादि के आरोप के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि **'दोषाभाव गुणालंकारलक्षणे** तथा **नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण'** के द्वारा स्वगत परगत प्रतीति से मुक्त होकर काव्यानुभूति किस प्रकार प्रमाता तक संक्रमित होती है, इसकी अभिज्ञता उनको है। रस की प्रमातृसापेक्षता के प्रति वे सतर्क हैं।

(क) विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः।
श्रोतॄणां प्रेक्षकाणां च ते सर्वे रसपोषकाः॥[2]

(ख) उत्पन्नो यै रसो भावैर्भावुकैरनुभूयते।[3]

साधारणीकरण के संबंध में इससे अधिक सूत्र उनके रस-चिंतन में अनुपलब्ध हैं। अलंकार प्रकरण में प्रमाणालंकार के अन्तर्गत निर्विकल्पक अलंकार का स्वरूप वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

नामादिभिर्विशिष्टार्थविषयं प्रत्यक्षं सविकल्पकम्।
अविशिष्टार्थविषयं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्॥
इन्द्रियोत्पन्नविज्ञानं प्रत्यक्षालंकृतिर्यया।[4]

कहने की आवश्यकता नहीं अभिव्यंजना की भूमि पर अविशिष्टार्थविषयता भी उनकी दृष्टि में चमत्काराधायक है, किन्तु आत्मविश्रान्ति के

---

१. अ० सं० ६/६ पृष्ठ १०
२. अ० सं० पृष्ठ ११
३. अ० सं० पंचम परिच्छेदः पृष्ठ ५८

काव्यपरक वर्णन मात्र तक ही इसकी इयत्ता है। बाह्य विषयों से उपरत होकर प्रमाता का मन काव्य-विषय में कैसे निमग्न होता है, यह उनका विवेच्य नहीं है। उदाहरणार्थ—

> क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ ।
> स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्विकारमधुनीन्द्रियवर्गः ।।[1]

यह एक विशिष्ट अभिव्यंजनात्मक स्थिति है। काव्यास्वाद की निवृत्तिपरक भूमिका नहीं है। अतः 'निवृत्तिर्मनसो वृत्तिरिन्द्रियैरुपनीयते'[2] में निवृत्ति की भूमिका अभिव्यंजनात्मक वैशिष्ट्य तक ही सीमित है। काव्य का सारभूत प्रभाव प्रमाता को निर्विकारमधुनीन्द्रियवर्ग की भूमिका में कैसे प्रतिष्ठित करता है, यह उनका प्रतिपाद्य नहीं है।

गंगानन्द कविराज (१६वीं शती) कर्णभूषणम् (रचनाकाल १५०६-१५२७ के मध्य)

गंगानन्द कविराज ने कर्णभूषण में रसनिष्पत्ति के प्रसंग में साधारणीकरण का जो विवेचन किया है, वह मूलतः अभिनव तथा विश्वनाथ का उपजीवी है। किन्तु साधारण्य अथवा साधारणीकरण के प्रति उनकी आस्था इतनी प्रबल है कि रस के लक्षण में भी उन्होंने साधारण्य का समावेश कर दिया है।

> साधारण्याद्विभावाद्यैः प्रतीतैः सभ्यचेतसि ।
> अभिव्यक्तो दधिन्यायात्स्थायी रत्यादिको रसः ।।[3]

दुग्ध जिस प्रकार अम्ल के संयोग से दधि संज्ञा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार साधारण्य रूप में प्रतीयमान विभावादि के संयोग से रति इत्यादि स्थायी रस पद से अभिहित होता है। गंगानन्द ने इस संदर्भ में एक विशेष बात यह कही है कि विभावादि की अज्ञान दशा में सौक्ष्म्य का तिरोभाव हो जाता है।[4] उनके इस कथन का यह आशय प्रतीत होता है कि विभाव-योजना

---

[1] वही पृ० वही

[2] वही ५/५७ पृ० ५८

[3] कर्णभूषणम् ५/१२ पृ० ४८

[4] विभावादिज्ञानदशायां रत्यादेः स्थौल्यमाविर्भावो रसपदव्यवहार्यत्वात् ।
विभावाद्यज्ञानदशायां सौक्ष्म्यं तिरोभावः ।।
(कर्णभूषणम्, पृ० वही)

में कवि का सूक्ष्म तत्त्व बिम्बात्मक रूप में आविर्भूत होता है। किन्तु आस्वाद दशा में उस विशेष बिम्ब (सीतादि) में निहित कान्तात्वादि का सौक्ष्म्यभाव उभर आता है एवं विभाव मदीय, परकीय, तटस्थीय सम्बन्धों के स्वीकार से मुक्त होकर साधारणीकृत हो जाते हैं।[1] गंगानन्द के अनुसार स्थायी-संज्ञा के मूल में ही साधारणीकरण का भाव निहित है, क्योंकि स्थायी के अभिव्यक्त होते ही विभावादि की नियतसम्बन्धवर्तिता समाप्त हो जाती है (नियतसम्बन्धापरिचयात् साधारण्यम्)।[2]

पानके तु मरीचादेर्न विशिष्य ग्रहो भवेत्।
तथैवात्र विभावादेर्न विशिष्य ग्रहक्रमः॥[3]

गंगानन्द ने रस के स्वरूप एवं प्रभाव का व्यापक विवेचन मूलतः उसके वैशिष्ट्य एवं साधारणीकृत-रूप की द्वन्द्वात्मक चेतना के स्तर पर किया है। रस की निर्विकल्प सत्ता इस कारण ग्राह्य नहीं है कि विभावों की मूल चेतना विशिष्ट है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि रस न एकान्त नटगत है न अनुकार्यगत ही। अपितु काव्य तथा नाटक में भावगत व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है तथा सामाजिक साधारणीकृत स्थायी भाव का आस्वादन करते हैं।[4] निश्चय ही भट्टनायक का मत परम्परित कारणों से गंगानन्द को भी स्वीकार्य नहीं है। उनका कथन है कि यदि विभावों में से एक भी असाधारण है तो दूसरे विभाव के असाधारण होने के कारण रसबोध अनवद्य नहीं हो सकेगा। अतः विभावादि का साधारणीकरण अलौकिक स्थिति में ही ग्राह्य है, जिसमें साधारण असाधारण का भेद समाप्त हो जाता है।

असाधारण एकोऽपि विभावादिर्भवेद्यदि।
रसस्तदा न चाक्षेपः कष्टकल्पनदोषतः॥

---

[1] कर्णभूषणम्, पृ० वही।

[2] कर्णभूषणम्, पृ० वही।

[3] कर्णभूषणम्, ५/८, पृ० ४६

[4] व्यापारेण विभावादिसाधारण्यं प्रकुर्वताम्।
साधारणीकृतः स्थायिभावः सामाजिकात्मनि॥
(वही, पृ० ५०)

साधारणो विभावादिर्यत्रैको द्वितयोऽथ वा ।
संनिबद्धो भवेत्तत्र विरोधान्न रसस्थितिः ।।[1]

गंगानन्द की दृष्टि वस्तुनिष्ठ अथवा लोकोन्मुखी नहीं है, उनकी रस-चेतना एकान्त परम्परानिष्ठ, आदर्शपरक एवं आत्मनिष्ठ है ।

स्वगोचरीकृतो ब्रह्मास्वादसौख्यसहोदरः ।
अलौकिकचमत्कारः स्वप्रकाशसुखात्मकः ।।[2]

जैसी पदावली अनिवार्यतः रस को आत्म-विश्रान्तिमयी ब्रह्मचेतना के स्तर पर ही ग्रहण कर सकती है ।

विभावादि मूलतः असाधारण होते हैं, किन्तु काव्य तथा अभिनय के माध्यम से वे साधारणीकृत होते हैं ।[3] साधारणीकरण के द्वारा माधवादि असाधारण पात्र निर्विशेषीकृत होते हैं तथा सर्वसाधारण के द्वारा हृदयंगम किये जाते हैं । विभाव तथा प्रमाता दोनों की परिमितता विगलित हो जाती है ।[4]

स्पष्टतः गंगानन्द स्थायी भावों का साधारणीकरण मानते हैं, जो अभिनव तथा विश्वनाथ का मूल अभिमत है । 'साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ।' यह स्थायी भाव का विनिर्मुक्तीकरण है, जिसमें स्व-पर की चेतना निःशेष हो जाती है तथा विभावादि के स्थौल्य का सूक्ष्मीकरण हो जाता है । इस प्रकार गंगानन्द का साधारणीकरण परिमित नहीं व्यापक है । विभावादि ही देशकाल की परिमितता से मुक्त नहीं होते, प्रमाता के स्थायी भाव की भी स्व-पर की चेतना अथवा सम्बन्धों के परिच्छेद अथवा स्वीकार-परिहार की भावना समाप्त हो जाती है ।

रत्यादिना विभावादिसाधारण्यधियः क्षणे ।
सभ्यमात्रात्मनिष्ठत्वाभावात्सारणेन च ।।[5]

१, २. कर्णभूषणम्, पृ ५०

३. काव्याभिनयरूपाणामुपायानां स्वभावतः ।
साधारण्यं विभावादेरसाधाराणतावतः ।।
साधारण्ये त्वनुभवः प्रमाणं सभ्यचेतसि ।
(कर्णभूषणम्, ५/४-५, पृ० ४८)

४. माधवादिगता एवासाधारणा अमी कारणादयः सभ्येन सकलसाधारण्येन प्रतीयन्ते (कर्णभूषणम्, पृ० ४९)

५. वही, ५/६, पृ० ४९

कहने की आवश्यकता नहीं कि गंगानन्द का विवेचन परम्परानिष्ठ होते हुए भी रस-निष्पत्ति में साधारणीकरण के व्यापक महत्त्व की स्वीकृति के स्तर पर अपनी विशिष्टता रखता हैं।

मधुसूदन सरस्वती (सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध)

श्रीभगवद्भक्तिरसायन

भक्ति के परिप्रेक्ष्य में रसानुभूति का विवेचन करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में एक मौलिक संकेत किया है। भगवद्विषया रति यद्यपि मूलतः ज्ञान से पूर्वकालिक रागात्मक चेतना है, तथापि अपने मौलिक रूप में वह प्रपाणकरस-न्याय पर आधारित परविलक्षण अनुभूति है।[1] इसमें हर्ष, काम सम्बन्ध, और भयजन्य रतियों की मिश्रित अनुभूति से एक विलक्षण रस अनुभव होता है। यह अनुभूति भिन्न-भिन्न रतियों की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्ति से भिन्न विलक्षण अनुभूति इस अर्थ में होती है कि कि इनमें से किसी भी एक अनुभूति केन्द्र से युक्त होकर प्रमाता शेष अनुभूतियों से तादात्म्य करता है। मधुसूदन सरस्वती लौकिक तथा अलौकिक अनुभूतियों में इस अर्थ में भेद स्वीकार करते हैं[2] कि काव्य के अर्थ में रहने वाले रत्यादि स्थायिभाव लौकिक हैं, किन्तु सामाजिक की चित्तवृत्ति में स्थित स्थायिभाव में संक्रान्त होकर ये लौकिक भाव अलौकिक हो जाते हैं और इस प्रकार लौकिक स्तर पर इनकी दुःखात्मकता भी सुखात्मकता में परिणत हो जाती है। कहने का आशय यह है कि रस मूलतः प्रमाता मात्र की आत्मा का प्रतिविम्ब होने के कारण सुख-मूलक ही है। रसानुभूति के क्षण में सामाजिकनिष्ठ स्थायिभाव उद्बुद्ध होता है, फलतः उसकी मौलिक आनन्दात्मकता में संवलित होकर विभावानुभाव व्यभिचारी जैसी जडात्मक अनुभूतियाँ भी अलौकिक, आनन्दमयी अनुभूति में पर्यवसित हो जाती है। इस संयोग

---

[1] एकदैव यदि व्यक्तमिदं रतिचतुष्टयम्।
तदा तु पानकरसन्यायेन परमो रसः॥
(भ० र० २/६६ पृ० १६६ (वाराणसी-२०३३ सं०)

[2] काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्या स्थायिनः सन्ति लौकिकाः।
तद्बोद्धृनिष्ठास्त्वपरं तत्समा अप्यलौकिकाः॥
(वही, ३१४, पृ० १७३)

में एक स्तर पर स्व-संबंध और परसंबंध का ज्ञान बना रहता है, किन्तु दूसरे स्तर पर ये परस्पर अभिन्न रूप से संश्लिष्ट होकर वैशिष्ट्य से मुक्त साधारणीकृत होती है।[1] इस अनुभूति में सामान्यतया और अलौकिकता की विलक्षण अनूभूति होती है। कहने का आशय यह है कि दुष्यन्त और शकुन्तला का स्वपर-सम्बन्ध विलुप्त हो कर साधारणात्मा रति में पर्यवसित हो जाता है। यह समूहालम्बनात्मक अनुभूति का अनिवार्य परिणाम है, जो मूलतः सुखात्मक है।

आचार्य विश्वनाथ देव (१६वीं शती का अन्तिम भाग)
साहित्य-सुधा-सिन्धु (१५५२ ई० के लगभग)

आचार्य विश्वनाथ देव की साधारणीकरण के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट स्थापना नहीं है। साधारणीकरण की मूल समस्या वे भट्टनायक के कोण से ही उठाते है, अर्थात् सीतादि पात्र प्रमाता को रामादि के संबंध से ही परिज्ञात होते हैं, फिर सीतादि विभावों से उद्भूत रस का उन विभावों से असम्बद्ध सामाजिकों से क्या सम्बन्ध हो सकता है? इसका उत्तर है, विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। 'विभावादीनाम् साधारण्यमत्रापेक्षितम्'[2] आचार्य विश्वनाथ देव के अनुसार विशेष संबंध से ज्ञायमान सीतादि विभावों का विशेष सम्बंधी के रूप में ज्ञान न होने पर उनका सामान्य रूप से परिज्ञान होना ही साधारणीकरण है। 'साधारण्यं च यत्किंचित्सम्बन्धविशेषसम्बन्धित्वेनाज्ञायमानत्वे सति ज्ञायमानत्वम्'[3] आशय यह है कि सीता में सीतात्व का परिज्ञान सम्बन्धविशेष की चेतना को उद्बुद्ध करता है, किन्तु विभावन व्यापार के द्वारा सीतात्वादि रूप के विशेषांश का परित्याग होने से स्त्रीत्वादि के रूप में उनकी प्रतीति होती है।[4]

---

[1] ज्ञातस्वपरसंबन्धादन्ये साधारणात्मना।
अलौकिकं बोधयन्ति भावं भावास्त्रयोऽप्यमी॥
(वही, ३/११, पृ० १७५)

[2] सा० सु० सि० (दिल्ली-१९७९) पृ० ९२

[3] वही

[4] न च सीतात्वादिज्ञाने कथामेतादृशं साधारण्यमिति वाच्यं, तदा विभावादि व्यापारमहिम्ना सीतात्वादिपरिहारेण स्त्रीत्वादिनेव ज्ञानात्।
(सा० सु० सि० पृ० ९३)

स्पष्टतः यह भट्टनायक की गोविन्द ठक्कुर कृत व्याख्या की उपजीवी अवधारणा है। गोविन्द ठक्कुर के समान विश्वनाथ देव का भी कथन है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव मूलतः लौकिक कारणों के विशेषांश मुक्त स्वरूप का ही साधारणीकृत रूपायन है। 'अत एवोक्तमेते एव परिहृतविशेषा रसहेतवे' उनका साधारणीकरण सम्बन्धी अन्य विवेच्य अंश इस प्रकार है 'अत्रेदं बांध्यं वासनाविशेषवतां सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिकभावः पौनःपुन्येन रत्यादिभिः समं गृहीतकार्यकारणभावसम्बन्धैः विभावादिभिः परिहृतविशेषैः सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहार नियमानाध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैः नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारण्योपायबलात् साधारण्यमुपगच्छन् चिदात्मना सहाभिव्यक्तः तत्कालोल्लसच्चर्व्यमाणतैकप्रमाणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुरः इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मानन्दसहोदरोऽलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।[1]

स्पष्टतः (१) परिहृतविशेषैः, (२) चिदात्मना सहाभिव्यक्तः, में क्रमशः भट्टनायक तथा पंडितराज जगन्नाथ की अवधारणा का भी अध्याहार हो जाता है। समग्रतः उनके विवेच्य विन्दु इस प्रकार हैं—(१) प्रमाता की नियत व्यक्ति संसर्ग से मुक्ति की चेतना, (२) विभावों की सम्बन्धों के स्वीकार-परिहार से मुक्ति, (३) मानससाक्षात्कारात्मिका प्रतीति, (४) स्थायी का देशकालातीत साधारणीकरण (अभिनव), (५) विभावादि की वैशिष्ट्य-मुक्ति (भट्टनायक), (६) चेतन आत्मा की अभिव्यक्ति (जगन्नाथ)। इन सूत्रों में रत्यादि भाव के साधारण्य सम्बन्ध में उन्होंने अभिनव का व्याप्ति-सम्बन्ध मूलक, जो उदाहरण लिया है, वह अभिनव की अपेक्षा शंकुक के मत के निकट है। 'अत एव धूमादितो वह्न्यादिज्ञानवत् विभावादितो रत्याद्यभिव्यक्तिः।'[2] स्पष्ट है कि वे विभावादि को जो रत्यादि के ज्ञान को प्रमाता में संक्रमित करते हैं, अनुमान कोटि में रखते हैं, जबकि अभिनव का आशय यह है कि जैसे धूम एवं अग्नि का व्याप्ति ग्रहण परमित न होकर व्यापक होता है, वैसे विभावादि का साधारणीकरण निश्चित सीमा में ही परमित नहीं होता। तत एव न परिमितमेव साधारण्यम् अपितु

---

१. साहित्यसिन्धु पृ० ९८

२. वही, वही

विततम् व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः ।[1]

उक्त मतों के अतिरिक्त विश्वनाथ देव ने भोज तथा विश्वनाथ के अभिमतों का भी अध्याहार किया है। भोज के अनुसरण में वे अहन्ता के विस्तार तथा तादात्म्य को साधारणीकरण की भूमिका में स्वीकार करते है।

आशय यह है कि आचार्य विश्वनाथ देव के रस चिन्तन में अभिनव, भट्टनायक, मम्मट, भोज, विश्वनाथ एव पंडितराज जगन्नाथ आदि के रस-चिन्तन की स्पष्ट ऊष्मा है, किन्तु उसमें पिघल कर उनका निजी चिन्तन भी अंशतः मौलिक अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। भट्टनायक के सामान उनका अभिमत है कि सीता एवं रामादि आराध्य पात्र सामाजिक के प्रत्यक्ष उद्वोधक कारण नही वन सकते, किन्तु विभाव, अनुभाव एवं संचारण नामक तीन व्यापारों के द्वारा ये ही पात्र रत्यादि के उद्बोधक कारण वन जाते हैं।[2] इस बोध के क्षण में प्रमाता के विषयान्तर बोध की समाप्ति हो जाती है। सिद्धान्त रूप में इन दोनों संदर्भों में क्रमशः भट्टनायक एवं अभिनव के अभिमतों को खण्ड-खण्ड करके देखना असंभव नहीं है, किन्तु विश्वनाथ देव की विशिष्टता यह है कि वे इन व्यापारों के साथ प्रमाता की बोध प्रक्रिया को एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं। उनके अनुसार इन व्यापारों के द्वारा सामाजिक के हृदय में ईषत् प्रकाश, पुनः स्फुटतर, तदनन्तर स्फुटतम प्रकाश का आविर्भाव होता है।[3]

इस अभिमत में निहित इस तथ्य को पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्रमाता की चेतना में काव्यार्थ-बोध की प्रक्रिया क्रमशः गतिशील होती है।[4] प्रत्येक नये क्षण में विभावों के स्वरूप का एक नूतन कोण

---

१. नाट्यशास्त्रम् पृ० २७९

२. (क) सामाजिकनिष्ठरत्यादीनामाराध्यत्वेन ज्ञाताः सीतादयो न कारणं येन तथा स्युः। (सा० सि० पृ० ८८)
(ख) तेषां च विभावानुभावनसंचारणाख्यव्यापारत्रयवत्त्वात्तथाविधाः संज्ञा, तेषां च व्यापाराणाम् (वही, पृ० ८९)

३. तेषां च व्यापाराणां यथाक्रमं रत्यादेरीषत्प्रकाशः स्फुटतरः स्फुटतमश्च। (वही, पृ० ८९)

४. Cf……move into the field of spectator's consciousness. (Dark Comedy P. 252)

उद्घाटित होता है, जो विगत अनुभूत अंश को फिर से एक नये स्तर पर परिभाषित करता है।

श्री कामराज दीक्षित काव्येन्दुप्रकाश (१६९०-१७१० ई० के मध्य)

काव्येन्दुप्रकाशकार ने रूपक की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—**'रूप्यते इत्यस्य विज्ञेयोऽर्थः विलोक्यते।'**[1] रूपक की इस व्युत्पत्ति में काव्यार्थ के प्रेक्षक द्वारा चाक्षुष दृश्यात्मक अनुभव का अनुषंग निहित है। रूपक के अन्तश्चैतन्य में कवि प्रेक्षक के समीकरण की यह उद्भावना साधारणीकरण के मौलिक संदर्भ की ओर इंगित करती है—**'रूप्यते नाम कविभिर्निरूप्यते सभ्यैर्वाभिन्नरूप्यते'**[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनव ने कवि-सहृदय के इसी समीकरण को केन्द्र में रख कर साधारणीकरण की उद्भावना की है। **'सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते।'**[3]

भरत ने नाटक को **'सर्ववृत्तिनिष्पनं नानाबन्धसमाश्रय'** कह कर वृत्ति में सार्वभौमीकरण तथा साधारणीकरण की संभावनाएँ व्यक्त की हैं। काव्येन्दुप्रकाशकार भी वृत्ति के माध्यम में ही रस-परिकर में प्रवेश करते हैं। **विभावादिज्ञानेन रसोत्पत्तावपि नाटकादिवर्ण्यस्य रसस्य विना वृत्तिमसंभवः।** वृत्तियों के संदर्भ में डा० सुरेन्द्र बार्लिगे का कथन है 'नाटक अथवा अनुकरणः इन सभी वृत्तियों और प्रवृत्तियों का प्रदर्शन मात्र नहीं होता, वरन् इसमें इनका संगठन या चुनाव किया जाता है। इनके व्यवहार-पक्ष का वर्गीकरण करते हुए तथा इतर प्रान्तीय भेदों को बताते हुए भरत ने कहा है कि एक ही वस्तु विभिन्न मार्गों में प्रदर्शित की जा सकती है। वृत्ति और प्रवृत्तियों से सम्बद्ध समस्याएँ एक जैसी ही है। हम व्यक्तिगत भिन्नताओं को त्याग सकते हैं और उनके सार्वत्रिक रूप को ग्रहण कर सकते हैं। यही अभिनवगुप्त का साधारणीकरण है।[4] इस अवधारणा पर हमने अन्यत्र विचार किया है।

---

१. काव्येन्दुप्रकाश पंचदशकोल्लास, पृ० ११

२. वही वही पृ० ११

३. ध्वन्यालोकः (लोचनव्याख्योपेतः संपादक—जगन्नाथ पाठक) पृ० १

४. सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त पृ० १२३

विद्याधर (१४वीं शती पूर्वार्द्ध) एकावली

काव्य की सर्जनात्मक चेतना व्यंजना के द्वारा जिस ध्वन्यर्थ में परिणत होती है[1] वह मूलतः विभावों का अनुसंधान या अन्तर्भावन है[2] जो संज्ञानात्मक अनुभूति से भिन्न एक भावात्मक प्रतिक्रिया है। प्रमाता के स्तर पर यह व्यक्ति-संसर्ग एवं देशकाल की विशिष्ट चेतना से मुक्त साधारणीकृत अनुभूति है।[3] एकावलीकार का विवेचन ध्वनन एवं अनुसंधान के इन्हीं प्रतिमानों को केन्द्र में रख कर चला है। वे साधारणीकरण का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं करते किन्तु उन तथ्यों को अवश्य रेखांकित करते हैं जो इस संदर्भ में प्रासंगिक हैं। उनकी कृति का स्थापत्य काव्य-प्रकाश का ऋणी है तथा उनकी अवधारणा आनन्दवर्द्धन एवं मम्मट की चिन्तन-प्रणाली के अन्दर से विकसित हुई है। किन्तु अभिव्यंजना को केन्द्र में रखकर वे अपने विवेचन को अपेक्षाकृत आधुनिक आयाम देते हैं।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह कि 'रस', 'शृङ्गार' आदि शब्दों के निरावृत प्रयोग से रसानुभूति सहृदय में संक्रान्त नहीं होती।[4] विभावादि की विम्बात्मक अन्तःयोजना[5] लौकिक अनुभूति को स्वतः लोकोत्तर संदर्भ देती है। कार्य-कारण से नियंत्रित लौकिक प्रत्यक्षानुभूति को भेद कर जब प्रमाता उसमें निहित निःसीम भाव-सत्य का अनुसंधान करता है तो वह अनुभूति समस्त सहृदयों से हृदय-संवाद स्थापित करती है।[6] यह स्थिति व्यंजना को रसमूल्य के स्तर पर प्रतिष्ठित करती है[7] जो तात्पर्य, अनुमान

---

[1] १. ध्वननाभिधानाभिनवव्यापारपरिरंभनिर्भरतया

(एकावली (१९८१) पृ० ८२)

[2] २. विभावाद्यनुसन्धानेनैवास्य सत्तासाधनसमर्थत्वात्। पृ० ८६

[3] ३. विभावादिभिः स्वपरोदासीन सम्बन्ध परिहारेण साधारणतयानुसंधीयमानः

(तरल, पृ० ८२)

[4] ४. रसादिशब्दाप्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्य प्रतीतिपथानधिरोहात्।

(पृ० ८४)

[5] ५. काव्यार्थानुसंधानसमनन्तरभाविनी। (तरल०, पृ० ८५)

[6] ६. लोकोत्तरचमत्कारकारितया सकलसहृदयहृदयसंवेदनसाक्षिकेयम्।

(तरल०, पृ० ८४)

[7] ७. काव्यार्थानुसंधानचतुरचेतसां व्यंजनाव्यापारसहकृतान्तःकरणवृत्ति निरस्ता-

स्मरण की आत्मपरकता से आगे बढ़कर काव्यार्थ को समष्टिचेतना के स्तर पर अन्तर्भावित करती है। अनुमान जहाँ व्याप्ति-सम्बन्ध पर आधृत अन्यगत अनुभूति है, अथवा स्मरण, प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सन्निकर्ष पर आधृत एवं व्यक्ति-संस्कार-प्रेरित अनुभव है[1] वहाँ रसानुभूति विशिष्टार्थ का अनुसंधान है। यह व्यंजना की अन्तःक्रिया है। ध्वनन व्यापार से जब काव्य-निबद्ध भावों का अन्तर्भावन होता है तो करुणादि दुःखात्मक भाव भी आनन्दानुभूति में परिणत हो जाते हैं[2] तथा इतर विजातीय संवेदनाओं के नियंत्रित हो जाने विशिष्ट अनुभूति साधारणीकृत हो जाती है। अनुकार्य एवं अनुकर्त्ता की चेतना से मुक्त यह धारावाही अनुभूति[3] ही प्रमाता के स्तर पर आत्मानुभूति है।

विद्याभूषण (१८वीं शती ई०) साहित्यकौमुदी (रचनाकाल १७६० ई०)

साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषण का रसचिन्तन एवं प्रयुक्त शब्दावली मूलतः मम्मट की उपजीवी है, जिसके मूल में अभिनव की प्रेरणा असंदिग्ध है। विद्याभूषण के अनुसार स्थायी सामाजिक की वासना में सस्थित होता है तथा साधारण्य रूप से प्रतीत विभावादि व्यापारों से (जो लौकिक कारणों के ही अलौकिक रूप है) अभिव्यंजित होता है।[4] स्पष्टतः साधारणीकरण यहाँ परिणाम रूप नहीं, अवान्तर व्यापार है, जिस पर भट्टनायक के विभावादि साधारणीकरणात्मा का प्रभाव है। अभिनव विभावन-व्यापार को साधारणीकरण से अभिन्न नहीं अपितु साधारणीकरण की सिद्धि का अंग मानते हैं—'साधारणीभावना च विभावादिभिरिति।' विद्याभूषण का शेष विवेचन अभिनव का उपजीवी हैं, जिसमें रस को सर्वहृत्संवादी, आस्वादात्मा तथा 'विभावादि-जीवितावधि' कहा गया है।

वरणतया विगलितवेद्यान्तरः स्वयमेव भासते।

(तरल, पृ० ८४)

[1] एकावली, पृ० ८७

[2] वही, पृ० ६२

[3] धारावाहिनि ध्यानसंताने। (पृ० ८४)

[4] स च स्थायी साधारण्येन प्रतीतैस्तै रभिव्यञ्जितः सभ्यानां वासनात्मना संस्थितः (सा० कौ० पृ० २६)

'तेनैव सर्वहृत्संवादी चर्वणैकप्राणो विभावादिपरामर्शावधि-जीवितो बहिरन्तश्च परिस्फुरन्सर्वाङ्गमिवालिङ्गन्नानन्दसिन्धुमिवावगाहयन् विगलितवेद्यान्तरोऽलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः स्मर्यते ।'[1]

तेनैव से आशय साधारण्येनैव है अर्थात् विगलितवेद्यान्तरता आदि साधारण्य का स्वरूप नहीं, उसका व्यापार है। उक्त पदावली पर काव्यप्रकाश की छाया अत्यन्त स्पष्ट है। इस प्रकार मौलिक सिद्धान्त की दृष्टि से विद्याभूषण की अवधारणा का इतना मूल्य नहीं है, जितना इस दृष्टि से कि वे भी साधारणीकरण को रस की ब्रह्मास्वादसन्निभ, विगलित वेद्यान्तरता की लोकोत्तर भूमि पर ही व्याख्यायित करने में आस्था रखते हैं। वे लोल्लट अथवा विद्यानाथ की भांति रस को अनुकार्यनिष्ठ नहीं मानते। अनुकार्य परिमित हैं और उन से भय आदि की लौकिक अनुभूति ही हो सकती है। रस अभिनेता में भी नहीं है, अपितु उसके नैपुण्य से रस को अलौकिकता प्राप्त होती है। रस की स्थिति सामाजिक में ही है—

'स च रसो नानुकार्यादौ लौकिकत्वात् पारिमित्याद् भयादिसद्भावाच्च। न चानुकर्त्रादौ जीविकामर्थनुवृत्त्यादौ प्रवृतेः। किंतु सभ्येष्वेव सवासनेषु तत्तन्निबन्धनचातुरीभिः तत्रालौकिकत्वप्राप्तेः।'[2]

सैद्धान्तिक दृष्टि अनाविल होने पर भी विद्याभूषण के चिन्तन में रस की अलौकिकता तथा विभावों के साधारण्य के पौर्वापर्यक्रम का कोई स्पष्ट विवेक लक्षित नहीं होता। अपरिज्ञात विशेष से उनका आशय दमयन्ती आदि का कामिनी रूप में उपस्थित होना है। स्थायी भावादि प्रमाता के ममत्व परत्वादि के सम्बन्ध विशेष से विच्छिन्न हो जाते हैं तथा असाधारणता से मुक्त होकर साधारणीकृत प्रतीत होते हैं। प्रमाता भी स्व-परभाव से मुक्त होकर आश्रय से अभेद स्थापित करता है। इस संदर्भ में कृष्णानन्द की टिप्पणी है—

'अपरिज्ञातो विशेषो दमयन्तीत्वादिर्येषाम्, स्फुरन्ति कामिनीत्वादिसामान्येनेत्यर्थः।'[3]

---

[1] वही, पृ० वही

[2] सा० कौ० पृ० ३०

[3] सा० कौ० पृ० ३०

कहने का आशय यह है कि विद्याभूषण ने भट्टनायक से लेकर विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों की अवधारणाओं को संयोजित करने की चेष्टा की है। प्रमाता स्व-पर-भाव से मुक्त होकर आश्रय से अभेद स्थापित करता है। **यस्मन्नृणामपि अब्धिलंघनादौ प्रवृत्तिः सम्यानां**।'[1] इस प्रकार उनके विवेचन में विभावादि का निर्विशेषत्व, सम्बन्ध का स्वीकार-परिहार, प्रमाता के परिमित भाव का उन्मोचन तथा आश्रय से अभेद आदि के विविध सूत्र अन्तर्ग्रंथित हो गये हैं।[2]

चिरंजीव भट्टाचार्य (१८वीं शती का प्रारम्भ) काव्यविलास (रचनाकाल १७०३)

काव्यशास्त्रीय परिवेश अकस्मात् परिवर्तित नहीं होता, किन्तु काव्यगत मान्यताओं में व्यापक स्तर पर एक सुनिश्चित परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। यह परिवर्तन आकस्मिक नहीं होता, इसका सम्वन्ध ऐतिहासिक संदर्भ से है। संस्कृत काव्यशास्त्र की मान्यताओं के वस्तुनिष्ठ स्तर पर स्थापित हो जाने के अनन्तर सहृदय की मानसिकता तत्कालीन परिवेश में अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होती गई। अतः काव्य-लक्षण अथवा रस-लक्षण में सहृदय की रसज्ञ चेतना का समावेश करना आवश्यक हो गया है। चमत्कार की सूक्ष्म भंगिमाओं के मर्मज्ञों के अभाव में रसमय काव्य का अस्तित्व निरर्थक उद्घोषित किया गया। 'काव्यविलास' काव्य-चमत्कार के अभिज्ञों की उपस्थिति में ही काव्यानुभूति को प्रासंगिक मानता है।[3] इस संदर्भ में **अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः** की परम्परा को आगे बढ़ाने में ही इस कृति का योगदान है। इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक ने रस-शास्त्र की अन्य समस्याओं पर विचार नहीं किया गया है, उसने माया रस के सम्बन्ध

---

१. वही

२. 'स्थाय्यनुभावादीनां सम्बन्धिविशेषानवच्छेदः। तेन ममैव न ममैवेति परस्य न परस्येति असाधारण्यं विहाय सर्वसाधारण्येन स्थायिभावाद्याः प्रतीयन्ते।'[4] (वही)

३. सत्यपि च रसादौ विना विलक्षणचमत्कारमभिज्ञानानां काव्यमिदमिति न प्रतीतिरपि इति।

(काव्य-विलास (सरस्वती-भवन, वाराणसी-१९२५) पृ० ३)

में एक बड़ी सार्थक टिप्पणी की है—माया अनादि है, किन्तु मिथ्या ज्ञान की प्रेरिका है, जबकि रस साक्षात् ब्रह्मास्वाद सहोदर है, अतः आनन्दस्वरूप रस का माया के साथ सामंजस्य असंगत है।[1] इस संदर्भ में पण्डितराज जगन्नाथ के भावना दोष का स्मरण आना स्वाभाविक है। साधारणीकरण में मिथ्या ज्ञान का तिरोधान आवश्यक है। किन्तु भावना-दोष मूलतः ज्ञान के तिरोधान पर अवलंबित है। अतः दोनों के सामंजस्य में तार्किक असंगति प्रतीत हो सकती है, किन्तु भट्टाचार्य ने मतभेद की सक्रियता को साधारणीकरण जैसे तार्किक विवेचन की ओर उन्मुख नहीं किया है।

पं० छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर (२०वीं शती ई०)

साहित्यबिन्दु (संवत् १९५२)

यह साहित्य-शास्त्र विषयक लक्षण-परिचायक सामान्य ग्रन्थ है, जिसमें लौकिक कारणों तथा अलौकिक विभावों के अन्तः सम्बन्ध का परम्परित उल्लेख है।[2] आस्था उनकी अभिनव की अवधारणा में है,[3] अतः शंकुक तथा भट्टनायक के अभिमतों को वे ग्राह्य नहीं मानते। शंकुक का मत इस कारण दोषपूर्ण है कि लोकप्रसिद्धि में प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कारपूर्ण होता है।[4] भट्टनायक के मत को वे सांख्य दर्शन पर आधृत मानकर उसकी सांख्य-रीति से व्याख्या करते हैं तथा अपूर्व भोज्य-भोजक-भाव रूप दो व्यापारों की कल्पना को प्रमाणाभाव के कारण दोषपूर्ण मानते हैं।[5]

---

१. वस्तुतस्तु आलंकारिकाणां मते रसो नित्य आनन्दस्वरूपः। '
अतस्तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन मायाया रसत्वाऽसंभवः॥
(वही)

२. ये नाम लोके रामादिगत इतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयः त एव काव्ये नाटके च निबद्धा सन्तो विभावाः कथ्यन्ते। (पृ० ६२)

३. अनवद्यमेतन्मतम् (पृ० ५९)

४. प्रत्यक्षमेव ज्ञानं चमत्कारजनकं नानुमित्यादिकमिति लोकप्रसिद्ध्यात्रापि दोषः (पृ० ५९)

५. सांख्यरीत्या भट्टनायकमते विभावादिभिः संयोगात् भोज्य-भोजक-भाव रूपात् सम्बधात् रसस्य निष्पतिर्भुक्तिरिति अपूर्वभोज्यभोजकभावरूप व्यापारकद्वयकल्पने मानाभावोऽत्रापि दूषकः। (पृ० ५९)

चर्वणा की व्युत्पत्ति में वे अवश्य राग को ही नहीं, विवेक को भी स्थान देते हैं। **'चर्वणा काव्यार्थज्ञानजन्य स्वादः'** किन्तु दृष्टि उनकी आदर्शीकृत और आत्म-निष्ठ ही है। वे आस्वाद को पदार्थ नहीं अनुभूति मानते हैं तथा उसे परब्रह्मास्वाद से भी विलक्षण आनुभूतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करते हैं। **स च परब्रह्मास्वाद समाधेरपि विलक्षणः।**

हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्र) भक्तिरसार्णव (२०२५)

भक्ति रसार्णव में साधारणीकरण का विवेचन मूलतः लोकोत्तर आलम्बन के लौकिकीकरण (सामान्यीकरण) की समस्या से उभरता है।[1] यदि कवि-दृष्टि अथवा काव्य के मूल संदर्भ में कृष्णादि के विलक्षण अलौकिक चरित में लौकिकता की सामान्य भावना का स्पर्श नहीं है तो स्पष्टतः प्रमातृगत अनुभूति के स्तर पर उसका लौकिकीकरण अन्तर्विरोध को जन्म देगा।[2] आश्रय (अनुकार्य) एवं सामाजिक में स्थायी की भिन्नता सामान्यीकरण में बाधक होगी। आश्रय निर्विशेष के सर्वंगतत्व की अवधारणा भी इसका पूर्ण समाधान नहीं है। स्थायी के निर्विशेषत्व और आश्रय के साथ सामाजिक के साधारणीकरण की प्रक्रिया समानान्तर रूप से गतिशील रहती है। इस क्रम में पूर्व पक्ष में वे काव्य-प्रभाव एवं कवि को अनुभूति से प्रमाता के तादात्म्य स्थापन का भी उल्लेख करते हैं।[3] एक अन्य अभिमत के अनुसार काव्य के द्वारा कवि प्रमाता के सुप्त भावावेगों को उद्‌बुद्ध करता है। सहृदय भी लौकिक भूमिका से ऊपर उठकर कवि-वर्णित भावों के साथ ऐक्य का अनुभव करता है[4]। वस्तुतः विभावादि भावोद्‌बोधन के स्थूल माध्यम

---

१. किमसामान्यस्य लोकोत्तरस्य विभावादेः सामान्यीकरणम् लौकिकीकरणमेव साधारणीकरणम्, किं वा व्यक्तिविशेषगतस्य आश्रयनिर्विशेष भावापादनेन सर्वंगतत्वापादनं वा ?

(भक्तिरसार्णवः पृ० ६६)

२. तस्य लौकिकत्वापादनं दूषणमेव (वही)

३. तच्छ्रोतुर्द्रष्टुश्च काव्यप्रभावेण कवयितुः भावेन तादात्म्यं साधारणीकरणम्। (वही, पृ० ६७)

४. काव्यादिद्वारेण कविस्तांस्तान् भावान् प्रस्तुवन सहृदयानां सुप्तं भावलोकं

मात्र है। आग्नेय उपकरणों की भाँति उनकी स्थूल सत्ता है किन्तु जैसे अग्नि की निष्पन्न में स्थिति दाह की संवेदना मात्र शेष रह जाती है वैसे ही रसानुभूति के चरम क्षण में प्रमाता व्यक्ति विशेष के सम्बंधों के विलुप्त हो जाने से अनुभूति मात्र रह जाता है। अस्तु, करपात्र जी साधारणीकरण की जिस लोकोत्तर अवधारणा को रेखांकित करते हैं वह विभिन्न अन्तर्दृष्टियों की समन्वित भूमिका है। प्रमाता एक स्तर पर कवि अथवा विभावादि से भाव-तादात्म्य स्थापित करता है और दूसरे स्तर पर अनुभोक्ता और अनुभूयमान के भेद को समाप्त कर वह अनुभूति मात्र अविशिष्ट रह जाता है।[1] स्पष्टतः पूर्व पक्ष के स्तर पर हिन्दी के आधुनिक आलोचकों की अन्तर्दृष्टियों को उद्धृत कर उत्तर पक्ष में उनकी संगति बैठाने का यह शास्त्रीय अनुरोध है।

रेवाप्रसाद द्विवेदी काव्यालंकारकारिका (अभिनवं काव्य-शास्त्रम्) १९७७ ई०

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने की अपेक्षा नव्य समीक्षा से प्रेरित उस चिन्तन को गति दी है, जिसमें काव्य की सर्जन-प्रक्रिया अथवा सहृदय-निष्ठ रसानुभूति के विश्लेषण की अपेक्षा अभिव्यंजना-पक्ष को केन्द्र में रख कर ही काव्य की स्वायत्त चेतना के विश्लेषण का आग्रह व्यक्त किया गया है। उनका कथन है कि रस मूलतः सामाजिक-निष्ठ होने के कारण काव्य के परिकर वृत्त में नहीं आता, वह तो सामाजिक की आत्मा में काव्यानुशीलनजन्य अनुभूति विशेष है।[2] अतः अलंकार ही काव्य के शरीर में उपस्थित होने के कारण काव्य है।[3] काव्य की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि काव्य कवि तथा सहृदय के मध्य में सम्प्रेषण की वस्तु-

---

क्षोभयति। उद्बुद्धेषु भावेषु श्रोतारोऽपहाय इमं लोकं शुद्धचैतन्यात्मके भावजगति वर्तमानाः कविर्वर्णितैर्भावैः सह साधारणीकरणरूपम् ऐक्य-मनुभवन्ति। (वही, पृ० ६८)

[1] कवेर्भावेन विभावादीनाञ्च भावेन ऐक्यमापन्न सामाजिकभावो विग-लितप्रमातृप्रमेयादिभेदसाधारण्यमुपयाति। (वही)

[2] रसः सामाजिकनिष्ठ इति न काव्यनिष्ठ इति न सः काव्यात्मा।
अतस्स्थितस्य तदात्मतयाऽभ्युपगमे सुरसास्यायेतानवस्था।
(काव्यलंकारकारिका संस्तवः पृ० १७)

[3] काव्येऽलंकार एवात्मा स एवास्मिन् स्थितो यतः। (का० २६ पृ० ५९)

निष्ठ स्थिति है जो संज्ञानात्मक चमत्कार को उद्‌बुद्ध करती है ।[1] आशय यह है कि रस कविता का सामाजिक के चित्त में सम्प्रेषित प्रभाव मात्र है । काव्य का मौलिक धर्म नहीं है ।[2] कविता तथा सामाजिक, दोनों का भिन्न अस्तित्व है, अतः प्रमाता एवं प्रमेय के भिन्न होने के कारण प्रमातृगत अनुभूति को काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता ।[3] रस की मूल चेतना के संदर्भ में डा० द्विवेदी ने साधारणीकरण की सत्ता भी स्वीकार की है ।[4] काव्य तथा अभिनय के द्वारा जब रस नामक सारभूत प्रभाव प्रमाता तक सम्प्रेषणीय बनता है, तो काव्यवस्तु तथा सामाजिक, दोनों के ही वैशिष्ट्य का तिरोधान हो जाता है । अतः सामाजिकनिष्ठ स्थायी निर्विशेष भाव से काव्यनिष्ठ भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा साधारणीकृत (निर्विशेष) विभावों का आस्वादन करता है । आशय यह है कि यह निर्विशेषत्व सहृदय तथा काव्य-वस्तु, दोनों स्तरों पर घटित होता है ।[5]

रमेशचन्द्र शुक्ल : रसदर्शन (१९८३ ई०)

आधुनिक जीवन एवं साहित्य की कलात्मक संभावनाओं एवं पूर्व-प्रतिष्ठापित रस-मूल्यों की समानान्तर व्याख्या एक सीमा तक 'रसदर्शन' की प्रेरक अनुभूति रही है । तथ्य यह है कि लेखक ने सौष्ठववादी कला-मूल्यों को पूर्वाग्रहमुक्त मानववादी आधार देने का जो उपक्रम किया है[6] उस

---

[1] अलंकारोऽप्यलंभावरूपो ज्ञानात्मकः परम् । (का० १२४ पृ० १८६)

[2] काव्यालंकारकारिका (१६९-७०) पृ० २५६

[3] प्रमेयं च प्रमाता चेत्यनयोर्भिन्नता-दृशम् ।
रसः प्रमातृ-मात्रैकनिष्ठोऽलंकरणं च नः । (का० १७४-७७)

[4] रसो नाम काव्याभिनयान्यतरोपस्थापितानामपहृतविशेषाणामत एव चापहृतविशेषस्य ।

[5] अपहृतविशेषत्वं नाम साधारण्यं······असाधारण्यनिरासरूपोभयाभावस्वरूपम् । (वही, पृ० ३८)

[6] सत्यता सौन्दर्यमस्ति, सदाचारः सौंदर्यमस्ति - सौंदर्यमेव जीवनम् प्रेक्षकं सौंदर्यं नन्दयति । तद् आनन्दाह्लादात्मभावलोकोन्तरैवयानि मनसि समुत्पाद्य सर्वेभ्योऽपि विषयेभ्यो मानवं परावर्तयति । मानवस्तदा यामनिवर्चनीयां प्रीतिप्रदां स्थितिमनु भवति सा असाधारणी स्थिति रस इति व्यवह्रियते । (पृ० ९)

में मानव-वासना के उन्नयन की वे भूमिकाएँ बराबर उद्घाटित हुई हैं जिनका विरोध न प्राचीन आध्यात्मिक, नैतिक (शिव) दृष्टि से है और न लोक सामान्य भाव-भूमि की आधुनिक समाज शास्त्रीय व्याख्या से।[1] दोनों के समन्वय से तदाकारता, तादात्म्य एवं आत्म-विस्मृति की परम्परित रस दृष्टि भी उभरी है और आत्मान्वेषण की नवीन अस्तित्ववादी व्याख्या भी। रसानुभूति के क्षण में सहृदय अपनी अस्मिता का लोप नहीं करता अपितु अपने आन्तरिक यथार्थ का अन्वेषण करता है। न तदा रसानुभूतिकाले रसज्ञः स्वत्वाद् भ्रंशति अपितु तदा सः स्वकीयं यथार्थं रूपम् पश्यति।[2]

दूसरी स्थिति योग जैसी तन्मयता एवं तदाकारता की है। यहाँ सनातन भावबोध की वही मुद्रा है जिसमें रसास्वादन के क्षण में योगिकल्प प्रमाता द्रष्टा एवं द्रष्टव्य का भेद विस्मृत कर बैठता है। रसानुभूतिकाले द्रष्ट-द्रष्टव्यस्य योगिनः स्थितिमिव सहृदयः परिगृह्णाति स तदनुभवानेहसि किं वा तदास्वादनसमये कोऽहम् क्वाहमित्येदपि सर्वं विस्मरति? डा० शुक्ल के अनुसार रसास्वादन के केन्द्र में साधारण व्यापार है[3] और यह साधारण्य मूलतः प्रमाता प्रमेय की अभेदानुभूति के स्तर पर घटित होता है। इसी निकर्ष पर उन्होंने भक्ति रस में साधारणीकरण की व्यापकतर संभावना में आस्था व्यक्त की है, जिसकी भंगिमा अनौपचारिक एवं एक सीमा तक स्थूल एवं बहिरंग है। उसमें रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती या हरिहरानन्द सरस्वती करपात्र जैसी आन्तरिक तर्कसंगति का विकास नहीं है। एक आध्यात्मिक अनुभूति से जुड़े रहने की स्थिति को संचेतना के स्तर पर रेखांकित भर कर दिया गया है। भक्ति-स्तोत्रों के श्रवण से आत्म विस्मृत हो परमात्मा में लीन होकर भक्त साधारणीकृत स्थिति में पहुंच जाता है[4] यह स्थिति का अति सरलीकरण है इस की विप्रतिपत्तियों का विवेचन 'उक्त

---

१. द्र० पृ० २९-३०

२. पृ०

३. अस्मदीया रसचेतनायाः साधारणो व्यापारो रसास्वादनम् इति नाम्ना प्रथते। (पृ० १५)

४. ...मानवः कोऽहं क्वाहमित्येतदादिकं सर्वं विस्मृत्य परमात्मनि निलीयमान इव जायते सोऽपि समाधि स्थस्य योगिनोऽवस्थां प्रपद्यते। एतद् विधं यद् साधारणीकरण मस्ति यद् तदेवं वर्तते यद् वीरश्रृंगार करुणादिभिः० सञ्जायते। (पृ० ६५)

आचार्यों के प्रसंग में हमने अन्यत्र किया है। अतः उनका यह अभिमत कि भक्त और भगवान् के मध्य एकत्व की अनुभूति साधारणीकरण से अभिन्न है[1], शब्दार्थमयी सृष्टि में घटित होने वाले साधारणीकरण की यथार्थ व्याख्या नहीं है। वस्तुतः भक्ति एवं श्रृंगार के सूक्ष्म, प्रबल अथवा प्रखर संवेदनों की काव्येतर एवं काव्यानुभूति में गुणात्मक अन्तर है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि लेखक ने साधारणीकरण की शास्त्रीय अवधारणा से प्रभावित जिस व्यावहारिक दृष्टि का विकास किया है उसे केन्द्रीय संवेदना से समीकृत नहीं किया जा सका है। यथा अभिनेता की अभिनेय पात्रों से तदाकारिता की अनुभूति, देशकालातीत चेतना की वर्त्तमान में परिणति, तथा करुणादि भावों का सुखात्मक अनुभूति में पर्यवसान इत्यादि के जिन अनुषंगों को साधारणीकरणों के पर्यायरूप में[2] यहाँ ग्रहण किया गया है, वे स्थितिविशेष की व्यावहारिक स्वीकृतियाँ है।[3] उनमें कवि के अन्वेषित सत्य तथा पात्रों की आभ्यन्तर प्रतीति एवं वैशिष्ट्य के बिन्दुओं पर इस अवधारणा को ग्रहण करने की आलोचकीय निष्ठा लक्षित नहीं होती. यथा काव्ये सीतारामादीना······येषामभिनयं नटः कुरुते दर्शनकाले द्रष्टा अहं काव्याध्येता वा नाटकस्य द्रष्टाऽस्मिन्······इत्यादिकं सर्वं विस्मृत्य लोकोन्तरैक्यविषयका नन्दे निलीयते—इदं हि दिव्यमैक्यं साधारणीकरण मिति परिभाष्यते। फिर भी लेखक ने साधारणीकरण को मूलतः तादात्म्य-स्थिति के जिस स्तर पर स्वीकार किया है उसमें सामाजिक की स्वकीय परकीय भावना का लोप ही नहीं होता वह स्वार्थ सम्बन्धों की संकीर्ण भूमि से ऊपर भी उठता है।[4] यह दृष्टि लोकमंगलवादी अवधारणा की स्वाभाविक परिणति है।

◆

---

१. भक्त्या यद् भक्तभगवतोर्मध्ये एकत्वं किंवा साधारण्यं—साधारणीकरणत्वमुद्भवति तस्मिन्नुदिते सति भक्तो यमानन्दं विन्दति स आनन्दः श्रृंगारादिरसजनितमानन्दं मलिमीकरोति। (वही पृ॰ ६५)

२. सर्वं देशकालबधनादपि मुक्तं भूत्वा वर्तमान एवातरति। (पृ॰ ४४)
एतत् साधारणीकरण भयं भयात् शोकं शोकाद् दूरी करोति।
(पृ॰ ४४)

३. पृ॰ १०३

४. साधारणीकरणप्रभावात् सहृदयश्चापि निजत्वपरत्वपरकप्रतीति धरातलादुत्थितो भूत्वा···परित्यज्य ततोऽप्युपरिस्थं धरातलं संसेधते। (पृ॰ ४४)

(७)

साधारणीकरण-विषयक संस्कृतेतर परवर्ती अवधारणाएँ

साधारणीकरण की अवधारणा का परवर्ती विकास

हिन्दी समीक्षा (मध्य युग)

संस्कृत काव्यशास्त्र के समानान्तर हिन्दी में भी काव्यशास्त्रीय चिंतन अनवरत गतिशील रहा है, किन्तु जहाँ पंडितराज जगन्नाथ के रसा-चिन्तन में परम्परागत अवधारणाओं के पुनराख्यान के साथ मौलिक उद्भावनाओं का उन्मेष भी दृष्टिगोचर होता है वहाँ उनके समसामयिक रीति-कालीन आचार्य प्राय: रसशास्त्रीय जटिल अवधारणाओं के विश्लेषण अथवा पुनर्मूल्यांकन की ओर अग्रसर नहीं हुए हैं। अत: साधारणीकरण की अवधारणा की पुन: प्रतिष्ठा अथवा नवमूल्यांकन का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता, उसका उल्लेख भी नगण्य ही है। उन्होंने संस्कार रूप से चित्त में रहने वाले बीजस्थानीय स्थायीभाव के रसरूप में परिणत होने, रसानुभूतिजन्य, सहृदयगत, आमोद-परक आनन्द के उद्बोध इत्यादि का ही कहीं-कहीं उल्लेख किया है।[1] एकाध आचार्य ने तन्मयता अथवा महामगन का भी उल्लेख किया है,[2] किन्तु

---

[1] चित थापित थिर बीज विधि होत अंकुरित भाव
चित विदलित दल फूलि फल बरसत सुरस सुभाव
मधुर सुजस रस अमर तरु अमर अमी रसमोद।
(शब्दरसायन-प्रकाश ३ पृ० २८)

[2] (क) सुनिकवित्त को चित्त मधि सुधि न रहे कछु और।
होइ मगन वहि मोद में सो रस कहि सिरमोर।।

साधारणीकरण का स्पष्ट ता अस्पष्ट बिवेचन चिंतामणि इत्यादि इने-गिने आचार्यों ने ही तर्क-वितर्क अथवा ऊहापोह-मुक्त स्थूल इतिवृत्तात्मक रूप में किया है। यथा—

'विभावनादिक अलौकिक व्यापारनि सुमित्त
से विभाव अनुभाव अरु संचारि धरि चित्त
साधारण व्यापार बल सब साधारण होई
नियत प्रमातहि में जदपि तदपि अपरिमित होई।

(कविकुलकल्पतरु ५/६१-६२)

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उल्लेख में स्पष्टतः मम्मट के 'तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मीलित' की प्रतिध्वनि है। अन्तर केवल यह है कि स्वरूप की अपेक्षा प्रभाव की अपरिमितता पर चिन्तामणि ने विशेष बल दिया है। रस-रहस्य में कुलपति ने भट्टनायक के समान रसानुभूति को ब्रह्मानन्द के समकक्ष माना है—

जैसो सुख है ब्रह्म को मिले जगत सुधि जात।
सोई गति रस में मगन भये सुरस सौं भांति॥

(रसरहस्य ३/३६)

प्रतापसाहि ने भट्टनायक एवं मम्मट के साक्ष्य पर रसानुभूति के इस व्यापार को साम्य भाव व्यापार कहा है।

जहं विभाव भावांति ते साम्यभाव व्यापार।
सो भोगी रस जानिये मम्मट मत निरधार॥

(काव्य विलास ३/१९)

(रसपीयूषनिधि, ७/४४-५५ (रीतिकालीन रसशास्त्र, सम्पादक सच्चिदानन्द चौधरी) पृ० ६१

(ख) थाई के यों प्रगट ते रस कहियत है सोय।
जिहि स्वादिनि से भूलि सब महामगन मन होय॥ (रसलीन)
महागमन का अर्थ डा० सच्चिदानन्द चौधरी ने मधुमती भूमिका, तन्मयता की अवस्था किया है। (दे० टिप्पणी रीतिकालीन रसशास्त्र पृ० ६३) (पाठान्तर=महागमन)

कुमारमणिभट्ट ने यद्यपि साधारणीकरण का विवेचन नहीं किया है, तथापि एक मनोवैज्ञानिक संकेत अवश्य किया है। कृष्ण (ब्रह्म) साक्षात् रस (आनन्द) रूप है और जगत् उन्हीं का प्रोद्भास है, अतः समग्र स्त्री-पुरुष अभेद रूप से रसानुभूति ग्रहण करते हैं।

'आनंद वृंद सुकान्ह रस जगत ताहि को रूप।
तातें तिय पुरुषादि गन सब रस कान्ह सरूप॥
वहै थाइ संचारि वह, वह विभाव अनुभाव।
रस स्वरूप सब कान्ह इक लख्यौ अभेद सुभाव।
(रसिकरसाल ३/८-९)

उनका कथन है कि लौकिक शृङ्गारादि जब काव्य अथवा नृत्य में परिणत होते हैं, तो उनमें स्वतः अलौकिकता जगमगाने लगती है। अलौकिक स्तर पर अनुभूति किसी एक व्यक्ति से सम्बद्ध न रह कर मानव-मात्र की सम्पत्ति हो जाती है। यह अनुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी होती है।

शृंगारादिक लोकगत कवित नृत्य में ल्याइ।
होत अलौकिक है सबै रस आनंद बढ़ाई॥
सकल लोक रस के सिरै आनंद लोक विलच्छ।
रसै एक अनुभवत हैं पंडित सहृदय दच्छ॥
(रसिकरसाल ३/६-७)

(तुलनीय) प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादि विषयमयीभिः।[१]

आधुनिक युग : एक सर्वेक्षण

आधुनिक हिन्दी काव्य-शास्त्र में अपनी विशिष्ट सीमाओं के बावजूद एक तार्किक अभिनिवेश के साथ साधारणीकरण की अवधारणा का जैसा व्यापक विवेचन हुआ है, वैसा भारतीय समीक्षा में ही नहीं अँग्रेजी तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों में भी दुर्लभ है। रसचिन्तकों ने ही नहीं, अन्य समीक्षकों ने भी प्रसंग-प्राप्त स्थलों पर साधारणीकरण की अवधारणा का विवेचन अथवा उल्लेख अवश्य किया है। ये विभिन्न दृष्टियाँ संस्कृत-काव्य-शास्त्र की साधारणीकरण विषयक अवधारणाओं को ही एक सीमा तक पुनर्व्याख्यायित

---

१. नाट्यशास्त्र (बड़ौदा संस्करण) पृ० २८१

करती हैं। यह बात भिन्न है कि साधारणीकरण के प्रतिमान को अधिक व्यापक, प्रभावी और आकर्षक बनाने के लिए कुछ अनुभूति-केन्द्रित निजी दृष्टियों को भी इस अवधारणा में पूर्व अथवा उत्तर पक्ष के रूप में समाहित कर दिया गया है। यह तथ्य भी विवादास्पद है कि साधारणीकरण की शास्त्रीय अवधारणा को परिवर्तित युगबोध के अनुरूप पुनर्व्याख्यायित करने में ये दृष्टियाँ कितनी समर्थ है।

साधारणीकरण की अवधारणा के विशाल परिदृश्य में आचार्य शुक्ल, डा० नगेन्द्र तथा केशवप्रसाद मिश्र की अवधारणाओं को अधिक लोकप्रियता मिली है तथा वे अपने विशिष्ट मौलिक उन्मेष के कारण विवेच्य और अनुसंधेय रही हैं। इन तीनों अवधारणाओं पर हमने पृथक् से विचार किया है, किन्तु तार्किक अन्विति की दृष्टि से इतर अवधारणाओं के व्यापक परिदृश्य का विहंगावलोकन भी समग्र दृष्टिबिम्ब के निर्माण के लिए प्रासंगिक प्रतीत होता है। ये अवधारणाएँ नितान्त असम्बद्ध और भिन्न नहीं हैं, अतः उन्हें संयोजित करके किसी एक संश्लिष्ट निकर्ष पर पहुँचना अप्रत्याशित नहीं होगा।

आधुनिक हिन्दी काव्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त और साधारणीकरण का विवेचन करने वालों में आचार्य शुक्ल का स्थान मूर्धन्य है। लोकमंगल के प्रति विशेष आस्था होने के कारण उन्हें ऐसे आलम्बन की प्रतिष्ठा विशेष समयोपयोगी प्रतीत हुई, जो समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो सके तथा जिसके तादात्म्य से पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो सके। अतः आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण में आस्था व्यक्त करते हुए उन्होंने अपना सिद्धान्त इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।[1] आलम्बन के वैशिष्ट्य की रक्षा तथा सामान्य गुणों के आधार पर उसके साधारणीकरण के अन्तर्विरोध का समाधान प्रस्तुत करने का भी शुक्ल जी ने प्रयास किया, किन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र की स्वीकृत अवधारणा से भिन्न होने के कारण पंडित केशवप्रसाद

---

[1] चिन्तामणि, भाग-१ (१९५३) पृ० २३०

मिश्र ने शुक्ल जी के इस अभिमत को भ्रम की संज्ञा दी। उनके अनुसार शुक्ल जी का पक्ष बौद्धिक, द्वैतवादी दृष्टि से प्रेरित है, जिसमें काव्य को नैतिक और अनैतिक के द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है। पंडित केशव प्रसाद मिश्र ने स्वयं को आचार्य अभिनव गुप्त के मत का अनुयायी सिद्ध करते हुए कहा—'साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।'[1] अपने अभिमत को उन्होंने मधुमती भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया। योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस प्रकार मधुमती भूमिका तक होती है, प्रातिभज्ञानसम्पन्न कवि वहाँ स्वभावतः पहुँच जाता है। मिश्र जी के अनुसार—'मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान-इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है।······जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं।'[2] आचार्य श्यामसुन्दर दास ने रस की निर्वितर्कसमापत्तिमूलक इस अवधारणा से अपनी सहमति व्यक्त की कि जिस समय हमें वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय और अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ सुखात्मक ही प्रतीत होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नहीं।'[3] परवर्ती विवेचकों ने मधुमती भूमिका को संप्रज्ञात योग की आरम्भिक भूमि होने के कारण साधारणीकरण के वृत्त से बाहर ही स्वीकार किया है। इस संदर्भ में चन्द्रवली पाण्डेय ने विशोका भूमि की संकल्पना व्यक्त की। मधुमती के बाद मधुव्रती तदनन्तर विशोका भूमि है। यह सिद्धान्त भट्टनायक के सत्त्वोद्रेक की भूमिका से भिन्न नहीं है। साधारणीकरण एकान्ततः निर्वितर्क भूमिका नहीं है, अतः पाण्डेयजी ने जीवनानुभूति तथा रसानुभूति को अभिन्न मानते हुए कहा कि कविता करते समय कवि अपर प्रत्यक्ष भूमि पर विचरण करता है। उनके

---

[1] साहित्यालोचन (सं० २०१४), पृ० २३८

[2] वही, पृ० २३०

[3] वही, पृ० २३१

अनुसार साधारणीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा असाधारण साधारण हो जाते हैं। काव्य के असाधारण पात्र तथा कार्यों में भाव तो साधारण ही रहता है, व्यक्ति की विशेषता का लोप हो जाने पर उसका सामान्य धर्म शेष रह जाता है। साधारणीकरण का सम्बन्ध परप्रत्यक्ष भूमि से होने के कारण सहृदय या सामाजिक से है, कवि से नहीं।[1] आचार्य श्यामसुन्दर दास और केशव प्रसाद मिश्र के समानान्तर जयशंकर प्रसाद ने भी अभिनवगुप्त के सिद्धान्त में आस्था व्यक्त की। आनन्द परम्परा वाले शैवागमों की भावना के आधार पर रस की अभेद और आनन्द वाली व्याख्या को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा, 'अभिनव गुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द रस को पल्लवित किया। भट्टनायक ने साधारणीकरण के जिस सिद्धान्त की पुष्टि की थी, अभिनव गुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मकतया स्थित रति और वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित हो जाने पर आनन्द-स्वरूप हो जाती हैं। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है।'[2] स्पष्टत: अभिनव की धारणा उन्हें मान्य है. किन्तु भट्टनायक के साधारणीकरण-सिद्धान्त को भी वे अस्वीकार नहीं करते। इसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोकसामान्य प्रकाशानन्दमय आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।[3] अन्यत्र उनका कथन है—'रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ, जिनके द्वारा चरित्र सृष्टि होती है—साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती है। इसलिए वह वासना का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिन्नता की वह रस-सृष्टि करता है, उसमें व्यक्ति की विभिन्नता, विशिष्टता, हट जाती है।'[4]

प्रसाद का यह मन्तव्य दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो वे कवि नट और सामाजिक में अभेद भाव स्वीकार करते हैं, दूसरे वे रसानुभूति की कोई निम्न कोटि स्वीकार नहीं करते। रस में फल-योग ही मुख्य है तथा रोष, घृणा आदि भाव मुख्य रस-वस्तु के सहायक मात्र हैं। इस संदर्भ

---

१. साहित्यसंदीपनी, पृ० २४

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध (सं० २०२६), पृ० ७६

३. वही, पृ० ७३

४. वही, पृ० ८५

वे कवि के संविद् को प्रधानता देते हैं। 'कवि में साधारणीभूत जो संवित् है, चैतन्य है, वही काव्यपुरस्सर हो कर नाट्य-व्यापार में नियोजित करता है, वही मूल संवित् परमार्थ में रस है। अब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रस-विवेचना में संवित् का साधारणीकरण त्रिवृत है।'[1] कवि की अनुभूति से तादात्मीकरण की परवर्ती अवधारणाओं का यह पूर्वाभास है। प्रसाद अपने चिन्तन को अध्यात्म की भूमि पर ही प्रस्तुत करते है, आधुनिक युग के वैचित्र्यपूर्ण चरित्र-विम्बों के साधारणीकरण पर उन्होंने विशद विचार नहीं किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी काव्यानुभूति और व्यक्ति-वैचित्र्य को बहुत दूर तक स्वीकार नहीं किया है। यदि कवि की 'अनुभूतियाँ वे होंगी जो उसके अतिरिक्त और किसी को नहीं हुई या हो सकती हैं तो पाठक के साथ उसका कुछ भी तादात्म्य स्थापित न होगा।'[2] मिश्र जी का मन्तव्य भी कवि और पाठक के तादात्म्य स्थापित करने के पक्ष में ही है। 'यदि कोई कवि अपनी अंतर्दृष्टि दूर तक न ले जाकर केवल अपने परिमित घेरे की ऐसी ही अनुभूतियाँ व्यक्त करता है, जो सर्वसामान्य हुआ करती हैं तो ऐसी स्थिति में कवि की रचना में चाहे विशेष गहराई न भी हो, फिर भी उसका पाठक के साथ तादात्म्य अवश्य स्थापित हो जायेगा।'[3] आशय यह है कि मिश्र जी काव्यानुभूति की सार्थकता मूलतः लोक-मंगल के विधान में ही स्वीकार करते हैं। अतः उन्होंने भी आलम्बन अथवा आलम्बनत्व धर्म के प्रति एक सीमा तक आग्रह व्यक्त किया है। 'काव्य में साधारण और असाधारण की बात नहीं उठती। देश, काल और स्थिति के अनुकूल क्या साधारण और क्या असाधारण, दोनों ही भाव के आलंबन हो सकते हैं। मानव-समाज के अतिरिक्त शेष सृष्टि में साधारण और असाधारण का भेद प्राचीन सहृदय-कवि नहीं किया करते थे।[4]

बाबू गुलाबराय की दृष्टि भी एक सीमा तक लोक-जीवन के व्यापक आयाम से तादात्म्य की ओर उन्मुख रही है। हमारा लौकिक अनुभव क्षणिक और देशकाल से आबद्ध होता है, किन्तु हम उससे सन्तुष्ट न रहकर

---

[1] काव्य कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ८२

[2] वाङ्मय-विमर्श (संवत् २००७) पृ० १८६

[3] वही, पृ० १८६

[4] वही, पृ० १३७

उसे व्यापक और स्थायी बनाना चाहते हैं। इस संदर्भ में साधारणीकरण की विभिन्न अवधारणाओं पर विचार करते हुए वे अपनी आस्था प्रमाता की संकीर्णता से मुक्ति में ही व्यंजित करते हैं। 'कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक का प्रतिनिधि होकर (जब वह निजी भावों की अभिव्यक्ति करता है, तब वह भी लोक में शामिल हो जाता है) भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़ कर लोकसामान्य की भाव-भूमि में आ जाता है, उसका हृदय कवि और लोक-हृदय (जिसमें विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर काव्य का आश्रय भी आ जाता है) के साथ प्रतिस्पन्दित होने लगता है।'[१] इस प्रकार गुलाबराय जी कवि, पाठक, आश्रय तथा भावों के साधारणीकरण की व्यापक स्थिति स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में उनका विचार यह भी है कि साधारणीकरण के प्रवाह में वैयक्तिक विशेषताओं को न बहा देना चाहिए। साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं, वरन् उसके सम्बन्धों का होता है। उसकी मुख्य विशेषताओं की सम्पन्नता अक्षुण्ण रहती है। यदि आलम्बन बिलकुल सामान्य बन जाता है तो उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। स्पष्टतः व्यक्ति-वैशिष्ट्य के प्रति बढ़ते हुए भारतीय काव्य चिन्तन की यह स्वाभाविक परिणति है। इसमें कवि का वैशिष्ट्य भी सुरक्षित रह जाता है।

कवि के भाव के साथ साधारणीकरण रामदहिन मिश्र भी स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि क्रीडारूप आत्म-विकार का आनन्द प्राप्त करने के लिए कवि सरस काव्य लिखता है और रसिक उसी प्रकार आनन्द प्राप्त करने के लिए सरस काव्य पढ़ता है।······कवि के भाव के साथ साधारणीकरण होता है। विभावादि के साथ साधारणीकरण का भी यही भाव है। कवि ने जो उपर्युक्त वर्णन किया है, उसमें उनके अन्तर्हृदय की यही भावना है कि राम साधारण मानव के समान दुःखित थे। यह भाव हमारे मन में भी उपजता है और हम राम के दुःख को अपना समझने लगते हैं।[२] इस प्रकार मिश्र जी विभावादि को कवि के भाव का ही मूर्त रूप मानते हैं। उनके अनुसार कवि को जैसा अभिप्रेत होता है, पात्र से वैसे ही वचन कहलाता है,

---

[१] सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २१८

[२] काव्यदर्पण (१९५५) पृ० १३८

अतः यदि कवि को यह अभीष्ट है कि 'कैकेयी से ऐसे वचन कहलाये जाएं कि दशरथ को पीड़ा पहुंचे. कैकयी की क्रूरता प्रकट हो तो इन भावों से हमारा साधारणीकरण हो जाता है ।'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि मिश्र जी की अवधारणा डा० नगेन्द्र की अवधारणा के ही समानान्तर विकसित हुई है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि मिश्र जी कवि के लिए अनुभूति की अभिव्यक्ति और पाठक के लिए व्यंजना द्वारा रसानुभूति मुख्य मानते हैं। इससे आलम्बन आदि के विषय में कवि और पाठक दोनों के दो दृष्टिकोण होते हैं। उनका कथन है कि रस सामग्री का ऐसा पृथक्करण काव्य-शास्त्राभ्यासियों और हिन्दी के पाठकों को विचित्र सा जान पड़ेगा। वस्तुतः पाठक अपनी भूमिका का ज्ञान रखते हुए कल्पित परकीय भूमिकाओं में तन्मय होता है। यह सिद्धान्त डा० वाटवे ने आहार्य ज्ञानोपपत्ति अथवा क्रीड़ारूप आत्माविष्कार के रूप में प्रस्तुत किया है। मराठी का साधारणीकरणविषयक चिन्तन मूलतः द्वैतमूलक ही है, जिसमें स्वत्व और परत्व दोनों की प्रतीति रहती है। मिश्र जी कवि की भावना के साथ अद्वैत और द्वैत की इस द्वन्द्वात्मक समाहिति के आधार पर ही अपनी अवधारणा का विकास करते हैं।

कवि की अनुभूति से सहृदय के तादात्म्य को साधारणीकरण की अवधारणा के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय मूलतः डा० नगेन्द्र का ही प्राप्य रहा है। यह बात भिन्न है कि आचार्य शुक्ल, प्रसाद जी और रामदहिन मिश्र आदि ने भी अपने विशिष्ट संदर्भ में कवि की अनुभूति के साथ सहृदय के तादात्म्य अथवा साधारणीकरण की संभावना व्यक्त की है। डा० नगेन्द्र के मन्तव्य पर हमने स्वतन्त्र विचार किया है। यहाँ इतिवृत्त के अनुक्रम में उनके सिद्धान्त का उल्लेख करना मात्र प्रासंगिक है। 'अत एव निष्कर्ष यही निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।'[2] उनके इस मन्तव्य का समकालीन काव्य-शास्त्रीय संदर्भ में ऐतिहासिक महत्त्व है। कवि की अनुभूति का एक दशक बाद अर्थ स्पष्ट करते हुए डा० नगेन्द्र ने

---

[1] काव्यदर्पण पृ० १३८

[2] रस-सिद्धान्त (१९६९) पृ० २०९

अपनी मान्यता को शास्त्रीय आधार भी प्रदान कर दिया है। कवि का संवेद्य कवि की अनुभूति, सामान्य भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुनःसर्जना की अनुभूति-भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना'। इसी का शास्त्रीय नाम 'ध्वन्यर्थ' है।'[1] यह विषयीनिष्ठ अवधारणा से शब्दार्थमयी काव्यसृष्टि की वस्तुनिष्ठ संकल्पना की ओर अन्तः प्रयाण है। कवि कल्पना और काव्यात्मक अनुभूति ही सब कुछ है और वस्तु तथा चरित्र चित्रण आदि उसके उपकरण या प्रसाधन मात्र हैं—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भी कवि के मनोमय व्यापार से ही साधारणीकरण की अवधारणा में प्रवेश करते हैं। वाजपेयी जी के अनुसार भट्टनायक का साधारणीकरण केवल काव्य सामर्थ्य का लेखा न लगा कर दर्शक के सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है।[2] साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य भी है तथा साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है। केवल किसी पात्र विशेष का नहीं। इस अर्थ में आचार्य वाजपेयी क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धान्त में विशेष आस्था रखते हैं। कवियों और रचनाकारों में एक ही अखण्ड अनुभूति है तथा अनुभूतिशील मानवता ही सर्वत्र और सब कालों में एक है इस आधार पर कवि तथा प्रमाता में एक ही अनुभूति का अनुसंधान कठिन नहीं रह जाता। साधारणीकरण पर वाजपेयी जी ने अद्वैतपरक तथा द्वन्द्वात्मक दोनों भूमिकाओं की दृष्टि से विचार किया है। भट्टनायक की मान्यता को वे स्वीकार करते है—वस्तु और ग्राहक की द्वन्द्वात्मक भूमिका पर साधारणीकरण की संस्थिति माननी चाहिए।[3] साथ ही अभिनवगुप्त के अनुकूल विध्यात्मक एवं निषेधात्मक प्रतीतियों से भिन्न काव्यगत साधारणीकृत भूमिका के प्रति भी वे आस्था व्यक्त करते हैं। वस्तुतः कवि की अनुभूति को प्रधानता देते हुए भी वाजपेयी जी काव्यवस्तु की मूल प्रकृति की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। दृष्टि उनकी सौष्ठववादी है, किन्तु विषयनिष्ठ चेतना को छोड़कर वे नहीं चल पाते। इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि वे नैतिक मूल्यों और काव्य-मूल्यों में स्पष्ट भेद करते हैं। कवि की चेतना में अन्तर्भावित होकर काव्यानुभूति नैतिक, अनैतिक के द्वन्द्व से मुक्त

---

[1] रस-सिद्धान्त पृ० २०७

[2] रस-सिद्धान्त नए संदर्भ (१९७७) पृ० ८०

[3] वही, पृ० ८०

हो जाती है। आचार्य वाजपेयी जी का इस संदर्भ में कथन है—'साधारणीकरण के साहित्यिक-सिद्धान्त के साथ कुछ असाहित्यिक दलीलें भी लाकर जोड़ दी गई हैं। उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि देवताओं और पूज्य व्यक्तियों के रतिभाव का साधारणीकरण प्रक्षक को नहीं हो सकता, ...ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा उसी भाव की सृष्टि करेगा, जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वत: की है।[1] स्पष्टत: वाजपेयी जी ने नैतिक द्वन्द्व को कवि की शब्दार्थमयी सृष्टि से भिन्न स्तर पर देखा है, जब कि औचित्य की भूमिका पर साधारणीकरण का नियामक तत्व यही है। पंडितराज ने स्पष्ट कहा है कि '**न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम्। यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्**।[2] वस्तुत: साधारणीकरण कृति की आन्तरिक असंगतियों के विरुद्ध प्रमाता का आत्म-संघर्ष भी है। साधारणीकरण के पूर्व स्थिति का औचित्य अनिवार्य है। आचार्य वाजपेयी अपनी सौष्ठववादी दृष्टि के कारण इस तथ्य की उपेक्षा कर गये हैं।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु की साधारणीकरणसंबंधी अवधारणा अंशत: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से प्रभावित है। निजत्व की संकीर्णता से मुक्ति ही साधारणीकरण की काव्योपयुक्त भूमिका है। इस संदर्भ में उनका कथन है कि यदि काव्य की रचना किसी एक ही व्यक्ति के लिए की जाती तो उसमें भावों के साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु काव्य की रचना का लक्ष्य समस्त मानव-समाज की सामान्य मानवता के प्रति निर्दिष्ट रहता है।[3] कहने की आवश्यकता नही कि सुधांशु जी का भी दृष्टिकोण लोकमंगलपरक है। वे विश्वात्मक अनुभूति, जातीयता, संस्कृति इत्यादि में ऐसे भावों का अनुसंधान करते हैं, जिनके माध्यम से 'जीवन' के शाश्वत सत्य का साधारणीकरण किया जाता है। इस संदर्भ में वे पर्यावरण के संस्कारों को महत्त्व देते हैं। यदि किसी रूप चेष्टा के प्रति हमारी कोई सहानुभूति नही, वह हमारे अन्त:करण में कोई संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकती। काव्य

---

१. रस-सिद्धान्त और नए संदर्भ पृ० १०२

२. रसगंगाधर (सं० मधुसूदन शास्त्री) पृ० २२०

३. काव्य में अभिव्यंजनावाद (सं० २०१६) पृ० ८३

वस्तु की मूल प्रकृति के विषय में भी सुधांशु जी की दृष्टि काफी स्पष्ट है। सामान्य प्रकृति के धर्म के आधार पर उठे हुए विशेष की व्यंजना से जो रसात्मक प्रतीति होगी, वह सर्वदा स्पष्ट रहेगी। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ सुधांशु जी आलम्बनत्व धर्म की साधारणीकरणविषयक अवधारणा में आस्था व्यक्त करते हैं, वहां एक अंश तक कवि की अनुभूति के प्रमातृगत सामंजस्य की आवश्यकता की ओर भी इंगित करते हैं। 'यह तादात्म्य विशेषतः उसी पात्र में होता है, जिसके प्रति काव्यकार अंशतः भी पक्षपात करता है।'[1] आशय यह है कि काव्य में वर्णित चरित्र के साथ प्रमाता की चित्तवृत्तियों के सामंजस्य के लिए प्रमातृगत संस्कार चरित्र की आंतरिक विशिष्टताएँ तथा कवि की उसके प्रति सहानभूति तीनों ही तत्वों की अनिवार्यता है। प्रकारान्तर से तीनों ही विन्दुओं पर सुधांशु जी साधारणीकरण की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार साहित्य की साधना निखिल विश्व के साथ एकत्व अनुभव करने की साधना है।[2] इस संदर्भ में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर से प्रेरणा प्राप्त कर वे मानव आत्मा में अखण्ड ऐक्य के आदर्श को काव्यानुभूति के प्रतिमान के स्तर पर प्रस्तुत करते हैं।' काव्य में, गीत में, शिल्पकला में, ग्रीक-शिल्पी द्वारा रचित पूजापात्र में, विचित्र रेखा के आवर्तन में जब हम परिपूर्ण 'एक' को चरम रूप में देखते है, तब हमारी अन्तरात्मा के 'एक' के साथ बहिर्लोक के 'एक' का मिलन होता है। जो मनुष्य अरसिक है वह इस चरम 'एक' को नहीं देख पाता।[3] द्विवेदी जी की काव्यदृष्टि सर्वत्र प्रकृति और साहित्य-सृष्टि रूप और अरूप, क्षुद्र और विराट् सर्वत्र दोनों के पारस्परिक संबंध को मधुमय बनाने वाले तत्त्व के अन्वेषण से शुरू होती है। वैसे साधारणीकरण की मौलिक संकलपना का उन्होंने कहीं सविस्तर विवेचन नहीं किया है। उनका मन्तव्य यह है कि रस अपने आप आकाश में नहीं टिका रहता, उसके लिए ठोस आधार चाहिए। विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से नेता या नायक के चित्त में रस का सचार होता है। बाद में अनेक आचार्यों ने इस बात पर विचार किया है कि रस

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद पृ० ८६

२. साहित्य सहचर पृ० ६

३. वही, पृ० ५

की स्थिति वस्तुतः कहाँ होती है—कथा के नायक में, अभिनेता में या दर्शक या पाठक में। इन आलोचना-प्रत्यालोचनाओं का सर्वोत्तम फल यह हुआ है कि रसानुभूति में पाठक या श्रोता या दर्शक को आवश्यक उपादान स्वीकार कर लिया गया है।[1] स्पष्टतः इस तर्क युक्ति के मूल में किसी स्वतंत्र-स्थापना का आग्रह नहीं है। अन्यत्र भी साधारणीकरण के प्रसंग प्राप्त उल्लेख में वह मौलिक दृष्टि लक्षित नहीं होती जो उनके चिन्तन की स्वाभाविक दिशा है।

काव्य में एक ऐसी साधारणीकरण की शक्ति होती है, जो राम में से रामत्व, सीता में से सीतात्व और सहृदय श्रोता में से श्रोतृत्व आदि हटा कर साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में उन्हें उपस्थित करती है। जब काव्यार्थ इस प्रकार उपस्थित होता है तो उसके फलस्वरूप सत्त्वगुण का उद्रेक होता है-मनुष्य दुनिया की संकीर्णता से ऊपर उठता है, उसका चित्त प्रकाशमय और आनंदमय हो जाता है।[2] इस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त है कि भट्टनायक और अभिनवगुप्त के इस समन्वित चिन्तन में आचार्य द्विवेदी की अभेदानुभूति की मान्यता व्यंजित है। सहृदय के निर्वैयक्तिक अलौकिक आनन्द की पुष्टि डा० राम कुमार वर्मा ने भी की है। साधारणीकरण के विस्तृत शास्त्रीय विवेचन में वे भी नहीं पड़े हैं। 'सुख इन्द्रियों का विषय है, जीवनगत परिस्थितियों के आवेग से घटता-बढ़ता है। उसमें वस्तु का मोह है, परिस्थितियों की सीमा है और व्यक्ति का बन्धन है। आनन्द इन्द्रियों का नहीं, अन्तःकरण का विषय है···सांसारिक दुःखों में भी यह आनन्द अक्षुण्ण रहता है जैसे काँटों से भरे हुए वृन्त पर गुलाब का फूल अपनी अनुपम शोभा और मादक सुगंधि में खिला रहता है। तब यह आनन्द वस्तु की सीमाओं को पार कर असीम हो जाता है और व्यक्ति का व्यापार न होकर समष्टि की संपत्ति हो जाता है। साधारणीकरण के साम्राज्य में ही इस आनन्द का अभिषेक होता है।[3] इस प्रसंग में उल्लेखनीय यह है कि डा० राम कुमार वर्मा समष्टि की अन्तश्चेतना को वस्तुवादी दृष्टि की अपेक्षा व्यक्तिवादी आग्रह से ग्रहण करते हैं। इस सामष्टिक अनुभूति में

---

१. मध्यकालीन बोध का स्वरूप (१९७०) पृ० १०७

२. साहित्य सहचर पृ० ४१-४२

३. साहित्य-शास्त्र (१९५५) पृ० ८९-९०

मानवेतर विश्व को भी रसानुभूति की परिधि में लेकर चलते हैं। सामष्टिक अनुभूति के लिए वे मनोविज्ञान का आधार लेना आवश्यक समझते हैं। मनोविज्ञान स्थायी विभावों, अनुभावों एवं संचारी भावों में योग प्रदान करता है, किन्तु इस योग को सम्यक् रूप से गति प्रदान करने की क्षमता रस में ही है। इस दृष्टि से जीवन के समष्टि रूप को हृदयंगम करने के लिए मनोविज्ञान को माध्यम मानने का आग्रह व्यक्त करते हुए वे कहते हैं—यह मनोवैज्ञानिक प्रतिष्ठा जीवन के समष्टि रूप को हृदयगम करने का एक माध्यम बनी। इस विशाल जीवन की अनुभूति तब तक सभव नहीं थी, जब तक कि इस विश्व में अन्तर्निहित जीवन की गति सर्वतोभावेन ग्रहण न की जाती। इस व्यापक दृष्टि ने ही इसको जन्म दिया। समष्टि के प्रति जीवन की संवेदना साधारणीकरण की मधुमती भूमिका बनी।[1]

अज्ञेय का विचार है कि 'निस्सन्देह व्यक्ति इकाई की बहुत-सी विशिष्ट और अद्वितीय अनुभूतियाँ भी होती हैं, पर एक सामाजिक इकाई में अनुभूति-पुंजों का एक सामान्य ढाँचा भी होता है, जिसके भीतर व्यक्ति इकाई के अनुभव प्रतिफलित होते हैं; मूल्यों की परम्परा में मूल्यांकित होते हैं और जिसके द्वारा वे निरूपित, मार्जित और नियंत्रित होते हैं।'[2] अज्ञेय साधारणीकरण की समस्या व्यष्टि और समष्टि के इसी अन्त:संबंध अर्थात् सामाजिक उत्तरदायित्व से उठाते हैं। कवि कर्म की मौलिक समस्या यही है कि वह क्रमश: अपनी अनुभूति के क्षेत्र में निरन्तर परिवर्तन-शील तत्वों का रागात्मक अन्वेषण करे तथा परिवेश के संघर्ष से उद्भूत उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक पहुँचाये। इसी को व्यक्ति सत्य का व्यापक सत्य में रूपान्तरण के स्तर पर परिभाषित करते हुए अज्ञेय कहते हैं साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बह कर आते हुए लावा से ही भर कर और जम कर रुद्ध हो गई हैं ··जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता ने पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है।'[3] ···यह कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और कम्युनिकेशन की समस्या है। और कवि की प्रयोगशीलता

---

१. वही, पृ० ८६

२. भवन्ती (१९७०) पृ० ५०

३. तार सप्तक (१९६६) पृ० १७१

की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति यही है।'[1] आशय यह है कि अज्ञेय साधारणीकरण की समस्या को कवि और सहृदय के द्वन्द्वात्मक संदर्भ पर विश्लेपित करते हैं। कवि के सम्मुख समस्या यह है कि वह सीमित क्षेत्र के रागात्मक सत्य को सीमित मुहावरे के माध्यम से किस प्रकार अभिव्यक्त करे 'यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारणीकरण का क्षेत्र संकुचित कर दे। अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले; या फिर वह बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़ें और इसलिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रह कर उससे बाहर जा कर राह खोजने की जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा। अर्थात् एक-दूसरे अन्तर्विरोध की शरण लेगा।'[2] वस्तु सत्य और व्यक्ति सत्य के इस द्वन्द्व का समाधान यह है कि परिवर्तित बाह्य वास्तविकता के साथ कवि रागात्मक संबंध जोड़ने की अपनी प्रणाली का विकास करे। यह विकास शब्दार्थ के अन्त:संबंध का पुनरनुसंधान ही है, इस प्रकार अज्ञेय साधारणीकरण की समस्या को व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व से उठाकर काव्य-भाषा के पुन: संस्कार के स्तर पर सुलझाते हैं। अभिधा के अनन्तर गुणालंकारमयत्व की स्वीकृति के माध्यम से भट्टनायक भी काव्या-भाषा के निरन्तर संक्रमित परिवेश में साधारणीकरण की उद्भावना की संभावना व्यक्त करते हैं, फिर भी अज्ञेय की दृष्टि निश्चय ही शास्त्रीय दृष्टि नहीं है, उनके सिद्धान्त की नवीनता यह है कि उन्होंने शास्त्रीय शब्द ग्रहण कर परिवर्तित काव्य-चिन्तन के अनुरूप उसका भाषिक संस्कार कर दिया है। उनका निष्कर्ष है कि 'जब चामत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है, जिससे पुन: राग का संचार हो, पुन: रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है।'[3] आशय यह है कि अज्ञेय की मूल समस्या प्रेषणीयता की समस्या है।

डा० जगदीश गुप्त भी काव्य के क्षेत्र में साधारणीकरण की अपेक्षा प्रेषणीयता की समस्या को अधिक संगत स्तर पर व्याख्यायित करने के लिए

---

[1] वही, पृ० २७०

[2] दूसरा सप्तक (१९७०) पृ० १०

[3] दूसरा सप्तक (१९७०) पृ० ९

सहअनुभूति सिद्धान्त प्रस्तावित करते हैं।' काव्य की प्राथमिक आवश्यकता 'प्रेषणीयता' है जो 'साधारणीकरण' से भिन्न वस्तु है। बिना साधारणीकरण घटित हुए भी भावों का यथेष्ट सम्प्रेषण सम्भव है. विशेषतः श्रव्य-काव्य में, अतः 'भाषा के भावमय प्रयोग' को ही, विभावन-व्यापार की सम्पन्नता के बिना, साधारणीकरण का आधार नही माना जा सकता।'[1] उनकी दृष्टि में आधुनिक कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है, क्योंकि रसानुभूति मूलतः भावों के एक गहरे सामंजस्य को लेकर चलती है। अतः 'रसानुभूति के समकक्ष इसे 'सह-अनुभूति' की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसमें रसानुभूति की तरह व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक नहीं हैं। कवि और भावक दोनों के व्यक्तित्वों से सह-अस्तित्व में अनुभूति की प्रेषणीयता संभव होने के कारण इसे सह-अनुभूति कहना न निराधार है, न अनुपयुक्त।'[2] वस्तुतः सह-अनुभूति के लिए भी कवि तथा सहृदय के व्यक्तित्व का विलयन आवश्यक है। यह बात भिन्न है कि इस अन्तर्विलयन में रागात्मकता के साथ बौद्धिक चेतना भी सक्रिय रहे। डा० गुप्त का आग्रह है कि इसमें आत्म-विलयन और भावावेग की अपेक्षा मानवीयता का उन्मेष अधिक है।

लक्ष्मीकान्त वर्मा के सम्मुख भी समस्या का स्वरूप यही है कि सम्पर्कात्मकानुभूति वैयक्तिक ही है······आज प्रश्न है उस व्यक्ति को कैसे प्रतिष्ठित किया जाए, जो सम्पूर्ण विवशता के बीच अकेले खण्डित होने के बावजूद अपनी अद्वितीय अनुभूति के माध्यम से जीवित है।[3] इस प्रकार व्यक्ति साक्षेप स्तर पर काव्यानुभूति को वे परिवर्तनशील अनुभूति मानते हैं तथा काव्यास्वादन की प्रक्रिया उनकी दृष्टि में एक बौद्धिक क्रिया है 'सम्वेदना सूक्ष्म रूप में भी बौद्धिकता से मुक्त नहीं हो पाती -' अन्यत्र उनका कथन है कि साहित्य की मूल समस्या है कि अनुभूत सत्य आत्मीय-लब्धि की सीमा तक पहुँचा भी या नही[4]। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुभूति का पुनरनुसंधान प्रमाता के स्तर पर रागात्मक सत्य का ही पुनरनुसंधान है, जो एकान्ततः बौद्धिक क्रिया नहीं है। डा० रघुवंश बौद्धिक चेतना के स्थान

---

१. नयी कविता स्वरूप और समस्याएं (१९७१) पृ० ११२

३. वही, पृ० ७६

३. नये प्रतिमान : पुराने निकष (१९६६), पृ० ३०

४. वही, पृ० ६९

पर कल्पना की प्रतिष्ठा करते हुए कहते हैं 'साधारणीकरण का अर्थ वैसा नहीं है कि प्रेक्षक विशेष वस्तु और पात्र के रूप में स्वीकार कर लेता है। वरन् इसका मनोवैज्ञानिक आधार कल्पना के तत्त्वों से सिद्ध होता है। हम प्रत्येक वस्तु स्थिति, पात्र-चरित्र को एक साधारण सहज स्थिति में ग्रहण कर सकते हैं।[1] यह चिन्तन भी परिवर्तित परिवेश के अनुरूप शास्त्रीय दृष्टि का पुनः संस्कार ही है। आधुनिक दृष्टि प्रेक्षक के व्यक्तित्व की एकान्त उपेक्षा कर नहीं चलती। परिवर्तित संवेदना के माध्यम से प्रमाता वस्तुस्थिति तथा पात्रों को जिस साधारण स्थिति में ग्रहण करता है, उसमें कल्पना का स्वतन्त्र विन्यास भी लक्षित होता है। भट्टनायक के भावना व्यापार में इस कल्पनाजन्य साधारणीकरण के अन्तःसूत्र मिल जाते हैं। अतः डा० रघुवंश लिखते हैं यह कल्पना के स्वतन्त्र संयोग का व्यापार ही साधारणीकरण है। इस प्रकार भट्टनायक की शक्तियों की कल्पना में रस-निष्पत्ति के लिए मनोवैज्ञानिक आधार को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।[2]

हिन्दी रसशास्त्रीय ग्रन्थ एवं साधारणीकरणविषयक अभिमत

साधारणीकरणविषयक चिन्तन में रसशास्त्र के समीक्षकों ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अतः उनकी अवधारणाओं का एक क्रमिक आलेख प्रस्तुत करना आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन समीक्षकों ने अभिनव, भट्टनायक, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ इत्यादि आचार्यों में से किसी एक की अवधारणा को आधार बनाया है या उनके समन्वित रूप को समकालीन चिन्तन के समानान्तर ग्रहण किया है। इन रस-चिन्तकों में डा० नगेन्द्र के अतिरिक्त डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित (रस-सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण), डा० गणपति चन्द्र गुप्त (रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन), डा० राममूर्ति त्रिपाठी (रस-विमर्श), डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी (रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष), डा० रमेश कुन्तल मेघ (मध्ययुगीन रसदर्शन), डा० हरद्वारीलाल शर्मा (रस और रसास्वादन), डा० प्रेम स्वरूप गुप्त (रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन), डा० सत्यदेव चौधरी (रस-सिद्धान्त की प्रमुख

---

[1] साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ० ७६

[2] वही, पृ० ७६

समस्या), डा० तारकनाथ बाली (रस-सिद्धान्त की दार्शनिक नैतिक व्याख्याएँ), डा० शंकरदेव अवतरे (रसप्रक्रिया), डा० सुन्दरलाल कथूरिया (रस-सिद्धान्त आक्षेप और समाधान), डा० दुर्गा दीक्षित (रस-सिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन) डा० निर्मला जैन (रस-सिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र) जैसी रस शास्त्र की स्वतन्त्र कृतियों में साधारणीकरण के सम्बन्ध में अपने अभिमत व्यक्त किए हैं। स्थानाभाव के कारण इन अभिमतों को एक क्रमिक सर्वेक्षण के रूप में प्रस्तुत करना ही प्रासंगिक होगा।

हम समझते हैं कि साधारणीकरण विभावादि का होता है। इस बात का प्रयोजन यह बताना ही है कि आश्रय, आलम्बन, स्थायी तथा संचारी सभी साधारणीकृत रूप में उपस्थित होते हैं। वे देश-काल आदि विशिष्टताओं से मुक्त हो जाते हैं और उन्हीं के समान सामाजिक भी अपनी वैयक्तिक सीमाओं से मुक्त होकर समान भाव-भूमि पर अवस्थित होते हैं। ऐसी दशा में यह मानना चाहिए कि राम हो या रावण, सभी का साधारणीकरण होता हैं। (आनन्द प्रकाश दीक्षित)।[1] नायक के भावों एव विचारों का सामाजीकरण ही दूसरे शब्दों में साधारणीकरण की प्रक्रिया है तो साथ ही वह पाठक या सामाजिक की दृष्टि से तादात्म्य की प्रक्रिया है। वस्तुतः साधारणीकरण एवं तादात्म्य दो भिन्न क्रिया व्यापार नहीं हैं, अपितु एक ही कार्य के दो पक्ष हैं। (गणपति चन्द्र गुप्त)।[2]

इस प्रकार साधारणीकरण के शास्त्रीय पक्ष सम्बन्धी जो कुछ भी विचार उपस्थापित किया गया, उसका निष्कर्ष यह हुआ कि साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है—असाधारण बनाना—विशेष को सामान्य बनाना। पर इस सामान्य का अर्थ सर्व-साधारण बनाना भी नही है—बल्कि इस रूप में बनाना है कि जिससे सामाजिक की प्रसुप्त वासना परिष्कृत रूप से आन्दोलित हो सके।[3] भट्टनायक ने रस निष्पत्ति के प्रकरण में साधारणीकरण नामक एक विलक्षण व्यापार की सत्ता प्रमाणित की है, जिसकी मान्यता सार्वभौम है। उस साधारणीकरण व्यापार की कृपा से रस अनुभव एवं स्मृति आदि बोध के अन्य प्रकारों से सर्वथा पृथक् ही सिद्ध

---

१. रससिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण (राजकमल-१९६०), पृ० १४६)
२. रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन (नेशनल, दिल्ली-१९७१), पृ० ५३
३. रस-विमर्श (विद्यामन्दिर, वाराणसी-१९६५) पृ० १६५

हो जाता है, जो उसकी अलौकिकता का आधायक है।[1] साधारणीकरण व्यापार नाट्यपक्ष से तो अनज्ञापक संप्रेषण (नान-काग्निटिव कम्युनिकेशन) जैसा तथा भाषिकीय विश्लेषण से भी अपेक्षतया स्वतंत्र है। यहां 'अभिधा' के धरातल से उठी संप्रेषक इकाइयाँ हैं जो विमर्शपरक, प्रतीकात्मक तथा संविभ्रांत है। इस बात को लाल रेखा से अंकित कर लेना चाहिए। अत: साधारणीकरण में विमर्शपरक (सजेस्टिव), प्रतीकात्मक (सिंबालिक) एवं संविभ्रांत (एँबिगुअस) उपाधियों वाली संप्रषक इकाइयाँ कलाभाषा का एक नया माडल प्रस्तुत करती हैं, जो देश देश-काल-व्यक्ति सबंध को गढ़ता है।[2] ···इसका तात्पर्य है कि साधारणीकरण की प्रक्रिया प्रेक्षक में ही रूपान्तरण करती है, जिसके फलस्वरूप वह रसास्वादन के क्षण में दृश्य नृत्य, अभिनय आदि में अथवा श्रव्य संगीत में इतना निमग्न हो जाता है कि उसे किसी दूसरे पदार्थ की चेतना नहीं रहती।···यह सब रसिक में साधारणीकरण के परिणाम-स्वरूप होता है। आचार्य अभिनवगुप्त की यह व्याख्या भट्टनायक के दृष्टिकोण को प्रशस्त और संगत बनाने में समर्थ हुई है—यह इतिहास का निष्कर्ष है।[3] भावकत्व व्यापार तथा साधारणीकरण एकदम पर्यायवाची नहीं हैं। भावकत्व एक अपेक्षाकृत व्यापक व्यापार है, जिसमें साधारणीकरण भी कुछ अन्य व्यापारों के साथ सम्मिलित है।···विभावादि के साधारणीकरण का यह अर्थ हुआ कि काव्य शब्दों के द्वारा जो विभावादि उपस्थित किए जाते हैं, ये अभिधा की सीमा में असाधारण भी होते हैं। अत: साधारणीकरण का अर्थ हुआ काव्य में वर्णित असाधारण अथवा विशेष सम्बन्धों के साथ आयी हुई सामग्री का इस प्रकार ग्रहण करना कि वह प्रमाता के द्वारा विशेष संबंध रहित रूप में ग्रहण की जा सके।[4] हमारे विचार में सहृदय का स्थायिभाव (साधारणीकरण के पृष्ठाधार पर) सहृदयनिष्ठ ही विभावादि का संयोग पाकर रस रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। यदि साधारणीकरण व्यापार द्वारा विभावादि तीनों के वैशिष्ट्य के ह्रास होने के उपरान्त उनका साधारण रूप में परिणत होना स्वीकार किया

---

१. रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष अजन्ता, दिल्ली-१९७८), पृ० १५

२. अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृ० ३७७

३. रस और रसास्वादन, पृ० ४२-४३

४. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (अलीगढ़-१९६२), पृ० १५२

जाता है तो इसी के परिणामस्वरूप इन सबके सहृदय-ग्राह्य एवं सहृदयनिष्ठ बन जाने पर उक्त प्रक्रिया की स्वीकृति में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।[1] साधारणीकरण एक ओर तो अभिव्यंजना का परिणाम है, दूसरी और सम्प्रेषण का साधन।···साधारणीकरण वह क्रिया है, जिसके द्वारा रूपों और व्यापारों की विशिष्टता और निजता में से एक सामान्य सामाजिक रूप उभर आता है जो सामाजिक संवेदना को जगाने में समर्थ होता है। रचनाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता उसे साधारणीकरण या सामान्यीकरण में प्रवृत करती हुई संप्रेषण को काव्य के प्रधान मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करती है।[2] कुल मिला कर यह कि साधारणीकरण व्यक्ति-विशेषांश और व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर भावित काव्य-सृष्टि के अलौकिकीकरण के अर्थ में विभाव का भाव-बोध के प्रति सर्व-साधारण कारण के रूप में विषय-मूलक, अनुभाव का आश्रय की भाव-सूचक सर्व-साधारण प्रतिक्रिया के रूप में तादात्म्य-मूलक और भाव (स्थायी और संचारी) का आश्रय के भीतर प्रतीत भाव के साथ सामाजिक के हृदयोत्थ उसी भाव केअभेद-साधारण्य के रूप में विषयि-मूलक साधारणीकरण तीन विभिन्न कोटियों में विभिन्न रूपों में होता है।[3] वस्तुत: साधारणीकरण सामाजिक की मानसिकता का होता है, कवि की अनुभूति का नहीं।·· प्रत्येक सहृदय अपनी मानसिकता के अनुरूप रचना से साधारणीकृत होता है। हर व्यक्ति की मानसिकता एक सी नहीं होती और इसी कारण प्रत्येक सहृदय रचना से उसी रूप में साधारणीकृत नहीं होता।[4] साधारणीकरण-सिद्धान्त की पूर्णता इस बात में है कि एक ही सिद्धान्त के द्वारा रसास्वाद प्रक्रिया के संपूर्ण सोपानों और सभी घटकों के पारस्परिक संबंधों का निरूपण संभव हो जाता है। इसके अन्तर्गत कवि, काव्य और सहृदय तीनों की अनुभूतियों के साधारणीकरण की विवेचना के साथ कवि से सहृदय तक के संपूर्ण संप्रेषण व्यापार की व्याख्या सुलभ है।[5] साधारणीकरण समस्त व्यापार का होता है जैसा कि अभिनवगुप्त को

---

१. भारतीय काव्यांग तथा काव्यशास्त्रीय निबन्ध (दिल्ली १९६३), पृ० ६२

२. साधारणीकरण संप्रेषण और प्रतिबद्धता, पृ० ८५-८६

३. रस-प्रक्रिया (मैकमिलन, दिल्ली-१९७५), पृ० २१०-२११

४. नयी कविता और रस-सिद्धान्त, पृ० २८

५. रस-सिद्धान्त और सौंदर्यशास्त्र (दिल्ली-१९६७), पृ २३९

मान्य है। क्योंकि विभावादि भी निर्वैयक्तिक हो जाते हैं जिनमें आलम्बन और आश्रय दोनों ही हैं, तथा उद्दीपन भी सम्मिलित है। इसके साथ संचारी और अनुभाव भी अपना वैयक्तिक सम्बन्ध खोकर साधारणीकृत स्थायिभाव को प्रतीतियोग्य एवं पुष्ट बनाते हैं, जिससे वासनागत हमारा स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर साधारणीकृत स्थायीभाव के साथ संवादित हो सके।[1] तत्त्वत: साधारणीकरण एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा राम और सीता जैसे विशेष आश्रय और आलम्बन को सामान्य पुरुष और स्त्री रूप में गृहीत किया जाता है। साधारणीकरण का अर्थ तादात्म्यीकरण लेने पर खतरा यह है कि सहृदय के व्यक्तिगत भावों को उनमें प्रक्षेपण स्वीकार करना पड़ेगा।[2] कल्पना ही 'स्व' और 'पर' की बीच की भित्ति को ढा देती है। यह 'स्व' का 'पर' में और 'पर' का स्व' में तादात्म्य समाहार कर देती है। यही साधारणीकरण का व्यापार है।[3] साधारणीकरण का त्रिवृत्तात्मक स्वरूप ही है। किसी एक के साधारणीकरण का प्रतिपादन अपूर्ण है। प्रथम वृत्त में कवि की अनुभूति के साधारणीकरण का प्रश्न आता है, दूसरे वृत्त में काव्य-वस्तु के साधारणीकरण का प्रश्न और तीसरे वृत्त में प्रमाता के साधारणीकरण का प्रश्न।[4]

इन अभिमतों के उपस्थापन के अनन्तर यह निष्कर्ष निकालना अप्रत्याशित नहीं कहा जा सकता कि कतिपय अशास्त्रीय, निजी अभिमतों को अपवाद स्वरूप यदि छोड़ भी दें तो भी अधिकांश मत भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की अवधारणाओं का ही पुनरनुवाद प्रस्तुत करते हैं। डा० त्रिपाठी का स्पष्ट कथन है—मेरी आस्था अभिनव गुप्त द्वारा स्थापित 'साधारणीकरण' के स्वरूप में है। इसी प्रकार डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी आचार्य शुक्ल के इस मन्तव्य को कि यदि किसी की अपनी कोई प्रियतमा है तो उसके रूप में ही वह बिम्ब ग्रहण होगा इस कारण स्वीकार नहीं करते कि साधारणीकरण सिद्धान्त के उद्भावक आचार्य भट्टनायक ने उक्त प्रकार की संभावनाओं का स्पष्ट रूप से निराकरण कर दिया है। इस

---

[1] काव्य-शास्त्र (वाराणसी-१९७२), पृ० १२०

[2] हिन्दी काव्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त (कानपुर-१९६५), पृ० ४६४

[3] कला, कल्पना और साहित्य (आगरा-२०१३ स०), पृ० १२

[4] साधारणीकरण : एक शास्त्रीय अध्ययन (देहरादून-१९६७), पृ० ४१८

संदर्भ में उनकी आस्था भट्टनायक के अभिमत में है। आचार्य आनन्दवर्धन के अभिमत का आधार ले कर उन्होंने अपने अभिमत को अधिक व्यापक तथा सामंजस्यपूर्ण बना दिया है।[1]

दृष्टि-भेद एवं साधारणीकरण

साधारणीकरण की संकल्पना मूलत: 'स्व' पर संबंध की निवृत्ति, प्रमातृ मात्र की अखण्ड चेतना तथा चिरन्तन मूल्यों पर आधृत वासना संवाद के केन्द्र में प्रतिष्ठित रही है। हिन्दी समीक्षकों ने अखण्ड आत्म चेतना के आध्यात्मिक स्तर पर इसका पुनराख्यान किया है। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र भी सामूहिक भाव बोध के स्तर पर इसकी यथार्थमूलक भूमिका को स्वीकार करता है, किन्तु परा-भौतिक अखण्ड चेतना उसे एक दूरा रूढ़ कल्पना प्रतीत होती है। अत: मार्क्सवादी हिन्दी समीक्षकों ने साधारणीकरण-सिद्धान्त के प्रति विशेष आस्था व्यक्त नहीं की। कतिपय सांस्कृतिक अथवा मनोवैज्ञानिक आग्रह को ले कर चलने वाले समीक्षक भी साधारणीकरण सिद्धान्त की अपूर्णता की घोषणा करते दिखाई देते हैं। डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं 'मतलब यह है कि पहले आत्मा की अखंडता का अनुभव राजाओं और सरदारों की विलास-गाथा से होता था और अब किसानों की शोषण की कथा से होता है। लेकिन रस की अखण्डता में कोई अन्तर नहीं पड़ा। साधारणीकरण एक ऐसा मन्त्र है जिससे शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विश्व-प्रेम तक पहुँच जाता है।[2] वस्तुत: साधारणीकरण जीवन को वास्तविकता से भिन्न करके अथवा मानव की ऐतिहासकता को अस्वीकृत कर शाश्वत बोध का अनुकरण नहीं करता।

साधारणीकरण के मूल में मनुष्य को ही प्रमाण और प्रतिमान माना गया है। अत: तत्कालीन आध्यात्मिक आदर्श के आलोकवलय में अवधारणा के केन्द्रीय सूत्र स्फुरित अवश्य हुए हैं, किन्तु मानव की आन्तरिक प्रतिष्ठा गौण नहीं पड़ी, अत: महेन्द्र राय का यह कथन कि रसानुभूति के साथ

---

[1] रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष, पृ० १६८

[2] सिद्धान्त और समीक्षा (रस-सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य नामक निबन्ध), पृ० ८४

सामाजिक सत्ता के अविच्छेद्य संबंध पर बिलकुल विचार नहीं किया गया,[1] युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इस संदर्भ में शिवदान सिंह चौहान ने उपयुक्त ही कहा है 'महान् लेखक चाहे जिस काल में और चाहे जिस वर्ग में पैदा हुए हों, वे मूलतः मानववादी थे। उनकी महानता का यही रहस्य है कि उन्होंने 'मनुष्य' को ही प्रमाण और प्रतिमान माना, जिससे उनकी सहानुभूतियाँ मानव-मात्र तक प्रसरित हुईं विश्वजनीन बनीं।[2] वस्तुतः यह भी अभिनव गुप्त के अध्यात्म केन्द्रित मानववादी चिन्तन को ही ऐतिहासिक आवश्यकता के स्तर पर प्रस्तुत करने का यथार्थवादी प्रयास है। अभिनव का चिन्तन एक भिन्न सांस्कृतिक संदर्भ में मूर्त हुआ था। आधुनिक युग में नये संदर्भ के उपयुक्त आकार ग्रहण करने की इसमें स्वाभाविक क्षमता है। डा० नामवर सिंह ने रस के प्रतिमान की वर्त्तमान प्रसंगानुकूलता को रेखांकित करते हुए इस तथ्य पर बल दिया है 'इस प्रक्रिया में प्राचीन रस-शास्त्र ने सहृदयों को शिक्षित करने के लिए काव्य-कृतियों के ठोस वस्तुगत विश्लेषण का जो मार्ग दिखाया, वह दिशा-निर्देश सिद्धान्त में कवि-सहृदय-निरपेक्ष काव्यकृति की वस्तुनिष्ठ सत्ता विचार-विमर्श के केन्द्र में हैं, यह तथ्य अब क्रमशः मान्य हो गया है···साधारणीकरण के लिए भी इसी लिए काव्य के स्वरूप की व्याख्या पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है।[4] यह मान्यता अन्ततोगत्वा काव्य के अस्तित्व को केन्द्र में रख कर चलने वाली नव्यालोचना की स्वाभाविक दिशा है।

साधारणीकरण सम्बन्धी तार्किक अन्विति का एक सूत्र उन अवधारणाओं में भी है जो बौद्धिक, सांस्कृतिक अथवा यथार्थवादी स्तर पर शास्त्रीय संकल्पना की त्रुटियों को रेखांकित करती हैं। इस संदर्भ में अज्ञेय, लक्ष्मीकान्त वर्मा और डा० जगदीश गुप्त की विप्रतिपत्तियों का उल्लेख किया जा चुका है। गिरजा कुमार माथुर काव्यास्वादन की प्रक्रिया में बौद्धिक प्रक्रिया को महत्त्व देते हुए लिखते हैं 'स्वयं परीक्षित अनुभव की बौद्धिक ईमानदारी का साहित्यिक अधिकार कवि को है, होना चाहिए वह कवि कर्म के लिए

---

१. मार्क्सवाद और साहित्य, काशी-१९५७ ई०, पृ० १९४

२. साहित्य की समस्याएँ (दिल्ली-१९५९), पृ० ३६

३. कविता के नये प्रतिमान (राजकमल-दिल्ली-१९६८), पृ० ५४

४. वही, पृ० ५४-५५

अनिवार्य तत्त्व है।[1] उनकी दृष्टि में पिछले कवि असाधारण को ही मूल्यवान समझते थे' और चूंकि असाधारण स्थितियां घटनाएँ या व्यक्तित्व कम होते है. अतः पिछले कवियों का 'वस्तु क्षेत्र सीमित होता था। वे जीवन और जगत के क्रिया-कलापों एवं आदमी से संबंधित घटना-क्रम को मोटे रूप से विभाजित प्राथमिक वर्गों (जनरलाइज्ड केटेगरीज) में देखने के आदी थे जिसके कारण उन की अनुभूति विशेषीकृत न हो कर सामान्यीकृत होती थी।[2] अतः परिवर्तित संदर्भ में सामाजिक के स्तर पर बौद्धिक तन्मयता की संक्रमणकालीन ऐतिहासिक अनिवार्यता का परिणाम उनके अनुसार जीवन की विसंगतियों की अभिव्यक्ति तथा संत्रांति की विडम्बनाओं का अहसास ही है। परिवर्तित परिवेश में बौद्धिक नवोन्मेष का उल्लेख करते हुए डा० दुर्गा दीक्षित भी साधारणीकरण की सीमा का उल्लेख करती हैं। 'साधारणीकरण के लिए भावसंवेदनात्मकता और मूर्तता आवश्यक है जिसके कारण प्राचीन काव्य में उसकी विशेष सम्भावना थी। किन्तु जब आज काव्य लिखा जा रहा है, तब उसमें साधारणीकरण का वह भावात्मक स्तर नहीं हो सकता।'[2] इस बौद्धिक तन्मयतावाद का दार्शनिकीकरण भी हुआ है। डा० रामानन्द तिवारी समात्मभाव के समानान्तर सिद्धान्त की स्थापना करते हुए साधारणीकरण के सिद्धान्त को व्यक्तिनिष्ठता और निर्वैयक्तिकता का अवैध गठबंधन कहते हैं 'साधारणीकरण के सिद्धान्त ने रसमीमांसा को और भी अधिक भ्रान्त बनाया। जीवन और काव्य दोनों के रसानुभव के प्रसग में साधारणीकरण नितान्त असत्य है। साधारणीकरण रस के संदर्भों का निर्वैयक्तीकरण है। रस-विवेचन की व्यक्तिनिष्ठ भूमिका के साथ इस सामान्यीकरण का जो तार्किक विरोध है, उसकी ओर आचार्यों एव विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया।'[3] इस मन्तव्य की सीमा स्वतः स्पष्ट है। साधारणीकरण न सामान्यीकरण है और न काव्यवस्तु की केन्द्रीय संवेदना में असाधारणता का एकान्त निषेध करता है। साधारणीकरण की मूल अवधारणा के शास्त्रीय पक्ष को उपेक्षणीय मानकर चलने वाली इन अवधारणाओं में वैयक्तिक आग्रह ही अधिक प्रखर है।

---

१. तार सप्तक (कवि का वक्तव्य) पुनश्च, पृ० १९१
२. वही, पृ० १९०
३. रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन (पुणे-१९७४), पृ० १९२
४. साहित्य कला (भरतपुर-१९७०), पृ० २०७

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की साधारणीकरण-विषयक अवधारणा

आचार्य शुक्ल ने आत्मनिष्ठ कला-मूल्यों की अपेक्षा विषय-निष्ठ एवं समष्टिमूलक नैतिक मूल्यों के प्रति विशेष आग्रहशीलता दिखाई है। लोकोत्तर, अव्यक्त, व्यक्ति-परक सौंदर्य-मूल्यों की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ एवं लोक मंगलपरक मूर्त्त मूल्यों पर बल देकर इन्होंने रस के उपभोगपरक सिद्ध स्वरूप के स्थान पर कर्म-संघर्ष की साधनापरक लोकोन्मुखता को ही प्रतिष्ठित किया है। उनके इस चिन्तन की अधिक व्यापक परिणति काव्य में आलम्बन के महत्त्व की साग्रह स्वीकृति के रूप में हुई है और इसका प्रत्यक्ष उन्मेष उनके साधारणीकरण संबन्धी विवेचन में दिखाई देता है, जिसमें वे लोकहृदय की मौलिक एकता के मार्ग से आलम्बन के नैतिक प्रीतिकर स्वरूप की व्यापक प्रतिष्ठा की ओर अग्रसर होते हैं। शुक्ल जी का कथन है 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोदवोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।'[1] निश्चय ही उक्त अभिमत से शुक्ल जी की शास्त्रीय निष्ठा की अपेक्षा उनका नैतिक अथवा सांस्कृतिक आग्रह ही अधिक प्रखर है। भट्टनायक, अभिनव अथवा विश्वनाथ ने विभावों के साधारणीकरण अथवा आश्रय के तादात्म्य के माध्यम से प्रमाता के आलम्वन के साथ अभेद का उल्लेख भी किया है, किन्तु उनके मूल में शास्त्रनिष्ठ सौंदर्यवादी दृष्टि है; कोई गहन, नैतिक, सांस्कृतिक अभिनिवेश नहीं है। भाववादी मूल्यों की स्थापना प्रायः प्रमाताओं के वासना-संवाद, रुचि-साम्य, मानववादी मूल्यों की प्रतिष्ठा अथवा वर्ण्य-विषय में लोकमंगलकारी उदात्त आदर्शों के संकेन्द्रकरण से ही संभव हो सकती है। आचार्य शुक्ल ने उक्त मूल्यों को समन्वित कर भाव और कर्म-सौन्दर्य को प्रतिष्ठा के लिए लोक-मंगल का विधान करने वाले कथा नायकों के आदर्श स्वरूप की संघटना का आदर्श सामने रखा 'यदि बीज भाव की प्रकृति मंगलविधायिनी होती है, तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं।

---

[1] चिन्तामणि भाग-१, पृ २२२

उसके सब भावों से पाठकों की सहानुभूति होती है, अर्थात् पाठक या श्रोता भी उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं, जिन भावों की कवि व्यंजना करता है। ऐसे पात्रों की गति में वाधा डालने वाले पात्रों के उग्र या तीक्ष्ण भावों के साथ पाठकों का वास्तव में तादात्म्य नहीं होता, चाहे उनकी व्यंजना में रस की निष्पत्ति करने वाले अवयव वर्तमान हों।[1]

मूल भाव में नैतिक चेतना का एकान्त आग्रह प्राचीन शास्त्रीय परंपरा से उनका विभेद सूचित करता है। शास्त्र-स्थिति-सम्पादन मात्र के लिए रसव्यंजना उन्हें स्वीकार्य नहीं है, किन्तु विभावों के समर्थन के लिए उन्होंने शास्त्रदृष्टि का आधार लिया है, जिससे उनके तात्त्विक चिन्तन में जटिलता की वृद्धि हुई है और अन्तर्विरोधों में साम्य स्थापित करने की चेष्टा में मूल सिद्धान्त में अन्तर्विरोध भी आ गये हैं। इस सन्दर्भ में उनके अभिमतों का परीक्षण करना अधिक प्रासंगिक होगा।

साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्वन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्वन हो जाती है।'[2]

साधारणीकरण आलम्वनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।'[3]

प्रथम कथन विश्वनाथ से प्रेरित है—

'प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानत।'[4]

तथा दूसरा कथन काव्य-प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर से प्रभावित है—

'साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादि

---

१. चिन्तामणि (प्रयाग-१९५३), पृ० २२१-२२२ (काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था)

२. वही. पृ० २२९-२३० (साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद)

३. वही, पृ० २३०

४. साहित्यदर्पण (लक्ष्मी टीका) वाराणसी, १९६७, पृ० ७९-८०

सामान्येनोपस्थितिः।'[1]

वस्तुतः न तो विश्वनाथ ने श्रोता के मन में व्यक्ति विशेष के आविर्भाव का उल्लेख किया है और न गोविन्द ठक्कुर ने। आचार्य शुक्ल के साथ कठिनाई यह है कि उनकी विभावपरक दृष्टि व्यक्ति के वैशिष्ट्य को आस्वाद के क्षण में सुरक्षित भी रखना चाहती है तथा उन्हें लोक-सामान्य धरातल पर प्रस्तुत कर उनके वैशिष्ट्य का तिरोधान भी अनिवार्य मानती है। परिणामतः इस अन्तर्विरोध के निराकरण के लिए उन्हें अनेक काल्पनिक सभावनाओं का आधार ग्रहण करना पड़ा है। यथा— जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है।'[2]

इस संदर्भ में भट्टनायक का प्रश्न है कि फिर साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या है? यह तो स्वगत प्रतीति है, सीता आदि व्यक्ति-विशेष श्रोता का विभाव नहीं बन सकते और यदि सीता के बोध मात्र में ही उनकी बौद्धिक जिज्ञासा शान्त हो जाती है, तो यह तटस्थ प्रतीति है, जिसके कारण प्रमाता रागात्मक संबंध के अभाव में कोई भावात्मक प्रतिक्रिया अथवा रसात्मक अनुभूति नहीं कर सकता। 'सा चायुक्ता सीताया सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात् (लोचन)। शुक्ल जी का उत्तर है—श्रोता की मनोवृति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृंगाररस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रह कर आलम्बनरूप में उसकी प्रेयसी की मूर्त्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्त्ति उसके मन में आएगी।'[3]

भट्टनायक की प्रतिपत्ति है—'स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्' (अभिनव भारती) एव 'न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते' अर्थात् 'ननु काव्यादितः सीताविज्ञाने जाते सहृदयानां स्वकान्तास्मरणं जायते, तेन च तद्वासनोद्बोध इत्यत आह—न चेत्यादि। न संवेद्यते सहृदयैर्न चानुभूयते।' (बालप्रिया)[4]

---

[1] काव्यप्रदीप, पृ० ६०

[2] चिन्तामणि, पृ० २३०

[3] वही, पृ० २३०

[4] ध्वन्यालोक लोचन (बालप्रिया). पृ० १८१।

स्वकान्तास्मरण को, जैसा हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है, रामचन्द्र गुणचन्द्र तथा विद्यानाथ ने भी स्वीकार किया है, किन्तु उनकी तर्क-प्रणाली भिन्न और एक सीमा तक स्वीकार्य है। रामचन्द्र लौकिक तथा काव्यगत, दोनों ही रूपों में रसानुभूति स्वीकार करते हैं। लोक में नियत विषय के स्मरणादि से उस स्मर्यमाण व्यक्ति से सम्बद्ध रसास्वाद होता है और इस प्रकार व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध रसानुभूति हो सकती है, किन्तु काव्य में राम का सीताविषयक श्रृंगार का अनुकरण होने पर सामाजिक का सीता-विषयक श्रृंगार समुल्लसित नहीं होता। अपितु सामान्य स्त्री विषयक ही अनुभूति होती है।[1] विद्यानाथ का कथन है 'अत एव मालत्यादिशब्देभ्यो योषिन्मात्रप्रतीतौ स्मृत्यारूढेन तद्योषिद्विशेषेण सामाजिकाश्रयत्वमपि न विरुद्धम्'[2] टीकाकार कुमार स्वामी इस तथ्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि मालत्यादि विशेष के परिहार एवं स्वाभिलषित नायिका का स्मरण प्रमाणित तथ्य हे, क्योंकि कवियों ने अपनी प्रतिभा और भावना के अनुरूप ही पात्रों को निर्मित किया है। उनके मौलिक, ऐतिहासिक रूप को नहीं, अतः सर्वसाधारण उनमें अपनी भावनाओं का प्रतिविम्ब देख सकते हैं।[3]

स्पष्टतः कान्ता-स्मृति का यह अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक विवेचन है। इस प्रक्रिया में प्रमाता के अन्तर्मन में यथार्थ तथा कल्पना के दोनों ध्रुवों पर एक साथ अन्तःक्रिया घटित होती है। एक स्तर पर वह सीता रूप में अध्यवसित नटी को देखता है और जानता है कि यह वास्तविक सीता नहीं है। पुनः वह अध्यवसित सीता में प्रेयसी को देखता है, तो भी उसे इस तथ्य की अभिज्ञता है कि न यह वास्तविक सीता ही है और न उसकी प्रेयसी ही।

---

१. नियतविषयस्मरणादिना स्थायिनः प्रतिनियतविषयतायां, तु प्रतिनियतविषय एव रसास्वादः। न हि रामस्य सीतायां श्रृंगारेऽनुक्रियमाणे सामाजिकस्य सीताविषयः श्रृंगारः समुल्लसति, अपितु सामान्यस्त्रीविषयः।

(नाट्यदर्पण (दिल्ली-१९६१), पृ० २९८)

२. ननु सामाजिकानां श्रूयमाणमालत्यादिविशेषपरिहारेण, स्वाभिलषितनायिकास्मरणं किं प्रमाणमिति न शंकनीयम्। काव्यादौ विशेषाणामविवक्षितत्वात्। (प्रतापरुद्रीयम् (रत्नापण व्याख्या), पृ० १९०)

३. वही, पृ० १९०

इस प्रकार यथार्थ और काल्पनिक दोनों स्थितियों का लोप हो जाने से सीता अपने विशिष्ट संबंधों से मुक्त साधारणीकृत रूप में सामाजिक का आश्रय बनती है। यह व्याख्या एकान्त अनवद्य न होने पर भी इस रूप में आंशिक ग्राह्य है कि अभिनव ने यथार्थ और काल्पनिक स्थितियों के अन्त:संघर्ष से ही आलम्बन के वैशिष्ट्य की मुक्ति का मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया है, जिसमें प्रमाता में नटत्व और रामत्व के विनिश्चय का आंशिक स्वीकार परिहार होता रहता है।[1] स्पस्टत: विरुद्ध बुद्धियों के सामंजस्य का यहाँ मनोवैज्ञानिक उल्लेख है, किन्तु इम उल्लेख का आशय स्वकान्तास्मृति के संवेदन की साधारणीकरण के स्तर पर प्रतिष्ठा करना नहीं है। यहाँ यह संकेत करना मात्र अभीष्ट है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का चिन्तन एक सीमा तक रामचन्द्र-गुणचन्द्र अथवा विद्यानाथ के समानान्तर विकसित हुआ है, किन्तु उनकी मूलभूत अवधारणाओं में स्पष्ट अन्तर है। शुक्ल जी वैशिष्ट्य-तिरोधान की किसी दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का आधार नहीं लेते, उनकी दृष्टि इस काव्य-शास्त्रीय मौलिक सिद्धान्त का निषेध करती है कि लौकिक विभावों की मूल प्रकृति वैशिष्ट्यमूलक ही है। काव्यानुभूति के क्षण में विभावों के वैशिष्टय को सुरक्षित रखने का अर्थ होगा, काव्यानुभूति को लौकिक अनुभूति के समकक्ष स्थापित करना।

वैशिष्ट्य और साधारणत्व के मध्य वे जिस सेतु अर्थात् आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की परिकल्पना करते हैं, उसका आधार भी अधिक वैज्ञानिक नहीं है। आलम्बनत्व धर्म से उनका आशय यदि उन साधारण धर्मों या सामान्य गुणों अर्थात् शील सौजन्य एवं सौंदर्य से है, तो काव्य का क्षेत्र अत्यन्त विरल हो जाएगा तथा पाठक प्रत्येक स्थिति में सीता के सामान्य गुणों का ही अनुसंधान करेगा यथा—

'प्रकृत्यैव प्रिया सीता रामस्यासीमहात्मनः।
प्रियभावः स तु तथा स्वगुणैरेव वर्धितः ॥[2] (६-३१)

किन्तु प्रथम तो सीता रामादि कतिपय पात्रों को छोड़ कर, जिन्हें प्रमाता शील-शक्ति-सौंदर्य आदि गुणों की प्राकल्पित अवधारणा के अन्दर से साक्षात्कृत करता है, वह पात्रों के व्यापक वर्ग के प्रति कोई रागात्मक

---

[1] नाट्य शास्त्रम् ((बड़ौदा-१९५६) पृ० २८५

[2] उत्तररामचरितम् (काणे-१९६२), पृ० १३७

अनुभूति ग्रहण नहीं कर सकेगा। दूसरे यदि कवि की अनुभूति में तदाकार होकर प्रमाता उन पात्रों में सामान्य गुणों की प्रतिष्ठा भी करता है, तो उसे कवि की अनुभूति के अभिप्रायात्मक हेत्वाभास से उलझना पड़ेगा। किन्तु शुक्ल जी को संभवतः यही अभीष्ट है। 'साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र और फिर श्रोता या पाठक में'[1]

यह मन्तव्य भी एकान्त निर्भ्रान्त नहीं है। वर्णित होने से पूर्व आलम्बन कवि का मानस-भाव रहता है, जो वर्णित पात्र में मूर्त्त होता है। अतः प्रमाता के सम्मुख कवि का अभिप्रायमूलक आलम्बन नहीं होता, अपितु कृति में वर्णित पारिस्थितिक अभिव्यंजना के केन्द्र में प्रतिष्ठित पात्र होता है तथा उन विशिष्ट स्थितियों के कारण वह पात्र आश्रय का भिन्न-भिन्न धर्मों के कारण आलम्बन बनता है। यथा—'तत्किमियममृतवर्तिरिव चक्षुराप्यायति'[2] तथा

'प्राप्तचारित्र्यसन्देहा मत प्रतिमुखे स्थिता।
दीपो नेत्रातुरस्यैव प्रतिकूलासि मे दृढा॥'[3]

निश्चय ही इन दोनों परिस्थितियों में सीता राम के एक ही भाव के आलम्वन में ही अभिव्यक्ति नहीं खोजती। उसमें केन्द्रीय आलम्बनत्व धर्म का अनुसंधान इस स्तर पर अर्थपूर्ण नहीं है, किन्तु यदि शुक्ल जी के कथन का यह आशय है कि पारिस्थितिक विडम्बनाओं के आवर्त में पात्र अपने मौलिक अस्तित्व में क्रमशः अपनी मूल प्रकृति को अर्जित करता हुआ प्रमाता की चेतना में अवतीर्ण होता है, तो प्रकृत सत्य के अधिक निकट हो सकता है, किन्तु जैसा मैंने कहा उनकी लोक-चेतनापरक दृष्टि आलम्बन की गत्यात्मकता की उपेक्षा कर उसे स्थिर बिम्ब के रूप में ही सामान्य लोक-हृदय में प्रतिष्ठित देखना चाहती है, और उनकी काव्य-शास्त्रीय दृष्टि, उसका बिम्बात्मक रूप भी सुरक्षित रखना चाहती है, जो अपने वैशिष्ट्य के कारण महत्त्वपूर्ण है, अतः वे कवि से अतिरिक्त अपेक्षा करते हैं कि वह आलम्बन के वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए लोक-हृदय की सामान्य चेतना

---

[1] चिंतामणि, पृ० २३२

[2] महावीरचरितम् अंक प्रथम, पृ० १५

[3] वाल्मीकीय रामायण (गोरखपुर), सं० २०२५, पृ० १४१४

के आधार फलक पर उसके सामान्य गुणों की प्रतिष्ठा करे, किन्तु यह मूलतः द्वैतपरक और संज्ञानात्मक बोध की दिशा है, जिसमें ममत्व परत्व आदि के स्वीकार परिहार का अवकाश बना रहता है।

सम्भवतः शुक्ल जी विभावों के स्वरूपतः सामान्य होने में विश्वास रखते हैं, परिणाम अथवा उद्देश्य की दृष्टि से नहीं। वे पात्रों के नैतिक स्वरूप मात्र का आस्वाद अपेक्षित मानते हैं, सारभूत प्रभाव की दृष्टि से उसे ग्रहण नहीं करते। अतः आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के इस कथन के आंशिक सत्य को स्वीकार करना होगा कि वे बौद्धिक द्वैतवादी हैं, जिसमें काव्य को नैतिक एवं अनैतिक द्वन्द्वों के बीच देखा जाता है।

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र—मधुमती—भूमिका

संस्कृत काव्य-शास्त्र की साधारणीकरण संबंधी अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में मधुमती-भूमिका एक नूतन एवं विलक्षण अवधारणा प्रतीत होती है। वस्तुतः यह अवधारणा अभिनव के मत का ही पातंजल योगदर्शन की शब्दावली में पुनरनुवाद है, जिसकी अपनी सीमाएँ हैं।

साधारणीकरण के स्वरूप की केन्द्रीय संरचना योग-शास्त्र में निरूपित संप्रज्ञात समाधि, समापत्ति अथवा निर्वितर्क समाधि से विलक्षण साम्य रखती है, फलतः उसे योग-शास्त्रीय दार्शनिक आवरण में प्रस्तुत करने का मोह उत्पन्न हो आना स्वाभाविक है। किन्तु जैसा भट्टनायक, अभिनव, मम्मट अथवा जगन्नाथ के साक्ष्य से प्रमाणित होता है, रसानूभूति निर्विकल्प समाधि से गुणात्मक स्तर पर भिन्न है। इस भिन्नता की सापेक्ष अर्थवत्ता का निरूपण करने से पूर्व आचार्य केशव प्रसाद की मधुमती-भूमिका संबंधी उद्भावना को प्रस्तुत करना ही विशेष प्रासंगिक है। 'मधुमती-भूमिका चित्त की वह अवस्था है, जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है।'[1] आगे मिश्र जी की आत्म-स्वीकृति है 'अभिनवगुप्ताचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं'।[2] वस्तुतः इसमें साधारणीकरण को योग की अपेक्षाकृत अधिक विशुद्धतर भूमिका पर ग्रहण किया गया है। योग की भूमिका के उल्लेख की परम्परा पुरातन है। यथा—

---

[1] साहित्यालोचन (लेखक-श्यामसुन्दर दास, प्रयाग सं० २०१४) पृ २३०

[2] वही, पृ० २३१

दुह्यते योगगिभिर्हि यः (भट्टनायक) तथा योगि-प्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्ति-ज्ञानात् सकलवैषयिकोपरागशून्यपरयोगितस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। (अभिनव) स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्ति-रुपाजयते'—इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा।' (जगन्नाथ) इन सभी आचार्यों ने काव्यानुभूति को योग की अवस्थाओं से भिन्न अथवा विशिष्ट इस आधार पर माना है कि रसानुभूति में आत्म-विश्रान्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक है। अत: मिश्र जी ने निर्वितर्क समापत्ति दशा को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह उक्त आचार्यों की अवधारणाओं के प्ररिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित होने की संभावना व्यक्त करती है। मिश्र जी की अवधारणा के दो ध्रुव हैं—एक बिन्दु पर वे अपनी मान्यताओं को संस्कृत काव्यशास्त्र की परिनिष्ठित शास्त्रीय अवधारणाओं का उपजीवी बनाते हैं, तो दूसरे स्तर पर योग-सूत्र की पारिभाषिक पृष्ठभूमि में उसे अपने स्तर पर विश्लेषित करने का उपक्रम भी करते हैं। यथा –'चित्त की समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेद-बुद्धि और तत्फल दु:ख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल-मूढ़ता का कारण है। जिसके दु:ख और मोह, दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से शह पा कर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दु:ख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है।'[1]

यह प्रकल्पना भट्टनायक की 'निजमोहसंकटकारिणा रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति'[2] की अवधारणा से अंशत: साम्य रखती है। विश्वनाथ की 'सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः'[3] जैसी शब्दावली का भी उन्होंने आधार लिया है। अन्यत्र उनका कथन है 'मन की इस एक विषयावगाहिनी निरोधावस्था में चित्त का आवरण भंग होता है'[4] स्पष्टत: यहाँ उन्होंने पंडितराज की चिदावरणभंग की सुप्रसिद्ध अवधारणा को ही प्रकारान्तर से योगशास्त्र की प्रकल्पना के आधार पर प्रस्तुत किया है। इनके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अप्रासंगिक नहीं है कि उनकी दृष्टि विशुद्ध आदर्शवादी

---

१. साहित्यालोचन, पृ० २३१

२. नाट्यशास्त्र (बड़ौदा), पृ० २७७

३. साहित्य-दर्पण-३।२, पृ० ६९ (अनन्तदास)

४. साहित्यालोचन, पृ० २३३

अथवा प्रत्ययवादी है। इस संदर्भ में उनकी यह शब्दावली भी योग और काव्य के समीकरण को प्रस्तुत करती है 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता इन तीनों को पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं; केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना।'[१] यह अवधारणा अंशतः अभिनवगुप्त की मम्मट अथवा विश्वनाथ द्वारा रूपान्तरित 'ममेति न परस्येति परस्य न ममेति च' से साम्य रखती है। इसी प्रकार मिश्र जी ने 'तस्यां यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वा-भावाद्भीत इति'[२] के साम्य पर केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है; किन्तु यह मत पूर्णतः अभिनव के अनुरूप नहीं है। अभिनव परिणाम में प्रमाता तथा प्रमेय की व्यक्ति-संसर्ग अथवा वस्तु-संसर्ग से मुक्ति तथा उनके विशिष्ट संबंधों के तिरोधान का उल्लेख करते हैं, किन्तु स्वरूप में इतर संसर्गों की सम्पृक्ति का एकान्त निषेध नहीं करते। अभिनव वस्तु-जात की उस दिव्यता के हीनतर बोध को भी स्वीकार करते हैं, जिसमें आतोद्यगान गणिका आदि के उपरंजन से अहृदयों को भी सहृदय किया जाता है। रसानुभूति को वे इतना वेद्यान्तर संस्पर्शरहित भी स्वीकार नहीं करते हैं कि आत्मावस्थिति मात्र में उसकी प्रतीति हो। मम्मट के शब्दों में **वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्।**[3]

योग की निर्विकल्पक अनुभूति अखण्ड और एकतान होती है, किन्तु रसानुभूति में स्थायी भाव के सूत्र में अनेक अस्थायी व्यभिचारी भी सम्पृक्त रहते हैं, जो वैचित्र्य का संपादन करते एवं अखंड एकतानता को भंग करते हैं।

वस्तुतः मिश्र जी के विवेचन में योगशास्त्र की निर्वितर्क भूमिका पर इतना बल दिया गया है कि उसके काव्यशास्त्रीय अनुषंग धूमिल पड़ गये

---

[१] वही, २३०

[२] नाट्यशास्त्र (बड़ौदा), पृ० २७९

[३] काव्य-प्रकाश (बालबोधिनी, पूना-१९२१), पृ० ९४

हैं। 'यही साधारण्य अलौकिकता ला देता है। जब वृत्तियों का साधारणी-हो जाता है, तब इन्द्रियों के व्यापार तथा मन के भाव सभी स्थिर हो जाते हैं। तर्क-वितर्क विलीन हो जाते हैं और आत्मा में आनन्द की अनुभूति (अथवा अभिव्यक्ति) होने लगती है। इस विचित्र और अलौकिक अनुभूति को रसास्वाद कहते हैं।[१]

इस संदर्भ में अब यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यह तर्कातीत स्थिति मधुमती-भूमिका से भी उच्चतर जिस योग दशा की ओर इंगित करती है, वह साधारणीकरण की केन्द्रीय अवधारणा से दूर जा पड़ती है और काव्यानुभूति का मूल संदर्भ गौण पड़ जाता है।

डा० नगेन्द्र की साधारणीकरणविषयक अवधारणा

डॉ नगेन्द्र ने साधारणीकरण सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है, किन्तु उसका आधार अपनी अन्तर्दृष्टि को बनाया है। उनकी दृष्टि मूलतः सौष्ठववादी मूल्यों पर केन्द्रित रही है तथा स्वदेश-विदेश से गृहीत शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक शब्दावली के आवरण में शास्त्रनिष्ठ विषय को वे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक चिन्तन के समकक्ष प्रस्तुत करते हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र की विविध अवधारणाओं को हिन्दी अनुवादों के आधार पर विश्लेषित करने का सुयोग शुक्ल जी अपेक्षा उन्हें अधिक उपलब्ध हुआ है, अतः पूर्वप्रतिष्ठापित सूत्रों को संयोजित करने का प्रयास वे शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक आग्रहपूर्वक करते हैं।

साधारणीकरण की पूर्व कल्पना के रूप में डॉ नगेन्द्र पाँच विकल्प प्रस्तुत करते हैं—१. रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण, २. स्थायी का साधारणीकरण अर्थात् सहृदय की चेतना का व्यक्ति संसर्ग से मुक्त हो कर एकतान होना, ३. आश्रय के साथ तादात्म्य अर्थात् प्रमाता की चेतना का विकसित होकर अलौकिक चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित करना, ४. आलम्बन धर्म का साधारणीकरण, ५. कवि नायक और श्रोता का भाव तादात्म्य (रस-सिद्धान्त पृष्ठ २०२-३ के आधार पर)।

इन विकल्पों में उनकी आस्था प्रथम मत में है, किन्तु अंशतः वे अन्य विकल्पों में निहित आंशिक सत्य को स्वीकार कर लेते हैं। उनका कथन है

---

[३] साहित्यालोचन, पृ० २३४

कि 'भट्टनायक के मत से विषय के समस्त अगों का साधारणीकरण होता है, और परिणामत: प्रमाता के स्थायी भाव का भी, यही मौलिक सिद्धान्त है।'[1] इस संदर्भ में वे अन्य विकल्पों की समीक्षा करते हुए अनेक विप्रतिपत्तियां प्रस्तुत करत्ते हैं। आश्रय के साधारणीकरण का यह अर्थ उन्हें ग्राह्य नहीं है कि राम या हनुमान अलौकिक शक्ति-सम्पन्न न रह कर सामान्य पुरुष बन जाते हैं तथा वे (अपने गौरव से वचित होकर जनसाणारण के स्तर पर उतर आते हैं, ऐसा मान लेने पर तो काव्य द्वारा उदात्तीकरण का सिद्धान्त ही खंडित हो जाएगा)[2] दूसरे विश्वनाथ के साधारण्याभिमान की संकलना भी उनकी दृष्टि में ग्राह्य नहीं हैं 'आश्रय तो घृणित क्रूर हमारे व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है। हम उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे। ......अत: आश्रय के साथ तादात्म्य की स्वतन्त्र या प्रमुख स्थिति अग्राह्य है; साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के अग रूप में ही तादात्म्य मान्य हो सकता है।[3]

तादात्म्य की अवधारणा पर हमने अन्यत्र अधिक विस्तार से विचार किया है। वस्तुत: विश्वनाथ के साधारण्याभिमान में न तो हनुमान के जन-साधारण के स्तर पर उतरने की व्यंजना है और न प्रमाता के आश्रय के साथ एकान्त तादात्म्यीकरण की। प्रमाता उस समय हनुमान से नहीं समुद्रोल्लंघन करने वाले हनुमान से अभिन्न अनुभव करता है।

'उत्साहादिसमुद्बोध: साधारण्याभिमानत:
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति।[4]

यह प्रक्रिया विज्ञप्रिया के अनुसार उभय साधारणी है 'न त्वात्मगतत्वेनैव नैव रामादिगतत्वेनैवेत्यर्थ:।[5] अनन्तदास ने स्पष्ट लिखा है कि प्रमाता समुद्रलंघन करने वाले हनुमान से तादात्म्य स्थापित करता है और यह अनुभूति न एकान्त: आश्रयगत होती है और न ही सामाजिकगत। 'यस्य-

---

१. रससिद्धान्त (दिल्ली) १९६९, पृ० २०३
२. वही, पृ० २०४
३. रससिद्धान्त, पृ० २०४
४. साहित्यदर्पण ३/१०, पृ० ७९
५. वही, (अनन्तदाससेन विरचितया लोचनाख्यां व्याख्यया समलंकृत:) लाहौर-१९३८, पृ० ७९

पाथोधिप्लवनादयः' में 'यस्य' का आश्रय है 'हनुमदादेः पांथोधिप्लवनादयः' जिससे प्रमाता अभेद स्थापित करता है। आशय यह है कि अल्पशक्ति प्रमाता का समुद्रलघन जैसे दुष्कर कर्म के प्रति उत्साह जागृत हो जाता है । इसमें आश्रय गौण तथा उसके लोकोत्तर कर्म की अनुभूति का अन्तर्भावन यहाँ विशेष रूप से अभीष्ट है, जो विशुद्ध दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक यथार्थ है।

लोकोत्तर कर्म मूलतः प्रकृति-तत्त्वों के अलौकिक नियंत्रण से युक्त होते हैं, जो मानव की अतीन्द्रिय प्रकृति-जगत् में संचरण की आकांक्षा को मूर्त करते हैं। इस आकांक्षा के बीज पूर्वतः अन्तःस्तर में संस्कार रूप में अनुद्भिन्न रहते हैं। आकाशसंचरण समुद्रलंघन जैसे कृत्य तो और भी प्रतीकात्मक रूप में गहनतर स्तर पर सम्बद्ध रहते हैं। तथा अनुरूप पात्रों में उनको पूर्ण करने की सामर्थ्य के साक्षात्कार मात्र से प्रमाता के भावात्मक स्फुलिंग उद्दीप्त हो उठते हैं।[1] साधारण्याभिमान की सीमा यही है। प्रत्येक आश्रय का प्रत्येक कर्म अनिवार्यतः इस सीमा में नहीं आता। अभिमान में संस्कारोद्भिन्नता अर्थात् अस्मिता के उद्रेक की व्यंजना निहित है। आश्रय के अधम कृत्यों में अभिमान योग नहीं देता। जैसा कि भोज का कथन है **'सर्वात्मसम्पदुदयातिशयैकहेतुः। जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकारः॥'**[2]

आलम्बन धर्म के साधारणीकरण के विषय में शुक्ल जी के संदर्भ में विचार किया जा चुका है। डा० नगेन्द्र का विचार है कि आलम्बन के विशेष रूप को सुरक्षित रखते हुए उसके साधारणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती। स्वयं शुक्ल जी को इस तथ्य की प्रतीति हुई थी। इसलिए वे आलम्बन से हट कर आलम्बनत्व धर्म तक पहुंच गये और फिर उन्हें

---

[1] In my own experience, imaginative realization of the ascent thus indicated is in inseparable from recoll-not explicity, of course, till analysis is attempted of flight as it is known in dreams.

(Maud Baudkin (Archetypal patterns in poetry), London-1971, p. 143)

[2] श्रृङ्गार प्रकाश २/११, पृ० ३७० (श्रृंगार प्रकाश-राघवन, पृ० ५०७ से उधृत)

उसे नैतिक आधार प्रदान करना पड़ा। वस्तुतः सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आग्रहशीलता के कारण वे शील, शक्ति, सौंदर्य जैसे आलम्बनगत गुणों की उपेक्षा नहीं कर सके, किन्तु पश्चिम से आयातित व्यक्ति-वैचित्र्य का निषेध करते हुए अन्तश्चेतन में बिम्बात्मक स्तर पर उसे वे प्रच्छन्न स्वीकृति देते रहे। नैतिक एवं सौंदर्यपरक मूल्यों की समन्विति के लिए आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण ही उन्हें उपयुक्त मध्यमान प्रतीत हुआ।

डा० नगेन्द्र सहृदय की चेतना के साधारणीकरण को इस आधार पर स्वीकार नहीं कर सके कि चित्त की एकतानता ही तो संविद्विश्रान्ति है और यही रस है, अतः यह साधारणीकरण की क्रिया नहीं हो सकती। यह तो कार्य या परिणति है।[1] किन्तु यह स्थापना भी उन्हें सर्वथा मान्य नहीं है। वस्तुतः डा० नगेन्द्र का यह पश्च विचार है क्योंकि सहृदयों की चितवृत्ति की एकातानता साधारणीकरण का परिणाम नहीं, उसी की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। यह रस नहीं, रस परिपोष का माध्यम है। जैसा कि अभिनव का कथन है—'**तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम्। ···अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।**'[2]

स्वयं डॉ० नगेन्द्र ने अभिनव के प्रसंग में उक्त अभिमत का कहीं खण्डन नहीं किया है, अपितु प्रकारान्तर से अपनी सहमति इन शब्दों में व्यक्त की हैं—'यह साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर ही न होकर समष्टि के धरातल पर भी होता है; काव्य और नाट्य के उपकरणों के चमत्कार से आत्म तत्त्व की अद्वैतता के कारण सभी सामाजिक भाव की समान रूप से प्रतीति करते हैं। इससे साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है और सर्वथा निर्विघ्न हो जाती है।'[3] निश्चय ही इस संदर्भ में चित्तवृत्ति की अद्वैतता या एकतानता को साधारणीकरण की प्रेरिका शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है, जो उस प्रक्रिया का अभिन्न अंग है न कि परिणति अथवा कार्य रूप।

इस संदर्भ में यह इंगित करना अवश्य प्रासंगिक होगा कि साधारणीकरण की जिस भी परिभाषा को स्वीकार किया जाएगा, उसमें इतर संदर्भों

---

१. रससिद्धान्त, पृ० २०६

२. ना० शा० (बड़ौदा) पृ० २७९

३. र० सि० पृ० १७३

से एकदम प्रत्यावर्तन करना संभव नहीं हो सकेगा। ये विभिन्न मूल्य ही साधारणीकरण के अंतिम मूल्य का निर्माण करते हैं। डा० नगेन्द्र की मूल संकल्पना उक्त अवधारणा के विरुद्ध नहीं पड़ती, क्योंकि सर्वांग के साधारणीकरण की जिस अवधारणा की उन्होंने पुष्टि की है, उसमें उक्त संदर्भों का आंशिक समाहार अवश्य है।

रीतिकाव्य की भूमिका में उन्होंने अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया था 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है।' अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।'[1]

कवि की अनुभूति से तादात्म्यीकरण का संदर्भ भरत, अभिनव तथा आचार्य शुक्ल ने भी उठाया है, किन्तु डा० नगेन्द्र का सम्पूर्ण बल इसी आग्रह पर है कि हम लेखक की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करते हैं। 'यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्य बुद्धि है तो यह सीता नहीं' यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी।'[2]

तथ्य यह है कि कवि और सहृदय के अन्त:सम्बन्ध किसी एकान्त ऋजु रेखा में अग्रसर नहीं होते, उनके मध्य अनेक जटिल आयाम होते हैं। बाह्यत: यह सिद्धान्त शास्त्रीय प्रमाणों पर आधृत प्रतीत हो सकता है, किन्तु इसकी मूल प्रकृति भिन्न है।

भरत ने एक भिन्न संदर्भ में कहा है 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।' भट्टतौत की उक्ति है 'नायकस्य कवे: श्रोतु: समानोऽनुभवस्तत:' तथा आचार्य शुक्ल का अभिमत है 'जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अत: पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्राय: हो जाता है।[3] वस्तुत: उक्त आचार्यों ने कवि और सहृदय के अनुभूतिगत साम्य

---

१. रीति काव्य की भूमिका।

२. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ५१

३. चिन्तामणि भाग-१, पृ० २३२

को साधारणीकरण की अभिन्न भूमिका के रूप में ग्रहण नहीं किया है, किन्तु डॉ० नगेन्द्र का समग्र बल की अनुभूति के साधारणीकरण पर ही है, हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जगेगी, जो कवि ने इस प्रतीक के द्वारा व्यक्त की है।[1] जबकि आचार्य शुक्ल ने कवि और सहृदय के अनुभूतिगत साम्य को मात्र प्रायः शब्द से इंगित कर प्रासंगिक वृत्त में छोड़ दिया है।

कवि की अनुभूति का प्रश्न प्रायः वैसा ही जटिल है, जैसा अनुकार्यगत रसानुभूति का। कविता अर्थ के माध्यम से ही अपना अस्तित्व प्रमाणित करती है, किन्तु लेखक की चेतना या अभिप्राय का अन्वेषण करके उस अर्थ तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। कविता का अर्थ संदर्भों की सहस्थिति, बिम्बों के समीकरण और प्रतिफलन तथा स्थितियों और पात्रों की क्रिया प्रतिक्रिया की आन्तरिक अपेक्षाओं के आधार पर निर्धारित किया जाता है, जो कवि के मौलिक अभिप्राय के विपरीत या अन्तर्विभाजित भी हो सकता है। यथा— कामायनी में श्रद्धा की ये पंक्तियाँ कवि की किस अनुभूति को व्यंजित करती हैं—

सिर चढ़ी रही पाया न हृदय
तू विकल कर रही है अभिनय।

डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'श्रद्धा अति बुद्धिवादी होने के लिए इडा की भर्त्सना करती है।'[2]

क्यों? क्योंकि श्रद्धा प्रसाद जी के अपने शब्दों में हृदय की प्रतीक है 'श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु'[3] 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार' और इडा स्पष्टतः बुद्धि की प्रतीक है 'उसका चरित्र एकान्त बौद्धिक है वह हृदय की विभूतियों से वंचित व्यावसायत्मिका बुद्धि द्वारा अनुशासित है, जीवन की अखण्डता के स्थान पर वर्ग-विभाजन और अभेद के स्थान पर भेद की व्यवस्था करती है।[4] दोनों पात्रों के संबंध में प्रसाद की मौलिक अनुभूति का स्वरूप ऐसा ही है। एक सहृदय के नाते डॉ० नगेन्द्र ने इसी स्तर पर उसे ग्रहण भी किया है, किन्तु श्रद्धा

---

[1] रीति काव्य की भूमिका, पृ० ५१
[2] आस्था के चरण (दिल्ली-१९६८), पृ० ५५९
[3] वही, पृ० ५५५
[4] वही, पृ० ५५६

और इडा जब पारस्थितिक द्वन्द्व में अपनी मौलिक प्रकृति अर्जित करती हैं, तो क्या प्रत्येक प्रमाता को कवि की अनुभूति से तादात्म्य करना सम्भव है ? चेतन स्तर पर प्रमाता इडा को विसंवादी स्तर पर स्थापित कर सकता है, किन्तु उसके अवचेतन स्तर पर स्थापित इडा हृदय-शून्य बौद्धिक व्यक्तित्व के स्थान पर एकान्तराग प्रवण भावुक हृदय ले कर अवतरित होती है, जो श्रद्धा की कटूक्तियों का उत्तर स्नेह से देती है। वस्तुत: श्रद्धा की इन पंक्तियों में हृतसर्वस्वा प्रणयवंचिता नारी का प्रच्छन्न आहतदर्प एवं व्यंग्य मुखुर है, किन्तु इस व्यंग्य में किस सहृदय का हृदय योग देगा ? इस संदर्भ में एक अन्य सहृदय का कथन है 'अपने प्रति घृणित अपराध करने वाले मनु के घायल शरीर की रखवाली करने वाली स्नेह-स्मृति-कातरा नारी भी बुद्धि का प्रतीक मानी जा सकती है क्या ?'[१] इडा वह नारी है, जिसने दिनकर के शब्दों में 'पुरुषों के गुण सीखे है'[२] मुक्तिबोध का कथन है 'मैं लोक-अग्नि में तप नितान्त, आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त' का झूठा दावा करने वाली श्रद्धा मनु की पाशविक वृत्ति का शिकार होते-होते बचने वाली निर्दोष इड़ा को प्रदीर्घ उपदेशात्मक व्याख्यान देती है।'[3] वस्तुत: इड़ा की सापेक्षता में श्रद्धा की स्थिति कितनी दयनीय है, उसकी आत्म-लघुता व्यंग्य में ढलकर ही अपने अहम् भाव की रक्षा कर सकती है। 'मैं लोक अग्नि में तप नितान्त। आहुति प्रसन्न देती अशान्त'[४] प्रमाता श्रद्धा की आत्म रति की भावना से प्रेरित इस आत्म-स्फीति के मूल में निहित कवि की किस अनुभूति से तादात्म्य करेगा। अत: सहृदय के स्तर पर पुन: मुक्तिबोध कहते हैं "कामायनीकार से और उसके आलोचकों से कोई पूछे श्रद्धा ने कब किस लोक अग्नि में अपनी आहुति दी।"[५]

उक्त अभिमतों को प्रस्तुत करने का लक्ष्य कवि की मौलिक अनुभूति और व्यक्त अनुभूति में अन्तर दिखाना है। प्रसाद चेतन स्तर पर इड़ा को प्रतिनायिका के स्तर पर चित्रित करके भी अवचेतन स्तर पर उसके उस स्वरूप की अवमानना न कर सके, जो पारिस्थितिक द्वन्द्व में अपना अस्तित्व

---

१. विष्णुकान्त शास्त्री—कुछ चन्दन की कुछ कपूर की (वाराणसी-१९७१), पृ० १८०

२. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण (पटना-१९६५), पृ० ५४

३. कामायनी : एक पुनर्विचार (दिल्ली-१९७३), पृ० ८३

४. वही, पृ० १११

५. वही, पृ० वही

सहज ही अर्जित कर लेता है। अतः श्रद्धा में सहानुभूति, कोमलता की भावना इस प्रवाह में जहाँ पीछे छूट गई, वहाँ इड़ा में यह रागप्रवणता सहज ही उभर आयी।

वस्तुत: साधारणीकरण की प्रक्रिया कवि की शब्दार्थमयी सृष्टि में ही घटित होती है, जिसे कवि की अनुभूति अथवा अभिप्राय के स्रोत से बाहर जाकर वाक्यार्थ के अवबोध तथा उसके अतिशायित अनुषंगो से ही समझा जा सकता है। कवि का अभिप्राय क्या है, इसकी अपेक्षा कविता क्या कहती हैं, यह जानना अधिक श्रेयस्कर होगा। कविता का अर्थ उसके शब्दों में निहित है, अतः यह कहना संभव नहीं है कि यह पद-समुच्चय कवि के अभिप्राय के किस अंश को अभिव्यक्त करता है। विमसाट के अनुसार कवि के अभिप्राय की इस अर्थ में जाँच नहीं की जा सकती कि कविता के किस अंश में उसका क्या अभिप्राय या अर्थ छिपा है?[1] वस्तुत: काव्य सफल इसी ही आधार पर होता है कि कवि के अभिप्राय के अप्रासंगिक अनुषंग उसके वाच्यार्थ की व्यंजना के क्षण में स्वत: पीछे छूट जाते हैं। विमसाट ने इसी को अभिप्रायपरक हेत्वाभास कहा है। वस्तुतः कवि की अनुभूति पर बल दे कर हम अभिधा, भावना एवं भोजकत्व की व्यापार मूलक शब्दार्थमयी सृष्टि को एकान्ततः भावपरक बना देते हैं। तथ्य यह है कि कवि की अनुभूति के तादात्म्य की यह अवधारणा साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया का इतना सरलीकरण करती है कि मूल अवधारणा ही संदिग्ध हो जाती है। सम्भवतः इसके वायवी स्वरूप को अधिक ठोस आधार देने के लिए कालान्तर में डा० नगेन्द्र ने व्यंजना-वृत्ति का आश्रय लेकर उक्त भाववादी अवधारणा को अर्थ-प्रक्रिया से जोड़ा है। 'किन्तु यह काव्य-प्रसंग तो अपने आप में जड़वस्तु है। इसका चैतन्य अंश तो इसका 'अर्थ' है और यह अर्थ क्या हैं ? कवि का संवेद्य—कवि की अनुभूति, सामान्य भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुनः सर्जना की अनुभूति—भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना'। इसी का

---

[1] A poem should not mean but be· A poem can be only through its meaning-since its medium is words—yet it is, simply is, in the sense that we have no excuse for inquiring what part is intended or meant.

(W. K. Wimsatt (The Verbal Icon) London 1970, p. 4)

शास्त्रीत्र नाम 'ध्वन्यर्थं' है, जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्‌बुद्ध करता है।' ······चूँकि साधारणीकरण मनोयान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अत: काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है।"[1]

यहाँ ध्वन्यर्थ, भावना, कवि की सर्जनात्मक अनुभूति तथा काव्यार्थ का समीकरण प्रस्तुत कर डा० नगेन्द्र कवि की भावना के साधारणीकरण को शास्त्रीय तथा नव्य मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु कवि की अनुभूति के प्रमाता की संवेदना के स्तर पर अनुसंधान का प्रश्न तो इसमें यथावत् बना रहा, कृति के ध्वन्यर्थ एवं कवि की सर्जनात्मक अनुभूति के समीकरण की प्रमाणिकता की अतिरिक्त विप्रतिपत्ति और जुड़ गयी। विचारणीय तथ्य यह है कि कवि की सर्जनात्मक अनुभूति या भाव की कल्पनात्मक पुन: सर्जना की अनुभूति से उनका आशय क्या है? संभवत: यह कि कवि अपने आनुभूतिक स्तर पर काव्य बिम्बों का पुनर्भावन करता है। अर्थात् राम और सीता की प्रणयचर्या अथवा पूर्वराग को कवि अपनी भावनात्मक कल्पना के द्वारा पुन: सर्जित करता है। 'राम के विषय में कवि की भावात्मक कल्पना 'आश्रय राम' के रूप में बिम्बित हुई है, सीता-विषयक भावना 'आलम्बन सीता' के रूप में, उनके प्रथम मिलन के पावन-रमणीय वातावरण की भावना 'उद्दीपक जनक-वाटिका' के रूप में, और राम के मन में उद्‌भूत भावनाओं की कल्पना 'हर्ष', मति, आदि संचारियों के रूप में, बिम्बित हुई है। छोटे-छोटे बिम्ब मिलकर एक संश्लिष्ट बिम्ब का निर्माण करते हैं, जो रामसीता-प्रथममिलन विषयक कवि की संश्लिष्ट 'भावना' को शब्द-मूर्त करता है।[2]

यह स्थिति का अति सरलीकरण है। विभिन्न कवियों ने जनक-वाटिका प्रसंग को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। उनकी मूलवर्ती प्रेरणा सीता एवं राम के पूर्वानुराग का चित्र उपस्थित करने में निहित है. अत: यदि प्रमाता प्रत्येक प्रसंग में रतिमुग्ध नर-नारी की मूलभूत प्रणय-भावना के अनुसंधान मात्र से परितुष्ट होता है, तो यह विभिन्न कवियों की अनुभूतियों के गुणात्मक

---

१. रस-सिद्धान्त, पृ० २०७

२. रस-सिद्धान्त, पृ० २०७

अन्तर का अनुभावन न कर सकेगा; और यदि विविध कवियों के वर्णनों में वह भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूति करता है, तो कवि के भावना-बिम्बों की प्रामाणिकता के निश्चय का और प्रमाता की निजी अनुभूति की संस्कारनिष्ठता के बलाबल का प्रश्न सामने आयेगा। यथा केशव के 'किन्धोरी कोई ठग हो' पर शुक्ल जी की प्रतिक्रिया है 'ऐसा अलौकिक सौन्दर्य और सौम्य आकृति सामने पाकर सहानुभूतिपूर्ण शुद्ध सात्त्विक भावों का उदय होता है, इसका अनुभव शायद एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखने वाले नीतिकुशल दरबारियों के बीच रहकर केशव के लिये कठिन था।'[1] शुक्ल जी की यह टिप्पणी इस तथ्य को व्यक्त करती है कि प्रमाता यहाँ अपने अनुभव-संस्कार के आधार पर कवि के संवेद्य अनुभव-संसार की प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त कर रहा है। अतः इस स्थिति में कवि की अनुभूति से तादात्म्य का प्रश्न नहीं उठ सकता, अतः कविता के अर्थ को यदि ध्वन्यर्थ के स्तर पर कवि के अभिप्राय के रूप में स्वीकार किया जाता है, तो वस्तुस्थिति यह है कि उसकी प्राक्चेतना और कभी-कभी पश्चचेतना भी कवि को नहीं रहती। कवि की अनुभूति कृति की सर्जनात्मक संभावनाओं के अन्दर से यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तम् के रूप में स्वतः उद्भिन्न होती है, जिसका मूलवर्ती संदर्भ अथवा मौलिक अभिप्राय विरुद्ध प्रतीतियों के समूह में भी आवृत्त हो सकता है। मिल्टन का शैतान अपने अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य के कारण कृति की मूलवर्ती घोषित चेतना से भिन्न बिम्ब प्रस्तुत करता है।।[2]

अस्तु, यदि कवि की अनुभूति से डॉ॰ नगेन्द्र का तात्पर्य किसी समष्टिगत सत्य के कवि के स्तर पर रागात्मक पुनरनुसंधान से है, तो इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि कृति में व्यक्त सामष्टिक सत्य अर्थात्

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास (काशी सं॰ २००६), पृ॰ २१०

[2] Nothing can exceed the energy and magnificence of the character of Satan as expressed in Paradise Lost. It is a mistake to suppose that he could ever have been intended for the popular personification of evil.

(Shelley (A Defence of Poetry), The Great Critics (James Harry Smith and Edd Winfield Parks New York, 1951, p. 573)

नर-नारी की चिरन्तन-आदिम प्रणय-तृषा जैसे आद्य बिम्बों का प्रमाता अपने स्तर पर पुनरनुसंधान करता है। यह प्रत्यभिज्ञामूलक आह्लाद उसे कवि के अनुभव-खण्ड में सहभोक्ता बनाकर कवि की संवेद्य अनुभूति के सीमान्त तक ले जाता है। वस्तुतः कृति ही कवि के अनुभव का साक्ष्य प्रस्तुत करती है और प्रमाता अपने अनुभव-संसार तथा कवि के अनुभव-संसार के स्वीकार परिहार के द्वन्द्व न्याय से देशकालातीत होकर साधारणीकृत होता है। अभिनव ने इसे नटत्व और रामत्व के द्वन्द्व न्याय के आधार पर प्रस्तुत कर अधिक सबल मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया है। कृति के अभिव्यंजनात्मक उपकरणों से आच्छादित होकर जब चिर अनुभूत सत्य नवीन रूप में व्यक्त होता है, तभी साधारणीकरण की पीठिका प्रस्तुत होती है।

मराठी समीक्षा और साधारणीकरण

हिन्दी रस चिन्तन की अवधारणाएँ यदि अद्वैतानुभूति, सहृदयगत एकतानता अथवा तन्मयता की दिशा में विकसित हुई हैं तो मराठी रस-चिन्तन में द्वैतानुभूति को सहज स्वीकृति मिली है। मराठी काव्य-शास्त्र ने आधुनिक मूल्य-बोध की सार्थकता मूलत: द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में अन्वेषित की है। इसी के समानान्तर उसकी रस-संबंधी अवधारणाएँ विकसित हुई हैं, जिनमें कवि के अनुभूत सत्य के साथ तादात्म्य की भूमि में प्रमाता की व्यक्ति-चेतना पूर्णत: लुप्त हो कर कालातीत आयाम में नहीं पहुँचती, अपितु उसमें प्रमाता की स्वतन्त्र चेतना का समानान्तर अस्तित्व बोध भी निहित रहता है। अत: न० चि० केलकर की सविकल्प समाधि, द० के० केलकर के स्वायत्त तादात्म्य, रा० श्री जोग के सहानुभूति पूर्वक ताटस्थ्य अथवा डा० बालिम्बे की भावनात्मक तादात्म्य विषयक अवधारणा सहृदय की चेतना के वैशिष्ट्य तथा रसानुभूति की गत्यात्मक क्रमिकता को निरन्तर केन्द्र में रखती है।

नरसिंह चिन्तामणि केलकर

केलकर रसानुभूति के क्षण में वर्ण्य वस्तु से प्रमाता के अभेद अथवा तादात्म्य को सविकल्प समाधि के समकक्ष रखते हैं, वर्ण्य-विषय की अधिकाधिक प्रतीति के साथ प्रमाता की अपनी पृथक् मानसिक स्थिति भी बनी रहती है। यही प्रमाता की आत्म-विस्तार मूलक चेतना है, जिसमें

प्रमाता दूसरे की भूमिका में संक्रमण कर अपनी व्यक्तित्व की भूमिका पर इतर व्यक्ति की अनुभूति से तादात्म्य करता है। आत्म-विस्तार की इस प्रक्रिया में प्रमाता अपनी स्थिति या सत्ता के ज्ञान को विस्मृत नहीं करता। 'तादात्म्य ही समाधि की अवस्था है। सविकल्प विशेषण इसलिए लगाया गया कि सहृदय को तादात्म्य जनित आनन्दोपलब्धि में अपनी सत्ता या स्थिति का भी पृथक् ज्ञान रहता ही है। निर्विकल्प समाधि में बाह्य जगत् ही नहीं अपितु अपने शरीर की स्मृति भी अवशिष्ट नहीं रहती, परन्तु काव्याध्ययनजनित समाधि में अपनी पृथक् मानसिक स्थिति की प्रतीति तो होती ही हैं।'[1] काव्यानुभूति को योगियों की निर्विकल्प समाधि से किंचित् भिन्न मानने की एक सुदृढ़ परम्परा संस्कृत काव्य-शास्त्र में है। स्वयं भट्टनायक ने रस की अनुभूति को योगियों की अनुभूति से इस अर्थ में विशिष्ट माना है कि योगियों की निर्विकल्प समाधि की तुलना में वर्ण्य विषय से एकतानता के लिए प्रमाता को आयास नहीं करना पड़ता। उसकी तृष्णा से प्रेरित होकर वाणीरूपधेनु स्वयं ही अमृतोपम दुग्ध (रस) प्रदान करती।[2]

अभिनव का कथन है कि—**'योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसंवित्तिज्ञानात् सकलवैषयिकोपरागशून्य-शुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते।'**[3] आशय यह है कि काव्यानुभूति समस्त विषयों के प्रति विराग तथा तटस्थपरक संवेदनात्मक ज्ञान से भिन्न है। अतः केलकर यदि सविकल्प समाधि में प्रमाता की सत्ता के पृथक् ज्ञान की अवधारणा उपस्थित करते हैं, तो एकान्ततः नूतन नहीं है। इसकी आंशिक स्वीकृति अभिनव के कथन में है, किन्तु एकान्त तटस्थता को वे भी स्वीकार नहीं करते, क्यों कि तटस्थता एवं अस्पष्टता के कारण रस चर्वणा आह्लादमूलक नहीं हो सकती। **'स्वात्मानुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्य अस्फुटत्वे।'**[4] भारतीय रस चिन्तन की मूल प्रकृति तन्मयीभवन की ओर ही है। पंडितराज के निम्नस्थ कथन में भी यह तथ्य रेखांकित हुआ है। **'सहृदयस्य**

---

[1] १. समग्र केलकर ग्रथ, साहित्य खंड (मराठी), पृ० २०१

[2] २. ध्वन्यालोक-लोचन, चौखम्बा, (१९६५), पृ० ९३

[3] ३. अभिनवभारती, पृ० ४८५

[4] ४. वही, पृ० ४८६

निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्स्थान्युपहित-स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत् ।[1]

उक्त सिद्धान्त का विकसित रूप वा० म० जोशी ने आत्मौपम्यपूर्वक परकाया प्रवेश की अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया है। इसका आशय यह है कि प्रमाता अपनी भूमिका का त्याग न करते हुए स्वेच्छा से नायक की अथवा किसी दूसरे पात्र की भूमिका में संक्रमण कर जाता है। जोशी अपने सिद्धान्त को पूर्णतः तादात्म्य के धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं करना चाहते, क्योंकि काव्यानुभूति के क्षण में पूर्णतया आत्मचेतना को विस्मृत करना संभव नहीं है। केलकर तथा जोशी, दोनों विद्वानों के सिद्धान्त अंशतः इस रूप में ग्राह्य हैं कि रसानुभूति के अखण्ड समाधि-क्षण में भी एकान्ततः नायक अथवा नायिका प्रमाता की चेतना में अभिव्यक्त होकर अवतरित नहीं होते। ऐसा मानने पर उनके प्रति सुख, दुःख अथवा मोह भी उत्पन्न हो सकता है जिसे अभिनव ने स्वगत अनुभूति संबंधी विघ्न कहा है। कवि अथवा कविनिबद्ध पात्र की मानसिकता का अनुसरण काव्यानुभूति की एक विशिष्ट भूमि है, जिसे एकान्ततः निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता। कालिदास ने इस भावानुप्रवेश को रागबन्ध के स्तर पर वर्णित किया है।'[2]

द० के० केलकर

स्वायत्त तादात्म्य सिद्धान्त इस चिन्तन कम को किंचित् परिष्कृत एवं परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करता है। द० के० केलकर के अनुसार प्रमाता तादात्म्यमूलक अनुभव को एकान्ततः वास्तविक नहीं मानता। स्वायत्त तादात्म्य के अनुसार काव्यगत करुण रस ठंड के दिनों में हाथ सेंकने के समान सुखोष्ण अनुभवदायी-मात्र रह जाता है और उससे दुःखोत्पति की

---

१. रसगंगाधरप्रथमाननम् (चौखम्बा, १९७०), पृ० ९४

२. अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसस्य ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद् विकल्पानुवृत्तो
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव ।।
(मालविकाग्निमित्रम् २।८, पृ० २/४ (कालिदास-ग्रन्थावली, सं० रामप्रताप त्रिपाठी)

कल्पना की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है। भिन्न काल में भिन्न-भिन्न पात्रों से तद्रूप होना अशक्य न होने पर भी काव्यपाठ के समय सभी पात्रों से तद्रूप होना सम्भव नहीं है।……हास्यास्पद पात्रों से तादात्म्य न होकर उनका उपहास करने वाले कवि से तादात्म्य होता है। अभिप्राय यह है कि किस पात्र से तादात्म्य हो, यह पाठक के अधीन है।[1] डॉ॰ नगेन्द्र के समान केलकर भी काव्यास्वाद के समय सहृदय द्वारा कवि की अनुभूति अथवा कविनिर्मित पात्रों से तादात्म्य में आस्था रखते हैं, किन्तु यह तादात्म्य कल्पनाश्रित है सहृदय इस विषय में सजग रहता है कि वह कविनिर्मित पात्रों का अभिनय देख रहा है। अत: वह अतिरिक्त भाव प्रवण हो कर अपनी भावनाओं को अमर्यादित नहीं होने देता। इस सिद्धान्त के मूल में पंडितराज जगन्नाथ के भावना-दोष की भी अनुध्वनि है। पंडितराज के अनुसार भावना-दोष से हमारी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित होती है।[2] अर्थात् तादात्म्य दशा में भी प्रमाता अपनी अनुभूति की कल्पनाश्रित भूमिका को पूर्णत: विस्मृत नहीं कर पाता। दोनों अभिमतों में अन्तर यह है कि केलकर के मत में द्वैतबुद्धि अतिरिक्त रूप से सजग रहती है तथा समानता यह है कि स्वायत्त तादात्म्य तथा भावनादोष, दोनों ही स्थितियों में कल्पना प्रमाता को भावोद्वेग पर नियंत्रण रखने में योग देती है। स्वगत परगत देशकालादिविशेष आवेश में अभिनव ने इस स्थिति की ओर निषेधात्मक स्तर पर इंगित किया है। अभिनव की दृष्टि में यह स्थिति काम्य नहीं है कि भावक रसानुभूति में इतने तन्मय हो जाएं कि स्वयं को ही के कथा केन्द्र में प्रतिष्ठित कर दें।[3] इसी का विधेयात्मक पक्ष यह है कि तादात्म्य को स्वायत्त रखा जाए। इस अवधारणा में प्रकारान्तर से यह संकेत भी निहित है कि प्रमाता अपनी द्वैत चेतना के कारण पात्र से

---

१. काव्यालोचन (मराठी) रस-सिद्धान्तः स्वरूप-विश्लेषण (१९७२), पृ० १९३ से

२. काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यंजनाव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने…… (रसगंगाधर, पृ० ११०)

३. अभिनवभारती, पृ० ४७५

तादात्म्य करने के लिए मुक्त है। अतः परिष्कृत चेतना उसे अपनी अनुभूति के विरुद्ध पात्र से तादात्म्य की अनुमति न देगी। स्पष्ट है कि स्वायत्तता पर अतिरिक्त बल साधारणीकरण के मूल सिद्धान्त के विरोध में पड़ता है। भट्टनायक ने परगत और तटस्थ प्रतीतियों के विरोध में ही साधारणीकरण सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। लौकिक अनुभूति में तो एकान्त द्वैत-बुद्धि संभव है, किन्तु कवि की चेतना अभिव्यंजनागत उपकरणों से आविष्ट होकर भावात्मक हो जाती है।[१] फलतः प्रमाता की चेतना के उसमें अव्यवसित हो जाने से स्वायत्तता जैसी सायास चेष्टा का अवकाश नगण्य रह जाता है। यह विकल्प समाधि के अतिरेक की भूमि है, जिसका अधिक संयत रूप सहानुभूतिपूर्वक ताटस्थ्य है।

रा० श्री० जोग

श्री० जोग की मान्यता है कि व्यक्तिभिन्नता और रुचिभिन्नता के कारण सहृदय के लिए एकरुचित्वपरक तादात्म्य पाना बहुत कठिन है। पूर्ण तटस्थता और तादात्म्य की अवस्था में पर्याप्त अन्तर है। तटस्थता की स्थिति में भी सामान्य व्यक्ति के लिए सहानुभूति के बल पर इतर-व्यक्तियों की भावनाओं की अनुभूति सम्भव है।[२] कहने की आवश्यकता नहीं कि तटस्थता के प्रति आग्रहशील व्यक्ति रस की लोकोत्तर चेतना को स्वीकार नहीं कर सकता। प्रो० जोग भी काव्य की रसानुभूति की अलौकिकत्वविषयक अवधारणा को सर्वांश में स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि अनुभवकर्त्ता व्यक्ति के ज्ञान, अनुभव और सहृदयता पर ही काव्यानन्द का होना न होना अथवा कभी अधिक मात्रा में होना आधारित है। काव्य के विभावादि तत्त्वों अथवा समष्टि-रूप से काव्य में अलौकिकत्व की स्थिति मानें तो उस आधार पर बालकों को भी शृंगार का संपूर्ण आस्वाद प्राप्त होता है। एक ही कलाकृति का विभिन्न रसिकों पर जो पृथक्-पृथक् परिणाम दृष्टिगत होता है, इसका कारण भी वही है कि आस्वादयिता व्यक्तियों की मनःस्थिति एक जैसी नहीं होती। यदि कलाकृति से समुत्पन्न

---

३. सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः, शब्दादिविषयमयीभिः, ··· अहृदयोऽपि ··· सहृदयीक्रियते। (वही, पृ० ४७६)

१. अभिनवकाव्यप्रकाश, पृ० १४२ (हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० २०४ से)

आनन्द में अलौकिकत्व का गुण होता तो इस प्रकार की विभिन्नता न होती।'[1] संस्कृत काव्यशास्त्र में अंशतः पूर्वानुभूत अनुभव के आधार पर अभिनीत पात्र की भावनाओं की कल्पना का विवेचन है। शंकुक तथा महिम भट्ट प्रमाता के निजी अनुभव को केन्द्र बनाकर रसानुभूति की व्याख्या करते हैं। 'व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्।'[2] शंकुक स्पष्टतः अनुभव के आधार पर अनुमान प्रक्रिया की ओर इंगित करते हैं तथा महिम भी प्रतिविम्बवाद के आधार पर प्रो० जोग की अवधारणा का पूर्वाभास देते हैं। महिम के अनुसार पाठक या दर्शक के चित्त में भावों का प्रतिविम्ब संस्कार रूप में विद्यमान रहता है। अतः वह उन्हीं भावों का आस्वाद लेता है, जो उसके भाव-प्रतिबिम्वों के समान होते हैं। **सत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविकः।** शारदातनय ने भी इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि प्रमाता अपनी भाव चित्तवृत्तियों के अनुरूप ही रसों का आस्वाद करते हैं।

तस्मात्सामाजिकैः स्वाद्या रसवाच्या भवन्ति[3] ते।
प्रकृतीनां च भिन्नत्वादवस्थादिविभेदतः॥

प्रो० जोग की दृष्टि वस्तु-निष्ठ है। वे अनुभूति को व्यक्तिगत तथा सौन्दर्यानुभूति को वस्तुगत मानते हैं। रसानुभूति एकान्ततः भावात्मक नहीं हैं, उसमें एन्द्रिय और बौद्धिक तत्त्वों का समावेश है। इन्हीं के योग से आस्वादक रस का आस्वाद करता है, अतः उसकी अनुभूति एकान्त सुखमय नहीं होती, उसमें अनिवार्यतः दुःख मिश्रित रहता है। इस संदर्भ में वे नाट्यदर्पणकार के **सुखदुःखात्मको रसः** का समर्थन करते हैं। 'करुण रस से होने वाला मानसिक प्रभाव मिश्रित स्वरूप का होता है। कदाचित् कभी-कभी तो वह दुःखप्रधान होता है। वह अन्य कारणों से कम तीव्र अथवा सहने योग्य होता है, कवि की कुशलता से पाठकों के मन को आकृष्ट कर लेता है, केवल इसी कारण से उसके एकमात्र सुखरूपत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।'[4] अपने करुणरस-मीमांसा संबंधी निबंध के समापन में

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा (सं० डा० नगेन्द्र, दिल्ली, १९७६), पृ० ६०-६१
२. अभिनवभारती, पृ० ४४६
३. भाव-प्रकाशन, पृ० ४०
४. सौन्दर्य-शोध आणि आनन्द-बोध-(भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा) पृ० ६१

भी वे नाट्यदर्पणकार के अभिमत का ही समर्थन करते प्रतीत होते हैं। 'लेखक के वर्णनकौशल, भाषा-सौन्दर्य, सभी अनुकूल प्रसंगों की पारस्परिक संगति, उनके प्रभावशाली चित्रण की विदग्धता आदि अनेक कारणों से भी अनुकूल भावों की जागृति होती है, परिणामतः करुणरस के प्रभाव में इन सब का सम्मिश्रण भी रहता है। काव्यानन्द विषयक यह मान्यता कि वह अपने आप में एक अकेला और एकांततः सुख-स्वरूपात्मक होता है, करुणरस के प्रसंग में मूलतः अग्राह्य है। साहित्य में या कला में चित्रित व्यक्ति के साथ यदि आस्वाद भी उतना ही समरस हो जाता है, तो उसके लिए यह दुःखानुभव सह्य भी नहीं रह पाता।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि रामचन्द्र गुणचन्द्र करुण रस में आनन्दानुभूति का कारण मूलतः अभिव्यंजनात्मक उपकरण तथा नट के अपने नैपुण्य को भी स्वीकार करते है। 'अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते।'[2] निष्कर्षतः जोग की अवधारणा संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा से विच्छिन्न नहीं है। यह बात भिन्न है कि उन्होंने प्राचीन संस्कृत मान्यताओं पर पाश्चात्य विचारों का आरोपण किया है और आई० ए० रिचर्ड्स के चित्तवृत्ति-समीकरण सिद्धान्त को प्रायः यथावत् स्वीकार कर लिया है।[3]

के० ना० वाटवे—क्रीडोपपत्ति, क्रीडारूप आत्मविष्कार, आहार्य ज्ञानोपपत्ति

वाटवे का रस-चिन्तन पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र तथा मनोविज्ञान की भूमि पर विकसित हुआ है। फेकनर इत्यादि मनःशास्त्रियों से प्रेरणा ग्रहण कर इन्होंने क्रीडारूप आत्माभिव्यक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। डॉ० वाटवे का विचार है कि क्रीडाशील मानवीय वृत्ति में ही सर्जन चेतना के बीच निहित है। क्रीडाशीलता मानव की प्रयोजनातीत कलाधर्मिता ही है। जिस प्रकार खेल में विभिन्न प्रवृत्तियों को कुछ खाद्य

---

[1] करुणरस मीमांस नामक निबंध (भारतीय काव्य सिद्धान्त, सं० कालेलकर नगेन्द्र) इलाहाबाद-१९६९, पृ० २१९

[2] नाट्यदर्पण, पृ० २९१

[3] भारतीय समीक्षा-(सं० डा० नगेन्द्र) (मराठी समीक्षा डा० एम० ए० करंदीकर) (अनुवादक-सुलेखचंद्र शर्मा) पृ० २१६

मिलता है और वे संतुष्ट हो जाती हैं, इसी प्रकार साहित्य में भी होता है। राजा-महाराजा, इन्द्रादि देव, सम्राट् आदि के वर्णन से हमारी स्वामित्व-भावना, नायक के संकट या भय में पड़ने पर हमारी भय की भावना इत्यादि विभिन्न भावनाएँ उद्दीप्त होकर उस समय के लिए उपशमित होती हैं। 'आखिर यह खेल ही है' ऐसा विचार कर हम स्वभावत: तटस्थ हो जाते हैं।'[1] स्वयं वाटवे की आत्म स्वीकृति के आधार पर उनका चिन्तन शिलर, शौपेनहावर, क्रूज की अवधारणाओं से प्रेरित है, किन्तु भारतीय साहित्यशास्त्र की रस-कल्पना के अनुसार क्रीडारूप आत्माविष्कार की व्याख्या को भी साधारणीकरण सिद्धान्त के समकक्ष प्रस्तुत किया गया है। अभिनव ने भरत के **क्रीडनीयकमिच्छामो** की व्याख्या में काव्यास्वाद की इस भूमिका की ओर इंगित किया है। **क्रीडनीयकं क्रीड्यते चित्तं विक्षिप्यते विह्रियते येन तदिच्छाम:**'। क्रीडनीयक में साधन और साध्य का भेद नहीं रहता। कवि तथा सहृदय दोनों के स्तर पर यह सर्जन और अनुभूति के सहज स्फुरण की भूमिका है, जिसमें किसी अन्य प्रयोजन अथवा बोध का भाव नहीं रहता है। वाटवे का कथन है कि कला एक क्रीडा है, आत्माभिमुखता। इसी में काव्य-निर्मित व काव्यास्वाद अपनी भावनाओं और बुद्धि से स्वयं की हुई एक प्रकार की आत्मा क्रीडा है।'[2] आशय यह है कि जीवन की लौकिक क्रिया का उद्देश्य जहाँ कर्त्तव्य की पूर्ति है, वहाँ क्रीडा स्वयं में साध्य, आत्म-विश्रान्ति है। अभिनव के शब्दों में **तन्नोत्तर कर्तव्योन्मुखेन लौकिकत्वात्** (लोचन)। यह अनुभूति आत्माविष्कार ही है, जिसके माध्यम से पूर्वानुभूत क्षणों का पुन: प्रत्यक्षीकरण होता है और मानव की सर्जन आकांक्षा पूर्ण होती है। प्रमाता की दमित भाववाएं तृप्त होती हैं तथा लौकिक जीवन के व्यावहारिक सुख-दु:खात्मक प्रयोजन से मुक्त हो कर वह अपनी नवीन-सृष्टि निर्मित करता है। रस-शास्त्र में मूलत: भावनाओं की उद्बुद्धि पर बल दिया गया है, किन्तु बुद्धि और कल्पना को इतना प्राधान्य प्राप्त नहीं हुआ है। वाटवे के अनुसार इस सिद्धान्त में भावना, बुद्धि और कल्पना, तीनों समाविष्ट होने के कारण यह सिद्धान्त अधिक व्यापक है।

---

[1] रस-विमर्श (भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा, भाग-२, पृ० ५५ से उद्धृत)

[2] वही, पृ० ५६

काव्य-वस्तु के साक्षात्कार से प्राप्त आनन्द तथा भावनाविष्कार के साथ इस अवधारणा में कवि की अनुभूति से हृदय-संवाद का तत्त्व भी मिला हुआ है। इस संदर्भ में डा० वाटवे थावलस, रीबो तथा वर्नन ली के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं। 'इस प्रकार की कला-कृतियों के आस्वाद में हम कलाकार के समान ही अनुभव करने लगते हैं और कलाकार के सदृश हो कल्पना के उपादानों का प्रयोग करने लगते हैं, क्योंकि हमारे भाव भी वे ही हैं, जो कलाकार के हैं।'[1] जहाँ तक सहृदय की अनुभूति का सम्बन्ध है, वाटवे की स्पष्ट धारणा है कि पाठक तथा कवि के अनुभवों का संयोग अपेक्षित है। उस स्थिति में सहृदय की क्रीडा रतिपूर्ण हो सकेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सिद्धान्त के निर्माण में अभिनव तथा सहृदय के समन्वित चिन्तन का प्रभाव है। धनंजय भी काव्यार्थ के ज्ञान के द्वारा सहृदय के आत्मानन्द अथवा आत्माविष्कार को महत्त्व देते हैं।[2] जिस प्रकार बालक मिट्टी के बने हाथी घोड़ों को वास्तविक हाथी घोड़े समझ कर खेलते हैं तथा आनन्द प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सामाजिक भी पात्रों के उत्साह आदि का अपनी आत्मा में आस्वाद करते हैं।[3] इस सदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि वाटवे समानधर्मी पात्रों से तादात्म्य की भूमिका कल्पित भूमि पर ही स्वीकार करते हैं, जिस में कल्पना तथा बुद्धि का अनिवार्य योग अपेक्षित है। वाटवे ने इस बुद्धियुक्त कल्पनात्मक अवस्था को 'आहार्यज्ञानोपपत्ति' कहा है। इसमें प्रमाता अपनी स्थिति का ज्ञान रखते हुए कल्पित परकीय भूमिका में तन्मय होता है तथा असभवनीयता के वैरस्योत्पादक अंश को निकाल देता है, जिससे उसे आनन्द पाना संभव हो जाता है।[4]

बँगला-समीक्षा

सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त कलानुभूति को प्रयोजनातीत स्वायत्त अनुभूति के रूप में स्वीकार करते हुए भी उसे एकान्त लोकातीत नैतिकतामुक्त अनुभूति के स्तर पर व्याख्यायित नहीं करते। सौंदर्यसृष्टि स्वयं में साध्य अवश्य है,

---

[1] वाटवे-रस-सामग्री (निबन्ध) भारतीय काव्य-सिद्धान्त पृ० १५०

[2] स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः (दशरूपकम् ४/४३, पृ० २५७)

[3] वही, ४/४१, पृ० २५६

[4] रस-विमर्श, पृ० १८७ (हिन्दी-मराठी में काव्य-शास्त्रीय-अध्ययन, (पृ० २१५ से)

किन्तु इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि काव्यानुभूति की चरम स्थिति में नैतिक अनैतिक के प्रतिबन्धों से मुक्त अद्वन्द्वमयी चेतना उभरती है। कवि की अनुभूति का प्रमाता के मन में संक्रमण करना ही काव्य का चरम उद्देश्य है, किन्तु यह संक्रमण मूलतः पुनर्भावित होने के कारण आनन्दात्मक होता है, अन्यथा साधारण जीवन में भी अनुभूति का संक्रमण दृष्टिगोचर होता है।[1] साधारणीकरण का विश्लेषण अनुभूति के इसी पुनरनुसंधान के स्तर पर करते हुए दासगुप्त अभिनवगुप्त की अवधारणा में ही अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। साधारणीकरण काव्य अथवा नाट्य-वर्णित वस्तु की देशकालादि मुक्त चेतना है। एक स्तर पर यह साधारण्य काव्य वस्तु के साथ पाठक के तादात्म्य से रूप में आविर्भूत होता है तो दूसरे स्तर पर सहृदय मात्र के अनुभवों की एकरूपता के रूप में प्रतिफलित होता है। आशय यह है कि विभिन्न काव्यज्ञों के हृदय में एक ही सी अनुभूति उद्भासित हो कर उनके काव्य-बोध को एकतान अथवा साधारणीकृत कर देती है।

एकदिके काव्य वा नाट्य वर्णित वस्तु ताहार देशकालादि विशेष स्वभाव वर्जित हइया एकटि साधारण स्वभावे पाठक वा दर्शकेर चित्ते उपास्थापित हय। अपर दिके एई साधारण स्वभावटिर स्वरूप काव्यज्ञ व्यक्तिमात्रेर चित्रेइ एकरूपेई प्रकाशपाय अर्थात् विभिन्न काव्यज्ञेर चित्त एई साधारणीकृत स्वभावटि विभिन्न विभिन्न भावेप्रकाश पाय ना, किन्तु केवल मात्रे एई साधारणीकृत स्वभावटि चित्तो उद्भासित हइल रस सम्भोग ह ना।[2] आशय यह है कि दास गुप्त साधारणीकरण को विभिन्न व्यक्तियों में उद्बुद्ध वासना वैचित्र्य के एकत्व के रूप में ग्रहण करते हैं।

वस्तुतः दास गुप्त पंडितराज जगन्नाथ तथा अभिनवगुप्त के मन्तव्यों को समंजित कर साधारणीकरण के विविध आयामों को परिभाषित करते

---

[1] आर्ट एर मध्ये येमन एकेर अनुभूत भावसम्बेग अपरे संक्रामित हय तेमनि प्रत्येक आर्ट अनुभूतिर मध्ये ये सौन्दर्य ओ आनन्दरसेर अनुभूति हय ताहाओ अस्वीकार करा याय ना, आर्ट एर कतकगुलि व्यापक धर्मेर मध्य हइते केवलमात्र अन्यसंक्रामणरूप धर्मकेइ आर्ट एर अवच्छेदक धर्म बलिया मानिया लओया सुयुक्तिकर काज हय नाइ। (सौंदर्यतत्त्व, पृ० ८९)

[2] काव्य-बिचार, पृ० ८४

हुए प्रमाता की चमत्कारजन्य आह्लादानुभूति को केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हैं। प्रमाता के चित्त में वासना रूप में बद्धमूल संस्कार पुनः पुनः उद्‌बुद्ध हो कर काव्य-वस्तु का पुनरनुसंधान करते हैं, जिससे चमत्कार की सृष्टि होती है। पुन:पुनरनुसंधानात्मा भावनाविशेष: में दास गुप्ता के अनुसार पंडितराज ने विशेष अंश के द्वारा विशिष्ट उद्‌बोधित संस्कारों की ही प्रतिष्ठा की है। अत: सौंदर्य के साक्षात्कार से प्रमाता की चित्तवृत्ति उद्‌बुद्ध हो कर प्रत्यभिज्ञामूलक जिस आनन्द का अनुभव करती है, वह भी साधारणीकरण की भूमिका ही है। 'एकटि प्रसुप्त वासनार सहित साधारणीकरणेर मिलन वा परिचयजनित एकटि विशिष्ट चेतनोद्‌बोध, वा इस्थेटिक एटीच्यूट औफ दी माइण्ड'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ संस्कृत काव्यशास्त्र की विविध अवधारणाओं को पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्रीय दृष्टि से समन्वित किया गया है। डा० दास गुप्त ने काव्य विचार नामक ग्रन्थ में भट्टनायक, अभिनव गुप्त, विश्वनाथ की अवधारणाओं का शास्त्रीय विवेचन भी किया है. किन्तु आधार अपने मौलिक चिन्तन को ही बनाया है। उनकी आस्था निर्विकल्प रूप सौंदर्य के अखण्ड उद्‌भास में है तथा इसी दृष्टि से वे भट्टनायक अथवा अभिनव के मत को प्रस्तुत करते हैं। रसानुभूति सामान्य मनोवैज्ञानिक अन्तर्दशा से भिन्न अनुभूति है जो भावक की विशिष्ट संस्कार संवलित प्रतिभा के नूतन प्रकाश में विभावादि का साधारणीकरण करती है। 'एवं नाट्ये चतुर्विध अभिनय प्रयुक्त व्यक्तिगत विभावादि साधारणीकारे प्रतिभात हय एवं भावकत्व रूप एकटि स्वतन्त्र व्यापारेर द्वारा विभावादिर ये नूतन प्रकाश सृष्टि वा प्रतिफलन हय शेइ प्रतिफलनगत रस अनुभव स्मृति प्रवृत्ति साधारण चित्तवृत्ति हय ते सम्पूर्ण पृथक्।'[2] डा० दासगुप्त का स्पष्ट कथन है कि यह साधारणीकृत अनुभूति साधारण लौकिक अनुवृत्ति से पृथक् है। दास गुप्त वासना संवाद की शास्त्रीय अवधारणा को भी स्वीकार करते हैं। मानव के मन में अनादि काल से प्रसुप्त भाव ही विभावादि के साक्षात्कार से साधारणीकृत हो कर रस रूप में परिपुष्ट होते हैं। शेइ साधारणीकृत भयादि भाव रस रूपे परिपुष्ट हैया उठे। सौंदर्य-बोध को रस-बोध के पर्याय रूप में स्वीकार करते हुए डा० दास गुप्त पाश्चात्य सौंदर्य-दर्शन के सम्मिश्रण से शास्त्रीय अवधारणा को पुष्ट करते हैं।

---

[1] काव्य विचार पृ० ८५

[2] वही, पृ० ८३

सुधीर कुमार दास गुप्त ने साधारणीकरण विषयक भारतीय एवं पाश्चात्य विप्रतिपत्तियों में निहित सूक्ष्मताओं को सायास पृथक् कर मूलभूत सामान्य अवधारणाओं को प्रस्तुत किया है। 'विभावना व्यापारेर अलौकिकत्व आरक्त स्पष्ट हइते साधारणीकरण व्यापार द्वारा[1] परिमित प्रमातृभावेर विगलनद्वारा याहा बूझान हइयाछे ताहार नाम साधारणीकरण[2] साधारणीकरण साक्षात्फल हइतेछे चिद्गत आवरण भंग[3]।' दास गुप्त साधारणीकरण का मुख्य क्षेत्र नाट्यरस को ही मानते हैं। 'प्रेक्षकागारे नाना श्रेणीते विचित्र वेषभूषाय सज्जित नाना जातीर लोक उपविष्ट रहियाछेन-धनी जमीदार, व्यवसायी अध्यापक देशनेता केरानी ब्राह्मण पण्डित सकलेई दर्शक श्रेणी भुक्त अधीर आग्रह प्रतीक्ष्यमाण। सकलेई निजके सामाजिक भावे एक आनन्दलोके अधिवासी बलिया मने करितेछेन। सेई संग संग रंगालये प्रवेशेर पूर्व पर्यन्त निजनिज सुख दुःख आशा आकांक्षा जीवनेर नाना समस्या लाइया ताहांदेर ये अभ्यस्त भावनास्रोत चलिते छिल ताहा क्रमे शुद्ध इयता आसितेछे निज व्यक्तिर जडित ताहादेर ये असाधारणत्व ताहा क्रमशः क्रमशः घूचिया गिया ताहांरा येन प्रेक्षागारे दर्शक-साधारणेर सहित एक हइया जाइतेछेन। सकलेइ मध्येई व्यक्तित्व वैशिष्ट्यमय ये असाधारण रूप छिल ताहा खसिया जाउबाय ताहांरा व्यापकतर ओ ऊर्ध्वतर साधारण सत्ताचैतन्य जागृत उठितेछेन असाधारण व्यक्ति समूह ये एईरूप अवस्था स्थान काल आ अवस्था विशेषेर साधारण हन ताहाइ ताहादेर साधारणीकरण[4]।'

संक्षेप में, 'आमादेर आसाधारणतत्वमय व्यक्तित्व विसर्जन पूर्वक नाट्ये वा काव्ये वा चित्रित चरित्र ओ भावेर सहित एकटि साधारण सम्बन्ध स्थापनेर नाम साधारणीकरण।[5]'

पाश्चात्य चिन्तन के आलोक में वे समष्टिगत भाव-चैतन्य की एकरूपता तथा आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्यीकरण की साधारणीकृत भूमिका में भी आस्था व्यक्त करते हैं। इसका अनिवार्य परिणाम प्रमाता

---

[1] काव्यालोक (कलिकाता-१९५२) पृ० २१५

[2] वही

[3] वही

[4] वही, पृ० १२६

[5] वही

के भावों का शुद्धीकरण है। 'साधारणीकरणेर फल भावेर शुद्धीकरण सर्वाग्रे लक्षणीय[1]।'

मोहितलाल मजूमदार

जब काव्य रागात्मक अनुभूति के सामान्य स्पन्दन की अपेक्षा समष्टिगत यथार्थ या कवि के व्यक्तिगत वैशिष्ट्य को केन्द्र में रख कर चला तो काव्य के प्रतिमान स्तर पर रस का तो निषेध हुआ किन्तु कवि की विशिष्ट व्यक्तिगत अनुभूति के समष्टिपरक संक्रमण का आग्रह प्रखर होता गया। मोहितलाल मजूमदार का विचार है कि रस सृष्टि काव्य का मुख्य प्रयोजन नहीं है।[2] यद्यपि वे स्वीकार करते हैं कि पद-रचना के सालंकार और निर्दोष होने से ही वक्रोक्ति या व्यजनामूलक चारुत्व की सृष्टि होती है एवं वह रसरूप में उद्भासित होकर सहृदय पाठक के हृदय में, एक अपूर्व ढग से, अनुरूप रस की अभिव्यक्ति करती है, किन्तु कवि का व्यक्तिगत वैशिष्ट्य ही समस्त काव्य सृष्टि की मूलभूत चेतना है, अतः रस मजूमदार के अनुसार वैशिष्ट्य से मुक्ति की ओर उन्मुख होना है। यह रस 'परित्यक्त विशेषः'—है अर्थात् काव्यवस्तु तब नामधामहीन होकर एक साधारण भाववस्तु में परिणत हो जाती है। रत्यादि स्थायी मात्र साधारणीकृत होकर, अर्थात् वस्तु या व्यक्तिविशेष से सश्लिष्ट न रहकर एक अलौकिक आनन्द-आस्वादन में परिणत हो जाते है।[3] काव्य की मूल प्रेरणा कवि की विशिष्ट अनुभूति ही है, किन्तु रस परित्यक्त विशेष होकर निर्दिष्ट माप के साँचों में अवशिष्ट रह जाता है। तथापि काव्यवस्तु ही कविकल्पना का प्रधान उपजीव्य है, उस वस्तुरचना में ही कल्पना के कृतित्व का सम्पूर्ण परिचय समाया हुआ है—यही कविसृष्टि की मौलिकता है।[4] मजूमदार के अनुसार वैशिष्ट्य समस्त काव्य-सर्जन की आत्मा है, उसको निर्विशेष बनाकर दार्शनिक ही आनन्द प्राप्त कर सकता है।

---

[1] वही, पृ० १७१

[2] कवि काव्य-सृष्टि करेंन, रस सृष्टि काव्येर मुख्य प्रयोजन नय, साहित्य-विचार काव्य-सृष्टिते कविर समग्र साधना ओ चेष्टा मुख्यत. रसके लइया व्यापृत नय, एकटि अति अपूर्व व्यक्तिगत उपलब्धिके केमन करिया यथायथ आकारेर मूर्त्तिमन्त करिया तुलिवेन, इहाइ कविर एकमात्र भावना-इहातेइ तांहार आनन्द (साहित्य विचार पृ० ४८-४६)

[3] भारतीय काव्य सिद्धान्त, पृ० ११०

[4] वही, पृ० १११

कवि तो कल्पना के माध्यम से अनेक वैचित्र्य मूलक रूपाकारों की योजना करता है। काव्यसृष्टि के प्रारंभ में कविचित्त में जो रसोल्लास होता है—वह भाव पूरी मात्रा में वस्तुगत और व्यक्तिगत होता है, अतिशय अनन्य साधारण और सुनिर्दिष्ट होता है; इसे रूप से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। यह निर्विशेष नहीं सर्वत्र ही विशेष का अनुबंधी है।[1]

अब प्रश्न यह है कि कवि की व्यक्तिगत अनुभूति के वैशिष्ट्य का सामष्टिक स्तर पर अनुसंधान किस प्रकार किया जा सकता है। इसका उत्तर मजूमदार रागतत्त्व की अपेक्षा कवि-कल्पना में निहित सार्वभौम तत्त्व के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। सी० एच० हर्फोर्ड के शब्दों का आधार ले कर वे कवि के व्यक्ति-वैशिष्ट्य तथा सार्वभौम अनुभूति में उसके संक्रमण की संभावनाओं को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं। 'विशेष के प्रति कवि की निष्ठा, अर्थात् कवि का कल्पना-स्वातंत्र्य, निर्विशेष को ही सुप्रतिष्ठित करता है। शास्त्र, जिसे कतिपय निर्दिष्ट साँचों के बंधन को बाँध रखता है, कवि की स्वाधीन कल्पना उन्हें तोड़ कर जिस अनन्त वैचित्र्य की सृष्टि करती है, उससे इस निर्विशेष को ही मुक्ति मिलती है-बहु के भीतर जो एक है, अनित्य में जो नित्य है, उसे और भी अच्छे ढंग से उपलब्ध करने की सुविधा होती है।'[2] मजूमदार के अभिमत में सत्य का अंश अवश्य है। साम सीना के परित्यक्त विशेष मात्र रह जाने से कवि-कल्पना का कृतित्व गौण पड़ जाता है, जब कि तथ्य यह है कि वस्तु-रचना में कवि-कल्पना का कृतित्व अभिव्याप्त है और यह कल्पना मूलत: कवि की निजी अनुभूति की प्रमाणिकता में ही काव्य-सृष्टि का आधार बनती है। वस्तुतः भट्टनायक ने भावना अथवा भावकत्व व्यापार की प्रतिष्ठा के द्वारा कवि-कल्पना के इस विविध आयामी स्वरूप को भी काव्यास्वाद के केन्द्र में स्थापित किया है। भावना में अन्तर्भावित एवं पुनरुद्भावित होकर रसमयी चेतना सामान्यीकृत अनुभूति नहीं रहती। वह कवि की सृष्टि तथा प्रमाता की ग्रहणशीलता के सापेक्ष संदर्भों में पुनरनुसंधानित होती हैं। प्रकारान्तर से कल्पना की अद्वन्द्वमयी चेतना की स्वीकृति साधारणीकरण की प्रतिष्ठा है। डा० दास

---

[1] वही, पृ० ११३

[2] भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा में साहित्य-विचार के हिन्दी अनुवादांश से उद्धृत, पृ० ८६

गुप्त के अनुसार भी काव्यानन्द प्रयोजनातीत होने के कारण ही सर्वनिष्ठ एवं साधारण होता है। 'एइ आनन्द व्यक्ति-साक्षिक हइलेओ केवलमात्र वस्तुर रूपके अवलम्बन करिया प्रकाशित हय बलिया एवं प्रयोजन वर्ज्जित बलिया इहा सर्वसाक्षिक ओ सर्वसाधारण'[1], मजूमदार के अनुसार जो कल्पना की अद्वन्द्वयमयी चेतना है, वही दास गुप्ता के अनुसार एक प्रमाता के साथ तथा व्यक्तिमात्र के साथ अभिन्नता की मनोमयी अनुभूति है।

---

१. सौंदर्य तत्त्व पृ० ११३ (आधुनिक हिन्दी और बंगला काव्य शास्त्र पृ० २८३ से उद्धृत)

[८]

पाश्चात्त्य चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में साधारणीकरण का विवेचन

पाश्चात्त्य सौंदर्य-शास्त्र एवं काव्य-शास्त्र में साधारणीकरण की अवधारणा के सूत्र

दार्शनिक, सौंदर्य-शास्त्रीय एवं काव्य-शास्त्रीय दृष्टियाँ परस्पर एक दूसरे की पूरक होती हैं। पाश्चात्य तथा भारतीय काव्य-शास्त्रीय अवधारणाएँ दर्शन एवं सौंदर्य-शास्त्रके समन्वय से ही विकसित हुई हैं। मूल सूत्रों पर विचार करते हुए मानवीय चेतना कुछ प्रमुख अवधारणाओं पर सहज ही केन्द्रित हो जाती है। काव्यानुभूति के संदर्भ में विशिष्ट और सामान्य के अन्तर्द्वन्द्व का समाधान करती हुई भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषाएँ भी कतिपय ऐसे समान प्रस्थान बिन्दुओं पर केन्द्रित हुई हैं। काण्ट की अनासक्ति मूलक परितृप्ति की अवधारणा, बुलो के मानसिक अन्तराल का सिद्धान्त, टी०एस० इलियट की निर्वैयक्तिकता, ली की समानुभूति तथा रिचर्ड्स के संश्लेषण और सम्प्रेषण सिद्धान्त साधारणीकरण की अवधारणा के समानान्तर ही विकसित हुए हैं। इनके अध्ययन से संस्कृत-काव्य शास्त्र में निरूपित साधारणीकरण-सिद्धान्त की व्याख्या को अतिरिक्त आयाम मिलेगा। अतः इन सिद्धान्तों का विवेचन यहाँ भारतीय काव्य-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। इन विवेचनों के अतिरिक्त भी पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्र एवं काव्य-शास्त्र के अनेक मनीषियों ने काव्यास्वाद तथा साधारणीकरण के सूत्र दिए हैं। प्रस्तुत संदर्भ में प्रासंगिक होने के कारण उनका उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। इस क्रम में सर्वप्रथम उल्लेखनीय है कि विशिष्ट रूपात्मक

लौकिक वस्तुएँ मूलत: कुछ सामान्यीकृत प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब अथवा अपूर्ण अनुकरण मात्र है। प्लेटो के मतानुसार प्रत्ययों का ज्ञान उस विमर्श का ही प्रतिरूप है, जिसके माध्यम से आत्मा विशिष्ट वस्तुओं के बोध में सामान्य का अनुसंधान करती है। प्लेटो कलानुभूति की समस्या इसी अनुकरण-मूलक सविमर्श ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते है। अनुकृति के कारण ही काव्य के विभिन्न पात्र इस प्रकार प्रदर्शित होते हैं जिससे पाठक अथवा श्रोता को उनकी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति में विश्वास हो जाता है। प्लेटो को इस अनुकरण की ग्राह्यता पर विशेष आस्था नहीं है। इस का कारण यह है कि काव्यलोक उस प्रत्यय-लोक का दुहरा अपूर्ण प्रतिरूप अथवा प्रतिबिम्ब है, जिसकी प्रतिच्छाया यह हमारा लौकिक जगत् है।[1] कलाकार वस्तु के उस मौलिक स्वरूप को अनूदित नहीं करता, जो कि वस्तु का आदर्श रूप है। अत: प्रमातृगत स्तर पर वह केवल विमर्शशून्यता को ही उद्दीप्त कर भावावेगों एवं वासनाओं को पुष्ट करता है। फलत: आत्मा की विवेक शक्ति दुर्बल हो जाती है।

नैतिक आग्रह के मध्य प्लेटो ने साधारणीकरण के सूत्र भी दिए है। लौकिक प्रयोजन से सौंदर्यानुभूति इस कारण भिन्न है कि रूपात्मक सौंदर्य इन्द्रियजन्य स्वार्थमूलक सुख की अपेक्षा आधिक उत्कृष्ट है। कवि के विषय में प्लेटो का कथन है कि उसकी आत्म-विस्मृति ही काव्य-सृष्टि का प्रेरक हेतु है। कवि लोकोत्तर प्रतिभा के द्वारा हो काव्य-सर्जन करता है। कवि तथा श्रोता समान अनुभूतियों का अनुभावन करते है तथा तन्मयता के क्षण में प्रेक्षक काव्य में वर्णित अनुभूति में अन्त:प्रवेश करता है। इसका कारण यह है कि मानव की मौलिक वृत्तियाँ समान होती हैं तथा काव्यानुभूति के क्षण में एक ही अनुभूति अनेकताओं का तिरस्कार करती हुई सभी प्रमाताओं में अनुस्यूत होती है।[2]

---

[1] ......The imitator or maker of image knows nothing, we have said of true existence; he knows appearances only. (R. L. Nettleship, Lectures on the Republic of Plato p. 345)

[2] Are you not carried out of yourself, and does not your

प्लेटो का यह मौलिक मन्तव्य कि कलाकृति लौकिक वस्तुओं का आंशिक अनुकरण होने के कारण प्रमाता के मनोवेगों और भावनाओं को उद्बुद्ध करती है—अपने विशेष संदर्भ में परवर्ती चिन्तकों को ग्राह्य नहीं हुआ। अरस्तु के मतानुसार यह अनुकरण एकान्त यांत्रिक अनुकृति नहीं है, अपितु इसके मूल में प्रत्याभिज्ञामूलक आनन्दानुभूति निहित है। कलास्वाद के क्षण में मानव की उदात्त वृत्तियाँ सक्रिय होती हैं। प्लेटो का अभिमत है कि वर्णन अनुकरण नहीं है, वरन् कवि का कथा-वस्तु के पात्रों से तादात्म्यीकरण ही अनुकरण है। इस सदर्भ में अरस्तु ने तादात्म्य की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की है।

अरस्तु ने काव्य के सार्वभौमीकरण के संदर्भ में भी प्रकारान्तर से कुछ सूत्र दिये है। कवि का उद्देश्य सामान्य अथवा सार्वभौम भाव की अभिव्यक्ति है। इतिहास जहाँ विशिष्ट का वर्णन करता है, वहाँ इस काव्य वैशिष्ट्य के माध्यम से ही सार्वभौमतत्त्व की प्रतिष्ठा करता है। स्पष्टत: यह चिन्तन साधारणीकरण की अवधारणा को ही प्रकारान्तर से व्याख्यायित करता है। अरस्तु के व्याख्याता बुचर के अनुसार भी अरस्तु की यह अवधारणा प्रमाता के निर्वैयक्तिक या साधारणीकृत होने की भूमिका ही है। काव्यगत त्रास एक कल्पित तादात्म्य पर आश्रित रहता है, द्रष्टा अपनी व्यक्तिगत सुख दु:ख की संकीर्ण सीमा से मुक्त हो कर त्रास के भोक्ता से तादात्म्य करता हुआ मानवमात्र से तादात्म्य स्थापित करता है।[1] इस संदर्भ में अरस्तु ने जिस विरेचन सिद्धान्त की उपस्थापना की है, वह भी विश्रान्ति व्यापार का ही पूर्व वक्तव्य है। विरेचन के द्वारा आत्मविश्रान्तिजन्य आनन्दानुभूति होती है तथा एक ही संवेगात्मक मानस-परिवेश से अन्वित होकर प्रमाता वैयक्तिक सुख-दु:ख से ऊपर उठ जाते हैं। एक अन्य व्याख्या के अनुसार त्रासदी का नायक प्रेक्षक की अनुभूतियों को वहन कर उसे आवेग-मुक्त करता है। इस मुक्ति के क्षण में प्रमाता सम्पूर्ण दृश्य-परिवेश

---

soul in an ecstasy seem to be among the persons or places of which you are speaking. (Ibid. p. 109)

[१] The spectator is lifted out of himself. He becomes one with the tragic sufferer, and through him with humanity at large. (S H. Butcher) Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, p. 266)

तथा पात्र की अनुभूति से तादात्म्य करता है। प्लोतिनस के अनुसार विरेचन की प्रक्रिया में आत्मा बाह्य आवरणों से मुक्त होकर आध्यात्मिक उदात्तता का अनुभव करती है। प्रथम स्तर पर यह भौतिक जगत् की ऐन्द्रियतासे मुक्त होती है; दूसरे स्तर पर संकीर्ण अहन्ता से मुक्त हो कर, तीसरे स्तर पर आत्म-परामर्श की आनन्दमयी भूमिका में प्रतिष्ठित होती है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धान्त भट्टनायक के **सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते** को ही परिभाषित करता है। चिरन्तन विश्वात्मा की अवधारणा ही अतीन्द्रिय आत्मा तथा ऐन्द्रिय जगत् को एक सूत्र में अन्वित करती है। इस प्रकार प्लोतिनस सौंदर्यानुभूति के आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य को व्याख्यायित करते हुए कवि और सहृदय के पार्थक्य को निरूपित करने वाली ऐन्द्रिय बाधाओं की ओर संकेत करता है। बाह्य जगत् से निःसंग हो कर ही प्रमाता कवि की अनुभूति से तादात्म्य कर सकता है। डेकार्ट के अनुसार कलानुभूति बौद्धिक आह्लाद का पर्याय है। प्रमाता अपने अन्तःकरण में उद्बुद्ध उन संवेगों की अनुभूति में आह्लाद का अनुभव करता है, जो उसके मनश्चक्षुओं के सम्मुख उपस्थित परिदृश्यों के अनुरूप घटित होते हैं।[2] त्रासदी से प्राप्त आह्लाद प्रेक्षक की इस अनुभूति में निहित होता है कि वह करुणा की अभिव्यक्ति में अपनी कर्तव्यपूर्ति कर रहा है।[3] होब्स के अनुसार तादात्म्य का कारण संवेगात्मक कल्पना ही है। प्रेक्षक जब नायक से तादात्म्य करता है तो वह अनुकार्य के मौलिक विम्ब में अपने व्यक्तित्व को समाहित कर देता है।[4] लॉक की दृष्टि

---

[1] It consists in detaching the soul from body and elevating it to spiritual world, in freeing it from all impurities and attaining the purity of spirit, which the soul essentially is, in purifying the soul from all its lower nature and external stains.
(Comparative Aesthetics Vol. II p. 121-122)

[2] Ibid. p. 220

[3] The pleasure in pity, aroused by presentation of tragedy, consists in the satisfaction, that the spectator has, in thinking that in pitying the sufferer, he does his duty. (Ibid.)

[4] A History of Aesthetics : Gilbert, Katharine Everett &

में यह तादात्म्य एक आह्लादजनक भ्रम ही है। कल्पना शक्ति के द्वारा जब कोई पात्र इन्द्रियगम्य बनता है तो उसके साथ भावों का जटिल तन्तु-विधान भी प्रमाता की अनुभूति को आच्छादित कर लेता है।[१] कहने का आशय यह है कि बौद्धिक तथा संवेगात्मक तादात्म्यमूलकता प्रमाता को अपने भावना-विनिर्मित बिम्ब के पुन: साक्षात्कार की प्रत्यभिज्ञाजन्य आह्लाद-परक अनुभूति ही है। डेकार्ट यदि उसे बुद्धिगत साम्य के आधार पर परिभाषित करता है, तो बेकन, होब्स तथा लॉक कल्पनात्मक तादात्म्य के आधार पर नाटक के नायक तथा प्रमाता के अन्त:प्रतिबिम्बन की व्याख्या प्रस्तुत करते है।[२] इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि ये दार्शनिक सामान्यों के अस्तित्व तथा मन के सामान्यांश के पृथक्करण की क्षमता को स्वीकार करते हैं। लॉक का कथन है कि एक ही व्यक्ति स्वयं अपने से भिन्न भी होता है। शाफ्टस्बरी भी आन्तरिक इन्द्रिय पर आधृत सहानुभूति को स्वीकार करते है।[3] मानव में नायक के दिव्य सामंजस्य से एकात्म होकर स्पन्दित अनुभव करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हचसन का अभिमत है कि सौंदर्यानुभूति संकीर्ण स्वार्थ से मुक्त नि:संग अनुभूति है।[४]

एडीसन का कल्पना-सिद्धान्त सौंदर्यानुभूति के तात्त्विक स्वरूप को आत्म-विस्मृति तथा प्रमातृगत भ्रान्ति के रूप में प्रतिपादित करता है। कल्पना पूर्वानुभूति बिम्बों का पुन: स्मरण है। जैसे ही किसी वस्तु की छाया मस्तिष्क में उद्भूत होती है, वह असंख्य प्रत्ययों और अनुभूतियों को उद्बुद्ध कर देती है[५]। वस्तुत: एडीसन की यह अवधारणा वासना-संवाद की पाश्चात्य भूमिका

Kuhin, Helmut, (Newyork. 1939, p. 210)

1. Ibid. p. 203
2. ......he compounds the image of his person with the image of his person with the images of actions of the original hero. (Ibid. p. 210)
3. K. C. Pandey op. cit. p. 233
4. ......aesthetic experience is free from search for any personal advantage. It is disinterested. (Ibid. p. 233-34)
5. When imagination is filled with great, new or beautiful, or a harmonious combination of all three arises a

ही है। अभिनव के अनुसार 'अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात्'। जैसे ही एक प्रत्यय का संस्कार जागृत होता है, निकटवर्ती अनुभूतियाँ भी उसके सम्पर्क से उद्बुद्ध हो उठती हैं। वस्तुतः सौंदर्यानुभूति पर्युत्सुकीभाव ही है जो किसी भी रम्य वस्तु के साक्षात्कार से प्रमाता को आत्म-विस्मृति की भूमिका पर ले जाता है। सौंदर्यानुभूति से आह्लाद तथा आत्म-विस्मृति का एक कारण विषयवस्तु की आन्तरिक निष्ठा भी है। तद्विपरीत बर्कले वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। ज्ञाता मन से सम्बद्ध होने पर ही अर्थ साक्षात्कार का विषय होता है। इस प्रकार भावावेश का अनुकरण या प्रमाता के स्तर पर उसका अनुभावन मूलतः अनुभोक्ता तथा ग्रहीता की मनस्थिति पर ही निर्भर है।[1] ह्यूम प्रमातृनिष्ठ ऐक्य में आस्था नहीं रखते। वे बाह्य जगत् तथा अभौतिक आत्म-जगत् दोनों को अस्वीकार करते हैं। अतः उनकी दृष्टि में वस्तुओं की अनुभूतियाँ विशिष्ट एवं वास्तविक ही हैं. किन्तु यह वास्तविकता सामान्य का प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार वे कलानुभव को बौद्धिक आधार पर ग्रहण करते हैं, किन्तु बौद्धिकता मूलतः लौकिक अनुभूति से भिन्न स्वार्थशून्य वृत्ति है, जिसमें प्रमाता प्रयोजन रहित प्रयोजन से सौंदर्य का साक्षात्कार करता तथा उसके साथ एकात्मकता का अनुभव करता है।[2]

बर्क सौंदर्यानुभूति को संवेगात्मक अनुभूति से अभिन्न मानते हैं। त्रासद अनुभूतियाँ भी जब शब्दों के विशिष्ट माध्यम से प्रस्तुत की जाती हैं तो वे आह्लादजनक हो जाती हैं। त्रासद अनुभूतियों के क्षण में प्रमाता मुक्ति की चेतना अनुभव करता है। त्रासद परिस्थिति से मुक्ति होने का बोध उसे एक विशिष्ट आह्लाद प्रदान करता है। फिर भी इस अनुभूति में एक उद्विग्नता अवश्य रहती है। काव्यानुभूति में बर्क ने भाषा की सर्जनात्मक क्षमता पर विशेष बल दिया है। समष्टिवाचक शब्द भाववाचक शब्दों की

---

pleasant delusion, in which our souls are lost. (K. C. Pandey, p. 244)

1. Ibid. p. 248
2. Pleasure that we get from a beautiful object, does not involve any selfish Interest in the object, because the spectator is not concerned with the utility of object to himself. (Bosanquet, Bernard, A History of Aesthetics, London-1922, p. 179)

अपेक्षा प्रमाता के मानस-चक्षुओं के सम्मुख सुनिश्चित विम्ब उपस्थित करते हैं। प्रमाता इन विम्बों के पुन:संस्कार के उद्‌बुद्ध होने से पूर्वानुभूत परिस्थिति का भावात्मक अनुसधान करता है।

जब तक प्रमाता किसी वस्तु को उसके ज्ञानात्मक अनुभव अथवा व्यावहारिक उपयोग के विशिष्ट कार्यफलनों से मुक्त कर विशुद्ध भावानुभूति के धरातल पर ग्रहण नहीं करता, तब तक उसमें सौंदर्यानुभव को उद्‌बुद्ध करने की क्षमता नहीं आती। व्यक्तिचित्त के आस्वादपरक अनुभावन से भिन्न सौंदर्यानुभूति का कोई अपर प्रयोजन नहीं है। काण्ट ने अपनी विशिष्ट विरोधाभास-पूर्ण शैली में इसे प्रयोजनातीत प्रयोजन अथवा आसक्ति-हीन आसक्ति कहा है। यहाँ आसक्तिहीनता से आशय वस्तु के प्रति एकान्त अनासक्ति अथवा उदासीनता से नहीं है। यह एक प्रकार की वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य स्थिति है, जिसमें प्रमाता का अवधान एकमात्र सौंदर्यबोध को उद्‌बुद्ध करने वाली वस्तु पर केन्द्रित रहता है। इतर अनुभूतियों से असम्पृक्त होकर ही प्रमाता कलावस्तु का अन्तर्भावन करता है।[1] सन्तायना ने इसे अनुचिन्तन का आह्लाद कहा है। यह अवधारणा अंशत: भट्टनायक के भावना व्यापार की तलस्पर्शी है, जिसका अनिवार्य परिणाम प्रमाता की संविद्‌विश्रान्ति है। सन्तायना ने इस संदर्भ में एक तथ्य की ओर इंगित किया है कि वस्तुजगत् का सौंदर्य सीमित है, किन्तु भावनात्मक आनन्द अमिश्रित व्यापक अनुभूति है। भट्टनायक के शब्दों में यही निजत्व से मुक्ति है।

उदात्त तत्त्व (लोंजाइनस) तथा साधारणीकरण

लोंजाइनस ने औदात्त्य का विवेचन कवि, कृति और सहृदय के त्रिक वृत्त में किया है।[2] सहृदय की भूमि से उन्होंने काव्यास्वाद की मूल प्रकृति तथा

---

[1] The criticism which equates disinterestedness with in-attention (the lack of interest) is very wide of the mark. Kant's point is not that a disinterested experience is lacking in attention but rather that the attention is concentrated upon the aesthetic object as a thing fascinating simply to contemplate.
(Melvin Rader) Art and Human Values p. 47

[2] Since an art of sublimity is possible Longinus

उसके प्रेरक उन उदात्त तत्त्वों का आख्यान किया है, जो अनुनयन की अपेक्षा आत्मातिक्रमण के द्वारा प्रमाता की चित्तवृत्तियों को आह्लादित एवं समीकृत करते हैं। वस्तुतः भारतीय काव्य-चिन्तन में जिस विगलितवेद्यान्तरता, आत्मातिक्रमण अथवा आत्म-विमृति को रसानुभूति का अनिवार्य परिणाम माना गया है, उसे प्राचीन यूनानी काव्य-शास्त्र में भी औदात्य की अपेक्षित भूमिका स्वीकार किया गया है।[1]

लोंजाइनस का स्पष्ट कथन है कि जो अभिव्यंजनाएँ विविध अभिरुचियों स्थितियों और कालों के व्यक्तियों को समान रूप से आनन्द प्रदान करती हैं, उन्हें सुन्दर और उदात्त मानना चाहिए। परस्पर विरुद्ध तत्त्वों का समंजित निर्णय तो कृति के प्रति हमारी आस्था को और दृढ़ कर देता है।[2] यही नहीं भारतीय चिन्तन के समानान्तर औदात्य के प्रस्तुत निरूपण से साधारणीकरण की मूलभूत अवधारणा को अधिक व्यापक पीठिका मिलती है। भट्टनायक का कथन है कि साधारणीकरण मूलतः दोषाभाव-गुणालंकारमयभावकत्व-व्यापार का सहज परिणाम है। यह अवधारणा साधारणीकरण को शैलीगत औदात्य के माध्यम से विश्लेषित करने की संभावनाएँ दृढ़ करती है। इसी शैलीगत औदात्य की सहृदय-सापेक्ष स्थिति को लोंजाइनस की अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में अधिक विशदता से ग्रहण किया जा सकता है। औदात्य का स्रोत भाषा का उदात्त भावमय प्रयोग है, जिसके पाँच रूप अथवा आधार

---

now takes of the problems of art itself and the fundamental triad of terms signifying author, work and audience makes possible an argument of considerable clarity. (Elder Elson, Critics and Criticism Ed. Crane, p. 239)

[1] The idea that rhetoric is an instrument of emotional-transport was dominant among ancients purpose of which was to move, was an integral part of their rhetoric. (S.N. Monk 'The Great Critics' (p. 63)

[2] For when men of different putsuits, lives, ambitions, ages, languages, hold identical views on one and the same subject, then that verdict which results, so to speak from a concert of discordant elements makes our faith in the object of admiration strong and unassailable. (Longinus 'On The Sublime' (Great Critics) p.71)

हैं—महान संकल्पनाओं की सर्जनक्षमता, तीव्र प्रेरणा-प्रसूत आवेग, अलकारों की समुचित योजना, समृद्ध पद-योजना तथा गरिमापूर्ण संरचना, जिसमें उपर्युक्त चारों तत्त्व समाहित हैं तथा जिसकी परख सुदीर्घ अभ्यास के बाद ही हो सकती है।[1] लोंजाइनस का विचार है कि कवि जब तक अपने नायक के उदात्त कार्यों के साथ तादात्म्य नहीं कर लेता, वह उस प्रेरणा को सहृदय में संक्रमित नहीं कर सकता। होमर काव्य-सृष्टि से पूर्व सम्पूर्ण संवेदना को सहभोक्ता के स्तर पर स्वयं अन्तर्भावित करता था।[2] लोंजाइनस का विचार है कि प्रतिभा प्रमाता को आग्रहपूर्वक परितोष नहीं देती, अपितु आह्लाद का वह चरम क्षण प्रदान करती है, जब प्रमाता अपनी आत्मा का अतिक्रमण कर लोकोत्तर भूमि में प्रवेश करता है।[3] यह भव्य उन्माद तथा दुर्निवार आवेग श्रोता को भावाक्रान्त कर उसकी बाह्य सत्ता को विच्छिन्न करता हुआ आभ्यंतर चेतना को अभिव्यक्त करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि **साधारणोपाय बलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मीलितवेद्यान्तरशून्यापरिमितभावेन**······इत्यादि पंक्तियाँ स्पष्ट रूप से इस चिन्तन की तुलना में रखी जा सकती हैं। लोंजाइनस ने आवेग की यथार्थ अभिव्यक्ति को देववाणी के प्रभाव के समकक्ष स्वीकार कर औदात्त्य को भारतीय काव्य-शास्त्र में निरूपित ब्रह्मास्वादसहोदरता तथा लोकोत्तर-चमत्कारप्राणता की भूमि पर स्थापित किया है। औदात्त्य के प्रभाव का आकलन करता हुआ लोंजाइनस निरन्तर प्रमाता की वैयक्तिक सीमाओं और संसर्गों से मुक्ति, कवि एव सहृदय के अनुभवों की अद्वैतता, सर्वजन-हृदय-संवादिता जैसी अवधारणाओं का उल्लेख करता है, जिनमें अनिवार्यतः साधारणीकरण के केन्द्रीय प्रत्ययों का समाहार है।

समानुभूति (वर्नन ली-१८५६-१९३५) एवं साधारणीकरण

समानुभूति हिन्दी में एम्पैथी शब्द के पर्यायरूप में ग्रहण किया जाता है,

---

[1] The Great Critics p. 71

[2] ...he is wont himself to enter into the sublime actions of his heroes.
......Homer in these cases shares the full inspiration of the combat, (Longinus op. cit. p. 74)

[3] The effect of elevated language upon an audience is not persuasion but transport. (Ibid. p. 65)

जो मूलत: जर्मन भाषा के शब्द Einfuhlungका अनुवाद है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस का आशय कल्पना की रूपविधायी क्षमता से है, जो अनुभूतियों और क्रियाओं को वाह्य पदार्थों में प्रक्षिप्त करने के अनन्तर उत्पन्न होती है। वर्ननली को इस सिद्धान्त का सूत्रधार कहा जाता है। यद्यपि इसके समानान्तर ही लिप्स ने इस सिद्धान्त की व्याख्या १८६३ के लगभग प्रकाशित करा दी थी। ली का विश्वास है कि कलासृष्टि में भावों की अभिव्यक्ति अथवा ज्ञान के सम्प्रेषण की प्रक्रिया सौंदर्य के अर्जन और कुरूपता के विसर्जन में घटित होती है। सुन्दर पदार्थ अनिवार्यत: ध्वनि, रंग रेखाओं के रूपान्तरण होते हैं। वस्तुत: रूप ही पदार्थों को सुन्दर बनाता हैं और सौंदर्य पदार्थों में हमारे अन्त:प्रक्षेपण का परिणाम है। प्रक्षेपण से हमारी प्राणवत्ता को गति मिलती है। हम आत्म-विस्मृत हो कर तन्मयी स्थिति में पहुँच जाते हैं।[1] ली ने इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया है—'पर्वत उठते हैं' निश्चय ही उठना क्रिया भूगर्भशास्त्री द्वारा निरूपित अथवा साक्षात्कृत भौगोलिक क्रिया नहीं है। भूगर्भवेत्ता तो यह भी कह सकते हैं कि पर्वत 'झुक रहे है'। अत: पर्वत के उभरने की क्रिया संभावना अथवा असंभाव्यता से सम्बद्ध न होकर पाठक अथवा द्रष्टा की विशिष्ट मानसिकता की उद्भूति है। यह कोई अलकृत प्रयोग भी नहीं है। इस प्रक्रिया पर विचार करें। जब हम पर्वत को देखते हैं, तो बिना दृष्टि उठाये अथवा सिर को अवनत किए पर्वत की इस गत्यात्मक संवेदना को ग्रहण नहीं कर सकते। यह उठने की प्रक्रिया पर्वत में घटित नहीं हो रही है, उसे हम स्वयं अपने अन्दर घटित होते हुए अनुभव करते हैं। किन्तु, होता यह है कि जब हम वाह्य जगत् के उपादानों में तन्मय होते हैं, तो हम उस पदार्थ मात्र का चिन्तन करते हैं तथा हमारे अन्दर घटित होने वाली संचेतना लुप्त हो जाती है।[2] अत: 'उठना' क्रिया

---

[1] It is a case of I have called the tendency to merge the activities of the perceiving subject with the qualities of the perceived object. (Vernon Lee—A Modern Book of Esthcics (Melvin Radr) p. 371)

[2] ...when we are engrossed by something outside ourselves, as we are engrossed in looking at the shape of that mountain we cease thinking about overselves, and

को हम अपने संदर्भ में नहीं उस विषय (पर्वत) के संदर्भ में ग्रहण करते हैं। इस सदर्भ में कालिदास की **'शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी'**[1] का स्मरण आना स्वाभाविक है। द्रष्टव्य यह है कि दुष्यन्त की मानसिकता स्वयं उभरते हुए दृश्य में तदाकार हो रही है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया उसके अन्दर घटित हो रही है, किन्तु भुवन के उत्क्षिप्त होन की क्रिया को वह अपने संदर्भ में नहीं, विषय के संदर्भ में ही ग्रहण करता है। **'केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते'**।[2] प्रमाता भी तदनुकूल प्रक्रिया को अपने अन्दर घटित होती हुई अनुभव करता है। उल्लेखनीय यह है कि इसी समानान्तर सदर्भ में विश्वनाथ साधारण्याभिमान के स्तर पर अभेद और तादात्म्य की जो व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, वह ली की उक्त अवधारणा से साम्य रखती है।

'तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥[3]

इस क्रम में ली के विवेचन का सूत्र पकड़ें। पर्वत का उठना संकल्पना है, जो एक ओर तो हमारे नेत्र, सिर के उठने, अर्थात् स्वयं अपने अन्दर उठने की क्रिया की सचेतन अनुभूति से एक विशिष्ट क्षण से सम्बद्ध है, तो दूसरी ओर यह उठना हमारी मनोभूमि में मानसिक, शारीरिक क्रियाओं के एक वर्ग के रूप में संगठित हो जाती है, जिससे पूर्वानुभूत क्रियाओं के द्वारा सदृश क्रियाओं के घटित होने का अनुस्मरण कराती है। इस प्रकार अतीत और अनागत के संदर्भों से मुक्त हो कर हमारी मनोभूमि में यह क्रिया स्थायी प्रभाव ग्रहण कर लेती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अवधारणा का

---

1. ..It is this gereral idea of rising, this is, of upward movement, which gets transferred to the mountain along with our own particular present activity of raising some part of us, (Vernon Lee op. cit. 372)

2,3. ...transferring from ourselves to the looked-at-shape of the mountain not merely the thought raising, which is really being done by us at that moment, (Ibid.)
...turns us into a kind of sympathstik, or as it has been called, inner, that is, merely felt mimicry......
(Ibid.)

सूत्र अपनी विशिष्ट सीमा में साधारणीकरण की देशकालातीत चेतना से जुड़ता है। **ग्रीवाभंगाभिरामम्** की व्याख्या में अभिनव का कथन है कि श्लोकस्थ दृश्य अथवा वाक्यार्थ प्रतीति के अनन्तर कालादि से मुक्त साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है। इस प्रतीति में मृगशावक आदि की पलायन-क्रिया देशकालादि से असंबद्ध हो कर जिस भय की अनुभूति को जगाती है, वह साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि इस अनुभूति को हम पूर्वानूभूति अर्थात् **भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि** के आधार पर निर्विशेष रूप में ग्रहण करते हैं। ली के शब्दों में उठने की यह सम्पूर्ण क्रिया, जिसे स्वयं हमने संपादित किया है या मात्र कल्पना की है, चिरकाल से हमारी मानसिकता में समन्वित होकर एक ऐसे संश्लिष्ट चित्र का निर्माण करती है, जिसमें सदृश अनुभूतियाँ एकाकार संघनित हो जाती हैं, विषमताओं का परिहार हो जाता है और मात्र उठने का भाव शेष रह जाता है।[1] उठने के मौलिक संदर्भ में यह क्रिया काल, पुरुष या संज्ञा के रूप में अभिव्यंजित हो कर नहीं, अपितु उठने की सार्वभौम अवधारणा के रूप में साक्षात्कृत होती है। हमारी मानसिक क्रियाओं में रूपान्तरित होकर यह अकिंचन सी क्रिया असंख्य अस्तित्वों में सांवेगिक पूर्णता के द्वारा घनीभूत हो उठती है। इस प्रकार संक्रमण में ज्ञाता और ज्ञेय की क्रियाएँ अन्तर्लीन हो कर[2] एक क्रियात्मक अवधारणा में ही परिणत नहीं होती, अपितु हमारी संचित अनुक्रियाओं से अनुरंजित होकर एक जड़ पदार्थ हमारे अस्तित्व का रागात्मक अंग बन जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि समानुभूति दृश्य पदार्थों में द्रष्टा की अनुक्रियाओं का विसर्जन मात्र नहीं है, यह दृश्य पदार्थ में अहम् के प्रक्षेपण

---

cease thinking about ourselves exactly in proportion as we are thinking of the mountain's. (Ibid.)

[1] This imagined activity, or more generally this imagined self, can then also be the object of my joy. (Ibid)

[2] Empathy is the fact here established, that the object is myself and by the very same token this self of mine is the object. Empathy is the fact that the antithesis between myself and the object disappears, or rather does not yet exist. (Ibid. p. 376)

की पराभौतिक क्रिया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह तृप्ति और अतृप्ति का सौंदर्यपरक विकल्पात्मक चयन है। अर्थात् इस प्रक्रिया में हमें एक ऐसी ऋणात्मक परितृप्ति का बोध होता है, जो किसी कठिनाई या आशंका से मुक्त होने पर अनुभव होती है। इसका प्रसार हमारे सम्पूर्ण आन्तरिक जगत् में है। और यद्यपि यह कोई अलंकृत वर्णन की शैली नहीं है, जो सादृश्य विधान में योग दे, तथापि मानवीय अनुभूतियों में तार्किक संगति और तन्मयता का स्पर्श अवश्य देती है।

ली का यह सिद्धान्त भारतीय काव्य-शास्त्र में निरूपित साधारणीकरण प्रक्रिया के अनेक आयामों को विश्लेषित करने में योग दे सकता है। अभिनव तथा विश्वनाथ की अवधारणाओं के अतिरिक्त पंडितराज जगन्नाथ के भावना दोष की कल्पनाच्छादित रस-भूमिका को समझने में भी यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया सहायक है। किन्तु इसमें अधिक बल गत्युद्बोधक संवेदनाओं और स्नायविक संयोजनाओं पर है।[1] लिप्स ने इस सिद्धान्त के पराभौतिक आधार को भी स्पष्ट किया है। सुन्दर पदार्थ अनुचिन्तन से भिन्न है, किन्तु पदार्थ को आस्वाद्य एवं रमणीय अनुचिन्तन का क्रम ही बनाता है। मानव मन बाह्य विषय में अन्तर्लीन हो कर अचेतन रूप से उसे अनुप्राणित कर देता है। इस का परिणाम प्रमाता के अन्तश्चेतन की मुक्त दशा है। द्रष्टा का अहम् उस पदार्थ में संक्रमित हो कर मुक्त दशा का अनुभव करता है[2]। यह मुक्त दशा व्यावहारिकता का परिणाम नहीं, अनुचिन्तन की ही सहज परिणति है।

---

1. Empathy is often described as an involuntary projection of ourselves into an object, and is commonly explained as the result of an inner mimicry on the part of the observer; that is, the observer undergoes incipient muscular movements which he does not experience as his own sensations, (M.H. Abrams) A Glossary of Literary Terms p. 46)

2. The contemplation of the observed movement awakens the tendency to a corresponding self-activity; and by corresponding we mean that which would be connected with the execution of such a movement in my own person. And this tendency is at the same time realized in the act of contemplation.

   (Theodor Lipps) A Modern Book of Esthetics p. 380)

इस प्रकार यह अन्तःक्रिया एक स्तर पर आवेग एवं मुक्ति-दशा की अनुभूति है तो दूसरी ओर ऐन्द्रिय उत्तेजनाओं के भौतिक स्तर को भी समाहित किए हुए है। सौंदर्य-चेतना अहम् तथा इदम् की द्वैत चेतना की ही अद्वैत चेतना में परिणति है। ली की इस अवधारणा के विषय में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इसके आधार पर स्थिर, अमूर्त काव्य-बिम्बों के स्थान पर मानव की क्रियात्मक चेष्टाओं को व्याख्यायित करने में अधिक सफलता मिल सकती है।

मानसिक अन्तराल (एडवर्ड बुलो की अवधारणा एवं साधारणीकरण)

निःसंगता तथा उत्कट रागात्मक सम्पृक्ति के मध्य एक ऐसा प्रदेश भी है, जिसमें प्रमाता के द्रष्टा एवं भोक्ता व्यक्तित्व के मध्य मानसिक अन्तराल रहता है। यही काव्य की लोकोत्तर भूमि है, जो एक स्तर पर बाह्य जीवन की लौकिक प्रयोजनीयता का निषेध कर द्रष्टा को वैयक्तिक संकीर्णता और क्षुद्रता से मुक्ति देती है तो दूसरे स्तर पर उसके निषेध-मुक्त अन्तश्चैतन्य को भावना के नये आधारों की ओर उन्मुख भी करती है। एडवर्ड बुलो (१८८०-१९३४) के अनुसार कलानुभूति में एक निषेध-विधेयमूलक प्रक्रिया गतिशील रहती है, जो प्रत्यक्ष लोकजीवन की रागात्मक सम्पृक्ति का निषेध कर यथार्थ के नूतन क्षितिजों का उद्घाटन करती है।[1] इस प्रकार इसे आस्वादन की निर्वैयक्तिक प्रक्रिया भी कहा जा सकता है, जो वस्तु तथा आत्म के असम्पृक्त होने पर घटित होती है। निर्वैयक्तिकता में यहाँ वैज्ञानिक वस्तु-निष्ठा का वह आग्रह नहीं है, जिसमें व्यक्तितत्त्व नियंत्रित रह कर अनुसंधाता की अभिप्रवृत्ति को आवेगशून्य बना देता है। तद्विपरीत यह वैयक्तिक अन्तःसंबंधों को ही एक भिन्न धरातल पर परिभाषित करती है। हमारे व्यक्ति-संबंध व्यावहारिक मूर्त्त संदर्भों से मुक्त तथा संवेग से

---

1. It has a negative, inhibitory aspect-the cutting-out of the practical sides of things and of our practical attitude to them and a positive side-the elaboration of the experience on the new basis created by the inhibitory action of Distance.— Edward Bullough (A Modern Book of Esthetics Melvin Rader U.S.A. 1966 p. 396)

अनुरंजित हो जाते हैं। इसका एक स्पष्ट उदाहरण तो नाटक के पात्र और घटनाओं के प्रति हमारी अभिप्रवृत्ति में ही देखा जा सकता है। सामान्य जीवन के पात्रों की तरह वे हमारी भावनाओं को उद्‌बुद्ध करते हैं किन्तु यह उद्‌बोधन सीधा प्रत्यक्ष नहीं होता। हमारी आवेगपरक प्रतिक्रिया में एक अन्तराल होता है, यह अन्तराल उन पात्रों के प्रति हमारे संबंधों को बदल कर उन्हें बाह्यत: कल्पनात्मक संबंधों में परिणत कर देता है। यह पात्रों का अयथार्थीकरण नहीं, अपितु उनके आभ्यतरीकरण की दिशा है, जो पात्रों पर अवास्तविकता का आवरण डाल कर उन्हें हमारे आन्तरिक जगत् के सम्मुख यथार्थ बनाती है। कहने का आशय यह है कि कलात्मक अन्तराल मूलत: विरोधाभास की मात्रात्मक स्थिति है। इसमें निषेध की भूमिका पर प्रमाता के आत्म-विस्तार की संभावना व्यक्त होती है। अभिनव भी विघ्न (निषेध) मुक्तता को साधारणीकरण के केन्द्र में रखते हैं। **सर्वथा वीतविघ्न प्रतीतिग्राह्यो रस:**।[1] अन्यत्र अभिनव का कथन है कि काव्य में वर्णित (देशकाल से मुक्त कर) निषेध तथा विधेयात्मक बन्धनों को अलग करने पर साधारणीकरण व्यापार पुष्ट होता है। **'यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभाव: सुतरां पुष्यति।'**[2] अन्योन्य प्रतिबन्ध में निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों पक्ष समाहित हैं। एडवर्ड बुलो के अनुसार काव्यानुभूति जटिल मानसिक क्रिया है, जिसमें निषेध तथा विधेय परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। अभिनव **स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश:** तथा **निजसुखादिविवशीभाव:** के स्तर पर निषेधों को परस्पर सम्बद्ध कर विधेयात्मक अनुभूति में बदलते हैं। प्रमाता जब निजी सुख-दु:खादि प्रतीतियों का आस्वादन करने लगता है, तो उनके नष्ट होने के भय अथवा रक्षा की व्यग्रता से रसास्वाद व्याहत होता है। इसी प्रकार रसानुभूति की परगत सभावना से भी दु:खादि संवेद राग-द्वेष मोह इत्यादि लौकिक रूप में ही प्रतिफलित होते हैं। वस्तुत: ये स्थितियाँ प्रमाता की मानसिकता में लौकिक चेतना तथा काव्यबोध में अपेक्षित अन्तराल के अभाव में उत्पन्न होती हैं। यह अन्तराल अतिशय आत्मपरकता और अतिशय नि:संगता अर्थात् भावुकता एवं बौद्धिकता

---

१. अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३ पृ० ४७६

२. वही, पृ० ४७१

की मध्यवर्ती स्थिति है। यह अन्तराल विशेषतः विषय और विषयी में सुनिश्चित मानसिक दूरी की संभावना पर बल देता है।

समुद्र के निकट कोहरे का परिदृश्य अधिकांश व्यक्तियों के मन में उद्वेग, भय, अरुचि या अप्रत्याशित व्यवधान की स्नायविक उत्तेजना के अप्रीतिकर उद्वेगजनक अनुभव जगाता है, किन्तु आत्म परिधि की संकीर्णता से मुक्त इस कोहरे का उसके वस्तु-निष्ठ सौंदर्य के अन्दर अन्तर्भावन करते ही यह धूमिल आवरण लौकिक आवरण से मुक्त एक ऐन्द्रजालिक दृश्य में परिणत हो जाता है। एक विचित्र सुदूर एकाकीपन की विलक्षण अनुभूति हमारे मन को तात्कालिक प्रयोजन से मुक्त कर रहस्यमयता से तरंगित कर देती है। एक अद्भुत, लोकोत्तर आह्लाद हमें एक ऐसी नवीन प्रकाश तरंग में बहा ले जाता है कि जीवन के परिचित सामान्य पदार्थों के संबंध में हमारी दृष्टि एक नवीन आलोक से युक्त हो उठती है।[1] यह अनुभव उस विलक्षण अनुभूति जैसा ही है, जब प्रमाता प्रयोजनातीत स्वार्थमुक्त दृष्टि से त्रासदी के चरम का साक्षात्कार करता है[2]। स्पष्टतः इस अनुभूति के दो स्तर हैं यह लौकिक परिदृश्य हमारी व्यावहारिक वास्तविकता से मुक्त प्रयोजनातीत स्तर पर स्थित होता है। दूसरे स्तर पर हम उस वस्तु को निजी स्वरूप में प्रतिष्ठित रागमुक्त दृष्टि से देखते हैं।[3] हमारी भावना उसमें उतना ही प्रवेश करती है, जिससे उसकी आत्यन्तिक सत्ता उन्मीलित होती है। यहाँ तक कि हमारी आत्मपरक अनुभूतियाँ हमारे निजी अस्तित्व को नहीं विषय की मौलिक प्रकृति को अभिव्यक्त करने लगती है। कहने का आशय यह है कि पात्र अपने देशकालादि से नियंत्रित कथा की स्थूल इतिवृत्तात्मकता का अंग होते हैं, किन्तु प्रमाता की चेतना में उसका अन्तर्भावन होते ही स्थूल इतिवृत्त के नीचे छिपा मौलिक सत्य (भाव-सत्य) उद्घाटित हो जाता है। साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए परवर्ती चिन्तकों ने 'सीतादिविशेषाणां कामिनीसामन्येनोपस्थिति' का उल्लेख किया है।

---

1. ......is like a momentary switching on of some new current, or the passing ray of a brighter light illuminating the outlook upon perhaps the most ordinary and familiar objects. (Edward Bullough op. cit, p. 395)
2. ... ..some impending catastrophe with the marveling unconcern of a mere spectator. (Ibid p. 395)
3. Ibid p. 397

प्रकारान्तर से इस सूत्र में सीतात्व के इतिवृत्त में निहित भाव-सत्य के उद्घाटन की संभावना व्यक्त हुई है। बुलो की भाषा में यही वस्तु के आन्तरिक सत्य का उन्मीलन है। पदार्थों का मौलिक लोकोत्तर स्वरूप, जिस आकस्मिक अन्तर्दर्शन के रूप में अभिव्यक्त होता है, वह अन्तर्दर्शन कलानुभूति का क्षण है। किन्तु द्रष्टव्य यह है कि हम सदैव तात्कालिक प्रयोजनों का अतिक्रमण नहीं करते यह क्षण चिरस्थायी नहीं होता। कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनव ने रसानुभूति **को चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी'**। अभिनव ने इस क्षण को साक्षात्कार भाव कहा है। बुलो ने इस संदर्भ में अनुचिंतन का प्रयोग किया है, जो भट्टनायक की 'भावना' के समकक्ष है। स्पष्टत: आत्म का विसर्जन तथा विषय की वस्तु-निष्ठता का प्रत्यवलोकन[1] साधारणीकरण के ये दोनों सूत्र अंशत: इस कला-सिद्धान्त के द्वारा व्याख्यायित होते हैं। साधारणीकरण में एक स्तर ममत्व परत्व से मुक्ति अर्थात् सामाजिक के निर्वैयक्तिकीकरण का है और दूसरा विभाव के निर्विशेषत्व का। ये दोनों के सूत्र अन्तः सम्बद्ध है। जैसा ऊपर कहा गया है प्रमाता और कलावस्तु का संबंध विज्ञान की सीमा तक निर्वैयक्तिक नहीं होता। उसमें आत्मतत्त्व का एकान्त बहिष्कार नहीं होता, अपितु आवेग की तीव्रता को छूने बाला अन्त:संबंध रहता है। फलत: हमारे कल्पनारंजित आवेग विभावों के प्रति हमारे संबंध को एक नये रूप में परिभाषित करते हैं[2]। बाह्य अस्तित्व क्षीण पड़ जाता है और कल्पना जनित स्वरूप व्यक्त हो उठता है। यह अवधारणा द्रष्टा के स्तर पर कुछ अपेक्षाएँ भी जगाती है। यदि कोई दर्शक अपने जीवन के ईर्ष्या-द्वेष का प्रतिबिम्बन रंगमंचीय प्रस्तुति में देखता है, तो हो सकता है कि यह दृश्य उसे अधिक मनोनुकूल लगे, किन्तु निजी प्रयोजनीयता से उद्वेलित उसकी

---

1. ......contemplation of the object becomes alone possible. (Edward Bullough. op. cit. p. 397)

2. Distance, by changing our relation to the characters, renders them seemingly fictitious, (Ibid p. 397)

......it describes a personal relation. often highly emotionally colored, but of a peculiar character. Its peculiarity lies in that the personal character of the relation has been, so to speak, filtered. (Ibid)

मानसिकता, पात्रों और अपने बीच की दूरी को अधिक समय तक सुरक्षित न रख सके। जैसे ही स्थितियों का तारतम्य खंडित होता है, दूरी को क्षति पहुंचती है और सौंदर्यबोध व्यक्तिगत रागबोध में बदल जाता है। कलाकार भी अपनी अनुभूति से निःसंग होकर ही अपनी अनुभूति को कलात्मक स्तर पर सम्प्रेषणीय बना सकता है। व्यक्ति और वस्तु के बीच अनेक अनुपात पाये जाते हैं। ये अनुपात वस्तु तथा व्यक्ति, दोनों के अन्तःसंबंध और उनकी अन्तःप्रक्रिया से निर्धारित होते हैं। आदर्श स्थिति यह है कि न तो दूरी अत्यन्त क्षीण हो और न उसका अतिरेक ही हो।

तालस्ताय का संक्रमण सिद्धान्त और साधारणीकरण

तालस्ताय ने संवेगात्मक सम्प्रेषण के सौन्दर्य-शास्त्रीय कला मूल्यों को आधार बनाकर अपना संक्रमण सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। तालस्ताय की दृष्टि सांस्कृतिक अधिक है तथा सौन्दर्य-मूल्यों को विश्व-बन्धुत्व और मानववाद की पृष्ठ भूमि में उपयोगितावादी मूल्यों के समानान्तर ग्रहण करती है। तालस्ताय का विचार है कि मध्य-युगीन कलाकार अपने अनुभूत जीवन सत्यों को मानवमात्र के लिए संवेगात्मक स्तर पर सम्प्रेषणीय बनाने में आस्था रखते थे।[1] वास्तविक कला का निकष यही है कि वह किसी विशिष्ट वर्ग तक सीमित न रह कर मानवमात्र के लिए सम्प्रेषणीय हो। ऐसी कला ही आध्यात्मिक सूत्रों का अन्तर्भावन कर प्रमाताओं को अनुभूतियों की एकता के अन्तःसूत्र में आबद्ध करती है। कला की सार्थकता इसी में हैं कि प्रमाता कला-अनुभव के क्षण में कवि की अनुभूति को अपने अनुभव-परिवेश की अनुभूति के रूप में ही ग्रहण करे।[2] तालस्ताय ने इसी सांस्कृतिक तथा मानववादी दृष्टि को केन्द्र में रख कर पूर्ववर्ती कला-सिद्धान्तों की आलोचना की है।

---

1. (Wimsatt and Brooks) Literary Criticism Indian Ed. 1967 p. 463-64

2. The chief peculiarity of this feeling is that the receiver of a true artistic impression is so united to the artist that he feels as if the work were his own and not someone else's as if what it expresses were just what he had long been wishing to express. (Tolstoy) 'What is Art ?' trans. by Aylmer Maude. London p. 227)

तालस्ताय जहाँ सौंदर्य की वस्तुपरक, व्यक्तिपरक निरपेक्ष अथवा रहस्यवादी परिभाषाओं को अस्वीकार करते है, वहाँ आनन्दवादी अथवा निर्वैयक्तिक अनुभूतिपरक अवधारणाओं को भी ग्राह्य नहीं मानते। ऐसी कला, जिसके अनुभावन से सहृदय अथवा प्रेक्षक व्यक्तिगत प्रयोजन अथवा हिताहित की संकीर्ण सीमा से मुक्त होकर आनन्दाभूति करता है, उन्हें इस अर्थ में स्वीकार्य नहीं है क्योंकि इन्द्रजाल, व्यायाम अथवा अनेक प्रकार की ललित बौद्धिक क्रीडाएँ भी निष्प्रयोजन आनन्द प्रदान करती हैं।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि अभिनव लौकिक तथा कलात्मक अनुभूति को इसी आधार पर भिन्न मानते हैं कि कलात्मक अनुभूति रस-चर्वणा की ओर प्रमाता को उन्मुख कर विश्रान्ति प्रदान करती है। जबकि सामान्य प्रतीति प्रमाता को केवल कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करती है। 'इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुखम् न च नियुक्तोऽहं करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीतिसदृशमदः। तन्नोत्तरकर्त्तव्योन्मुख्येन लौकिकत्वात्।' (लोचन)। कहने की आवश्यकता नहीं कि तालस्ताय ने विश्रान्ति की इस भूमिका को स्थूल रूप में ही ग्रहण किया है। व्यायाम अथवा जादू के खेल विश्रान्ति की सूक्ष्म भूमिका पर पहुंचाने में असमर्थ हैं। तालस्ताय के कथन की आंशिक सत्यता यह है कि लौकिक अनुभूति मूलतः अनुचिन्तन अथवा कल्पना के अन्तर्भावन से ही कलात्मक अनुभूति में परिणत होती है। अनुभूति का मात्र हिताहित की सीमा से मुक्त होना ही पर्याप्त नहीं है, उसका भावना (कल्पना) के द्वारा पुनः पुनः अनुसंधान अपेक्षित है। तालस्ताय का कथन है कि अनुभूति का सीधा सम्प्रेषण कलात्मक संक्रमण नहीं है। भट्टनायक ने स्पष्टतः प्रमातृगत अनुभूति को भावना व्यापार के माध्यम से साधारणीकृत होना स्वीकार किया है। 'साधारणीकरणं' नियतसंबन्धितगतत्वेनाप्रत्यायने सति प्रत्यायनम्। भाव्यमानो मुहुर्मुहुश्चिन्त्यमानः।'[1] तालस्ताय के अनुसार कला एक व्यक्ति द्वारा अपने अनुभूत भाव-परिवेश को बाह्य संकेतों से सम्प्रेषित बनाने की मानवीय क्रिया है। इस कलानुभूति की सार्थकता प्रमाता द्वारा उन भावों के संक्रामक प्रभाव को कलाकार के अनुभव-संस्कार की पूर्णता के ग्रहण करने में ही है। कलाकार के स्तर पर यह अनुभूत भाव का पुनःस्मरण है। किसी अनुभव का अन्तर्भावन और फिर

---

[1] काव्यप्रकाशः (संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग, १९७६) सारबोधिनी, पृ० ६८

रंग रेखा, शब्द-योजना अथवा किसी चेष्टा के द्वारा प्रमाता की मानसिकता में उसे सम्प्रेपणीय बनाना ही कला की सार्थकता है। तालस्ताय ने कलानुभूति और लौकिक अनुभूति के अन्तर को वड़ी सजगता से स्पष्ट किया है। कलानुभव निश्चय ही अनुभूत भाव की प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा प्रत्यक्ष स्मरण नहीं है। अभिनव ने भी काव्यानुभूति को प्रत्यक्ष स्मृति से भिन्न मानसी साक्षात्कारात्मक प्रतीति माना है। इसी का दूसरा नाम प्रतिमान है।

'प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति।' वस्तुतः तालस्ताय की अवधारणा भारतीय आचार्यों की रसानुभूति अथवा सौंदर्यानुभूति के समानान्तर ही विकसित हुई। पंडितराज ने **भावनाविशेषः पुनःपुरनुसंधानात्मा'** कह कर इस चिन्तन का आभास दिया है। तालस्ताय की मूल मान्यता भी अंशतः भारतीय दृष्टिकोण का ही समर्थन करती है। कला अथवा कविता भावाभिव्यक्ति मात्र नहीं है। यदि वह अपनी अनुभूति को प्रमाता तक इस प्रकार संक्रमित नहीं कर देती कि वह भी उस अनुभूति को समानुभूति के स्तर पर ग्रहण कर सके तो वह वास्तविक कला नहीं है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि तथा सामाजिक के समीकरण पर संस्कृत काव्य चिन्तन में विशेष वल दिया गया है। **'हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः (लोचन)' 'सहृदयत्वविशिष्टस्य प्रतिपत्तुः हृदयसंवादः, ततस्तन्मयीभावलाभः' (कौमुदी) 'सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते' (लोचन)** जैसी उक्तियाँ इसकी प्रमाण हैं।

तालस्ताय ने भाव-संक्रमण की प्रक्रिया के लिए तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं। सम्प्रेषित भाव की प्रामाणिकता, संवेद्य अनुभूति की स्पष्टता तथा कथ्य की यथार्थता। अनुभूति यदि कवि ने अपने अनुभव परिवेश से प्रामाणिक स्तर पर ग्रहण नहीं की हैं, तो वह उसे प्रभावपूर्ण ढंग से प्रमाता की अनुभूति में संक्रमित नहीं कर सकेगा।[2] इसी संदर्भ में यह भी अनिवार्य

---

1. If a man is infected by the author's condition of soul, if he feels this emotion and this union with others, then the object which has effected this is art; but if there be no such infection if there be not this union with the same author and others who are moved by the same work—then it is not art. Ibid. p. 227
2. The more individual the *feeling transmitted the more*

है कि वह अनुभूति बोधगम्य एवं स्पष्ट हो। प्रमाता उस अनुभूति को निजी अनुभूति के समकक्ष तत्परता और आवेगप्रवणता के साथ ग्रहण कर सके। अनुभूति की संक्रमणशीलता कलाकार की निश्छल[1] आत्मानुभूति पर भी निर्भर है। यदि कलाकार की अभिव्यक्ति के मूल में अन्तःप्रेरणा का आग्रह नहीं है तो प्रमाता को वह अन्तः प्रसूत आवेग के साथ आन्दोलित नहीं कर सकेगा। यह भावात्मक तादात्म्य ही कवि की अनुभूति की प्रामाणिकता का निकष है।[2] प्रमाता कवि की अनुभूति से एकाकार हो कर न केवल ममत्व परत्व के सम्बन्धों से मुक्त होता है, अपितु प्रमाता मात्र के रसानुभव में संभागी होता है। तालस्ताय ने अभिनव के समानान्तर कलानुभूति की इस स्थिति को एकघनप्रतीति ही स्वीकार किया है।[3] अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय।' (अभिनवभारती, षष्ठ-अध्याय)।

स्पष्टतः तालस्ताय का संक्रमण-सिद्धान्त कल्पना, भावना के अनुचिन्तन तथा प्रमाता मात्र के हृदय-संवाद की भारतीय काव्य-शास्त्रीय अवधारणाओं को एक सीमा तक परिभाषित करता है। अभिव्यक्ति की संक्रामक क्षमता को उन्होंने रसानुभूति के स्तर पर ही व्याख्यायित किया है। रसानुभूति के आनन्दात्मक स्वभाव को भारतीय रस-चिन्तन में भी पूर्ण सहमति नही मिली है। नाट्यदर्पणकार ने स्पष्टतः 'सुखदुःखात्मको रसः' कहा है। यूँ प्रकारान्तर से सब रसों की आनन्दरूपता स्वीकार करते हुए भी उपरंजक विषयों के कारण कुछ रसों में दुःखात्मकता की स्थिति अभिनव भी स्वीकार करते हैं। यह बात भिन्न है कि अन्तिम परिणति में रस आनन्दरूप ही है।

---

strongly does it act on the receiver. (Ibid. p. 227)

[1] But most of all is the degree of infectiousness of art increased by the degree of sincerity in the artist. (Ibid. p. 228)

[2] If the artist is sincere he will express the feeling as he experienced it. (Ibid. p. 228)

[3] A real work of art destroys, in the consciousness of the receiver, the separation between himself and the artist nor that alone, but also between himself and all whose minds receive this work of art. (Ibid. p. 227)

'इत्यानन्दरूपता सर्वरसारनाम् । किन्तुपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुकिता-स्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव' (अभिनवभारती)। तालस्ताय रस के अन्तिम प्रभाव को प्रीतिकर नहीं मानते, उसमें सुख-दुख: की तीव्र गहन अनुभूति का सम्प्रेषण हो सकता है, किन्तु सम्प्रेष्य भाव की उदात्तता में उनकी आस्था है। मानवपूर्णता की ओर अग्रसर काव्य-वस्तु की श्रेष्ठता, युग के आदर्शबोध अर्थात् विशिष्ट धार्मिक दर्शन की यह भूमिका तालस्ताय के चिन्तन को भी चरम, आध्यात्मिक विश्रान्ति की भूमिका पर प्रतिष्ठित करती है, जो अनिवार्यत: साधारणीकरण की भूमिका है।

रिचर्ड्स का सम्प्रेषण-सिद्धान्त तथा साधारणीकरण

रिचर्ड्स के अनुसार काव्य के अनुरूप मूल्यवान अन्तर्दशाएँ वे होती हैं, जिनमें चित्तवृत्तियों का अत्यन्त विशद और व्यापक समन्वय होता है तथा उनका न्यूनतम अवरोध अथवा नियंत्रण होता है।[1] सर्जन-क्षण में कलाकार की अनुभूतियों में आवेगों का एक विशिष्ट सामंजस्य लक्षित होता है। सामान्य अनूभूतियाँ अस्त-व्यस्त द्वन्द्वरत अथवा वैविध्यपूर्ण होती हैं, किन्तु कलात्मक अमुभूति संतुलित तथा नि:संग होती हैं। इस प्रकार रिचर्ड्स अपने सम्प्रेषण-सिद्धान्त को अभिप्रवृत्तियों के सन्तुलन एवं सामजस्य के उस स्तर पर विश्लेषित करते हैं, जिसमें संघर्षशील चित्तवृत्तियों का सन्तुलन प्रवृत्तियों के दमन के द्वारा नहीं, अपितु अनियंत्रित उद्दाम प्रवाह में रूपायित होता है। यह संश्लेषण दो विरुद्ध प्रवृत्ति वर्गों में नि:संगता का वह बोध है, जिसमें संघर्षशील प्रवृत्तियों समीकरण की जीवन्त क्रीडा में परिणत हो जाती है। प्रवृत्तियाँ के संश्लेषण से द्रष्टा निर्वैयक्तिकता और नि:संगता की भूमि पर पहुंचकर अपने संकुचित अहम् के केन्द्र से मुक्त हो जाता है।[3] यह सन्तुलन मूलत: उस अनुचिन्तन का परिणाम है, जो लौकिकता का अति-

---

1. A complete systematization must take the form of such an adjustment as will preserve free play to every impulse, with entire avoidance of frustration. (I. A. Richards) Foundations of Aesthetics, Newyork-1925, p. 75)
2. Our emotion assumes a more general character, and we find that correspondingly our attitude has become impersonal. (Ibid. p. 75)

क्रमण करता है। तीव्र भावावेग के क्षणों में स्वार्थ और आत्मीयता का आवरण हट जाता है और द्रष्टा वास्तविकता का सीधा साक्षात्कार करता है।[1] संसार के साथ प्रमाता फिर से समायोजन करता है और इस अबुद्धिगम्य जगत् के दबाने वाले भारी बोझ से कुछ क्षणों के लिए मुक्त अनुभव करता है।

रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण की सफलता के लिए निःसंगता की इस भूमिका को व्याख्यायित करते हुए कहा है कि प्रमाता को निरर्थक अनुषंगों से मुक्त रहना चाहिए। पूर्ण सम्प्रेषण व्यक्तिगत संस्कारों के नियंत्रण पर निर्भर है। प्रमाता यदि कलाकार को आन्दोलित करने वाली अनुभूतियों का कलाकार के स्तर पर ही पुनर्भावन करता है तो उसका सम्प्रेषण अधिक पूर्ण होता है। रिचर्ड्स ने सम्प्रेषण की अवधारणा तालस्ताय से ग्रहण की है, किन्तु तालस्ताय से वह इस अंश में सहमत नहीं हैं कि कला का लोक-संदर्भ अथवा युगीन संदर्भ उसके सम्प्रेषण में योग देता है। रिचर्ड्स का सिद्धान्त मूलतः अभिप्रवृत्तियाँ की समन्विति एवं विश्रान्ति से सम्बद्ध है। कवि में संश्लेषण की अद्भुत क्षमता होती है। प्रवृत्तियों को वह समंजित अवश्य करता है, किन्तु दमन की अनिवार्यता से मुक्त रह कर ये प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के मुक्त आचरण में हस्तक्षेप किए बिना विश्रान्ति के धरातल पर समंजित हो जाती हैं। साधारण व्यक्ति भी तीव्र शोक अथवा हर्ष के क्षणों में अपने अहम् को विगलित विसर्जित सा अनुभव करते हैं, किन्तु ऐसी अनुभूतियाँ बहुत विरल होती हैं। अधिकतर वर्जनाओं के नियंत्रण में लौकिक आवरण को न भेद पाने के कारण यथा-स्थिति में बनी रहती हैं। कवि में ये वर्जना-मुक्त होती हैं और उनकी परस्पर अन्तःक्रिया उनके क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाती है। जो अनुभूति विविध तत्त्वों का जितना अधिक व्यापक संतुलन प्रस्तुत करेगी, वह उतनी ही उत्कट कल्पना का प्रमाण देगी। त्रासदी में विरुद्ध तत्त्वों का अधिक व्यापक सन्तुलन होता है। यह सन्तुलन बहुत कुछ अन्तःग्रहण का परिणाम

---

[1] ......the film of familiarity and selfish solicitude, which commonly hides nine-tenths of life from him, seems to be lifted and he feels strangely alive and aware of the actuality of existence. In these moments his myriad inhibitions are weakened. (I. A. Richards) : Principles of Literary Criticism p. 191)

होता है. निष्क्रमण का नहीं। वस्तुतः प्रवृत्तियाँ दो प्रकार से संयोजित हो सकती हैं—संश्लेषण से और परिहार से। कविता में या तो उन आवेगों और प्रवृत्तियों का समाहार होगा जो एक दिशा में समानान्तर गतिशील हैं या परस्पर भिन्न प्रवृत्तियों को विषम धरातल पर समंजित किया जाता है। प्रथम कोटि की कविताओं में हम विरुद्ध प्रवृत्तियों को समन्विति से बचते हैं, जबकि दूसरी कोटि की कविताओं में अनुभूतियों का परिवेश इतना व्यवस्थित और सीमित नहीं होता कि उनका सरलीकरण करने के लिए कुछ प्रवृत्तियों को निष्कासित कर दिया जाए।[1] कवि असम्बद्ध बिम्बों को भी अन्विति देता और प्रासंगिक बनाता है। प्रमाता अपने स्तर पर उन बिम्बों को, जिन्हें उसने असम्बद्ध तथा समन्वयरहित संदर्भ माना है, परस्पर संयुक्त होते देख कर नवीन अन्तर्दृष्टि और चमत्कार का अनुभव करता है।[2]

आशय यह हैं कि रिचर्ड्स सर्जनात्मक धरातल पर काव्यानुभूति को अन्तर्वेशी तथा अपवर्जी द्विविध स्तरों पर विभक्त करते हैं। अपवर्जी काव्य में विसंवादी अनुभूतियों का सायास बहिष्कार कर दिया जाता है, किन्तु अन्तर्वेशी काव्य में विसंवादी अनुभूतियों का साग्रह ग्रहण किया जाता है।[3] इसमें अनुभूतियों का सन्तुलन अपेक्षाकृत जटिल होता है। रिचर्ड्स का सम्प्रेषण-सिद्धान्त विसंवादी अनुभूतियों की इसी समाहिति पर निर्भर है। विसंवादी स्थिति सम्प्रेषण में बाधा उपस्थित नहीं करती, अपितु प्रमाता की भावना अथवा कल्पना को तीव्र करती है। कहने की आवश्यकता नहीं अभिनव भी विसंवादी अनुभूतियों के संश्लेषण से उत्पन्न होने वाले रसानुभव स्व रसानुभव को स्व साक्षात्कारात्मक आस्वाद स्वरूप ज्ञान से अभिन्न होने के कारण आनन्दमय मानते हैं। **किन्तूपरंजकविषयवशात् तेषामपि कटुकिंतास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव। एवं रत्यादीनां प्राधान्यम्।** (अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय)। रिचर्ड्स का कथन है कि

---

1. There are two ways in which impulses may be organized, by exclusion and by inclusion, by synthesis and by elimination. (Ibid. p. 196)
2. In a poem of the second group the most obvious feature is the extraordinarily heterogensity of the distinguishable impulses (Ibid)
3. Principles of Literary Criticism p. 196

अनुभूतियाँ मानव की सामान्य अनुभूतियाँ होने के कारण विसंवादी होने पर भी सहज ग्राह्य हैं। यही नहीं विविध अनुभूतियाँ समन्वित हो कर प्रमाताओं से अधिक प्रभावी स्तर पर सम्प्रेषणीय हो सकती है।[1] सम्प्रेषण मानव की मूल प्रकृति में वद्ध मूल है, किन्तु यह कोई सचेष्ट प्रक्रिया नहीं है। जब कलाकार निर्वैयक्तिकता के लिए संघर्षरत होता है और ऐसी व्यक्तिगत अनुभूतियों का सायास बहिष्कार करता है जो सम्प्रेषण में बाधा डालती हैं तो यह कहना कठिन है कि सम्प्रेषण के प्रति "कलाकार उन्मुख नहीं है, किन्तु यह उन्मुखता अचेतन रूप में ही घटित होती है।

रिचर्ड्स सम्प्रेषण की समस्या को रागात्मक तथा संदर्भात्मक अर्थ-संदर्भों के स्तर पर भी व्याख्यायित करते हैं। संवेगात्मक भाषा वस्तु-कथन के सम्प्रेषण तक सीमित नहीं होती। इसमें संज्ञानात्मक पक्ष के स्थान पर भावात्मक पक्ष का प्राधान्य होता है। वाचक अथवा संकेत मूलक प्रतीक मूलतः उद्दीपन की तात्कालिक यथार्थता से सम्बद्ध होते हैं उनके प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया से नहीं। किन्तु जहाँ आवेग आन्तरिक अनिवार्यता की अपेक्षा बाह्य परिस्थितितों से नियत्रित तथा उद्भूत होते हैं वहाँ अभिधेय संदर्भ भाषा के रागात्मक परिवेश में संक्रमित हो जाते हैं। रिचर्ड्स के अनुसार वैज्ञानिक भाषा में संदर्भों की तार्किक संगति आवश्यक है, जबकि भाषा के रागात्मक प्रयोग में संवेगात्मक अन्तःसूत्रता का ही महत्त्व है। रिचर्ड्स के सैद्धान्तिक आग्रह का एक सूत्र काव्य-भाषा के विविध कार्यफलनों की रागात्मक दिशा से भी जुड़ता है। रिचर्ड्स इन कार्यफलनों का त्रिविध सोपानों के रूप में विवेचन करते हैं। इस अनुक्रम में सर्वप्रथम है आशय अर्थात् सर्वप्रथम श्रोता के अवधान को काव्य-वस्तु के प्रति उन्मुख करने तथा उसके प्रति श्रोता के चिन्तन एवं अनुभूति को दीप्त करने के लिए जो कुछ कहा जाता है, वह आशय के अन्तर्गत आता है। आशय में प्रमाता की अभिप्रवृत्तियाँ भी अभिन्न रूप से जुड़ी रहती हैं। संभव है कि वक्ता

---

[1] The equilibrium of opposed impulses, ...brings into play far more of our personality than is possible in experiences of a more defined emotion. We cease to be orientated in one definite direction, more facets of the mind are exposed and, what is the same thing, more aspects of things are able to affect us. (Ibid. p. 197)

अथवा प्रमाता को अपने विषय से उद्‌बुद्ध होने वाली वैयक्तिक भावनाओं की चेतन स्तर पर अभिज्ञता न हो, किन्तु श्रोता तक सम्प्रेषित होते होते वैयक्तिक अनुषंगों का योग उसमें अवश्य हो जाता है। इसमें उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कवि का उद्देश्य बहुत बार वक्तव्य के रूप में न रह कर बहुत कुछ अनकहा रहता हैं तथा अपनी सम्पूर्ण संरचना के माध्यम से ऐसी प्रासंगिकता की ओर इंगित करता है, जिसके प्रति कवि की सचेत अभिज्ञता न्यूनतम होती है। इस सन्दर्भ में रिचर्ड्स ने प्रमातृगत सीमाओं की ओर भी इंगित किया है जो अभिनव की विघ्नबहुल प्रतीतियों से भिन्न नहीं है। प्रमाता की अति-भावुकता, बौद्धिक अथवा भावात्मक पूर्वाग्रह काव्यानुभूति के प्रति उसकी प्रतिक्रिया को अतिरिक्त रागप्रवण अथवा बौद्धिक बना देते हैं[1]। अनेक प्रमाता काव्य वस्तु में अपनी निजी संवेगात्मक अर्थच्छायाओं का अनुसंधान करते हैं। रिचर्ड्स द्वारा निरूपित इन अवधारणाओं के आधार पर ये निष्कर्ष निकालना अब प्रासंगिक हो जाता है कि भारतीय काव्य-शास्त्र की व्यापार-मूलक अवधारणा से उनका चिन्तन एकान्ततः भिन्न नहीं है। काव्यानुभूति में विसंवादी अनुभूतियों के समीकरण से निर्विशेषीकरण की अनुभूति स्वतः जागृत होती है। प्रकारान्तर से शंकुक तथा अभिनव ने इस तथ्य का पूर्वाभास दिया है। यथा—**विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः** (शंकुकः) तथा '**अत एवोभयदेशकालत्यागः**' जैसी उक्तियाँ इसकी प्रमाण हैं।

इलियट का निर्वैयक्तिकता एवं मूर्त वस्तु-विधान का सिद्धांत तथा साधारणीकरण

इलियट ने मूलतः निर्वैयक्तिकता तथा वस्तुमूलक प्रतिरूपता की अवधारणाओं को सर्जक कलाकार के रागात्मक एवं बौद्धिक अनुषंगों के व्यक्तिपरक निषेध के स्तर पर प्रस्तुत किया है, किन्तु सहृदय की रागात्मक प्रतिक्रिया को व्याख्यायित करने वाले अनेक अन्तःसूत्र भी उनमें स्वतः समाहित हो गये हैं। कविता में स्वच्छन्दतावादी आदर्शों का निषेध करते हुए उन्होंने कलासृष्टि के माध्यम रूप में कवि व्यक्तित्व और संवेगों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का निषेध किया। ये आदर्श संवेगों की स्वतः प्रसूत अभिव्यक्ति जैसे वर्ड्सवर्थीय सिद्धान्तों पर आधृत थे। इलियट काव्य को

---

[1] Practical Criticism London, 1956, pp. 13 to 17

व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में नहीं, अपितु व्यक्तित्व से पलायन के स्तर पर परिभाषित करते हैं। काव्य में निहित संवेग अथवा अनुभूतियाँ मूलत: कवि की भावना अथवा उसके अनुभूति-परिवेश से भिन्न होती है। अत: कवि के स्तर पर कविता संवेगों की मुक्त अभिव्यक्ति नहीं, अपितु पलायन है।[1] इस प्रकार इलियट ने संवेगवाद को अस्वीकार करते हुए कविता अथवा कला को कवि का आत्म-प्रकाशन अथवा व्यक्तित्व की सीधी अभिव्यक्ति मानने वाले सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की है। कवि को उन्होंने एक परिष्कृत माध्यम मात्र माना, जिसमें अनेक वैविध्य पूर्ण संवेग ढल कर गुणात्मक वैशिष्ट्य ग्रहण कर लेते हैं।[2] इलियट के अनुसार कवि मन प्लेटिनम खण्ड की भांति होता है, जिसके संयोग से जब गैसें सल्फ्यूरिक एसिड में परिणत होती हैं तो उनमें प्लेटिनम का अंश नहीं होता। प्लेटिनम पर कोई प्रभाव भी नहीं पड़ता, वह मात्र उत्प्रेरक का कार्य करता है, जिस की उपस्थिति मात्र से यह परिवर्तन घटित होता है। इलियट के अनुसार कवि का मन इस प्लेटिनम खण्ड से भिन्न नहीं है। जितना ही पूर्ण कलाकार वह होगा उतना ही उसके भोक्ता और स्रष्टा मन में पार्थक्य होगा और उतने ही उत्कृष्ट रूप में मन अपने उपादान आवेगों को आत्मसात् और रूपान्तरित कर सकेगा। कवि का समग्र प्रभाव उन शब्दों अथवा बिम्बों के समग्र सन्तुलन में है जो परस्पर संयुक्त हो कर गुणात्मक स्तर अपने पूर्व रूप से भिन्न हो जाते हैं। इस संदर्भ में इलियट का कथन है कि संवेगों की गरिमा अथवा उत्कटता उल्लेखनीय नहीं है, उल्लेखनीय कलात्मक प्रक्रिया की वह तीव्रता है जिसके कारण आवेगों में संश्लेषण घटित होता है। यह संश्लेषण कोई सचेतन प्रक्रिया नहीं है, अपितु अचेतन स्तर पर घटित होने वाली एक ऐसी प्रक्रिया हैं जिसमें अनुभूति भाव तथा उनके अनुरूप

---

1. Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the cxpression of personality, but an escape from personality. (T.S. Eliot) London, 1953 'The Sacred Wood' p. 58)

2. ......the poet has, not a 'personality' to express, but a particular medium, which is only a medium and not a personality, in which impressions and experiences combine in peculiar and unexpected ways. (Ibid, p, 56)

भाषिक उपकरणों की संयोजना होती है। स्पष्ट है इलियट सर्जन-प्रक्रिया का विश्लेषण उपादान तत्त्वों के आधार पर नहीं. अपितु कला-प्रक्रिया के वैशिष्ट्य के आधार पर करते हैं। यहीं से इलियट का प्रसिद्ध वस्तुगत प्रतिरूपता का सिद्धान्त सामने आता है। इस सिद्धान्त में वे मूलत: इस समस्या से जूझते हैं कि रागात्मक अर्थ कविता में कैसे रूपान्तरित होता है। कवि के वैयक्तिक अनुभव विम्बों में ढल कर प्रतीकात्मक स्तर पर कैसे काव्य के प्रतिपाद्य को मूर्त करते हैं। इलियट ने शेक्सपियर की प्रसिद्ध त्रासदी हेमलेट को कलात्मक असफलता उद्घोषित करते हुए कहा कि नाटक का अंगी भाव जो दोषी माँ के प्रति पुत्र में भावना के स्तर पर मूर्त्त होना चाहिए था अपेक्षित उपादान सामग्री के अभाव में यथार्थ रूप में विकसित नहीं हो सका।[1] वस्तुत: भाव संवेग के अनुरूप वस्तु योजना की उपयुक्तता में ही कलात्मक अनिवार्यता निहित है।[2] हैमलेट में इसका अभाव है। व्यक्ति हैमलेट उस भाव संवेग से पीड़ित है, जो यहाँ अव्याख्येय है। हैमलेट के आवेग विद्रूप बनकर रह गये हैं तथा उसके क्रिया-कलाप में अभिव्यक्त नहीं हो सके हैं। कला के रूप में भाव को अभिव्यक्त करने की एक मात्र पद्धति वस्तुमूलक प्रतिरूपों का चयन है, अर्थात् काव्य-कृति की सफलता अमूर्त भावनाओं को मूर्त माध्यम से व्यक्त करने में निहित हैं।[3] जब तक कृति में निहित भावों और उनके अनुरूप मूर्त विधान में उपयुक्त सामंजस्य नहीं घटित होता है वह कृति कवि के अभीष्ट अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकती। आशय यह है कि इलियट कविता और पाठक के मध्य घटित होने वाले सम्प्रेषण व्यापार में महत्त्व कृति के रूपाकार, वस्तु-शृंखला तथा भाषिक उपकरणों को देते हैं।

निर्वैयक्तिकता की यह अवधारणा जहाँ सर्जन-कर्म को व्याख्यायित करती है वहाँ पाठक की मनोभूमिका को परिभाषित करने में भी अपना

---

[1] The Sacred Wood p. 99

[2] The artistic 'inevitability' lies in this complete adequacy of the external to the emotion; and this is precisely what is deficient in Hamlet (Ibid. p. 101)

[3] The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative', in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion (Ibid. p. 100)

विशिष्ट योग देती है। इलियट पाठकों को बार बार व्यक्तिगत भावों से मुक्त हो कर मूल रचना पर ध्यान केन्द्रित करने का आग्रह व्यक्त करते हैं। काव्यास्वाद का उद्देश्य एक ऐसा क्रमिक अनुचिन्तन है जिसमें व्यक्तिगत आवेग तथा उनसे सम्बद्ध घटनाएँ निराकृत हो जाती है तथा वस्तु को हम उसके मूल रूप में देखते हैं।[१] कविता संवेग से मुक्त हो कर अपनी आभ्यान्तरिकता की ओर उन्मुख होती है। कलाकृति के आस्वादन के समय उदबुद्ध होने वाले भावों के अतिरिक्त पाठक अथवा समालोचक में दूसरे भाव नहीं होने चाहिए क्योंकि कविता का अपना स्वतन्त्र जीवन होता है और वह जिस जीवन दृष्टि के रूप में आकार ग्रहण करती है, वह कवि की मानसिकता से भिन्न अनुभूति का प्रतिफलन होती है।[२]

इलियट के इन सिद्धान्तों के मूल में कई बातें दिखाई पड़ती हैं। कवि अथवा पाठक की व्यक्तिगत भावों से मुक्ति, काव्य-वस्तु की स्वायत्तता, काव्यवस्तु की अनुभूति के क्षण में वैयक्तिक आस्था का स्थगन तथा भाव और उसके उपयुक्त अभिव्यंजनात्मक उपादानों के वस्तुनिष्ठ सहसंबंध का विधान। कहने की आवश्यकता नहीं भारतीय काव्य शास्त्र में सम्प्रेषणीयता अथवा साधारणीकरण के अन्त:सूत्रों का विधान करते हुए ये सभी तत्त्व विवेचन के केन्द्र में रहे हैं। जहाँ तक भाव तथा उसके अनुरूप मूर्त्त विधान का प्रश्न है, काव्यानुभूति का प्रथम क्षण यही है। भट्टनायक ने अभिधा तथा शब्दगुणालंकार के अनुक्रम के माध्यम से इस अन्तर्भावन का स्पष्ट विवेचन किया है। ध्वनिकार का कथन है कि जो भाव किसी भिन्न प्रणाली से व्यक्त न हो सके, उसको आभ्यन्तर यथार्थ के स्तर पर प्रकाशित करने में ही व्यंजना-व्यापार की सार्थकता है। भाव और उसके अनुरूप चारुत्व प्रकाशन की प्रणाली का दूसरा विकल्प नहीं होता।

'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥'[३]

---

1. The end of the enjoyment of poetry is a pure contemplation from which all the accidents of personal emotion are removed thus we aim to see the object as it really is... (Ibid p. 14-15)
2. ...the poet is something different from the feeling or emotion or vision in the mind of the poet. (Ibid p. x)
३. ध्वन्यालोक (वाराणसी-२०१९ सं०) पृ० ६१

ध्वनिकार के इन शब्दों का इलियट की भाषा में हम इस प्रकार अनुवाद कर सकते हैं—भाव के अनुरूप बाह्य विधान (उक्ति प्रकाशन) में ही कलात्मक अपरिहार्यता है[1] । जब तक भाव के प्रति अभिव्यंजना की पूर्ण पर्याप्तता अथवा कलात्मक अनिवार्यता न होगी, पात्र के संवेगों की अभिव्यक्ति उसके क्रियाकलापों में अभिव्यक्त न हो सकेगी और न पाठक तक ही सम्यक् रूप से सम्प्रेषित हो सकेगी । कवि अथवा पाठक की निजी व्यक्तित्व से मुक्ति भी साधारणीकरण की अपरिहार्यता है, इलियट का यह कथन भी कि प्रमाता में कलाकृति से उद्बुद्ध भावों के अतिरिक्त अन्य आवेग नहीं होने चाहिए, अभिनव के इस मन्तव्य की पुष्टि करता है कि यदि सामाजिक काव्यास्वादन के क्षण में अपनी निजी प्रतीतियों का आस्वादन करता है तो उसके नष्ट होने के भय से अथवा रक्षा के लिए व्यग्र होने से जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह रसास्वाद को अव्याहत नहीं रहने देगा ।[2] इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि इलियट भी काव्यास्वाद का उद्देश्य ऐसे विशुद्ध चिन्तन को मानते हैं, जिस में वैयक्तिक भाव निःशेष हो गये हों[3] । भट्टनायक अथवा अभिनवगुप्त तथा परवर्ती रस-चिन्तकों ने स्वगत प्रतीति के संदर्भ में वैयक्तिक अनुचिन्तन से उत्पन्न होने वाले भावों का स्पष्ट निषेध किया है । ममत्व परत्व से मुक्त होकर ही हम वस्तु को उसके यथार्थ रूप में देखते हैं । वस्तु का यह यथार्थ साक्षात्कार स्थूल नाम रूपात्मकता (दुष्यन्तत्व शकुन्तलात्व इत्यादि) के मूल में भाव-सत्य का ही साक्षात्कार है । काव्यास्वाद को इलियट भी अनुचिन्तन ही मानते हैं जो भावना अथवा पुनः पुनः अनुसंधान से भिन्न नहीं है । इलियट का विचार है कि विचार और अनुभूति में सहज तादात्म्य होना चाहिए । संवेदना का वियोजन इस तादात्म्य को खण्डित कर सकता है । निश्चय ही यह सिद्धान्त निषेधपरक अवधारणा है जो काव्यवस्तु में आस्था की अपरिहार्यता की ओर इंगित करती है । कवि की आस्था में समन्वित हुए विना पूर्ण रसानुभूति असंभव हैं । इलियट के शब्दों में यह एक ऐसी मनःस्थिति है, जिसमें काव्यानुभूति की विशिष्ट आस्थाओं के संदर्भ में हम अपने निजी निर्णयों को बाधक नहीं होने देते । अभिनव ने रस-प्रतीति में इसे प्रतीत्युपायवैकल्यम् नामक विघ्न की संज्ञा दी है । इस प्रकार इलियट का

---

1. The sacred wood p. 100
2. संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः । (अभि० भा० (१) पृ० २८०)
3. ...a literary critic should have no emotion except those immediately provoked by a work of art (Ibid. p. 12)

चिन्तन भारतीय रस-चिन्तन के समानान्तर गतिशील हुआ है। इलियट के भाव संवेग का सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त का एक सीमा तक पुनरनुसंधान है। ध्वन्यर्थ काव्य के सम्पूर्ण प्रतिपाद्य का ही पुनर्भावन होता हे। व्यंजना के अभाव में मात्र अभिधात्मक शब्दावली इस रागात्मक पुनर्भावन में असमर्थ रहती है। इलियट को इस तथ्य का भी बोध है कि काव्यानुभूति अथवा काव्य-सृष्टि में कवि-व्यक्तित्व अथवा प्रमाता की स्वगत प्रतीति का लोप हो जाता है; किन्तु, उसके सस्कार और विशिष्ट अनुभूतियाँ एक दम तिरोहित नहीं होती। उन संस्कारों की उपस्थिति में ही कवि तथा ग्रहीता की अनुभूतियाँ संयोजित होकर कलात्मक भाव अथवा काव्यास्वाद में परिणत होती हैं। इन व्यष्टिनिष्ठ अनुभूतियों की सार्थकता भाव-सत्य को उन्मीलित करने में ही है। भाव-सत्य की अभिव्यक्ति तथा प्रमाता के स्तर पर उसके पुनरनुसंधान में एक विशिष्ट प्रतिभा तथा समाधि अपेक्षित है।[1] इन अनुभूतियों के मूल में जीवन-व्यापी संवेगों की प्रेरणा निहित रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य-सर्जन और काव्यानुभूति की यह व्याख्या कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा की व्याख्याओं से साम्य रखती हैं। कवि के बिम्ब, उसकी भावनात्मक तीव्रता एवं गहनता का प्रतिनिधित्व करते हैं।[2] कालिदास ने काव्य-सृष्टि के क्षण में समाधि की शिथिलता से उत्पन्न होने वाली बिम्बगत विशृंखलता का उल्लेख किया है।

'चित्रगयतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता॥' (माल० २/२)

यह सर्जन प्रक्रिया के निर्वैयक्तिक सिद्धान्त का अपरिहार्य तत्त्व तो है ही, काव्यास्वाद की भूमिका भी है। इलियट के अनुसार कवि तथा प्रमाता की सार्थकता इसी में है कि वह अपने वैयक्तिक द्वन्द्व को सार्वभौम और निर्वैयक्तिक अनुभूति में रूपान्तरित कर दे।[3] अपनी विशिष्ट सीमा एव अन्तर्विरोधों की परिधि में इलियट का यह सिद्धान्त साधारणीकरण की अवधारणा की विशिष्ट स्तर पर व्याख्या करता है।

---

1. 'The use of Poetry and the use of Criticism' (Introduction p. 14-15)
2. The Use of Poetry And The Use of Criticism p. 146
3. Tradition And The Individual Talent (The sacred Wood)

[९]

साधारणीकरण-विषयक प्रतिपत्तियां

रसाभास और साधारणीकरण

काव्य का क्षेत्र लौकिक जीवन से सर्वथा विच्छिन्न नहीं है। लौकिक जीवन, शास्त्रीय प्रमाणों से निर्दिष्ट द्वन्द्वरहित ऋजुगति से नहीं चलता। उस में विविध दिशोन्मुखी अनुभवों की जटिलता और विसंवादी अनुभूतियों का तनाव निहित रहता है। उसी के समानान्तर काव्य में भी कहीं रणलिप्सु नायक संघर्षक्षण में मी प्रणयचर्चा में मग्न हैं,[1] वह शोक-संतप्त नायिका से भी प्रणय-याचना करने को समुत्सुक है।[2] कहीं वह अन्यमनस्का विरक्ता नायिका से एकाकी प्रेम की अभिव्यक्ति करता है,[3] तो कहीं काल्पनिक आलम्बन के प्रति ही अपनी प्रणय-याचना को स्वर देकर अतृप्त प्रणय-तृपा को परितृप्त करता है। कभी अनेक प्रेयसियाँ उसके हृदय क्षेत्र पर अधिकार कर लेती हैं[4] तो कभी एक ही प्रियतमा अनेक प्रेमियों पर कृपा-कटाक्ष वितरित करती दृष्टिगोचर हैं।[5] यही नहीं काम के इस दुर्निवार आवेश में

---

[1] वेणीसहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य श्रृंगारवर्णनम्। (काव्यप्रकाश, पृ० ४४० (झलकीकर) (द्रष्टव्य-वेणीसंहार २/२३))

[2] स्वकान्तायामपि शोकाद्यवस्थायां रतिवर्णनमाभासरूपमेव अनौचित्येन प्रवर्तितत्वादित्यवसंयम्। (काव्यप्रकाश: पृ० १२१) तत किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं (का० प्र० ४/४९)

[3] तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपाय: (वही)

[4] अत्र तु वैषम्येणानेकत्र प्रवृत्ते रसाभासत्वमुपपद्यते। (रसार्णवसुधाकर पृ० २०६)

[5] भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयां बभूव॥

गुरु-तल्पगमन[1] इत्यादि के आचरण भी वेद पुराणों में शतशः विकीर्ण हैं। इन सभी प्रसंगों के वर्णन में पाठक को रसानुभूति होगी, यह बात भिन्न है कि आलम्बन की क्षीणता या प्रबलता या आश्रय की भावनाओं में प्रखरता या क्षीणता का समानुपात विसंवादित होने के कारण यह अनुभूति असाधारणोन्मुखी हो जाए।

इस संदर्भ में यह अभिमत भी द्रष्टव्य है कि काव्य-नाटक के श्रवण-दर्शन के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाने से सामाजिक की आत्मस्थ रति की अलौकिक रस में परिणति हो जाती है। किन्तु यदि व्यंग्यार्थ के परिज्ञान के अनन्तर विभावादि असाधारण अनुभूति की अभिव्यंजना करने लगते हैं तो उस अनुभूति की अंतिम परिणति रसाभास में होती है, अर्थात् व्यंजना के उत्तरकालिक ज्ञान से ही अनुभूति में अनौचित्य का संधान किया जा सकता है।[2]

रसाभास असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि का भेद है तथा रस के समान उस की आस्वाद्यता भी वास्तविक है, किन्तु स्थिति यह है कि आचार्यों ने यदि एक ओर रागात्मक अन्विति के लिए औचित्य की अनिवार्यता निर्दिष्ट की है, तो दूसरी ओर रसाभास की मूल प्रकृति को ही अनौचित्य पर आधृत माना है। यथा—

> **औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो व्यभिचारिण्या भावः अनौचित्येन तदाभासः।**[3]
>
> **तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः।**[4]
>
> **अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः।**[5]

अनौचित्य की मूल प्रकृति का विस्तार प्रबन्धगत औचित्य तथा सांस्कृतिक

बहुवचनेन बहुविषया गम्यत इति।
(रसगंगाधरः, प्रथममाननम्, सम्पादकः-मधुसूदन शास्त्री, पृ० ३५२)

[1] उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् (वही, पृ० ३५३)

[2] काव्यप्रकाश (झलकीकर) पृ० १२१

[3] लोचन (बालप्रिया, चौखम्बा सं० १९७७) पृ० ७८

[4] काव्यप्रकाशः (वामन झलकीकर) पृ० १२१

[5] साहित्यदर्पण (लोचन व्याख्यया समलंकृतः १९३८) पृ० १८४

एवं नैतिक अनौचित्य के अतिरिक्त कवि के प्रमादजन्य स्खलनों तक व्याप्त है। इसकी सीमा में रस-विघ्न रसदोष तथा गुणालकार के अनेक दोष तक समाविष्ट हैं। शिंग भूपाल[1] एवं शारदातनय[6] अंगी रस की अपेक्षा अंगरस की प्रधानता का प्रश्न उठाकर इसमें ध्वनिकार द्वारा निर्दिष्ट प्रसिद्ध रसदोष को समाहित करते हैं।[2] शारदातनय ने विविध रसों के विरोधी संश्लेष को भी रसाभास की कोटि में रखा है वामन तथा सुधासागरकर्ता ने प्रकर्ष के विरोध में अनौचित्य स्वीकार किया है, जो प्रकारान्तर से इसी मत की पुष्टि है।[3] आचार्य उद्भट ने रसाभास का अन्तर्भाव ऊर्जस्वित् अलंकार में किया है।[4] शास्त्रानुमोदित रूप से भिन्न रस-स्थिति ऊर्जस्वित् अलकार है। रुय्यक के अनुसार भी ऊर्जस्वित् आभास पर ही आधृत है, यह विषय से अविषय की ओर प्रवृत्ति है।[5]

स्पष्टत: ये सभी अभिमत मूलभाव की अपेक्षा गौण भाव में रसस्थिति की स्वीकृति में अनौचित्य से सम्बद्ध हैं। गौण स्थिति में रसनीयता अभिजात संस्कारों के उल्लंघन में भी स्वीकार की गई है :

'हीनपात्रेषु तिर्यक्षु नायक - प्रतियोगिषु।
गौणेष्वेव पदार्थेषु तदाभासं विजानते ॥[7]

---

१. अगेनांगी रस: स्वेच्छावृत्तिवर्धित सम्पदा। (रसार्णवसुधाकर: २/२६२, पृ० १२१)

२. भावद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता।
रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम् ॥
(भावप्रकाशनम् ६/२० पृ० १३३)

३. भावप्रकाशनम् पृ० १३२

४. सुधासागरे तु "अनौचित्येन प्रकर्षविरोधिना रूपेणेत्यर्थः। (काव्यप्रकाश: पृ० १२१)

५. यत्र तु तद्विरुद्धत्वं तन्मूलकलोकव्यवहारविरुद्धत्वं च तद्विषयाणां रसभावानामुपनिबंधे सति ऊर्जस्वित्काव्यं भवति। (काव्यालकार-सार-संग्रह (सम्मेलन इलाहाबाद-१९६६) पृ० ३५८)

६. एवमूर्जा बलं विद्यते यत्र, तदपि निबन्धनमेव। अनौचित्यप्रवृत्तत्वादत्र बलयोग:। (अलंकारसर्वस्वम् पृ० ३४६)

७. सरस्वतीकण्ठाभरणम् ५/३०, (कलकत्ता-१८९४ ई०) पृ० ५४३

दूसरे स्तर पर शास्त्रानुमोदित दृष्टि की अवहेलना का अनौचित्य काव्य-शास्त्रीय सीमा के अतिक्रमण तथा नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन में भी अभिव्यक्त होता है। यथा—

'शृंगारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे।
शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये॥
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे।
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र॥'[1]

हेमचन्द्र ने 'निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ'[2] कह कर समासोक्ति अर्थान्तरन्यास उत्प्रेक्षा इत्यादि को रसाभास का आत्मतत्त्व उद्घोषित किया है।[3] समासोक्ति में प्रस्तुत प्रकृति-पदार्थों को लिंग आदि विशेषणों के द्वारा मानव जैसा आचरण करते प्रदर्शित किया जाता है।[4]तिर्यग्गत भाव को रसाभास के अन्दर ग्रहण करने का अन्तःसूत्र भामह की उस अवधारणा में भी निहित है, जिसमें पशु पक्षियों एव दौत्यकर्म को अयुक्तिमत दोष कहा गया है। वाणीविहीन अथवा अस्पष्टवाणी वाले दूर देश तक विचरण कर दूतकर्म कैसे कर सकते हैं।[5] अतः ऐसे वर्णनों की प्रासंगिकता उन्मत्त के असंबद्ध प्रलाप में अवश्य हो सकती है।[6]

उक्त अभिमतों से स्पष्ट है कि रसाभास के मूल में हीनतर वृत्ति की ग्रहणशीलता का भाव निहित है, जिसे प्रायः शास्त्रीय (काव्य-शास्त्रीय, कामशास्त्रीय, नीतिशास्त्रीय एवं लोकशास्त्रीय) दृष्टि अवज्ञा और घृणा से

---

[1] साहित्यदर्पण: ३/३४२, पृ० १८५

[2] काव्यानुशासन (निर्णयसागर-१९३४) पृ० १२०

[3] रसाभासस्य भावाभासस्य च समासोक्त्यर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमाश्लेषादयो जीवितम्। (वही, पृ० १२२)

[4] साहित्यदर्पण १०/७४ पृ० ६१२ (लोचन १९३८)

[5] अवाचोऽव्यक्तावाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥
(काव्यालंकार (पटना-१९६२) १/४३, पृ० २२)

[6] यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते॥ (वही, १/४४ पृ० वही)

भी देखती है, किन्तु वर्ण्यमान होने पर वह सहृदय-संवेद्य भी होती है।[1] रसकी स्फीति, गौण अथवा हीन पात्रों में प्रणय के विकास, तिर्यग्गत अथवा निरिन्द्रिय जगत् में भावसत्ता, उदात्त रसों के हीनतर रसों से मिश्रण अथवा संयौजन में यदि हीनता के प्रति एक प्रकार का उपेक्षा भाव निहित है, तो उपनायक, अनुभय-निष्ठ बहुनायक-निष्ठ अथवा अधमपात्र-निष्ठ रति में समाज के उदात्त मूल्यों के अवमूल्यन का भाव बद्धमूल है। स्थितियों एवं पात्रों के प्रति समाज अथवा व्यक्ति की भावना में परिवर्तन भी आ सकता है, जिससे रसाभास विषयक उसका दृष्टिकोण संयुक्त अथवा विकृत होता है। अत: एक स्तर पर यदि म्लेच्छ शासक में **'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो'** का समीकरण बैठाया गया है तो दूसरे स्तर पर विद्याधर तथा नरसिंह कवि (अभिनव कालिदास) रसाभाव के उपयुक्त हीन पात्रों में म्लेच्छों का परिगणन करना नहीं भूलते हैं।[2] यह रसाभास की अवधारणा की आत्मनिष्ठ दिशा है। विचारणीय यहाँ यह है कि अनौचित्य प्रेरित उक्त प्रसगों की साधारणीकरण सिद्धान्त के साथ संगति किस आधार पर स्थापित की जा सकती है? निश्चय ही वह आधार रसाभिव्यंजना की सामग्री और परिस्थिति का प्रसंगानुकूल विनियोजन ही है।

रसाभास वस्तुत: एक भिन्न कोटि की रसदशा ही है। यह वस्तु एवं नेता की अन्त:क्रिया के कतिपय काव्योचित एवं संदर्भ-प्रेरित कोणों की उद्भूति है, जिनसे कथा के विकास को कुछ विशिष्ट स्थलों पर तार्किक अन्विति प्राप्त होती है। इस संदर्भ में कुमारसंभव का यह स्थल द्रष्टव्य है—

> **'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।**
> **शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥**
>
> (३/३६)

---

[1] अनौचित्यं हि शास्त्रलोकातिक्रमात् प्रतिषिद्धविषयकत्वादिरूपं सामाजिकसंवेद्यम्। (काव्यप्रकाश बालबोधिनी, (पूना-१९२१) पृ० १२१)

[2] शृंगारस्य म्लेच्छादिविषयत्वेनाभासत्वम्। (नंजराजयशोभूषण (नरसिंह कवि) बड़ौदा-१९३०, पृ० ३८)
एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा (वही)

ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रयांगनामा ।।
(३/३७)

पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ।।[1]
(३/३९)

समाधिस्थ शिव को पार्वती के प्रति प्रणयोन्मुख करने के लिए काम के सखा प्रिय वसन्त ने अपना उन्मादकारी स्वरूप विकसित किया । **'संकल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे ।**[2] अतः नायकमिथुन के समकक्ष रतिमुग्धा भ्रमर-भ्रमरी हाथी और हथिनी, चक्रवाकी, लता एवं वृक्ष की मधुचर्या प्रस्तुत प्रसंग की अनिवार्यता है । व्यंजना यह है कि मानवेतर पदार्थ भी जब वसंत के उन्मादकारी वीर्य-विक्षोभक प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके तो ज्ञातास्वाद शिव उससे किस प्रकार अप्रभावित रह सकते हैं । एक ओर लता-वधुओं का भुज-बंधन है और दूसरी ओर पर्याप्त पुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लवलता जैसी प्रणयमुग्धा पार्वती की केसरदाम कांची को बार-बार खिसकाने की रति-प्रार्थित चेष्टा; प्रकृति और मानव अभिन्नरूप से समंजित हो गये हैं । व्यक्तित्व एवं वातावरण की संश्लिष्टि यहाँ नायक-नायिका के प्रणयमुग्ध हृदय की आत्मगोपित प्रणय-दीप्ति से संवादित है । उन्मादक वातावरण में पार्वती का सान्निध्य जैसे क्रमशः लतावृत्त की प्रणयचेष्टा के अनुवर्तन का माध्यम बनता जाता है ।

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ।
(३/६७)

विवृण्वती शैलसुतापि भावमंगैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ।।
(३/६८)[3]

आचार्यों ने प्रकृति की मधुचर्चा के उक्त प्रसंग को रसाभास की कोटि

---

१. कुमारसंभव (कालिदासग्रन्थावली) पृ० २७१

२, वही, ३/२४, पृ० २७१

३. कुमारसंभव (कालिदास-ग्रन्थावली) पृ० २७७

में रखा है। किन्तु द्रष्टव्य यह है कि क्या उक्त प्रसंग रसभंग का कारण है या रस की प्रसंगानुरूप भूमिका निर्मित करता है। आचार्य विश्वनाथ उक्त उदाहरण देकर एक ओर रसाभास को काव्य के आत्मतत्त्व रस के अन्तर्गत ग्रहण करते है, दूसरी ओर उसमें अनौचित्य की प्रतीति भी स्वीकार करते हैं। किन्तु उनकी अनौचित्य की परिभाषा रसकी अभि-व्यंजना सामग्री से अविच्छिन्न रूप में जुड़ी हुई है।

अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे एकदेश-योगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्।[1] (३/३४१) एकदेशीय अभिव्यंजना का सम्बन्ध यदि कथ्य के अनुरूप विभाव-योजना अथवा रसांगो की संरचनात्मक (अनुरूपतागत) न्यूनता से है तो उक्त प्रसंग में शृंगारिक तत्त्वों की अभिव्यंजना अपने नाटकीय विन्यास में न केवल कथ्य की मूल प्रेरणा को उपलब्ध कराती है, अपितु निर्वेद की जडता से नायक की मुक्ति के मानवोचित प्रसंग को भी क्रीड़ाभाव से उभारती है। अतः विचारणीय यह है कि क्या यह सम्पूर्ण रसदशा है, जिसमें विभावादि के साधारणीकरण का पूर्ण अवकाश रहता है। स्पष्टतः विभाव यहां स्वयं में एकान्त साध्य नहीं है। वे रति को उद्बुद्ध अवश्य करते हैं, किन्तु वह मात्र उद्दीपक स्थिति है, उसमें आस्वाद्यत्व, उत्कटत्व सर्वहृदय-संवेद्यत्व या पुमर्थोपभोगित्व का अभाव है। वह आगामी त्रासद स्थिति के लिए मात्र विडम्बना का प्रभाव जगाती है। अतः प्रमाता का तन्मयीभवन नहीं हो पाता। वह उक्त परिदृश्य को औत्सुक्य एवं शंका से देखता है। राग-पक्ष की अपेक्षा उसकी बौद्धिकता ही एक सीमा तक यहाँ सतर्क रहती है। कथ्य के प्रति वह पूर्ण समर्पण नहीं करता, राग और विराग में विभक्त अपनी द्वैत चेतना को वह एक दु.खान्त परिणति की स्वीकृति के लिये तत्पर बनाता है। अतः काव्यगत सम्पूर्ण सामग्री से तादात्म्य की अपेक्षा वह मधुचर्या की एकदेशीय अभिव्यंजना को देखकर जहाँ एक क्षण के लिए रसमुग्ध होता है, वहाँ तटस्थ भाव से परिस्थिति का मूल्यांकन भी करता है। एक वितर्क चेष्टा प्रमाता की अन्तश्चेतना में आद्योपान्त अनुस्यूत रहती है। भ्रमर-भ्रमरी की यह मधुचर्या यहाँ आश्रय की विशेष प्रकृति या स्थिति से ही सम्बन्ध रखती है, प्रमाता की सामान्य चेतना से अविकल रूप में सम्बद्ध नहीं है, अतः स्थिति के विशेष बने रहने के कारण तादात्म्य-दशा

---

१. साहित्यदर्पण (लोचन-१९३८) पृ० १८४

में भी तटस्थता का संस्पर्श रहता है। वह उस विभाव सामग्री के प्रति आश्रय (शिव) की अनुभूति से एकदेशीय संवादिता स्थापित कर पाता है, 'प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते' जैसी तादात्म्य दशा उसकी नहीं होती। इस एकदेशीय सामग्री का अनिवार्य परिणाम कवि द्वारा प्रयुक्त रस-सामग्री से भिन्न भाव अर्थात् वर्णित भाव से उदासीनता है। अनुभूति की दशा में विशेष की अनुभूति एकान्त तिरोहित नहीं होती है। व्यापक अर्थ में यह कहा जा सकता है, इसमें मुख्य कथ्य के स्थान पर खण्ड सत्य को ग्रहण किया जाता है।

यह रसाभास में प्रमाता की मनोभूमिका का प्रथम संस्थान है। किन्तु रसाभास का आयाम कतिपय परिवेशगत सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों की स्वीकृति अथवा निषेध पर भी आधृत माना गया है। इसका पृथक् उल्लेख करना आवश्यक है, इस संदर्भ में विचारणीय तथ्य यह भी है कि रस की अभिव्यंजनापरक प्रासंगिकता में यह नैतिक दृष्टि अवरोध तो नही डालती। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आभासगत अनौचित्य कवि के उस प्रमाद का सूचक नहीं है, जिससे काव्य में वैरस्य उत्पन्न होता है। यह तो काव्योपात्त प्रसंग की अनिवार्यता से उद्भूत होता है और प्रमाता से एक भिन्न कोटि की अनुक्रिया की प्रत्याशा जगाता है। इस तथ्य को दृष्टि में न रख पाने के कारण भ्रमवश सभी नैतिक मूल्यों से स्खलित एवं विसंगत उदाहरणों को रसाभास की कोटि में रखा गया है। स्पष्टतः रसाभास के भित्ति-चित्रों का भावगत एवं प्रबन्धगत औचित्य असंदिग्ध होता है यथा—

> व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिताः परमाकुलाः।
> पाण्डुपुत्रेषु पांचाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः॥"[1]

द्रौपदी की दृष्टि का युधिष्ठिर की धर्मात्मा के प्रति भक्ति-निष्ठा के कारण झुकना, भीम की स्थूलाकारिता को देखकर त्रस्त, विचलित होना, अर्जुन के असाधारण शौर्य का स्मरण कर प्रणयोन्मीलित एवं नकुल तथा सहदेव के परम सौंदर्य के प्रति औत्सुक्य से विह्वल हो उठना आदि क्रियाएं पांचाली की बहुविषया रति की ओर इंगित करती है।

प्रस्तुत उदाहरण स्यात् पंडितराज की स्वनिर्मित मुक्तक उक्ति है, किन्तु

---

१. पृ० ३५४

इसके प्रति प्रमाता की अनुक्रिया प्रबन्धगत औचित्य पर ही निर्भर करेगी। यदि ये पाँचाली की अपरिणीता स्थिति की चेष्टाएँ हैं, तो इन विविध दृष्टियों के मूल में निहित अनुभूतिगत सामंजस्य व्याहत होगा। पांचाली की इन विभिन्न अनुक्रियाओं के किसो एक केन्द्र में समंजित न होने से प्रमाता के संवेदन भी विकीर्ण एवं बौद्धिक स्तर तक ही सीमित होंगे, वह उनको किसी संघनित रागात्मक स्पंदन में समीकृत नहीं कर सकेगा। तद्विपरीत यदि वे चेष्टाएँ सद्य:परिणीता पांचाली की हैं तो ये विविध दृष्टियाँ विविधोन्मुख होकर अनुराग के एक केन्द्र में समाहित होंगी[1]। इस स्थिति में यह **अयोगव्यवच्छेदक** (ना० द०) अनुभूति नहीं होगी। फलतः प्रमाता की चेतना भी इनसे अविकल रूप में संश्लिष्ट हो सकेगी। निश्चय ही यह रसदशा है, रसाभास की अनुभूति नहीं।[2] पंडितराज ने इधर संकेत अवश्य दिया है, किन्तु शास्त्र की स्थूल-दृष्टि की वे उपेक्षा नहीं कर सके हैं।

पांचाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद्रसाभास एवेति नव्याः। प्राञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः।[3]

इस विवेचन का संभावित अन्तःसूत्र यह है कि रसाभासपरक स्थलों में प्रमाता तात्कालिक विशिष्ट संवेदनों का तो आस्वाद करता है, किन्तु तदनन्तर रस के अभिव्यंजनागत सामरस्य से उन्हें विच्छिन्न पाकर उसका अनुभतिगत सामंजस्य विशृंखल हो जाता है। विशुद्ध रसानुभूति वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य है, जबकि रसाभास एक आपेक्षिक रसदशा है। स्थिति के समग्र बोध के बीच वह घटना प्रीतिकर नहीं रह जाती, फलतः प्रमाता उसके छायात्मक प्रभाव (आभास) को ही ग्रहण कर पाता है। उसकी अनुक्रिया मिश्रित होती है तथा वह स्थिति के प्रति समर्पित नहीं, पर्युत्सुक होकर देखता है। यथा—

'व्यत्यस्तं लपति क्षणं क्षणमथो मौनं समालम्बते
सर्वस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम्।

---

[1] रसगगाधरः (उपरिवत्) पृ० ३५४-५५

[2] अत एवान्यत्रानेककामुकविषयरतेराभासत्वेऽपि पाण्डवेषु द्रोपद्याः न तथा। बालबोधिनी, पृ० १२१)

[3] रसगंगाधरः (उपरिवत्) पृ० ३६५

श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागंगेषु धत्ते वृति
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त लंकेश्वरः ॥[1]

प्रारम्भ की तीन पंक्तियों तक प्रमाता वक्ता के विरहदग्ध मानस से सहज तादात्म्य करता है, किन्तु 'सीतालम्बन लंकेशगता अनुभयनिष्ट तथा जगदम्बाविषयक रति का समग्र परिज्ञान होने पर प्रमाता उस परिस्थिति के छायात्मक प्रभाव (आभासात्मक अनुभूति) को ग्रहण करता है। रावण सीता की विरह पीडा से दग्ध है—तथ्य के संज्ञानात्मक अनुभव तक ही उसकी अनुभूति सीमित रहती है। उन्माद, मोह चिन्ता के ध्वनिगत प्रभाव[2] की वस्तुनिष्ठ रसदशा की ओर यह अनुभूति उन्मुख अवश्य होती है, किन्तु मध्यान्तर से आगे नहीं बढ़ती। रावण के प्रति क्षुब्ध प्रमाता उसमें शृङ्गार और हास्य की मिश्रित अनुभूति भी कर सकता है।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अनुभयनिष्ठ अथवा जगदम्बाविषयक रति का प्रकाशन अभिव्यंजना की केन्द्रीय प्रासंगिकता का अंग बन कर आया है। रसदोष में जैसा कि हम अन्यत्र स्पष्ट करेंगे, आराध्यत्व का ज्ञान रसानुभूति का प्रतिबन्धक होकर जब केन्द्रीय अभिव्यंजना से विच्छिन्न हो जाता है तो वह रसाभास की अपेक्षा रसदोष की कोटि में ही रह जाता है।[4] इस स्थिति में आलम्बन सहृदयों को रस का बोध कराने में असमर्थ रहते हैं। आराध्यत्व के अन्तराय के कारण साधारणीकरण की भूमिका निर्मित ही नहीं हो पाती। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि आराध्यत्व का प्रतिबन्ध मूलत: नैतिक अथवा मर्यादित संस्कारों की सापेक्ष चेतना से है। गीतगोविन्द के राधा-कृष्ण की प्रणयलीला में संभवत: मर्यादित दृष्टि आस्वाद की ओर उन्मुख न हो सके।[5] रसाभास में स्थिति गौण रहती है।

---

[1] वही, पृ० वही।

[2] रसगंगाधर पृष्ठ ३५६

[3] अत्रादौ सहृदयानां सीताविषयकरावणरतेस्तन्मयीभावेनास्वाद्यतेति शृंगारचर्वणैव, पश्चातद्रतेरनुचितालम्बनकत्वज्ञानेन तद्विषयकहासोद्बोधाद्धास्यचर्वण शृंगारचर्वणा च तदाभासचर्वणेति। (बालप्रिया, चौखम्बा-सं० १९९७, पृ० ७९)

[4] रसगंगाधर पृ० २२०

[5] सकलहृदयसंमतोऽयं समयो मदोन्मत्तमतंगजैरिव भिन्नः। (वही, पृ० वही)

मुख्यता अभिव्यंजना की प्रासंगिकता की होती है।

इसी के समानान्तर तथ्य यह है कि रावण की विप्रलंभदशा की पृष्ठभूमि में जहाँ उसके आतंककारी प्रभाव के सूक्ष्म विधान की मौलिक संयोजना, अपेक्षित है, वहाँ प्रमाता रावण की विरह-संवेदना की अपेक्षा उस प्रभाव को ही ग्रहण करता है। प्रतिनायक के शौर्य का आख्यान बन कर यह वर्णन रसाभास की कोटि से बाहर निकल जाता है तथा प्रतिनायक के आन्तरिक एवं बाह्य सत्त्व को भिन्न स्तर पर निर्धारित एवं व्याख्यायित करता है।

कहने का आशय यह है कि रसाभास परक स्थलों की योजना कवि की शक्ति अथवा सीमा को परिभाषित नहीं करती। इन स्थलों का आपेक्षिक महत्त्व होता है तथा वह काव्य की सुनियोजित रचना-पद्धति का अंग बन कर आते हैं, उनमें भी जीवनानुभूति के आन्तरिक सत्त्व की विवृति होती है। ये स्थल एक स्तर पर रस के अभिव्यंजनागत वैशिष्ट्य को प्रमाणित करते हैं, दूसरी ओर उसे जीवनानुभूति की उस समग्रता से जोड़ते हैं, जो सामान्य नैतिकता की कोटि से छूट जाते है।

कलहशील कुपुत्र के प्रति वीतराग का शोक, ब्रह्म-विद्या के अनधिकारी चाण्डाल में निर्वेद, कायर में क्रोध, गुरु-पिता के प्रति क्रोध और उत्साह, गुरुओं का उपहास, महावीर को भय इत्यादि मूल्य जीवन के परम्परित मनोवैज्ञानिक सांस्कृतिक एवं नैतिक प्रतिमानों की संवेदना का अतिक्रमण अवश्य करते हैं,[1] किन्तु यह भी सत्य है कि इनकी अभिव्यंजनागत प्रासंगिकता सामूहिक अनुभूति के केन्द्र को भी अदृश्य रूप से निरन्तर प्रभावित करती रहती है। ये प्रसंग कथ्य की अनिवार्यता से प्रेरित कवि सामर्थ्य के ही द्योतक हैं, अतः उन्हें औचित्य के स्खलन की कोटि में स्थान देना उपयुक्त नहीं हैं। क्षेमेन्द्र के 'कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा' ...नायान्ति के हास्यताम्' का संदर्भ भिन्न है। निश्चय ही रसाभास रस-ध्वनि का भेद है, जिसका आशय यह है कि वाच्यार्थ को अतिशयित करने वाले उस प्रतीयमान अनुभूतिगम्य अर्थ पर दृष्टि केन्द्रित की जाये, जो रचना

---

[1] एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमानः शोकः,... पित्राद्यालम्बनत्वेन च क्रोधोत्साहौ...गुर्वाद्यालम्बनतया च हासः,...सुधीभिरुन्नेयाः (रसगंगाधरः प्रथमाननम् पृ० ३५६)

का सारभूत प्रभाव है। यह बात भिन्न है कि उसमें आस्वाद के प्रयोजक के रूप में अंश की प्रधानता रहती है, 'आस्वादे प्रधानं प्रयोजकांशं विभज्य पृथगवस्थाप्यन्ते' अभिनव के अनुसार यह रस की उत्तरकालिक स्थिति है— 'तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृंगारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधारणेन'।[1]

स्पष्टतः रसाभास का आस्वाद अर्थ प्रक्रिया के अन्दर से क्रमशः उन्मीलित होता है। इसमें शब्दबोध के अनन्तर अर्थ तुरन्त उद्घाटित नहीं होता, अपितु सामान्य अर्थ के अनन्तर ही अनौचित्य का ज्ञान विशिष्ट स्तर पर घटित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भाव की अप्रत्याशित स्फीति के अनन्तर ही केन्द्रीय अनुभूति प्रकाशित होती है। अतः रसदशा के समान इसमें व्यंजना की सघनता तो नहीं रहती, किन्तु जीवनगत अनुभूति के विवेक की विस्तृत चेतना अवश्य उत्पन्न हो जाती है। यह चेतना अनौचित्य की रसात्मक चेतना है, जो लौकिक नहीं कही जा सकती। वामन झलकीकर ने इस प्रश्न का समाधान देते हुए कि क्या लौकिक अवस्था में ही रसाभास उत्पन्न होता है, सामाजिकनिष्ठ अलौकिक स्थिति में नहीं, उत्तर में कहा है कि साधारणीकरण के माध्यम से जब सामाजिक वर्णन में तन्मय हो जाता है, तभी क्रमशः उसकी आत्मस्थ रति आभासता की ओर उन्मुख होती है। यह स्थिति लौकिक अवस्था से भिन्न, रसात्मक स्थिति है। 'नन्वेतावता लौकिकस्याभासत्वमागतं न तु सामाजिकनिष्ठस्यालौकिकस्येति चेन्न। साधारणीकरणोपायेन सामाजिकस्य वर्णनीयमयीभावात्सामाजिकनिष्ठरतेरप्याभासत्वमितीति।'[2] आशय यह है कि सहृदय के चित्त में रसमग्नता के अन्तराल से ही अनौचित्य का बोध उभरता है। असंलक्ष्य-क्रमता में ही संलक्ष्यता की अस्फुट प्रतीति रहती है। वस्तुतः यह तन्मयता से वेद्यान्तरता या एक सीमा तक तटस्थता की दिशा है। आधुनिक शब्दावली में यह विसंवादी अनुभूतियों की क्रमिक उपस्थिति है, जो बाह्य तथा आभ्यन्तर जगत् के सामंजस्य को द्वन्द्व रूप में उपस्थित करती है। जीवन के व्यापक बोध के बीच विशृंखलित होती हुई मानव चेतना को यह अनेक कोणों पर परिभाषित करती है। ये कोण अंशतः समाज-शास्त्रीय, नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक

---

१. ध्वन्यालोक - लोचन (चौखम्बा-१९९७ सं०) पृ० ७८

२. काव्यप्रकाश बालबोधिनी (पूना-१९२१), पृ० १२३

सूत्रों से भी जुड़े होते हैं। अतः बहुनायकसंस्था रति के समान बहुनायिका संस्था रति भी सामाजिक मान्यता से अपदस्थ हो कर रसाभास की कोटि में जा सकती है। तद्विपरीत जानसार बावर जैसे क्षेत्रों में जहाँ अनेकपतित्व का विधान है, रसाभास का निकष अनिवार्यतः भिन्न होगा। राम द्वारा वाली को दिये गये दण्ड के औचित्य का आधार स्पष्टतः वह प्रतिमान रहा है, जिसमें उक्त आचरण लोक-विरुद्ध होने से दण्ड्य हैं।

तदव्यतीतस्य ते धर्मात् कामवृतस्य महात्मनः।
भ्रातृभार्याभिमर्शेऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः॥
नहि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप॥[1]

आशय यह है कि समाजशास्त्रीय प्रतिमानों का एक विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ होता है, जिसमें निहित द्वन्द्व चेतना अनिश्चयात्मक होती है। फलतः कथ्य से आभ्यन्तर स्वर पर अन्वित न होने के कारण यह अनुभूति साधारणीकृत नहीं हो पाती। मनोवैज्ञानिक संदर्भों में समाहत होकर यह द्वन्द्व चेतना तनाव के भीतरी परिवेश की सृष्टि करती है। अतः अभिनव रसाभास के मनोवैज्ञानिक संघटन का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—

यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः'[3]

स्पष्टतः विभावाभास से अभिनव का आशय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है, जिसमें आलम्बन और आश्रय में आस्थाबन्ध का अभाव होने के कारण[3] प्रेम आत्म प्रतारणा पर आधृत भावुकतापूर्ण उच्छ्वास से अधिक महत्त्व नहीं रखता। विडम्बना का एक स्तर यह है कि न तो आश्रय को यह विश्वास हो पाता है कि आलम्बन मेरे प्रति विरक्त है और न अपने प्रति उसकी अनुरक्ति की निश्चयात्मक प्रतीति हो पाती है, फलतः किसी भी स्तर पर रागात्मक सबंध की सहज स्वाभाविक प्रतिष्ठा नहीं हो पाती।[4] रति नहीं मात्र उसकी अनुकृति अथवा आभास

---

१. वाल्मीकि-रामायण (किष्किन्धाकाण्ड १८/२०-२१), पृ ७२२

२. ध्वन्यालोक लोचन (बालप्रिया सहित), पृ० १७७-७८

३. परस्परास्थाबन्धाभावात्, वही, पृ० १७८

४. सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्ति हृदयं न स्पृशत्येव।
(वही, पृ० वही)

एक सम्वोधनहीन असम्प्रेषणीय रागात्मक अन्त:सम्बन्ध को निर्धारित करता है। इस स्थिति में सहृदय की आश्रय के साथ भाव-तादात्म्य की स्थिति भी मूलतः द्वन्द्वात्मक ही है। एक स्तर पर वह रतिभाव को संज्ञानात्मक रूप में ग्रहण करता है, दूसरे स्तर पर वह अपनी पृथक् स्थिति के विषय में सचेतन रहता है तथा तीसरी स्थिति में वह आश्रय अथवा आलम्बन के प्रति अपनी स्वतन्त्र रागात्मक प्रतिक्रिया का निर्माण करता है। आशय यह है कि रसाभास का प्रकरण साधारणीकरण के वृत्त में जिस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा आता है, उसका एक ध्रुव सहृदय की प्रतिक्रिया तथा दूसरा अभिव्यंजनागत अनिवार्यता में निहित है। लक्ष्मण के प्रति सीता के दुर्वाद तथा सीता के चरित्र के प्रति राम की आशंकागत अभिव्यक्तियों का एक स्तर सीता तथा राम की अन्तश्चेतना की जटिलता से सम्बद्ध है, तो दूसरे स्तर पर यह काव्य-चेतना के विशिष्ट सांस्कृतिक विकास की अभिव्यंजनागत अनिवार्यता है। प्रमाता का हृदय इन स्थितियों से असम्पृक्त नहीं रहता, अपितु अपने व्यक्तित्व की पृथक् सत्ता बनाये रख कर सम्पूर्ण प्रक्रिया का मूल्यबोध के जटिल स्तर पर बौद्धिक विश्लेषण करता रह जाता है।

अंगी रस और साधारणीकरण

महाकाव्य अथवा नाटक में एक विशिष्ट भावानुभूति को गौण भावानुभूतियों से सम्पुष्ट एव संघनित कर चरम परिणति तक पहुँचाना ही कवि का लक्ष्य होता है। प्रबन्ध की मूल अनुभूति एक ही रस को केन्द्र में रखकर काव्यार्थ के रूप में प्रतिष्ठित होती है, शेष संचारी या अंगभूत होती हैं[1]। रसों के परस्पर संश्लेष में विरोधी रसों को समान उत्कर्ष प्रदान नहीं किया जाता, फिर भी काव्य के सारभूत प्रभाव में चमत्कार और वैचित्र्य की सृष्टि के लिए प्रवन्ध की विभिन्न अन्तर्दशाओं के अनुरूप अनेक रसों की स्थापना की जाती हैं। वस्तुतः जीवन के व्यापक वैविध्य की दृष्टि से यह अनिवार्य है कि उसमें विविध रसों का संश्लेष हो, किन्तु यह ध्यान रखा जाता है कि

---

[1] बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् वहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः॥
(नाट्यशास्त्रम्, ७/११९, पृ० ९७)

अंगी रस के आधिक्य से न तो एकरसता उत्पन्न हो और न अंग रस की प्रधानता से कथा-क्रम खण्डित हो।[1] इस संदर्भ में साधारणीकरण के परिप्रेक्ष्य में अंग रस की उस सापेक्ष स्थिति का उल्लेख करना आवश्यक है जिसमें गौण अनुभूति केन्द्रीय अनुभूति से संघर्ष करती हुई दुर्द्धर्ष आवेग के साथ गतिशील होती है।

अंगी रस मूलत: मुख्य पात्र की जिजीविषा को प्रतिफलित करता है। नायक की मूल वृत्ति जिस अनुभूति के माध्यम से अपने औचित्य को प्रतिपादित करती तथा चरम घटना एवं फलागम की स्थिति तक उसके कार्य-व्यापार को नियंत्रित करती है, उन प्रवृत्तियों की प्रासंगिकता अंगी रस की सापेक्षता में ही निर्धारित होती है। उसी अनुभूति को विविध अनुभूतियों के अन्दर से पुन: पुन: अनुसंधान करके[2] प्रमाता विशृंखल होती हुई अपनी चित्त-वृत्ति को एकाग्र करता है।

स्वाभाविक है कि काव्य-प्रसंगों के वैविध्य में कवि का संवेद्य जीवन-सत्य अंगी रस के माध्यम से ही प्रमुख रूप से सम्प्रेषणीय हो। प्राचीन साहित्य में आस्वादन की ऋजु रेखा के कारण अंगी रस का अनुसंधान कठिन भी नहीं था। अभिनव के अनुसार कवि का साधारणीभूत चैतन्य अर्थात् जीवन के व्यापक तथ्यों के साथ रागात्मक सम्बन्ध में परिणत होने वाला अन्तर्व्यक्तित्त्व ही अभिव्यंजनात्मक उपकरणों में रूपान्तरित होकर क्रमश: नाट्य-व्यापार की केन्द्रीय अनुभूति के रूप में अभिव्यक्त होता है।[3] अत: प्रमाता काव्य में सारभूत प्रभाव अथवा फलयोग को ही अनुभूति का लक्ष्य मानता है। प्रसाद जी के अनुसार रस में फलयोग अर्थात् अन्तिम संधि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो संचारी भावों के प्रतीक हैं; रस को खोज कर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक-मात्र हैं।

---

१. एकांगिरसमन्यांगमद्भुतान्तं रसोर्मिभि:।
अलंघितमलंकारकथांगैरगलद्रसम् ॥
(नाट्यदर्पण, १/१२/१५, पृ० ३७)

२. प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुत: सन् पुन: पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रस:......। (ध्वन्यालोक, ३/२२ की वृत्ति, पृ० २३१)

३. कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नाट्यव्यापार: सैव च संवित् परमार्थतो रस:। (अभिनवभारती, अध्याय-६)

अन्वय और व्यतिरेक से, दोनों प्रकार से वस्तुनिर्देश किया जाता है। इसलिए मुख्य रस का आनन्द बढ़ाने में ये सहायक-मात्र ही हैं, वह रसानुभूति निम्न कोटि की नहीं होती।[1] इसमें सन्देह नहीं कि नाटक में करुण अथवा त्रास के ऐसे दृश्य भी हो सकते हैं जो अंगीरस की सापेक्षता में हास्य अथवा विडम्बना का प्रभाव उत्पन्न करें, यथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में :

एष त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।[2]

मातलि की त्रासद उक्ति विदूषक के 'विडालगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः'[3] जैसे कथन की सापेक्षता में विडम्बना तथा हास्य की भूमिका निर्मित करती है।

काव्य मूलतः कवि के विशिष्ट अनुभूति-परिवेश के वैविध्य को व्यक्त करता है। अतः अवचेतन स्तर पर प्रमाता के मन में एक समानान्तर संसार भी गतिशील रह सकता है, जिसमें प्रतिनायक एक विशिष्ट आदर्श अथवा प्रतिधर्म का प्रतिनिधि बन कर उसके चेतना केन्द्र में उद्भासित हो सकता है। मिल्टन के शैतान अथवा नैषधकार के कलि के संदर्भ में कवि की उस अनुभूति का अन्यत्र विवेचन किया गया है, जिसमें पाप का प्रतिनिधि शैतान अथवा कलि अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण प्रमाता के रागात्मक अथवा बौद्धिक संस्थान को स्पन्दित करता है। निश्चय ही प्रमाता तथा पात्र के मध्य रागात्मक तादात्म्य की ऋजु रेखा गतिशील नहीं होती, अपितु राग एवं विवेक की द्वैधी चेतना पात्र को अनेक कोणों पर परिभाषित एवं स्वायत्त करती है। प्रमाता परिस्थिति की जटिल आवर्त्त भंगियों में पात्र को अपनी मूल प्रकृति अर्जित करते देख कर तन्मय भी होता है तथा विशिष्ट क्षणों में निर्णायक हस्तक्षेप की प्रत्याशा भी अनुभव करता है। यह सत्य है कि चरित्र-वैचित्र्य रस का साधन है, साध्य नहीं, किन्तु पात्र का एक स्वतन्त्र अस्तित्व भी है, वह निरन्तर स्वयं को साधन रूप में व्यवहृत होने की इस प्रक्रिया का अवचेतन स्तर पर निरन्तर विरोध करता है, जिसमें उसका मानवीय वैशिष्ट्य साधन रूप में पर्यवसित होकर अमानवीकृत हो जाता है। प्रमाता इस अमानवीकरण के विरुद्ध मानव की मौलिक चेतना अथवा अस्मिता

---

[1] काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ८३

[2] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ० १७१

[3] वही, पृ० १७२

की पुनः प्रतिष्ठा के संघर्ष से तादात्म्य कर व्यक्ति की रूढ़ तथा वर्गीकृत सामान्यता से मुक्त होता है। सीता राम की अनन्य सहचरी ही नहीं है, अपना मौलिक अस्तित्व भी रखती है, उसके अस्तित्व की पुनः प्रतिष्ठा देख कर प्रमाता रागात्मक ही नहीं बौद्धिक स्तर पर भी उद्वेलित होता है।

'वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ।।'[1]

इन पंक्तियों में सामान्यता से मुक्त सीता का निजी अन्तश्चैतन्य उन्मीलित होकर अमानवीकरण के विरुद्ध व्यक्ति के अधिक व्यापक बिम्ब को प्रतिष्ठित करता है, जिसमें अन्तः प्रतिबिम्बित होकर प्रमाता भी चेतना के विविध स्तरों पर अनुभूति के अनेक आयामी अस्तित्व से समीकृत होता है। इस स्तर पर गौण रस (अंग रस) केन्द्रीय अनुभूति (अंगीरस) के प्रभाव को क्षीण नहीं करता, एक रूढ़ सामान्य चेतना से मुक्त कर उसे व्यापक अन्तश्चैतन्य के स्तर पर पुनः अनुसंधेय बनाता है, जिसके परिप्रेक्ष्य में प्रमाता काव्य के सारभूत प्रभाव को नये सिरे से परिभाषित करने लगता है।

शान्तरस तथा साधारणीकरण की मौलिक चेतना में साम्य एवं वैषम्य

शान्तरस एवं साधारणीकरण की पार्यन्तिक भूमि में विलक्षण साम्य है। आचार्यों ने शान्तरस की इस प्रकार परिभाषाएँ दी हैं।

'न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ।।
भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्गतः।'[2]

'सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् ।।
जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासना विषये।'[3]

---

१. रघुवंश, १४/६१, (कालिदास-ग्रन्थावली) सं० राम प्रताप त्रिपाठी, पृ० १८५

२. नाट्यशास्त्रम भाग-१, पृ० ३३२-३४

३. रुद्रट काव्य लंकार (दिल्ली-१९६५) पृ० ४१०

'तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदः तदेव सुखं, अन्ये तु सर्वचित्तवृत्तिप्रशम एवास्य स्थायीति मन्यते।'[1]

उक्त परिभाषाओं में निम्नस्थ सूत्र निहित हैं :—

(१) शान्त रस में प्रमाता का मन बौद्धिक एवं भौतिक व्यापारों से उपरत होकर आध्यात्मिक विश्रान्ति पाता है।

(२) यह रागद्वेष मात्सर्य रहित सुख दुःखातीत सामरस्य की मनोभूमिका है।

(३) सभी भाव अन्त में शान्त रस में विलीन हो जाते हैं।

(४) यह सम्यग्ज्ञान की अनुभूति विगलितवेद्यान्तरता जैसी स्थिति है, जिसमें सभी रागों के उमशमित होने से चित्तवृत्ति का प्रशम होता है।

स्पष्टतः ये सभी अनुभूतियाँ प्रमाता की विगलितवेद्यान्तरता की ही मनोभूमियाँ हैं, जिनका संकेत आचार्यों ने प्रायः साधारणीकरण की प्रक्रिया में किया है।

(१) निविडनिजमोहसंकटकारिणा...सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन।

(२) सा चाविघ्ना संवित्।

(३) तस्मिन् हितस्यैवात्रैवैतस्यैव च सुखं वा इति न भवति।

(४) अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणगोचरतां नीतोऽर्थः।

इस तुलना का निष्कर्ष यह है कि साधारणीकरण की चरम-स्थिति में जो सत्त्वोद्रेक, संविद्-विश्रान्ति, रागद्वेष से मुक्तता, सुखदुःखातीत स्थिति एवं अलौकिक निर्विघ्न संवेदनात्मकता की अवधारणाएँ निहित हैं वे एकान्ततः शान्तरस की स्वरूप प्रक्रिया में ही समाहित हैं। शान्तरस की अवधारणा का एक पक्ष यह भी है कि आचार्यों के अनुसार सब रसों का आस्वाद शान्त प्राय ही होता है। शान्त सर्वरसप्रकृति है।[2] आशय यह है कि शान्तरस

---

[1] अभिनवगुप्त लोचन, नम्बर आफ रसाज पृ० १६ से उद्धृत।

[2] तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो विषयेभ्यो विपरिवृत्या। तन्मुख्यतालाभात्केवलं वासनान्तरोपहित इत्यस्य सर्वप्रकृतित्वाभिधानाय पूर्वमभिधानम्। (नाट्यशास्त्रम्, भाग-१, पृ० ३३९)

की प्रकल्पना सामान्य रस के रूप में अस्तित्व में आती है। अतः सम्भव है कि साधारणीकरण की अवधारणा के मूल तत्त्व शान्तरस की प्रक्रिया से भी ग्रहण किए गए हों। किन्तु, विवेचनोय तथ्य यह है कि जिस रस के मूल स्वरूप में ही चरम विश्रान्ति एवं विगलितवेद्यान्तरता के सूत्र निहित हैं, साधारणीकरण के स्तर पर अन्य रसों की तुलना में उसकी स्थिति किस अर्थ में भिन्न अथवा विशिष्ट है। इस संदर्भ में उन तथ्यों पर दृष्टि डालना भी अप्रासगिक न होगा जो शान्त रस की मौलिक स्थिति तथा उसकी नाट्यरस के रूप में अवतारणा विषयक विप्रतिपत्तियों से सम्बद्ध हैं। इस संदर्भ में एक तथ्य यह भी है कि भरत ने यद्यपि शान्तरस की मौलिक स्थिति को स्वीकार नहीं किया है तथापि काव्य वस्तु के सारभूत प्रभाव की दृष्टि से उसकी प्रासंगिकता की ओर इंगित अवश्य किया है[1], जिनके आधार पर अभिनव ने शान्त रस की परिकल्पना तथा उसकी हृदय-संवादगत स्थिति की संभावना व्यक्त की है। 'प्रतीयत एवेति मुनिनाप्यंगीक्रियत एव क्वचिच्छमः इत्यादि वदता।[2]

हृदयसंवादोऽपि तथाविधतत्वज्ञानबीजसंस्कारभावितानां भवत्येव यद्वक्ष्यति मोक्षे चापि विरागिणः इति।[3]

इस संदर्भ में डा० राघवन् का विचार है कि संभवतः विरागियों अथवा मुमुक्षुओं को दृष्टि में रख कर प्रस्तुत किया गया कोई नाट्य-प्रयोग भरत के सन्मुख उपस्थित नहीं था। भयानक अद्‌भुत का चित्रण करने वाले नाटक भी नहीं थे, अंग अथवा संचारी रस के रूप में उनकी योजना अवश्य होती थी, किन्तु उनकी स्वीकृति के मूल में स्पष्ट कारण यह था कि शम की अपेक्षा उन रसों के प्रति प्रमाताओं की उन्मुखता और संवेदनशीलता अधिक प्रखर थी।[4] इस विवेचन में आंशिक सत्य यह है कि परवर्ती प्रारम्भिक

---

[1] क्वचिद्धर्मः क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः (वही, १/१०८, पृ० ३८)

[2] अभिनवगुप्त लोचन,

[3] नाट्यशास्त्रम्, भाग-१, पृ० ३४०।

[4] Bharata did not have before him any specimen of drama written only for Moksa or salvation and the Viragins, the dispassionate souls...the hearts attuned to which must necessarily be very small in number.

(V. Raghavan) The Number of Rasas p. 20)

नाट्यालोचन में शम को नाट्यस्तर पर स्वीकृति नहीं मिली। अवलोककार के अनुसार शम की सत्ता रागाद्वेष के उच्छेद पर निर्भर है, किन्तु अनादिकाल से अन्तःकरण में अनवरत प्रवाहित रागद्वेष का उच्छेद असंभव है। 'अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्।'[1] शम में समस्त व्यापारों का विलय हो जाता है। जबकि अभिनेयता में मानव की सक्रियता आवश्यक है।[2] इस संदर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि विरुद्ध एवं अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न न होना स्थायी का लक्षण है, किन्तु निर्वेद की स्थिति भिन्न है, वह यदि चिन्ता आदि व्यभिचारियों के बीच-बीच में निक्षिप्त अथवा व्यवहित होने से परिपुष्ट भी होता है, तो वैरस्य ही उत्पन्न करता है।[3] दूसरा तथ्य यह है कि जहाँ शम की संभावना व्यक्त की जाती है, वहाँ अभिलाषा, अनुराग, विजिगीषा इत्यादि प्रवृत्तिमूलक भावों की प्रधानता हो जाने से शम की प्रधानता समाप्त हो जाती है।[4] स्पष्टतः धनिक की इन निषेधमूलक युक्तियों को यदि पूर्वाग्रह-मुक्त दृष्टि से देखा जाए, तो उसमें आंशिक सत्य है। साधारणीकरण में एक द्वंद्वात्मक अन्तःक्रिया गतिशील रहती है। शान्तरस दुःखातीत सामरस्य की मनोभूमिका से संवेदनात्मक सीमा तक सम्बद्ध माना जा सकता है किन्तु संवेद्य भूमिका में उतरते ही व्यभिचारियों का प्रभाव शम की मौलिक स्थिति में एक गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित कर देता है।

करुणत्व और आनन्दानुभूति

मानव के अनुभूति-जगत् में ईर्ष्या, क्रोध, प्रेम एवं घृणा इत्यादि सुख-दुःखात्मक भावों की सरिता अनादिकाल से प्रवाहित हो रही है।[5] दुःखात्मक

---

[1] दशरूपकम् (चौखम्बा-१९६७) पृ० २२७

[2] यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्।
(वही, पृ० २२७)

[3] विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्, अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति। (वही, पृ० २२९)

[4] न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ।
(वही, पृ० २२७)

[5] ईर्ष्याक्रोधादिसम्मूढे लोके सुखित-दुःखिते। नाट्यशास्त्रम् (चौखम्बा-१९२१) १/९ पृ० १)

प्रसंगों का रसानुभूति के आनन्दात्मक स्तरों पर ग्रहण साधारणीकरण की प्रमुख समस्या है। अतः भारतीय-पाश्चात्य काव्यशास्त्र में यह प्रश्न आस्वाद के प्रतिमान का संदर्भ रखता है।

वस्तुत: दुःख-निवारणार्थं मानव-कल्पना ने भावना-विनिर्मित क्रीडनीयक[1] रूप में नाट्य (काव्य) की सृष्टि की है। अभिनव गुप्त ने इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित किया है **'तत्र सर्वेष्वेव मन्वन्तरेषु त्रेतावसरे ब्रह्मणा नाट्यवेदः प्रवर्तितः। कृतयुगे तु नेति तात्पर्यम्।…तेन सर्वेषु त्रेता युगेषु नाट्यप्रवृत्तिरित्युक्तं भवति।**[2] अर्थात् सभी मन्वन्तरों में त्रेता युग में ब्रह्मा ने नाट्यवेद प्रवर्तित किया, सतयुग में नहीं किया। मिथकीय (पौराणिक) परिपार्श्व से मुक्त कर देखें, तो यह कथन विकास मूलक मनोविज्ञान की सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित है। कृतयुग मनोमंथन का युग नहीं है, वह एकान्त आत्मतोष की सुखत मनोभूमिका है।[3] उनमें सामरस्य है वैषम्य नहीं है। त्रेतायुग अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति का युग है, जिसमें अनिर्णीत स्थितियों तथा परस्पर विरोधी विकल्पों के विषम प्रवाह में व्यष्टि आत्मबद्धता से मुक्ति पाकर समष्टि के प्रति प्रतिश्रुत होता है। उसमें कर्म की व्याकुलता है। इसे अरस्तु ने कर्म-रत मानव (मैन इन एक्शन) की संज्ञा दी है।[4] कर्म की व्याकुलता ही कवि-कर्म की अनिवार्यता है। न यह सत्त्व की एकान्त क्षोभ (राग) मुक्त प्रक्रिया है और न तमस् की मोहान्ध सृष्टि। यह रजस् की सक्रियता और तमस् की जड़ता से अनुविद्ध सत्त्व की प्रबल प्रखर संवेदना है।[5] भट्टनायक ने रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलात्…

---

१. क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्यं च यद् भवेत्। (वही, १/११ पृ० २)

२. अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३, पृ० ६४-६५

३. न ह्येकान्तसुखिते काले देशे वा क्रीडया किंचित्, नाप्येकान्तदुःखिते।
तेन कृतयुगे कलिप्रान्ते वा, न क्रीडोपपत्तिः॥
(वही, पृ० ६८)

४. CF Tragedy is an imitation, not of men, but of an action and of life, and life consists in action, and its end is a mode of action, not a quiety. (Aristotle's Poetics) S.H. Butcher (Dover U.S.A-1951) p. 27

५. कृतयुगे सत्त्वप्रधाने स्वधर्ममात्रनिष्ठो लोको न सुख-दुःखे प्रति हेयोपादेय-

इत्यादि के द्वारा इस ओर प्रामाणिक संकेत किया है। द्रुति विस्तार विकास का त्रिक काव्य या नाट्य की सहृदयनिष्ठ अनुभूति का ही नहीं कविनिष्ठ चेतना का भी आख्यान है। आशय यह है कि काव्य-सृष्टि और उसका अनुभावन सुख का निस्तरंग आत्मस्वाद ही नहीं है, उसमें आवेग एवं उग्रता की सकर्मकता भी निहित है। अत: त्रेता अभिनव के अनुसार एक मानसिक स्थिति है। रागमुक्त सत्वोद्रिक्त (कृतयुगीन) दैवी मन भी जब राजस तामस गुणों के अनुवेध से विक्षुब्ध मानव-भूमिका में चंचल होता है, तो अभिव्यक्ति की दुर्वार तृषा काव्य-प्रतीक (क्रीडनीयक)[1] में ही आकार ग्रहण करती है। आदि काव्य के उद्भव की गाथा को शायद इसी कारण आवेगात्मक अनुक्रिया की सृष्टि के कारण त्रेता-युग से ही जोड़ा गया है। नियतेन्द्रिय वाल्मीकि निषाद-निहत क्रौंची को देख कर करुणा से विक्षुब्ध हो उठते हैं। **'ऋषे धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत'**[3] यह करुणा शोक पर्यवसायी शाप में परिणत हो कर जिस श्लोकत्व में रूपान्तरित होती है[3] उसका अनुभावन स्वयं में एक प्रीतिकर अनुभूति है।[4] **'शोकः श्लोकत्वमागतः'** में अनुभावन का यह संकेत अत्यन्त स्पष्ट है। आदि कवि विरुद्धों के सामंजस्य से शोक एवं प्रीति का समीकरण प्रस्तुत करते हैं। क्रीडनीयक की व्याख्या करते हुए अभिनव इस तथ्य के प्रति सजगता व्यक्त करते हुए कहते हैं **'क्रीड्यते चित्तं विक्षिप्यते, विह्रियते येन तदिच्छामः'**[5]। स्पष्टतः यहाँ अनुभावन तथा सर्जनात्मक संवेदनों की तदाकारता को दृष्टि में रख कर विक्षेप शब्द का प्रयोग किया है।

धिया प्रयस्यति। त्रेतायां तु राजसत्वाद् दुःखं जिहासति सुखं च प्रेप्सति। रजसश्चलत्वात्। (अभिनवभारती, दिल्ली पृ० ७५)

१. यत् स्वर्गेऽपि हि तदा-तदा मानुषगतराजसधर्माभिसम्बन्धचित्रितयागादियोगरजसीकृतहृदयत्वाद् देवा अपि क्रीडनकमभिलेषुरिति। (वही, पृ० ७७)

२. वाल्मीकिरामायण (१) गोरखपुर सं० २०२४ वि०, पृ० ३१

३. वही, १/२/१८ पृ० वही

४. मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः (वही, १/२/३९ पृ० ३३)

५. अभिनवभारती, पृ० ७७

इदमस्माकं गुडप्रच्छन्नकटुकौषधकल्पं चित्तविक्षेपमात्रफलं ।[1] यहाँ यह स्पष्ट करना भी अप्रासंगिक न होगा कि आत्म-विश्रान्ति की शास्त्रीय पृष्ठभूमि भी विक्षेप-परक ही है, जिसमें क्षोभ और आवेग अन्त में एक परितोष में पर्यवसित हो जाते हैं। यह तथ्य इस उदाहरण से भी प्रमाणित होता है कि ध्वज-महोत्सव में अभिनीत नाटक में देवता संफेट (रोषपूर्ण वचन) भयकातर पलायन युद्धाह्वान आदि के जो दृश्य प्रस्तुत करते हैं,[2] वे भी अन्त में प्रीति एव परितोष ही प्रदान करते हैं। **'ततो ब्रह्मादयो देवाः प्रयोगपरितोषिताः'**[3] । यहाँ द्रष्टव्य है कि संफेट विद्रव आदि दैत्यों को प्रीतिकर आनन्द प्रदान नहीं करते । वे अनिवार्यतः इस प्रदर्शन को अपने व्यक्ति की संकीर्ण परिधि से मुक्त होकर नहीं देखते । **'अभवन् क्षुभिताः सर्वे दैत्या ये यत्र संगताः'** (१/६४) । वस्तुतः दैत्य वह अपेक्षित मानसिक अन्तराल अर्जित नहीं कर सके, जो रसबोध के लिए अनिवार्य है । **'चरित्रभ्रमविप्रलब्धास्त्वसुराश्चुक्षुभुः'** ।[4] अतः विरूपाक्ष ब्रह्मा से निवेदन करता है कि आपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए हमारा तिरस्कार किया है। **'प्रत्यादेशोऽयमस्माकं सुरार्थं भवता कृतः'** (१/१०३) ।

अभिनव के अनुसार यहाँ ब्रह्मा कवि स्थानीय हैं ।[5] अतः विरूपाक्ष के संदेह का धरातल प्रमातृगत है । प्रमाता के समान कवि भी अपने व्यक्तित्व का अपेक्षित विसर्जन विनियमन नहीं कर सका है । इलियट के अनुसार उस के भोक्ता व्यक्तित्व और स्रष्टा व्यक्तित्व परस्पर पृथक् नहीं रह सके हैं ।[6] अभिनव ने मानसिक अन्तराल की आवश्यकता की ओर इंगित किया हैं । अभिनव के अनुसार रसबोध मूलतः साक्षात्कारकल्प प्रतीति है, जो सादृश्य, भ्रान्ति, मिथ्याज्ञान, अध्यवसाय, प्रतिकृति-मूलक, अनुकरण आदि से भिन्न

---

[1] अभिनवभारती (दिल्ली-१९७३) पृ० ६७

[2] वही, १/५७, पृ० १४३

[3] वही, १/५८, पृ० १४८

[4] वही, पृ० १४७

[5] कविरवधेयवचनो भवतीति दर्शयति ब्रह्मणो वचनमिति ।
(वही, पृ० १७५)

[6] ...the more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates; (T. S. Eliot) 'The sacred wood' p. 54)

मानसिक प्रतीति है। इसमें कालिक अन्तराल भी अपेक्षित है अतः अभिनव ने इस प्रतीति को **'देशकालविशेषावेशानार्लिगिनि सम्यङ्-मिथ्या-संशय-सम्भावनाविज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे'**[1] कहा है। वस्तुतः तात्कालिक प्रतिक्रिया तो विशुद्ध आत्मपरक व्यापार है, जिसमें भोक्ता का अन्तर्बाह्य पूर्णतः दृश्य वस्तु में विनिमज्जित रहता है। उसकी मानसिकता राग विराग आस्था और पूर्वाग्रह के अनेक स्तरों पर जुड़ी हो सकती है। अतः अभिनव का अभिमत है कि वर्तमान चरित्र अभिनय के लिए उपयुक्त नहीं है। क्योंकि रागद्वेष आदि के कारण सामाजिक में तन्मयता और तज्जन्य आनन्दानुभूति उद्रिक्त नहीं हो सकती।[2] विरूपाक्ष ने इस कालिक भेद को न समझ पाने के कारण ही यह आक्षेप किया था। वस्तुतः विरूपाक्ष काव्यानुभूति को लौकिकानुभूति के स्तर पर व्याख्यायित करता है, किन्तु सादृश्य, भ्रान्ति आदि की लौकिक प्रतीतियों में व्यक्ति-विशेष ही स्रष्टा तथा अनुभोक्ता के चेतना केन्द्र में रहता है, अतः असाधारणता की अनुभूति के कारण द्रष्टा तन्मय नही हो पाता।[3] कवि भी नियत (विशेष) वर्णन तक स्वयं को सीमित रखने के कारण उसमें निहित अनौचित्य का परिष्कार नहीं कर पाता। अतः अनुकार्य अथवा नट में, दोनों ही अवस्थाओं में अनुभूति लौकिक दम्पती की प्रणयानुभूति के समकक्ष स्वीकार की जाएगी। फलतः मानसिक प्रतीति जनित अनुभावन के स्थान पर उसके साक्षात्कार से सांसारिक हर्ष क्रोधादि का ही उद्रेक होगा।[4] स्पष्टतः अभिनव का यह विवेचन काव्य-नाट्य के करुण प्रसंगों में आनन्द के उद्रेक की प्रक्रिया और स्वरूप का व्यापक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि परवर्ती काव्य-चिन्तन में रस की अलौकिकता का पदे पदे उल्लेख है। उसे लौकिक कार्यकारण-सम्बन्ध से मुक्त कहा गया है।

---

१. अभिनवभारती, पृ० १८६

२. न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तो, विनेयानां तत्र राग-द्वेष-मध्यस्थतादिना तन्मयीभावावेशे प्रीतेरभावेन। (वही, पृ० १४६)

६. सर्वेष्वेतेषु पक्षेषु असाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्।
(वही, पृ० ८१)

४. वही, पृ० १८१

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥[1]

मम्मट के अनुसार लौकिक सृष्टि नियति नियमों से सीमाबद्ध होने के कारण सुखदुःखमोहस्वभावा है। स्पष्ट है कि इसके मूल में अभिनव के उक्त अभिमत की प्रतिध्वनि है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार लौकिक शोक, हर्षादि लौकिक कारण काव्यरूप में परिणत होने पर अलौकिक विभाव कहलाते हैं। अतः उनसे सुख ही होता है। **ये खलु वनवासादयो लोके दुःखकारणानि इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यानाट्यसमर्पिता अलौकिकविभावनः व्यापारवत्तया कारणशब्दवाच्यतां विहायालौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं भजन्ते। तेभ्यश्च सुरते दन्तघातादिभ्य इव सुखमेव जायते।**[2] साहित्यदर्पणकार का लौकिक करुण की अपेक्षा काव्यकरुण की विलक्षणता को व्याख्यायित करने का यह उपक्रम मूलतः विभावन व्यापार की शास्त्रीय अवधारणा को केन्द्र में रख कर चलता है। काव्य-नाट्य में आते ही लौकिक शोक विभावन शक्ति के संचार के कारण आनन्द की सृष्टि करने लगते हैं।[3] यह प्रक्रिया स्वयं में अत्यन्त वैज्ञानिक है। विभाव अभिव्यंजनात्मक माध्यम से लौकिक अनुभूति के मूल-स्वरूप को आच्छादित कर देते हैं। फलतः एक विशिष्ट मानसिक अन्तराल के कारण उनमें आनन्दानुभूति की क्षमता उद्भूत हो जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि विश्वनाथ का चिन्तन मूलतः शास्त्रीय है और उसके मनोवैज्ञानिक आधार की अपेक्षा वे सहृदय की चेतना को ही प्रमाण मानते हैं। उनका प्रमुख तर्क यह है कि करुणादि के आस्वाद के प्रति सामाजिकों का विशेष अभिनिवेश दिखाई पड़ता है[4] और अकारण ही इस दुःख में कोई विवेकी पुरुष स्वयं को प्रवृत्त नहीं करेगा। उनका दूसरा तर्क यह है कि रामायण आदि काव्य मूलतः करुण रस मूलक हैं और सहृदय के मन को सर्वाधिक आवर्जित करते हैं।

---

१. काव्यप्रकाश (बालबोधिनी, पूना-१९२१), (पृ० २)

२. साहित्यदर्पणः (लोचनाख्यया समलंकृतः १९३८), पृ० ७६

३. काव्ये पुनः सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायत इति नियमान्न कश्चिद् दोषः। (वही, पृ० ७७)

४. नहि कश्चित् सचेता आत्मनो दुःखाय प्रवर्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात्। (वही, पृ० ७५)

पंडितराज भी काव्य की लोकोत्तर चेतना को ही महत्त्व देते हैं। अरमणीय शोकादि पदार्थ भी यदि अलौकिक आनन्द प्रदान करते हैं तो इसके मूल में लोकोत्तर काव्य-व्यापार ही है। स्पष्टतः काव्य की लोकोत्तरता जहाँ उसकी निजी अर्थवत्ता को प्रमाणित करती है, वहाँ काव्य-व्यापार में व्यंजना के महत्व की ओर भी इंगित करती है। पंडितराज काव्य की लोकोत्तर चेतना को काव्य-व्यापार की इसी महिमा के अन्दर से विश्लेपित करते हैं। **'अयं हि लोकोत्तरत्वं काव्यव्यापारस्य महिमा यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति ।'**[1] अभिनवभारती में रस की अलौकिकता पर आधृत करुण रस के आस्वाद के समाधानों में मूलतः रस को आत्मास्वाद मानने की अवधारणा पर विशेष बल है। आत्मा की मूल प्रकृति ही आनन्दमयी है। अतः रति शोकादि संस्कार आनन्दमय विज्ञान-स्वरूप आत्मा की विचित्रता मात्र को परिभाषित करते हैं।[2] कहने का आशय यह है कि काव्य का अभिव्यंजनात्मक सौंदर्य व्यक्तिपरक रागद्वेष को आच्छादित करने का माध्यम मात्र है। प्रमाता तो अपने आत्म-चैतन्य में निहित आनन्द का ही उपभोग करता है। मूलतः यह अभिमत अभिनव से ही प्रेरित है, किन्तु भट्टनायक का मूल चिन्तन भी आत्म-विश्रान्ति तथा तमस् रजस् के अनुवेध से युक्त सत्त्वोद्रेकजन्य प्रकाशानन्द को ही केन्द्र में रखता है। इसी सदर्भ में शैव-दर्शन की दार्शनिक पीठिका पर आधारित शारदातनय का अभिमत है। शारदातनय रस को एकान्त परब्रह्मास्वाद नहीं मानते। जीव जिस प्रकार लौकिक अनुभूतियों में सुख दुःख आदि वैचित्र्यमूलक आस्वाद ग्रहण करता है, उसी प्रकार काव्यास्वाद के क्षण में भी आनन्दोद्रेक में रजस् एव तमस् अर्थात् राग एवं विद्या का सम्पर्क बना रहता है। काव्य अथवा नाट्य लोक का प्रतिबिम्ब है। अतः जीवात्मा नाट्य-व्यापार में भी राग, विद्या और कला के माध्यम से दुःख मोहादि से कलुषित संसार का भोग करता है, किन्तु यही संसार भावना का विषय हो कर आनन्दरूपता में परिणत हो जाता है।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि कालिदास एवं भरत

---

[1] रसगंगाधर-चौखम्बा वि० भ०, प्र० आ०, पृ० १०९

[2] अभिनवभारती, दिल्ली, पृ० ५०७

[3] रागविद्याकलासंज्ञे पुंसस्तत्त्वैस्त्रिभिः स्वतः ।
प्रवृत्तिगोचरोत्पन्ना बुद्ध्यादिकरणैरसौ ॥

ने भी 'त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते ।' 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।'[१] कहकर इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि जीव अनुरूप सस्कारों के द्वारा ही लोकचरितों से तादात्म्य स्थापित करते हैं। जीव इस दुःखपूर्ण संसार का भी सुखानुभूति के समानान्तर निर्द्वन्द्व भाव से भोग करता है।

अपने विशिष्ट मनोवैज्ञानिक परिवेश में नाट्यदर्पणकार करुण रस की आनन्द-परिणति के संदर्भ में अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय देते हैं। रसों का इष्ट विभाव तथा अनिष्टविभावपरक विभाजन करते हुए करुण, बीभत्सादि अनिष्ट विभावपरक रसों को वे दुःखात्मक मानते हैं। उनका तर्क है कि काव्य अभिनय तथा विभाव से उपचित हो कर भयानक, बीभत्स, करुण आदि रस आस्वादयिता की मनोदशा को क्लेशयुक्त कर देते हैं। अतः इनसे सामाजिक उद्विग्न होता है। यह यथार्थ अनुभव के विरुद्ध है। रामचन्द्र (अनुकार्य) के वास्तविक जीवन के वियोग-क्षण तो दुःखात्मक ही थे। अतः यदि उनका सुखात्मक अनुकरण किया जाएगा तो विपरीत अनुभूति के कारण उसे सम्यक् अनुकरण नहीं कहा जा सकता।[3] लक्ष्मण के शक्ति भेदन आदि के दृश्य सहृदयों को सुख का आस्वाद कैसे दे सकते हैं?[४]

स्पष्टतः उक्त संदर्भों में करुण रस की दुःखात्मक अनुभूति अवान्तर-व्यापार के रूप में ही अनुसंधेय है। पूर्ण रसानुभूति तक पहुँचने तक प्रमाता मार्ग में एक क्लेशजनक उद्वेगपरक भाव दशा का अवश्य अनुभव करता है। क्लेश

भोगं निष्पाद्य निष्पाद्य वासनात्मैव तिष्ठति।
दुःखमोहादिकलुषमपि भोग्यं प्रतीयते॥
(भावप्रकाशनम्, बड़ोदा-१९६८, पृ० ५२)

[१] मालविकाग्निमित्रम्, १/१

[२] नाट्यशास्त्र, १/१०७

[३] तथानुकार्यगताश्च करुणादयः परिदेवितानुकार्यत्वात् तावद् दुःखात्मका एव। यदि चानुकरणे सुखात्मानः स्युर्न सम्यगनुकरणं स्यात्। विपरीतत्वेन भासनादिति। (नाट्यदर्पणम् (दिल्ली-१९६१) पृ० २९२)

[४] लक्ष्मणस्य शक्तिभेदनं, मालत्या व्यापादनारम्भणमित्याद्यभिनीयमानं पश्यतां सहृदयानां को नाम सुखास्वादः? (वही, पृ० वही)

उद्वेग की सम्पृक्ति रस के आनन्दपरक आस्वाद को एक सीमा तक तीव्र करती है। इसलिए रस को सुखदुःखस्वभाव कह कर नाट्यदर्पणकार एक परम्परा का अपने मौलिक स्तर पर अनुवर्तन करते हैं। अतः रामचन्द्र गुणचन्द्र के अभिमत के विवेचन के पूर्व इस परम्परा पर भी दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

अभिनव ने रस सूत्र की व्याख्या में सांख्यवादियों का मत उद्धृत किया है, जिसके अनुसार संसार के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होते हैं। अतः रस भी सुख-दुःख स्वभाव वाले होते हैं। सुख दुःख की सृष्टि करने वाली विषय सामग्री बाह्य होती है।[1] आन्तर सुख-दुःख रति एवं शोकादि स्थायिभाव इन्हीं से उत्पन्न होते हैं। उनकी मूल सत्ता नहीं होती। अभिनव के अनुसार स्थायिभाव तो संस्कार रूप में अवस्थित रहते हैं। विभाव उनके अभिव्यक्ति के माध्यम हैं जनक नहीं हैं। साथ ही रस प्रतीति को सुख दुःख स्वभाव मानने से विरुद्ध प्रतीतियों का मिश्रण हो जाएगा।[2] स्पष्टतः अभिनव सुख-दुःख की युगपत् प्रतीति स्वीकार नहीं करते; किन्तु उपरंजक के रूप में दुःख की सत्ता उन्हें अमान्य नहीं है। यह हम आगे स्पष्ट करेंगे।

वामन की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक है। वे प्रतीति-वैषम्य को अनुचित नहीं कहते। विरुद्धों को संप्लव की सीमा में वे अनुभवसिद्ध मानते हैं।[3]

'करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवौजःप्रसादयोः॥[4]

---

[1] सांख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः। (अभिनवभारती, पृ० ४६१)

[2] तस्यां च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः, संस्कारका अनुभाव-व्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति। (अ०भा०, पृ० ४६१)

[3] विरुद्धयोरपि क्वचित् संप्लवः सम्भवतीत्यभियुक्तोक्तिमभिदर्शयति करुणेति। काव्यालंकारसूत्राणि, (कामधेनु टीका), पृ० ८८

[4] वही, पृ० ८८ 'यानि करुणानि कारुण्यावहानि यानि मनोज्ञानि च वस्तूनि तेषु युगपदनुभूयमानेषु समसमयसमुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः संप्लवो यथाऽनुभवतः स्वसंवेदनात्'। गोपेन्द्र (कामधेनु), वही, पृ० ८८

रुद्रभट्ट के अनुसार करुण की भी सामाजिकों के लिए उपादेयता है इससे रस की सुख दु:खात्मकता परिभाषित होती है। यही नहीं रुद्रभट्ट शृङ्गार को भी एकान्त प्रीतिकर नहीं मानते। उसमें भी विप्रलंभ आनन्दात्मक नहीं होता।

रते: आनन्दात्मकत्वं कैश्चिदुक्तं तच्चिन्त्यम्।
विप्रयोगादे: आनन्दात्मकत्वस्य अयोगात्॥[४]

राघवन् किन्हीं हरिपाल का मत उद्धृत करते हैं, जो विप्रलंभ को अप्रीतिकर मानते हैं।

'मलिनो दु:खकारी च विप्रलम्भोऽप्रियावह:।' (संगीतरत्नाकर, पृ० १८[१])

भोज ने भी रस को सुखदु:खावस्थारूप कहा है।[२] यद्यपि उनका यह अभिमत रसों के लौकिक स्वभाव के संदर्भ में है,[३] किन्तु उसका विशिष्ट संदर्भ है। और जैसा कि आगे हम देखेंगे नाट्यदर्पणकार की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है।

मधुसूदन सरस्वती भी रसों में आनन्दाभूति की विभिन्न कोटियाँ स्वीकार करते हैं। क्रोध और शोक क्रमश: रजस् और तमस् से आवृत तथा सत्त्वांश के न्यून होने के कारण तुल्य सुखानुभव प्रदान नहीं कर सकते। रजस् तमस् के मिश्रण से रसों में तारतम्य मानना चाहिए। **'सर्वेषां भवानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंऽशमिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभव:'**।[४] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार क्रोध, शोक, भय आदि का साक्षात्कार सुख के विरुद्ध अनुभूति जगाता है। इन रसों को अनुभूति की संकीर्णता के कारण ही रस माना गया है।[५] वस्तुत: यह सुख-दु:खता भी बोध्य स्तर पर ही है। प्रमाता के अन्तर्भावन में वह सुख मात्र में पर्यवसित हो जाती है।

---

४. The number of Rasas अडयार-१९६७, पृ १८४ से उद्धृत

१. (उपरिवत्), पृ० १९३ से उद्धृत

२. रसा हि सुखदुखावस्थारूपा: (शृंगारप्रकाश (भाग-२), पृ० ३९९)

३. But he evidently means here the laukika-bhavas to which the term Rasa is applied by extension, (V. Raghavan) The Number of Rasas (Adyar-1968), p. 184

४. वही, पृ० १८५ से उद्धृत

५. श्रीभगवद्भक्तिरसायन (सं० जनार्दन शास्त्री) वाराणसी. सं० २०३३, २/७८, पृ० १७०

'बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदु:खादिहेतव: ।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतव: ॥'[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि रस चरम परिणति को आह्लादपरक मानते हुए भी आनुभूतिक स्तर पर उसे सुख-दु:खात्मक मानने की परम्परा अत्यन्त व्यापक है। इस परिप्रेक्ष्य में रामचन्द्र गुणचन्द्र की अवधारणा पर ही पुन: विचार करना अव अधिक प्रासंगिक होगा।

'सुखदु:खात्मको रस:'[2] इसका यह आशय नहीं कि रस की अनुभूति सुखात्मक एवं दु:खात्मक दो प्रकार की होती हैं। वस्तुत: यह रस की अनुभूति का नहीं स्वरूप का विवेचन है। अनुभूति तो वे भी सुखात्मक ही मानते हैं, दु:ख तो करण अथवा माध्यम मात्र है। साध्य सुख ही है। 'दु:खास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते'। उनका कथन है कि दु:ख के आस्वाद से मिल कर सुख की अनुभूति आनन्दप्रद हो जाती है। 'पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दु:खास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति'।[3] प्रकारान्तर से वे अभिनव के इस मत की पुष्टि करते हैं कि शोकादि दु:ख केवल वैचित्र्य सिद्धि के अवान्तर साधन हैं, जो लौकिक सीमा का अतिक्रमण कर, काव्यात्मक शोक में परिणत होकर, विशुद्ध संवेदनात्मक आनन्द वन जाते हैं।[4] अभिनव के अनुसार भी कुछ रसों में दु:ख का स्पर्श रहता है, किन्तु काव्यास्वाद के क्षण में यह दु:खात्मक भाव पूर्णत: तिरोहित हो जाता है। जबकि रामचन्द्र गुणचन्द्र काव्यास्वाद के क्षण में भी इसका आंशिक संस्पर्श स्वीकार करते हैं। साध्यता यहाँ भी सुख ही है। वस्तुत: दोनों अनुभूतियों में दु:ख की विसंवादी अनुभूति का तीक्ष्ण आस्वाद रसास्वाद को तीव्र करता है। अत: अभिनव भी यह स्वीकार करते हैं कि उपरंजक विषयों के कारण करुणादि में भी दु:ख का स्पर्श रहता है, क्योंकि ये वीर रस के समान सहिष्णुता-प्रधान हैं। अत: नाट्य-दर्पणकार के इस अभिमत को एकान्त भिन्न एवं विलक्षण

---

१. वही, ३/५, पृ० १७३

२. नाट्यदर्पण (सं० एवं व्याख्याकार-आचार्य विश्वेश्वर-दिल्ली-१९६१) पृ० २९०

३. वही, पृ० २९१

४. केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापार: (अभिनवभारती, पृ० ५०७)

मान कर अवज्ञा की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। जैसा ऊपर कहा गया है। शारदातनय भी रस को आह्लादपरक मानते हुए उसमें राग विद्या-जन्य दुःखात्मक अनुभूतियों का संस्पर्श स्वीकार करते हैं। वस्तुतः सीता-हरण, द्रौपदी के केशाकर्षण आदि के दृश्य सहृदयों को सुख का अमिश्रित आस्वाद नहीं दे सकते। उनकी अन्तिम परिणति अवश्य आनन्दानुभूति है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाट्यदर्पणकार सुख एवं आस्वाद तथा आनन्द के मनोवैज्ञानिक अन्तर को पहचानते हैं। अवश्य स्वरूप की दृष्टि से वे रसों को सुखात्मक तथा दुःखात्मक दो कोटियों में विभक्त करते हैं शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त सुखात्मक हैं करुण, रौद्र, बीभत्स, भयानक दुःखात्मक हैं। प्रथम वर्ग इष्ट विभावादि पर आश्रित है और दूसरा अनिष्ट विभावादि से उपनीत है।[1] यह विभेद मूलतः काव्य की सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित है। कविगण सुख-दुःखात्मक संसार के अनुरूप रामादि के चरित्र का निबन्धन करते समय सुखदुःखात्मक रसों से अनुविद्ध ही ग्रन्थ-रचना करते हैं। स्पष्टतः नानावस्थान्तरात्मक तथा लोके सुखिते दुःखिते में भरत यह बात कह चुके हैं और रसों का मौलिक स्वरूप इसका साक्ष्य देता है। अतः प्रश्न प्रक्रिया मात्र का है। अभिनव तथा उसके अनुयायी **संवेदमेवानन्दघनमास्वाद्यते** के आधार पर व्यक्ति सम्बन्धों से मुक्ति तथा आत्मास्वाद की भूमिका से शोक की आनन्दरूपता का आख्यान करते हैं, वहाँ नाट्यदर्पणकार इसका रहस्य काव्य तथा नाट्य-कौशल के मार्ग से खोजते हैं। **'यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थित वस्तुप्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकौशलेन।**[2]

स्पष्टतः लौकिक दृश्य का कलारूप में अन्तर्भावन जो शोक को रस-चमत्कार में रूपान्तरित कर देता है, अभिनव को भी मान्य है। इस संदर्भ में उनका कथन है कि सुखदुःखादि संवेदनों के निराकरण के लिए नटों के नैपुण्य तथा वेशभूषा के चमत्कार का आश्रय लेना आवश्यक है।[3] नाट्यदर्पणकार भी इस नाट्यधर्मी अथवा कलाधर्मी प्रक्रिया की ओर इंगित करते

---

१. नाट्यदर्पण, पृ० २९०

२. वही, पृ० २९१

३. प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः…तस्मिन् हि सति, अस्यैव, अत्रैव, एतह्येव, च सुख दुःख वेति न भवति।

हैं कि कवि और अभिनेताओं के शक्तिकौशल, अर्थात् कला-नैपुण्य में बुद्धिमान् व्यक्ति दुःखात्मक करुणादि रसों में भी परमानन्द रूप का अनुभव करते हैं।[1] 'विप्रलब्धाः' का आशय यह है कि पहले प्रमाता का बौद्धिक ऊहापोहमूलक तार्किक ज्ञान आच्छादित होता है पुनः उसका अन्तर्भावन होता है। अभिनव ने इसी को प्रतीतिस्वरूप का आच्छादन कहा है। **'प्रतीतिस्वरूपस्य चारोपितस्य प्रतिभातंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। सत्ये तदीयरूपनिह्नवमात्रे एव पर्यवसानात्।'**[2]

स्पष्टतः नाट्यदर्पणकार की मान्यता जहाँ अभिनव रस-चिंतकों की धारणा का क्रम विकास है, वहाँ उनकी विवेचन प्रणाली में नवीन सूत्र भी अन्तर्मुक्त हो गये हैं। **'पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति।'**[3] में अनायास ही कलासृष्टि एवं कलानुभूति के उस सिद्धान्त की ओर ध्यान चला जाता है, जिसमें विसंवादी अनुभूतियों का काव्यानुभूति के क्षण में सायास बहिष्कार नहीं किया जा सकता। नीत्शे के अनुसार विपरीत तथा अन्तर्विरोधात्मक तत्त्वों की विजय ही त्रासदी का विषय हैं। अतः उत्कृष्ट लेखक प्रत्येक वैषम्य में सन्तुलन के सूत्र खोज निकालते हैं। संतायना के अनुसार सौंदर्य का यह विशेषाधिकार है कि वह विविध प्रवृत्तियों को केन्द्रीकृत और संतुलित करता है। यीट्स का सुप्रसिद्ध कथन है कि हम स्वयं से झगड़ कर ही कविता का निर्माण करते हैं। दो खण्डों में विभक्त हुए बिना मन सृष्टि नहीं कर सकता। इलियट इसे संचरणशील आवेगों का स्थायी आवेगों में संक्रमण स्वीकार करते हैं तो रिचर्ड्स के अनुसार यह अन्तवर्जी काव्य की भूमिका है, जिसके मूल में द्वन्द्वों के मध्य सन्तुलनात्मक स्थिति है तथा जिसमें संघर्षशील प्रवृत्तियों का अधिकतम संख्या में समन्वय किया जाता है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में इस द्वन्द्वात्मक सामंजस्य की प्रक्रिया पर हमने अन्यत्र विचार किया है।

---

१. अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परकानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते।

(नाट्यदर्पण, पृ० २९१)

२. अभिनवभारती, पृ० ४७५

३. नाट्यदर्पण पृ० २९१

यहाँ हमारा अभिप्राय यह स्पष्ट करना है कि पाश्चात्य चिन्तन के समानान्तर भारतीय रस-सिद्धान्त में भी व्यक्ति-वैचित्र्य अथवा द्वन्द्वमयी स्थिति की उपेक्षा नहीं है, किन्तु वह मूलतः स्वरूप अथवा प्रक्रिया के अन्तर्गत ही स्वीकार्य है, अन्तिम प्रभाव के धरातल पर नहीं। नाट्यदर्पणकार भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

नाट्यदर्पणकार का दूसरा योगदान कवि अथवा नट के कला-नैपुण्य अथवा सर्जनात्मक चैतन्य की आनुभूतिक धरातल पर स्वीकृति है। भट्टनायक ने गुणालकार संस्कार तथा अभिनय नैपुण्य को भावना-व्यापार के अन्तर्गत स्वीकार किया है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार नाट्यधर्मी प्रवृतियाँ प्रेक्षक के लिए सम्मोहन का कार्य करती हैं, जिससे दुःख का दंशन क्षीण पड़ जाता है।

कवि-समय और साधारणीकरण :

परम्परा से अनुमोदित तथा कवियों द्वारा सामान्यतः स्वीकृत मिथकीय सकल्पनाएँ भी जातीय मानस को समान रागतत्त्व से स्पन्दित करती हैं। कवि-समय समष्टि चेतना में अन्तर्भुक्त जीवन्त, सौंदर्यादर्शों तथा संस्कृति के सूक्ष्म भाव-बिम्बों के ऐसे ही प्रतीक हैं। परम्परागत चेतना, अलौकिकता एवं अशास्त्रीयता कवि-समय के स्वरूप के नियामक तत्त्व हैं।[1] इन तत्त्वों में स्पष्टतः जीवन के मर्यादित संकीर्ण यथार्थ को भेद कर जीवन के परम्परागत व्यापक यथार्थ को आयत्त करने की क्षमता निहित है।[2]

कवि-समय कवियों की मौलिक, अलिखित सविदाएँ हैं[3] ये नियतिकृत लोक और जीवन के नियत सदर्भों से सीमित काव्य के परिवेश को बाह्य कार्य-

---

[1] अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः। (राजशेखर-काव्यमीमांसा (पटना-१९६५) पृ० १९६)

[2] What he has actually done is to obey an obscure but profound impulse to revolt against the conventions established in his own day, in order to rediscover convention on deeper level.
(Northrop Frye) Anatomy of Criticism (Third Essay: Archetypal Criticism) p. 132)

[3] समयः शपथाचारः कालसिद्धान्तसंविदः (अमरकोश २/५ पृ० १६४)

कारण-श्रृंखला से मुक्त कर एक व्यापक काव्यात्मक संगति प्रदान करते हैं। ये कवियों के समान आचरण के उत्स हैं[1] और इसी के समानान्तर सहृदय के अन्तश्चेतन में निहित सौष्ठव प्रतीकों को उद्वेलित कर उनकी सौंदर्यानुभूति में भी एक सूत्रता स्थापित करते हैं। व्यापक अर्थ में कवि-समय, काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के दोनों स्तरों पर परम्परित एवं समान सौंदर्यादर्शों तथा आद्य प्ररूपों की चेतना को उद्वेलित कर कवि तथा सहृदय को एक रागात्मक तत्त्व में अनुस्यूत करते हैं।

जहाँ कवि-समय कवि तथा सहृदय में अन्तःसूत्रता स्थापित करते हैं, वहाँ इनके प्रयोग में सहृदय मात्र की चित्तवृत्तियों को एकघन, एकतान करने की मौलिक शक्ति भी निहित है। इसका कारण यह है कि ये बाह्य यथार्थ में परिवर्तन के विरुद्ध आन्तरिक यथार्थ को व्यंजित कर सहृदयों की चेतना में निहित पुराख्यानों, लोक-विश्वासों, एवं कल्प-कथाओं के स्मृति-बिम्बों की दीर्घ श्रृंखला झंकृत कर देते हैं इसका सीधा परिणाम काव्य-वस्तु का प्रत्यभिज्ञान-मूलक आस्वाद है, जिसमें अनुभूत वस्तु परिचयभरी नवीनता से आविष्ट हो कर सामने आती और साधारणीकृत होती है। राजशेखर ने ठीक ही कहा है कि कवि-समय देश और काल में सांस्कृतिक परिवर्तन के विपरीत आद्य विश्वासों को प्राक्तन एवं अविकृत रूप में अभिव्यंजित करते हैं। **'तेषां देश-कालान्तरवशेन अन्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कवि-समयः।'**[2] कवि-समय सामूहिक अवचेतन में निहित आद्य बिम्बों के समानधर्मा होने के कारण सहृदयों की सहजानुभूति को स्वतः स्फूर्त करते हैं। पाश्चात्य समीक्षा में मिथकों एवं आद्य प्रारूपों (आर्किटाइप) के स्तर पर इनके अभिव्यंजना-गत वैशिष्ट्य का प्रकारान्तर से उल्लेख हुआ है। आद्य प्ररूप भी[3] स्वर्ग, पाताल इत्यादि से सम्बद्ध पुराख्यानों एवं कल्प-कथाओं से अन्तर्निहित विश्वासों की कुक्षि से जन्म लेते हैं। इनके मूल में शास्त्रीय मर्यादाओं का अतिक्रमण तथा लोक की गहनतर चेतना में निबद्ध परम्परित मान्यताओं का व्यापक

---

[1] अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिः शुभा।
कवीनां समुदाचारः समयो नाम गीयते॥
(अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग ११/३०) पृ० ६२)

[2] काव्यमीमांसा (उपर्युक्त) पृ० १९७

[3] आद्यत्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः। (वही)

स्पन्दन है तथा सार्वभौम प्रतीकों के इनके केन्द्र में निहित होने के कारण इन में सम्प्रेषण अथवा साधारणीकरण की विशेष शक्ति होती है ।[१] ये मानव की दमित आकांक्षाओं एवं स्वप्नादर्शों को मूर्त करते हैं ।[२] इस संदर्भ में एक समानान्तर तथ्य यह भी है कि मिथकों के समान ये भी स्वर्ग और पाताल से अतिप्राकृत स्तर पर अंशत: सम्बद्ध हैं ।[३] इस कथन का आशय यह नहीं है कि मिथक और कविसमय अभिन्न अवधारणाएँ हैं । यहाँ समूह मानस में अवस्थित आद्य प्रतीकों की सार्वभौम सम्प्रेषण-क्षमता का संकेत देना मात्र अभीष्ट है ।

कवि-मानस तथा मिथक में मूलभूत समानता यह है कि दोनों प्रकृति-तत्त्वों के तार्किक प्रकृति-धर्म को अस्वीकृत कर आदिमानस में निबद्ध विकीर्ण प्रवृत्तियों को संश्लिष्ट करते हैं ।[४] इस प्रक्रिया को राजशेखर ने क्रमश: सत्‌निबन्धन (मूल गुणों का निषेध) असत्‌निबन्धन (अप्रकृत गुणों की स्वीकृति) तथा नियम निबन्धन कहा है । किन्तु दोनों में उल्लेखनीय अन्तर यह है कि आद्य प्ररूप या मिथक लोकमानस में बद्धमूल आद्य पुराकथाओं, दन्त-कथाओं अनुष्ठानों, संस्कारों की आवृत्त संरचनाओं को केन्द्र में रखते हैं, वहां कवि-

---

१. If archetypes are communicable symbols, and there is a center of archetypes, we should expect to find, at that center, a group of universal symbols..... I mean that some symbols are images of things common to all men, and therefore have a communicable power which is potentially unlimited. (op. cit. p. 118)

२. Nature is now inside the mind of an infinite man who builds his cities out of the Milky way. (Ibid. p, 119)

३. स च त्रिधा स्वर्ग्या भौमः पातालीश्च (काव्यामीमांसा पृ० २३०)

We have, than, three organizations of myths and archetypal symbols in literature .....These worlds are often identified with the existential heavens and hells of the religions contemporary with such literature (Ibib, 139)

४, These archetypes he (Jung) describes as psychic residua of numberless experiences of the same type, experiences which have happend not to the individual but to his ancestors (Maud Bodkin) Archetypal patterns in poetry p. 2)

समयगत लोकोत्तर एवं शास्त्रीय सन्दर्भ से भिन्न अर्थ में परम्परागत काव्य की आस्थाओं से ही पुष्ट एवं अनुकृत होता है। कवि-समय की मूलवर्ती अवधारणा लोक-विश्वास में प्रचलित हो सकती है, किन्तु अभिव्यंजना-संरचनाओं के रूप में उनकी प्रकृति और परम्परा काव्यात्मक आग्रहों से ही प्रेरित है। वृक्षदोहद, गन्धर्व, अप्सरा, कामदेव के मूर्त-अमूर्त प्रतीक, कोकिल, चक्रवाक-मिथुन चकोर, चम्पक एवं विविध अनुश्रुतियाँ लोक-विश्वास में बद्धमूल हो चुकी हैं, किन्तु अन्धकार के मुष्टिग्राह्य और सूचीभेद्य होने, आकाश में मालिन्य और यश के धवल होने का उल्लेख कवि-सृष्टि तक ही परिसीमित है। फिर भी एक सीमा तक युंग के सामूहिक अवचेतन तथा फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्त, प्रतीक-सिद्धान्त तथा अवचेतन मन की इच्छापूर्ति की संकल्पना का आंशिक योगदान मिथकीय संरचना की भाँति कविसमय के सामष्टिक प्रभाव को व्याख्यायित कर सकता है। मिथक अतिप्राकृत तत्त्वों की निःसीम चेतना के वाहक हैं और कविसमय भी मिथकीय तत्त्वों की भाँति सामष्टिक अन्तःप्रेरणा को आन्दोलित करते हैं। इनके अतिरिक्त भी कवि-समयों की कतिपय विशेषताएँ प्रमाता की चित्तवृत्ति के साधारणीकरण में योग देती हैं। इनमें जातिगत नियम अर्थात अनेकत्र प्रचलित आचरणों का एकत्र विन्यास,[1] सामान्य की स्थापना[2] (जैसे—मलय पर चन्दन, पुष्पमात्र की धवलता) विविध पुराख्यानपरक द्रव्यों में ऐक्य (यथा-सागर एवं महा-सागर में ऐक्य) जैसी संकल्पनाओं से प्रमाता की संश्लेषविधायिका कल्पना को बल मिलता है। प्रकृति-प्रतीकों की जीवन-मूल्यों के धरातल पर प्रतिष्ठा प्रमाता के द्वन्द्वात्मक मूल्यों में एकतानता स्थापित करती है। (यथा-चक्रवाक, और चकोर से सम्बद्ध कविसमय इसके प्रमाण हैं।) सत्वादी तत्त्वों में सामंजस्य के द्वारा चित्तवृत्तियों को समंजित करने में भी कविसमयों की भूमिका है (पीतरक्तयोरैक्यम् कृष्णहरितयोरैक्यम्।

वैज्ञानिक विकास के द्वारा कविसमयपरक विश्वासों को आघात पहुँचा है। पादपपुष्पपक्षी, चन्द्रमा संबंधी कविसमयों के वैज्ञानिक परीक्षण के केन्द्र में आ

---

[1] अनेकत्र प्रवृत्तीनामेकत्राचरणं नियमस्तद्यथा। (का० मी०, पृ० २०१)

[2] सामान्येन तु धावल्यं फलपुष्पाम्बुवाससाम्।
चन्दनं मलयेष्वेव मधावेव पिकध्वनिम्।।
(अलंकारचिन्तामणि (अजितसेन) १/७७)

जाने से ये बुद्धिप्रधान प्रमाता की रागचेतना में समंजित नहीं हो पाते । किन्तु तथ्य यह है कि बाह्यार्थ के मूल में निहित भाव-सत्यों को उद्रिक्त कर ये रागचेतना को गहन स्तर पर झंकृत करते हैं । भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि' को उद्बुद्ध करने में इनकी निर्णायक भूमिका है । काव्य में इनका मूल रूप प्रच्छन्न रहता है, किन्तु प्रतीक रूप में प्रतिभासित हो कर वह प्रमाता के सुप्त भावों को उद्बुद्ध कर देता है । प्रकारान्तर से राजशेखर ने इस तथ्य की ओर संकेत किया—'सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः ।'[1]

नायक की परिकल्पना तथा साधारणीकरण :

काव्य अथवा नाटक की कार्यवस्तु जिस पात्र को केन्द्र में रख कर फलागम की ओर गतिशील होती है, भारतीय काव्य-शास्त्र में उसे अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट तथा उदात्त जीवन मूल्यों के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया गया हैं ।[2] नाटक की केन्द्रीय संवेदना को वहन करने के कारण उसी के उत्थान एवं पतन में प्रमाता की चित्तवृत्ति सर्वाधिक तादात्म्य का अनुभव करती है । उसी के व्यसन और अभ्युदय में[3] शेष पात्रों की मानसिकता अवान्तर रूप से गठित होती है । वह नाटक का नायक है । नाटक की कार्यावस्थाओं का सम्बन्ध नायक के क्रमिक विकास से ही है । प्रतिपात्र और प्रतिनायक कीं क्रिया-प्रतिक्रियाओं से उसी के व्यक्तित्व का उन्मीलन होता है ।

भारतीय दृष्टि से नायक अनुकरणीय[4] उदात्त चरित्र है । यही कारण है

---

[1] काव्यमीमांसा (उपरिवत्) पृ० २२६

[2] नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवशः स्थिरो युवा ।
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ।।
(दशरूपकम् २/१-१, चौखम्बा-१९६७) पृ० ७५)

[3] व्यसनी प्राप्य दुःखं वा युज्यतेऽभ्युदयेन यः ।
तथा पुरुषमाहुस्तं प्रधानं नायकं बुधाः ।
(नाट्यशास्त्रम् २४/२१,२२)

[4] यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।
(श्रीमद्भगवन्गीता ३/२१)

कि महाकाव्य के निर्माण से पूर्व भारतीय कवि सदैव एक ऐसे आदर्श चरित्र का अनुसंधान करता रहा,है, जिसमें व्यक्ति तथा राष्ट्र के सांस्कृतिक मूल्य अपने चरम परिपाक को प्राप्त हुए हैं। आदि काव्य की सृष्टि से पूर्व बाल्मीकि ऐसे चरित्र को उपजीव्य बनाकर काव्य-सृष्टि करना चाहते हैं, जिसमें जीवन के चरम आदर्श प्रतिष्ठित हों। क्रमश: भारतीय चेतना में चरमादर्शों की प्रतिष्ठा होने से नायक को सुनिश्चित प्रतिमानों में विभक्त किया जाने लगा। यह वर्गीकरण शील पर आधारित है। धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशान्त तथा धीरोदात्त में धीरता को अनिवार्य प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया गया। राजा को धीरोदत्त तथा ब्राह्मण को धीर प्रशान्त माना गया, तथापि लालित्य और औदात्य किसी में भी अपेक्षित हो सकते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ धीरललित, धीरप्रशान्त एवं धीरोदात्त में कलाप्रियता, महाप्राणता, दृढ़व्रत आदि उदात्त गुण स्वीकार किए गए हैं, वहाँ धीरोद्धत्त में महाछद्‌मपरायणता, दर्प, द्वेष, अभिमान, आत्मश्लाघा[1] जैसे गुणों को भी नायक की भाव-सीमा के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। यह क्रमश: आदर्श से यथार्थ की ओर नायक के अन्त:प्रयाण की भूमिका है। भरत ने उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के आधार पर नायकों के वर्गीकरण की संभावना व्यक्त की है। नाट्यदर्पणकार ने स्पष्टत: प्रबन्ध-काव्यों में नीच प्रकृति वाले नायकों की वस्तुगत प्रासंगिकता का प्रतिपादन किया है।[2] क्रमश: नाटकों में शृंगारी नायकों का महत्त्व बढ़ता गया तथा तत्कालीन बहुविवाह प्रधान समाज में नायक की वैध पत्नी तथा प्रेयसी के मध्य समायोजन का प्रयास बौद्धिक एवं भावात्मक कुशलता का आधार बना। भरत ने अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट नायकों की प्रकल्पना को विशिष्ट सन्दर्भों के अनुकूल सम्बोधनों के स्तर पर प्रस्तुत कर परवर्ती नायक-भेद के लिए प्रेरणा तथा आधारभूमि प्रदान की। कहने का आशय यह है कि एक स्तर पर नायक में उन चरम दिव्य आदर्शों की संभावना व्यक्त की गई, जो नायक को मानव जीवन के यथार्थ से वंचित कर इन्द्रियातीत

---

[1] दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्‌मपरायण:।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलचण्डो विकत्थन:॥
(दशरूपकम् २/५, पृ० ८५)

[2] नीचोऽपीश: कथावशात्। (नाट्यदर्पण, पृ० ३७२)

दिव्य परिधि में केन्द्रित करते हैं तो दूसरे स्तर पर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मूलक व्यापारों के केन्द्र में भौतिक विलासपरायण रूप को आकार दिया गया है। नायक दूसरी नायिका पर अनुरागशील होकर गुप्त प्रेम-व्यापार ही नहीं चलाता, अपनी ज्येष्ठा प्रेयसी की अभिज्ञता में इस व्यापार को गतिशील भी रखता है। फिर भी शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गाम्भीर्य, ललित, औदार्य[1] जैसी सात्त्विक विभूतियों के प्रतीक के रूप में ही प्रमातृगत स्तर पर उसे ग्राह्य एवं सम्प्रेषणीय बनाया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत काव्य में अभिजात, सामन्ती परिवेश में नायक के प्रति जीवन-मूल्यों की द्वैधी चेतना सक्रिय रही है। अभिधात्मक स्तर पर प्रायः ये नायक उन चरमादर्शों की ओर इंगित करते हैं, जिन्हें ईश्वर की पराकल्पना के स्तर पर स्वीकार किया गया है जबकि अपने आचरण से ये सामन्ती नायक जीवन के उदात्त मूल्यों को ध्वस्त करते से प्रतीत होते हैं, किन्तु अभिजात कारणों से नाटककार उस मूल्य-ध्वंस की प्रक्रिया को विशिष्ट दिशा में उदात्तीकृत कर देता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त के चरित्र का उदात्तीकरण इसका प्रमाण है।

संस्कृत नाटकों में प्रायः दो प्रकार के नायक दिखाई पड़ते हैं। एक सीमित संख्या उन नायकों की है, जिन में प्रणय की भूमिका गौण है। मूलतः उनके जीवन-मूल्य, बुद्धि और भावना के प्रणयेतर केन्द्रों में स्फुरित होते हैं। वेणीसंहार, मुद्राराक्षस, उत्तररामचरितम् जैसे नाटकों में नायक की गरिमा, प्रणय के केन्द्र में नहीं अपितु जीवन के प्रति आलोचना और विमर्श में अभिव्यक्ति पाती है। इन पात्रों के कोण अधिक वैषम्यमूलक तथा व्यक्ति-वैशिष्ट्य से पूर्ण हैं। अधिकांश संख्या उन नायकों की है जो शृाङ्गारिक ललित पात्र है। ये पात्र एक सीमा तक व्यक्ति-वैशिष्ट्य से शून्य हैं। इन पात्रों में प्रमाता की केन्द्रीय अभिरुचि उस क्रिया-व्यापार में रहती है, जिनके द्वारा वे मार्ग के अन्तरायों को दूर कर फलागम तक पहुंचते हैं। कहने का आशय यह है कि पात्रों की मूल प्रवृत्ति अथवा अन्तःवैचित्र्य से उन्मीलित वैशिष्ट्य इन नाटकों में गौण रहता है। प्रेक्षक जानता है कि नायक और नायिका के मिलन से नाटक की समाप्ति होगी। उनको शृाङ्गारिक चेष्टाएँ

---

[1] तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गभीरता।
औदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः॥ (वही, पृ० ३७२)

भी पम्परानिष्ठ और वर्गीकृत हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य द्विवेदी ने एक महत्त्वपूर्ण संकेत दिया है। धीर शब्द धी (सहज बुद्धि, मनोभाव) शब्द से बनता है। इस शब्द से निष्पन्न भाव है सहज बुद्धि वाला मनोभाव सम्पन्न। अत: धीर का अर्थ है स्वाभाविक बोध-सम्पन्न। धीरोद्धत का अर्थ है स्वभाव से उद्धत।[१] यदि यह अर्थ स्वीकार किया जाए तो भी संस्कृत-मनीषा में सामान्यीकृत संचेतना के प्रति गहनशीलता का भाव ही बद्धमूल दिखाई पड़ता है। इस दृष्टि से पात्र परिवेशगत वैचित्र्य की अपेक्षा अपनी सहजात अन्तः-प्रवृत्ति से परिचालित होते हैं। इन पात्रों में मूलभूत प्रवृत्ति सहजभाव से गतिशील होती है। उसे परिवेश की सापेक्षता में ये पात्र अर्जित नहीं करते। दुष्यन्त, अग्निमित्र और पुरूरवा,, तीनों ही नायकों में आत्मगोपन तथा प्रणय की प्रवृत्ति समान रूप से लक्षित होती है। विभिन्न मानसिकताओं में भी वे एक सी ही प्रतिक्रिया करते हैं, किन्तु जहाँ नाटककार परम्परित प्रतिमानों से भिन्न आचरण करता है, उसके सौंदर्य की अवमानना की गई है। दुर्योधन धीरोद्धत पात्र है, युद्ध से पूर्व उसकी मानसिकता में नाट्य-शास्त्रीय नियमों के अनुसार ललित का सन्निवेश अकाव्योचित माना गया है। वस्तुत: लालित्य के योग से नायक की मानसिकता को यहाँ एक बृहत्तर आयाम मिला है।

साधारणत: इन पात्रों में चारित्रिक वैविध्य को स्थान नहीं मिला है। रसानुकूल सामान्य आवेगों को जागृत करने के कारण नाटककार चरित्रों की जटिल योजना में नहीं पड़े हैं। मध्यकालीन मानसिकता में पोषित प्रेक्षक को भी नायक के श्रेणीबद्ध चरित्र से मानसिक तादात्म्य स्थापित करने में कठिनाई नहीं थी। नाटककार स्वय नाट्य-नियमों के अनुरूप पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को उभारने के पक्ष में नहीं थे। ऐसा नहीं कि प्राचीन दृष्टि वैचित्र्य का समर्थन नहीं करती, किन्तु यह दृष्टि अपेक्षाकृत स्थूल है। अभिनव का कथन है कि वैध उपायों का आलम्बन लेने वाले नायक तथा अपूर्ण उपायों का आश्रय लेने वाले प्रतिनायक के चरित्र अन्य रसों से बीच-बीच में व्यवहित होकर ही अतिशय चमत्कारजनक होते हैं।[२] इस सन्दर्भ में यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक न होगा कि कतिपय गौण नाट्यकारों न

---

१. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक (दिल्ली-१९७१) पृ० ४०)

१. पूर्णापायप्रवृत्तत्वेन नायकानाम् अतादृगुपायाश्रयेण प्रतिनायकानां च चरित सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाणं वीराद्भुताभ्यां, वीरशृङ्गारहास्यैः,

नायक की रसानुकूल कल्पना करके उसके रूढ़ व्यक्तित्व को व्यापक आयाम देने का प्रयत्न किया है। नंजराजयशोभूषण के लेखक नरसिंह कवि ने ऐसा प्रयास किया है, किन्तु वह भी स्थूल दृष्टि का परिचायक है।[1] कहने का आशय यह है कि नायक के चरित्र की ऋजु रेखा अवान्तर रेखाओं से अन्वित होकर ही प्रेक्षक की चेतना के विविध स्तरों से सम्पृक्त होती है, यह तथ्य हमारे नाट्य-साहित्य में भुला दिया गया है। यही कारण है कि भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण के जिन विधायक तत्त्वों की ओर इंगित किया है, उनका विनियोग स्थूल स्तर पर ही हुआ है। विभावादि के साधारणीकरण का प्राय: स्थूल अर्थ ही लिया गया तथा देशकालादि से अनालिंगित व्याप्ति-ग्रह के आधार पर आलम्बन की भाव-स्थिति को एकान्त सामान्यीकृत स्तर पर ग्रहण किया गया हैं। वस्तुत: निर्विशेषत्व के प्रति स्थूल आग्रह के कारण उन पात्रों का चित्रण ही अधिक हुआ है, जिनके चरित्र की रेखाएँ ऋजु हैं। जन-चेतना में इनकी अभिजात-वर्गीय सामान्यीकृत अवधारणा स्थिर हो चुकी थी, अत: नाम रूप की सामान्य स्थूल भिन्नता उनके निर्विशेषत्व में सहायक ही सिद्ध हुई।

संस्कृत के अधिकांश नाटकों की कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध है अथवा लौकिक प्रसिद्ध आख्यानों से ग्रहण की गई है। अत: शास्त्रकारों से दृष्टि प्राप्त कर नाटककारों ने इतिवृत्त के उन अशों का परित्याग कर दिया है, जो चरित्र की उदात्त ऋजु रेखा में व्याघात उपस्थित करते हैं। सिद्धान्त चिन्तन के आलोक में प्राय:, उत्पाद्य या कवि-कल्पित इतिवृत्तों को दृष्टि में नहीं रखा गया है। ऐसे नायक कवि की मानसिक सृष्टि होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक व्यापक आयाम को समाहित कर सकते थे। सैद्धान्तिक विवेचनों में भी प्राय: निर्विशेषत्व तथा तादात्म्य को आधार बनाया गया है, अर्थात् वही नाटक उत्तम कोटि का है, जिससे नायक में ऐसे साधारण गुणों की प्रतिष्ठा हो, जिनके दर्शक को तादात्म्य करने में किसी गहरी मानसिक जटिलता का सामना न करना पड़े। कहने की आवश्यकता नहीं कि विभा-

---

वीर-रौद्रभयानक-करुणै:, वीर-बीभत्स-शान्तैश्च प्रतिनायकगतरसान्तर-सान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतैः हृदयमुपवेशं विदधद्...प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत्। (अभिनवभारती, पृ० ४६)

[1] नंजराजयशोभूषण (बड़ोदा-१९३०) पृ० ३७

वादिसाधारणीकरणात्मना का क्षेत्र अधिक व्यापक है। यथा-'**साधारणीकरणं नियतसंबन्धिगतत्वेनाप्रत्ययाने सति प्रत्यायनम्। भाव्यमानो मुहुर्मुहुश्चिन्त्यमानः**'[1] से ज्ञात होता है कि पात्रों को सामान्यीकृत स्थिर बिम्बों की अपेक्षा उन्हें निरन्तर गतिशील आयाम में उपस्थित करना विभावादि के साधारणीकरण की भूमिका से भिन्न नहीं है। '**भाव्यमानो मुहुर्मुहुश्चिन्त्यमानः**' में सामाजिक की मानसिक गतिशीलता की स्पष्ट व्यंजना है। कहने का आशय यह है कि जैसे ही मिलनोत्सुक नायक नायिका का प्रणयवृत्त नाटक में गतिशील होता है तो उनकी प्रणयचर्या मात्र रूढ़िबद्ध अनुकरण नहीं रह जाती। काव्य की भूमि में उनके मनस्तात्त्विक जटिल संदर्भों का ऐसा क्रमिक उद्घाटन होता है कि वे प्रणय की मर्यादित भूमिका से मुक्त होकर जीवन के बृहत्तर मूल्यों को समाहित करते हैं। एक विशिष्ट लक्ष्यबद्धता, आदर्श तथा गहरी अन्तःप्रेरणा उन्हें विशिष्ट बनाती है।

वर्ग-चरित्र साधारणीकरण की स्थूल संकल्पना को ही परिभाषित करते हैं। व्यक्ति-चरित नवीन परिस्थितियों के प्रति जीवन्त प्रतिक्रिया करते हैं। उन के आचरण में कुछ अंश अप्रत्याशित और अव्याख्येय भी होता है। ये पात्र सम्प्रेषण के नये आयाम जोड़ते हैं, उनके मूल्यांकन के लिए साधारणीकरण की व्यापक परिदृष्टि अपेक्षित है। आधुनिक नाटक का नायक अपनी विशिष्ट अनिर्णीत परिस्थितियों के कारण प्रेक्षक की विविधमुखी प्रतिक्रियाओं को आमंत्रित करता है। नायक कभी एक विशिष्ट स्तर पर स्वयं को उद्घाटित करता है तो दूसरे क्षण उसके आचरण का एक भिन्न अप्रत्याशित कोण उभर आता है। ऐसी स्थिति में प्रेक्षक पात्र से संस्पृक्त भी होता है और उसके आचरण की आलोचक बुद्धि भी सक्रिय हो कर उसे एक भिन्न स्तर पर प्रतिक्रिया के लिए विवश करती है। नायक जैसे स्रष्टा के अभिप्राय को ध्वस्त करता हुआ सा, अपने व्यक्तित्व के विविध खण्डों में उभरता हुआ सा, लेखक के सम्पूर्ण अभिप्राय को खण्डित मूल्यों में परिवर्तित कर देता है। फलतः दर्शक की अन्तःदृष्टि संरचनात्मक और सर्जनात्मक होती जाती है। पहले यह स्वीकार किया गया था कि सुखान्तकी के पात्र टाइप होते हैं, जबकि त्रासदी का नायक अपने बहुआयामी व्यक्तित्व के साथ उभरता है। किन्तु, प्राचीन त्रासदियों के नायकों में ऐसे सार्वभौम गुण होते थे कि वे अधिकांश मनुष्य के

---

[1] काव्यप्रकाश-टीकात्रयसंवलितः (इलाहाबाद-१९७६) सारबोधिनी पृ० ९८

भाव-जगत् को साकार कर देते थे। ओथेलो अभिजात गरिमा से रहित आदिम सरलता का प्रतिरूप है। सभ्य जाति के कृत्रिम सूक्ष्म औपचारिक, अन्तः-सन्दर्भ उसके त्रासद अस्तित्व के लिए उत्तरदायी हैं। प्रेम, घृणा, ईर्ष्या तथा क्रोध उसमें अनियंत्रित आवेग के रूप में उभरते हैं, जो उसके चारों ओर त्रासद वातावरण की सृष्टि करते हैं। करुणा और त्रास. लालित्य और रौद्र उसमें अतीत और वर्तमान की तरह संघर्ष करते हैं। अतः अनजाने ही वह उस त्रासद परिवेश की ओर उन्मुख होता है जिसके आगे वह विवश और असहाय है। वह वस्तुतः इयागो के हाथ का उपकरण है, प्रेक्षक की दृष्टि में वह एक क्रूर और निर्मम हत्यारे की अन्तश्चेतना नहीं है. उसमें गहरा आवेग और गहरी भाव प्रवणता है। प्रेक्षक उसकी अज्ञता, शिशुसुलभ विश्वास की प्रतीति तथा आवेग के अनियंत्रित उस उद्दाम प्रवाह पर खीझता है, जो विवेक का सम्बल लेकर नहीं चलता। उत्तररामचरितम् में भी राम प्राणों से प्रिय सीता के पार्थिव तथा मानसिक जगत् को ध्वस्त करने के लिए उत्तरदायी हैं, किन्तु अनुताप और करुणा का असीम आवेग तथा लोकरंजन के विवेकपरक निर्णयों से सन्तुलित उनकी अन्तश्चेतना प्रमाता की चेतना को तादात्म्य के लिए आमंत्रित करती है। उसमें प्रमाता की चेतना न एकान्त निःसंग ही रहती है न आवेगप्रवण ही। विमर्श का एक क्षण भी बीच-बीच में उभरता है। आलोचना का क्षण वहाँ भी है, जब कवि लव-कुश के मुख से राम के चरित्र का अनुचिन्तन करता है। शास्त्रनिष्ठ मर्यादा को इस आलोचना में अनौचित्य की प्रतीति हो सकतीहै, किन्तु इन विसंवादी सूत्रों के माध्यम से ही नायक के व्यक्तित्व का बिम्ब गतिशील होता है। क्षेमेन्द्र ने इस संदर्भ को वीर-रसगत अनौचित्य की परिधि में रखा है जो गौण पात्र लव के वीरभाव को उद्दीप्त कर उसके प्रताप की असहिष्णुताजन्य आलोचना के माध्यम से राम के मौलिक बिम्ब को खण्डित करता है।[1] किन्तु वस्तुतः यह प्रेक्षक को विसंवादी सूत्रों के अन्तर्भावन के लिए तत्पर बनाता है। वासन्ती के मुख से राम के कृत्य की समीक्षा करा कर कवि पुनः दर्शक की आलोचना वृत्ति को सजग करता है। यही आलोचना-प्रवृत्ति शम्बूक के वध के समय प्रमाता की चेतना में आत्म-व्यंग्य के रूप में सम्प्रेषित होती है। किन्तु, प्रमाता राम के मौलिक बिम्ब से विच्छिन्न, असम्पृक्त रहकर यहाँ अपनीं स्वन्त्रता प्रतिक्रिया के लिए मुक्त नहीं है। उसे बार-बार यह आशंका होती है कि वह इतिवृत्त की सहज निर्णीत

---

[1] अत्राप्रधानस्य रामसूनोः...औचित्यविचारचर्चा पृ० २६

गति से विमुख तो नहीं हो रहा ? इसके समानान्तर ओथेलो का चरित्र एक जटिलता का आभास देता है। उसके चरित्र के परस्पर अन्तःविरोधी तत्त्व प्रेक्षक की तरफ एक से अधिक आयामों में खुलते तथा निषेध एवं स्वीकृति-परक विविध प्रतिक्रियाओं को आमंत्रित करते हैं। यहाँ नायक के चरित्र में निहित कवि का अभिप्राय प्रेषक तक सम्प्रेषित होने पर परस्पर विरोधी दिशाओं में मुड़ जाता हैं।

संस्कृत नाटकों में प्रायः त्रासद तत्त्व का अभाव है। भास का उरुभंग त्रासदी के नायक के अनेक आयामी व्यक्तित्व को उभारने की दृष्टि से संस्कृत नाट्य-परम्परा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। ऊरुभंग का नायक दुर्योधन साहस, धैर्य, आत्मालोचन और दृढ़ता के अन्दर विकसित होता हुआ सहृदय की सहानुभूति अर्जित करता है। प्रारम्भ में कवि सूत्रधार से पाण्डव-पक्ष के प्रति श्रद्धा निवेदित कराता है, किन्तु शीघ्र ही दर्शक का मोह-भंग होने लगता है। धर्म-विहित दया की उपेक्षा और युद्ध-नियम का उल्लघन करते हुए भीम श्रीकृष्ण के इशारे पर दुर्योधन की जघा को गदा से तोड़ देता है। भगवान् द्वैपायन आकाश की ओर उड़ जाते हैं। बलराम आंखें मूँद लेते हैं और प्रेक्षक दुर्योधन के व्यक्तित्व से उभरती एक नयी चेतना से आन्दोलित हो कर उस दुर्दान्त शक्ति को मृत्यु के कगार पर खड़ी हुई अन्तर्विभक्त आस्था के रूप में देखता है। मृत्यु के चरम क्षण में वह दुर्दम्य चेतना, प्रतिशोध, अभिशाप, विजय, क्षमा और आशीर्वाद के अनेक आनुभूतिक आयामों को समाहित करती है।

शत्रु भीम को वह हृदय से क्षमा कर देता है, क्योंकि कपट-परम्परा का छलपूर्ण उत्तर उसकी दृष्टि में हेय नहीं है। भुजा के टूटने पर उसे अनुताप इस कारण है कि वह पिता को प्रणाम नहीं कर सकता।[1] प्रेक्षक की करुणा की उद्बुद्धि में यह परिदृश्य अद्भुत योग देता है। किन्तु, करुणा की यह रेखा भी एकरेखीय है। कवि ने प्रसंगों को इस प्रकार समाहित किया है कि नायक की मानसिक भूमिका आत्मताप, करुणा, आत्माभिमान और आत्मालोचन के जिन तन्तुओं से निर्मित हुई है, वे सामाजिक की दृष्टि को आलोचनापरक नहीं बनाते। यहाँ निषेध और स्वीकृति का वह द्वन्द्व नहीं

---

[2] त्यक्त्वा धर्मघृणां विहाय समयं कृष्णस्य संज्ञासमम् ।
(भासनाटकचक्रम् पृ० ४९५)

[1] भासनाटकचक्रम् पृ० ५००

है, जो नायक और प्रतिनायक की सीमा को धूमिल बनाता है। फिर भी नायक की आत्म स्वीकृति तथा निराशा और अवसाद के भावावेग से स्वयं मुक्त रह कर पाठक में त्रास करुणा के संचार करने की क्षमता दुर्योधन के चरित्र को जिस अर्थ में विशिष्ट बनाती है, वह प्रमाता की चेतना के अपेक्षाकृत जटिल आयाम की संभावना व्यक्त करती हैं।

संस्कृत-नाटकों के इन व्यापक संदर्भों से यह स्पष्ट है कि इनके नायक प्राय: द्विमुखी व्यक्तित्व के जटिल आयाम को समाहित नहीं करते। उनके नैतिक मान सुनिश्चित और सुदृढ़ हैं। यदि नायक किसी विशिष्ट सामाजिक मूल्य को व्यष्टिगत अथवा समष्टिगत स्तर पर अन्तर्भावित करने के लिए कृतसंकल्प है तो उसके अमूर्त आदर्श की एकायामिता किसी द्वन्द्वात्मक संदर्भ को मूर्त नहीं करती। इस सन्दर्भ में 'दास्तावास्की के 'अपराध और दण्ड' उपन्यास के नायक रास्कोलनिकोव के समानान्तर विम्ब की ओर इंगित करना अप्रासंगिक न होगा। उसमें विवेक और अबौद्धिक तत्त्व अपने विशिष्ट संदर्भों में दोनों ही ग्राह्य हैं, किन्तु उसके विभक्त व्यक्तित्व में ये दोनों तत्त्व क्रमश: एक दूसरे को निष्कासित करते रहते हैं। रास्कोलनिकोव बन्धक रखने वाली एक स्त्री की हत्या कर देता हैं, किन्तु वह अपने अपराध के लिए अनुतापदग्ध नहीं है। वह मानव-जाति के उस दुहरे मूल्य-बोध से घृणा करता है, जो खुद पाप और अपराध-चेतना से ग्रस्त होकर भी दूसरे में उसका प्रतिविम्ब देखते ही गहरी आदर्श नैतिकता में परिणत हो जाता है।[1]

ऐसे पात्रों में नायक के प्रति दर्शक की प्रतिक्रिया ध्वंसपरक मूल्यों के अन्दर से ही एक क्रमिक सर्जनात्मक अन्तर्दृष्टि में परिणत होती है। नायक के चरित्र के एक से अधिक आयाम प्रेक्षक के आवेग को बार-बार समाहित और प्रत्यावर्तित करते हैं। प्राचीन नायक में भी निषेध और स्वीकृति का अन्तर्विरोध लक्षित होता है, किन्तु दर्शक की दुहरी प्रतिक्रिया पात्र की मूल प्रकृति के निषेध तथा उसके आरोपित व्यक्तित्व के व्यक्त हो जाने के अनन्तर ही उभरती थी। यदि नायक क्रमश: अपने अन्तस्तत्त्व का विरोध करते हुए खलनायक या विदूषक की भूमिका पर उतरता था तो उसे मूलत: आरोपित व्यक्तित्व के रूप में ग्रहण किया जाता था; और यह स्तर स्पष्टत: कृत्रिम मान लिया जाता था। प्रियदर्शिका और रत्नावली जैसी नाटिकाओं के ललित नायकों के दुहरे व्यक्तित्व-बिम्ब में यह आरोपण साफ झलकता है,

---

[1] एन इन्ट्रोडक्शन टू दी रशियन नावल (लन्दन-१९४७) पृ० १०२-३

किन्तु आधुनिक नायक में पाठक इस दुहरी भूमिका को अभिन्न रूप में सक्रिय देख सकता है। नायक जैसे दर्शक के सम्मुख निरीक्षण के लिए प्रस्तुत एक उपकरण है, एक निर्वैयक्तिक संदर्भ, जो क्रमशः अपनी प्रवृत्ति अर्जित करता है। जैसे-जैसे कथानक गतिशील होता है पात्र के दुहरे-तिहरे व्यक्तित्व प्रेक्षक की चेतना से टकराते हैं, उनके माध्यम से दर्शक पात्रों को अपनी मौलिक प्रवृत्ति अर्जित करते देखता है। एक ही पात्र में विदूषक और त्रासदी के नायक को अभिन्न भूमिका में देख कर प्रमाता विदूषक की गहरी त्रासदी का अनुभव करता है। सद् असत् रेखाओं के धूमिल पड़ जाने से प्रमाता किसी पात्र के प्रति पूर्व निर्णीत आवेश से आक्रान्त नहीं होता। वह उन्हें मात्र एक अनुभव संसार में व्याख्यायित और पुनर्व्याख्यायित करता है। 'डैथ ऑफ ए सेल्स मैन' का नायक एक लघु प्राणी है, जिसकी त्रासदी उपहास-क्षणों में ही उभरती है। दर्शक इन पात्रों से घृणा नहीं करता, उनसे प्रेम भी नहीं करता किन्तु उनसे एक सीमा तक तादात्म्य करता है। यह तादात्म्य अपनी प्राचीन परिभाषा का अतिक्रमण कर मानव-व्यक्तित्व के क्रमशः धुधलाते तत्त्वों को नायकीय आचरण के केन्द्र में प्रस्तुत करता है। अपने प्राचीन गरिमावृत्त से मुक्त इन नायकों को दर्शक एक साथ सहानुभूति और आलोचना की दृष्टि से देखता है।

आधुनिक नायक समाज के आहत प्राणी हैं। प्राचीन प्रणय-केन्द्र के नायक अब लुप्त हो चुके हैं, उनके स्थान पर भावनाओं का एक पुंज केन्द्रीय पात्र के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसको नाटक के किसी पात्र की अपेक्षा पाठक अधिक स्पष्टता से देख सकता है, क्योंकि उसकी दृष्टि किसी एक क्षण पर नहीं, उनके चरित्र में उभरते विभिन्न अन्तःसम्बन्धों पर रहती है। ब्रेख्त मानव चरित्र का निरीक्षण करते हुए उन मौलिक प्रवृत्तियों के अनुसंधान तक पहुँचा है, जिनमें पात्र अपना मौलिक स्वरूप ग्रहण करते हैं। अतः यदि वह किसी केन्द्रीय पात्र की सृष्टि करता है, तो पाठक को मुक्त छोड़ देता है कि निःसंग स्तर पर उसका मूल्यांकन-निरीक्षण कर सके। पात्र चरित्र और प्रेक्षक, तीनों एक ही भूमि पर हैं। दर्शक नाटक की वास्तविकता का भागीदार नहीं है, वह मुक्त प्रेक्षक है, क्योंकि नायक का आचरण किसी ऋजु रेखा में गतिशील नहीं होता। उसके आचरण के कुछ स्पष्ट, मुक्त बिन्दु होते हैं, जो स्वतन्त्र रूप से मूल्यांकित होने की प्रत्याशा जगाते हैं। नायक स्वयं नहीं जानता कि उसकी मनोभूमिका का यथार्थ क्या है ? केवल

अपनी अस्मिता का अनुसंधान ही उसका लक्ष्य है। क्रमशः विसंगत नाटकों में नायक-सम्बन्धी यह अवधारणा तीव्र होती जा रही है कि नायक अपने अनुभव-जगत् और उसके मूल्यांकन के विषय में असमर्थ है। अतः इनके नायक बाह्यतः मानव-प्रतीतियों के विद्रूप प्रतीत होते हैं, किन्तु उनमें एक मूलभूत वैशिष्ट्य या अर्थवत्ता है, जो विद्रूप के नीचे झाँकती रहती है। शब्द बार-बार उभर कर आध्यात्मिक अस्तित्व का निषेध करते हैं, किन्तु उनमें स्थिति सदर्भों के बीच आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होता हुआ मानवीय संदर्भ उभर आता है। प्रमाता इसी संदर्भ का अन्तः साक्षात्कार करता है।

'गोडो की प्रतीक्षा' (बैकेट) में व्लादीमिर बाह्यतः मानव की मौलिकता का निषेध करता है, किन्तु एक ऐसे अप्रत्याशित और अनाकांक्षित अस्तित्व की प्रतीक्षा में है, जो एक सीमा तक जीवन से परे के अस्तित्व की ही आकांक्षा है।[1] नरक, मुक्ति जैसे रूढ़ शब्द के निरर्थक प्रयोग से यह प्रतीक्षा अर्थ-शून्यता में घुल जाती है। इस प्रकार नायक की विशिष्टता धूमिल होती हुई उसे एक सामान्यीकृत प्रत्यय के अन्दर केन्द्रित कर देती है। यह सामान्यीकरण अर्थ की शून्यता के अन्दर से अभिव्यक्त होता है, जिसमें व्यक्ति के अन्दर का अर्थ निरन्तर मरता जाता है और वह एक सामान्य प्रत्यय मर रह जाता है।

वर्तमान नायक में जहाँ आधुनिक युग का संत्रास एवं स्थिति का सकट अभिव्यक्त हुआ है, वहाँ युग की विद्रोह-चेतना के प्रति राजनैतिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक संसक्ति का भाव पहले से कहीं अधिक व्यापक समष्टि-चेतना को अंतर्भूत कर निःसृत हुआ है। यह सत्य है कि आधुनिक नायक में राग की अपेक्षा विचार और कर्म की प्रेरणा अधिक प्रखर है, किन्तु उसकी

---

[१] The essential metaphor of Godot derives from this demise of possibility. For Estragon and, especially, for Vladimir (thc one who finds transitory comfort in imagining), the waiting is not anticipation of something to come but rather of the moment when the cord of the memory will be severed at last and they will have attained the nirvana of objects.

(David L. Grosavogal) Pour Playwrights, Newyork-1962, p. 105

आस्था एकान्त वैयक्तिक नहीं है। वह समष्टि के संकल्प का प्रतीक है। जैनीकेल्डर के अनुसार नायक में परम्परागत धीरता एवं शौर्य गुण अब अधिक व्यापक संदर्भों से सम्बद्ध हो कर सामने आये हैं।[1] अब अधिक महान् उद्देश्य की सापेक्षता में उसका मूल्यांकन होता है। उसकी गरिमा आत्म-परितोष के केन्द्र में नहीं, सर्जनात्मक कर्म या अधिक व्यापक प्रतीकात्मक मुद्रा में अर्थ खोजती है।[2] तात्पर्य यह है कि आज के राजनैतिक या आध्यात्मिक विद्रोह एवं सकट में सामष्टिक मूल्यों का प्रश्न अधिक प्रखर है। उसी अनुपात में व्यक्तिचेतना को समष्टि चेतना से जोड़ना भी अधिक अनिवार्य हो गया है, जो साधारणीकरण के बिना असंभव है।

प्रतिनायक का संदर्भ और साधारणीकरण

आचार्य बिश्वनाथ के अनुसार नाट्यानुभूति के क्षण में प्रमाता स्वयं को नायक से अभिन्न समझने लगता है। यह साधारण्याभिमान की भूमिका है। यह अभेद प्रतीति तादात्म्य का ही एक रूप है, जिसमें नायक का प्रीतिकर व्यक्तितत्व प्रेरक कारण है, किन्तु क्रमशः जटिल मानसिक चेतना के पात्रों में नायक तथा खलनायक में भेद करना कठिन है। जहाँ पात्र सत् और असत् प्रवृत्ति की स्पष्ट सीमा-रेखा में है, वहाँ तो नायक और प्रतिनायक का विभाजन सम्भव है किन्तु अन्यत्र या तो प्रतिनायक अपने दुर्दान्त व्यक्तित्व के कारण अज्ञात रूप से कवि की सहानुभूति अर्जित करता हुआ अपने विशिष्ट मानसिक संस्कार के कारण प्रेक्षक से तादात्म्य अर्जित करता है, या प्रतिनायक के रूप में नायक के आदर्श की भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करने वाला पात्र होता है। इन दोनों ही स्थितियों में प्रमाता में प्रतिनायक के प्रति अनेक आयामी प्रतिक्रिया होती है। इस स्थिति में एक दर्शक की प्रतिक्रिया दूसरे की

---

[1] The individual acts on behalf of the man, he represents a collective will; his responsibility is vast. The traditional heroic qualities courage, strength, decisiveness are necessary but they are seen in relation to much larger issue.

(Heroes, Jenni Calder (London, 1977) p. 171)

[2] The individual has to be judged in terms of a greater good, in heroism self fulfillment or symbolic gesture or constructive action. (Ibid p. 171)

अनुभूति से भिन्न होती है। नैतिक मूल्यों के प्रति पूर्वाग्रह भी इनमें एक विशिष्ट कारण हो सकता है। मिल्टन के 'पेरेडाइज लास्ट' में यदि एक पक्ष कवि के नैतिक अभिप्राय को चरितार्थ होते हुए देखता है, तो दूसरे पक्ष को उसमें काव्य के मूल व्यापार तथा शैतान के प्रति सहानुभूति अर्जित करने वाले तत्त्वों में एक निरन्तर संघर्ष होता दिखाई देता है। एक आलोचक का कथन है कि संदेहवाद के युग में कृति का मूल धार्मिक आशय प्रभावहीन हो गया तथा पाप का अभिकर्ता अपने विशिष्ट ससार में अधिक आकर्षक चरित्र बन गया।[1] ब्लैक का कथन है कि मिल्टन अज्ञात रूप में शैतान के पक्ष में था तथा शैली के अनुसार शैतान का नैतिक व्यक्तित्व ईश्वर से भी अधिक उत्कृष्ट है।[2] वस्तुतः आस्थाओं के खण्डित होने के साथ प्रतिनायकपरक प्रतिदर्श भी परवर्तित हो जाते हैं। नायक तथा प्रतिनायक दो जीवन-दर्शनों के द्वन्द्व को ही प्रस्तुत नहीं करते, एक आदर्श की तुलना में दूसरा आदर्श भी (प्रतिधर्म भी) स्थापित करते हैं। दोनों का जीवन-दर्शन परिस्थिति की विशिष्ट अनुभूति पर आश्रित होता है।

आधुनिक मनीषा में मनुष्य का शैतान द्वारा प्रलुब्ध किया जाना एक कथात्मक अथवा प्रतीकात्मक अस्तित्व रखता है। उसके तथ्यपरक अभिप्राय तक पहुँचने के लिए शैतान की मानवपरक परिकल्पना अधिक संभाव्य लगती है। इसी संदर्भ में शैतान के संवाद पाठकीय स्तर पर संवेद्य होते हैं। आधुनिक दृष्टि शब्दों के बाह्य धरातल के नीचे छिपी अधिक व्यापक जटिलता के अनुसंधान के लिए उत्सुक है। वह नायक की अथवा प्रतिनायक की गतिमयता के प्रति अपनी अनुक्रियाओं को स्वतः अर्थ-ग्रहण के लिए मुक्त कर देती है। अतः जहाँ वह आदम और ईव को मानवीय दृष्टि से देखता है, वहाँ शैतान की ओजस्विता, दृढ़ता, साहस और आकांक्षा की आवेगशीलता से अभिभूत भी होता है। असीम संगठन शक्ति तथा संकल्प की दृढ़ता उसके

१-२. Blake said that Milton was free only when writing of satan because he was of the Devil's party without knowing it. That this was no individual quirk of Blake's is shown by the independent testimony of Shelley who proclaimed Milton's Devil as a moral being far superior to his God.

(Philip Hobsbaum) A Theory of communication p. 32)

चरित्र को विशिष्ट बनाती हैं। एवरक्राम्बी के अनुसार सम्पूर्ण महाकाव्य का आधार ही शैतान का आदर्श चरित्र है। उसकी अनम्य पीडा आधुनिक चेतना को गहनता से व्यक्त करती है। द्रष्टव्य यह है कि उसके स्रष्टा तथा उसके निजी व्यक्तित्व में एक मौलिक अन्तर है, जहाँ मिल्टन ईश्वरीय नियमों का औचित्य प्रतिपादित करना चाहता है, वहाँ शैतान उन मूल्यों को ध्वस्त करता है तथा पाठक की चेतना को अपनी अनुक्रियाएँ निर्मित करने के लिए मुक्त कर देता है।

'नैषधचरित' का कलि मूलत: प्रतिधर्म का प्रतिनिधि है। उसके अनेक तर्कों में आधुनिक युग की जागरूक चेतना की प्रतिध्वनि सुन पड़ती है। निश्चय ही परम्परित मर्यादा से युक्त प्रमाता का हृदय एक स्तर पर ही इन तथ्यों का अनुमोदन करेगा। उसका मर्यादित संस्कार उसे प्रतिरोध के लिए चेतन-स्तर पर निरन्तर प्रेरित करता रहेगा। आधुनिक कवि, जिसे चेतना का आत्म-संघर्ष कहते हैं, कलि के चिन्तन में वह एक सीमा तक मूर्त्त हुआ है। अनादि संसार में अब तक संख्यातीत स्त्री-पुरुषों के युग्मों में कितने परिवर्तन हो चुके हैं। काम के दुर्वार होने तथा कुलों की कामिनी मूलक संकलपना के कारण जाति-परिकलपना व्यर्थ का प्रपंच है।[1] इसी प्रकार अन्यत्र श्रुति और स्मृतियों की मनोनुकूल अर्थ की संभावना होने पर किसी एक अर्थ को निश्चित कर उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन से मृत व्यक्ति को तृप्ति मिलती है, जैसी उक्तियाँ धूर्ततापूर्ण हैं। कलि के ऐसे अनेक कथन आधुनिक, बौद्धिक चिन्तन का स्पर्श करते हैं।

> 'मृतः स्मरति जन्मानि मृते कर्मफलोर्मयः।
> अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्तवार्तया॥ (१७/५३)
> देवैर्द्विजैः कृता ग्रन्थाः पन्था येषां तदादृतौ।
> गां नतैः किं न तैर्व्यक्तं ततोऽप्यात्माधरीकृतः॥' (१७/६७)

कलि की यह दृष्टि अप्रत्याशित नहीं कही जा सकती। कवि वस्तुनिष्ठ रागात्मकता से अभिभूत हो कर जीवन के जिस वस्तु-सत्य का आत्म-साक्षात्कार करता है, उसके आत्म-परिवेश में घिर कर वह आत्म-सत्य बन जाता है। तात्पर्य यह है कि नैषधकार की दृष्टि कलि के इन विचारों को तार्किक

---

१. नैषधीयचरितम् १७/४०, पृ० ६६१
(निर्णयसागर-१९५२)

आधार पर ग्रहण ही नहीं करती, अचेतन रूप में उनमें बौद्धिक तादात्म्य भी करती है। पूर्व पक्ष के रूप में विकसित इन खण्डों में कवि का कथ्य आद्योपान्त अनुस्यूत है। तात्पर्य यह है कि प्रतिनायक कवि के जीवन-मूल्य के एक भिन्न पक्ष को रेखांकित करता है। वह पाप, अधर्म अथवा असत् की प्रतीति ही नहीं कराता, समानान्तर जीवन-मूल्यों के स्तर पर उन्हें पुनर्व्याख्यायित भी करता है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में यह दृष्टि क्रमशः विकसित हुई है। भामह स्पष्टतः नायक के अपकर्ष के विरुद्ध हैं। नाट्यदर्पणकार प्रतिनायक को पापी और व्यसनी कहते हुए भी धीरोद्धत की संज्ञा से अभिहित करते हैं। वस्तुतः प्रतिनायक केवल अधर्म अथवा असत्य का ही प्रतिनिधि नहीं है, वह जीवन-मूल्य के प्रतिपक्ष का भी प्रतिनिधि है। प्रमाता की विवेक-चेतना उसके व्यक्तित्व को इसी रूप में ग्रहण करती है। प्रमाता की चेतनसत्ता यदि नायक से तादात्म्य करती है तो अवचेतन स्तर पर वह उसके वैकल्पिक अस्तित्व के प्रति भी समर्पित होती है। पंडितराज ने जिसे भावना-दोष तथा विश्वनाथ ने साधारण्याभिमान कहा है' उनके मूल में औचित्य की मर्यादित परिकल्पना है। प्रमाता की चेतना अंशतः उस मर्यादा का विरोध करती है किन्तु, प्रतिनायक के चारित्रिक उत्कर्ष का एक ऐसा भी धरातल है जहां उसके चेतन, अचेतन का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। तथा प्रतिनायक अपनी प्रचण्ड-गरिमा में प्रतिनायकीय औदात्य मूर्त्त करता हुआ प्रमाता की चेतना में संक्रमित होता है। पंडितराज के अनुसार 'ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयः' जैसी अभिव्यंजनाएँ प्रतिनायक के परमैश्वर्य की ही पोषक हैं। प्रमाता की चेतना अनौचित्य से मुक्त हो कर इस स्वरूप से साधारणीकृत होती है।

दर्शकीय प्रतिक्रिया (आधुनिक संदर्भ)

संस्कृत-नाटक मूलतः उन अभिजात संस्कारों की कुक्षि से उत्पन्न हुए हैं जो एक सीमा तक गतिशील मूल्यों का निषेध कर कुछ शाश्वत मूल्यों से प्रतिबद्ध रही हैं। आधुनिक पाश्चात्य नाट्यालोचन में शाश्वतता का निषेध की प्रवृत्ति लक्षित होती है। ये नाटक भौतिक तथा आध्यात्मिक सभी प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह करते हैं तथा वर्तमान यथार्थ के अस्वीकार के माध्यम से रूढ़ियों की स्थिरता को गतिशील मूल्यों में परिवर्तित करने का उत्साह दिखाते हैं। आधुनिक पाठक नाटक के इस गतिशील परिवेश को ग्रहण

करने में अभ्यस्त हैं। एक तरह का आतंक तथा मानसिक तनाव पात्रों के ऊपर अदृश्य रूप में गहराता प्रतीत होता है। आधुनिक नाटक एक ध्वंसात्मक शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होकर सोद्देश्य अथवा रसात्मक नाटकों की रूढ़ शृंखला को तोड़ता है। आर्ताद के अनुसार संस्कृति के कृत्रिम आरोप के कारण मानव का मौलिक तत्त्व आच्छादित हो गया है। कलाकार का दायित्व कृत्रिमता के इन आवरणों को भेद कर यथार्थ के आभ्यन्तर स्वरूप के उद्घाटन में निहित है। यह आभ्यन्तर यथार्थ मूलत: वह आवेगात्मक प्रवाह ही है जो क्रूरता के परिच्छद में पाठक की चेतना में सक्रमित होता है।[1] यह दृष्टि अनुभव की बौद्धिकता के प्रति प्रबल आग्रह रखने हुए भी आवेगात्मक संदर्भों की उपेक्षा नहीं करती। आधुनिक नाटक का प्रयोजन द्विमुखी है। एक स्तर पर संस्कृति द्वारा स्थापित कृत्रिम मूल्यों के विरुद्ध वह वर्जनामुक्त विद्रोह के रूप में प्रतिफलित हुआ है तो दूसरे स्तर पर वह क्रूरता का नाटक है जो मानव आत्मा के यथार्थ और उन निर्मम परिस्थितियों को प्रदर्शित करता है जिनमें वह संघर्षरत है।[2] आधुनिक पात्र सामाजिक आचरण तथा भाषा की संवादात्मक अभिव्यक्ति का भी निषेध करते हैं। मानवीय मूल प्रवृत्तियों को अधिकाधिक क्रूर बना कर प्रमाता के स्तर पर उन्हें दुरूह बनाया जा रहा है। क्रूरता से आर्तोद का आशय प्रपीड़नवाद से नहीं है, वह निर्वैयक्तिक, अबौद्धिक निर्ममता का पर्याय है जो मानव-संबंधों की अपरूपताओं के रूप में विस्तृत है और दर्शकों को इसके प्रति सजग बनाना नाटक का लक्ष्य है।

ऐसे दृश्य दर्शकों में उन क्रूर भावनाओं के अनुकरण का भाव उद्बुद्ध नहीं करते, अपितु क्रूरता से निष्कृति की ओर उन्मुख करते हैं। दर्शक अपने अन्दर प्रसुप्त हिंसा से अभिज्ञ होता है, जिससे उसकी निजी अस्तित्व-चेतना को आघात पहुँचता है। भयावह, दुर्वार, शक्ति की उपस्थिति में दर्शक अपनी असहायता का अनुभव करता है जिसमें जहाँ वह स्वयं को विराट् नियति के आगे विवश अनुभव करता है, वहाँ सामष्टिक अभिशाप में संभागी बन कर आत्म-विस्मृत भी हो जाता है। क्रूरता का वह सम्मोहन दर्शकों की सामूहिक चेतना को आक्रान्त कर देता है। उनकी चेतना पर इन दृश्यों का वही

---

१. The theatre of protest and paradox. p. 17

२. वही, पृ० १८

प्रभाव पड़ता है जो ऐन्द्रजालिक अनुष्ठानों का होता है। उनमें एक साथ रहस्यात्मक सम्पृक्ति, विद्रोह तथा स्वीकृति का संयोग होता है। अतः आधुनिक नाटक नि:संग दर्शकों की अपेक्षा ऐसे दर्शकों की सापेक्षता में अभिनीत होता है जो नाटकीय प्रस्तुति में संभागिता के आधार पर सम्बद्ध होते हैं। कोई भी कृति कालातीत नहीं होती, उसकी अन्तर्वस्तु युगानुकूल होती है। समकालीन श्रोता की भाव-संवादिता के स्तर के अनुकूल उसकी संरचना में अन्तर अवश्य आता है। अत: आधुनिक प्रेक्षक से यह शिकायत करना मूर्खतापूर्ण है कि उसे औदात्य का बोध नहीं है। कालिदास अथवा सोफोक्लीज की कथावस्तु अब भी उतनी ही उदात्त है, किन्तु उनकी भाषिक गरिमा आज की अनगढ़ता के प्रतिकूल है। आधुनिक दृष्टि से उनमें निर्ममता है, मानवीय प्रवृत्ति की नि:संग क्रूरता है, किन्तु स्वीकार्य वह तभी होगा, जब कि उसे युगानुकूल भाषा में सम्बोधित किया जाए। आशय यह है कि आधुनिक नाटक भी अन्तर्वस्तु का प्रमातृगत साक्षात्कार भाषिक चेतना के माध्यम से ही करता है। यह वस्तु भी संवेगात्मक उद्बुद्धि का साधन बन कर आती है अर्थात् उसका प्रयोजन केवल विचारों का सम्प्रेषण नहीं है। वह केवल तथ्यों को बौद्धिक स्तर पर संक्रमित नहीं करता, अपितु एक अन्तर्दशा की साधारणीकृत भंगिमा को सम्प्रेषित करना चाहता है। वह भाषा की मुद्राओं में परिवर्तन करना चाहता है तथा जीवनानुभूति के सर्वव्यापी संदर्भ को अनुभूत कर किसी विशिष्ट विचार की अपेक्षा साधारणीकृत बिम्बों में इस प्रकार अनूदित करता है कि उनमें प्रत्येक दर्शक को संवेगात्मक स्तर पर आत्मानुभव का क्षण प्राप्त होता है। 'विभावादिसाधारणीकरणात्मा' के समानान्तर देखें तो इन नाटकों के चरित्र भी अपनी गतिशील प्रकृति के अनुरूप प्रमातृगत अनुक्रिया को आमन्त्रित करते हैं।

त्रासदी और साधारणीकरण

त्रासदी में साधारणीकरण की क्षमता का विवेचन करते हुए अरस्तु कहते हैं कि त्रासदी का नायक उच्च यश और समृद्धि सम्पन्न होता है। मूलत: राजा और राजकुमार की चरित्र-सृष्टि ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जो सामान्य प्रस्तुति की तुलना में जीवन-सत्य को गहनता से व्यंजित करता है।[1] सम्राट् की त्रासदी मात्र संकट या वेदनाग्रस्त व्यक्ति की त्रासदी

---

[1] Nicoll, The Theory of Drama (Delhi, 1969) p. 103

न होकर सम्पूर्ण राष्ट्र की त्रासदी सिद्ध होती है, क्योंकि उसकी नियति अनिवार्यत: प्रजा की नियत्ति से जुड़ी होती है। आधुनिक युग में मध्य वर्ग के उद्गम के साथ प्रमाता की सहानुभूति अचेतन रूप में विद्रोही व्यक्तित्वों के साथ जुड़ी हैं, क्योंकि मुसोलिनी अथवा हिटलर जैसे अधिनायक मानव नियति से आभ्यन्तर स्तर पर सम्पृक्त नहीं हैं।[2] यद्यपि आज भी सम्राट्-नायक की अवधारणा एकान्तत: क्षीण नहीं हुई है, तथापि साधारण व्यक्तित्वों के निर्माण के द्वारा साधारणीकरण का मार्ग प्रशस्त करने की चेष्टाएँ अब अधिकाधिक प्रखर होती जा रही हैं।

वस्तुत: सम्राट्-नायक की प्रस्तुति ही प्रमाता के तन्मयी-भवन के लिए पर्याप्त नहीं है, अपितु एक अतिमानवीय शक्ति की अवतारणा भी आवश्यक है जो वैयक्तिक घटना-प्रसूत परिवेश की अपेक्षा एक ऐसा आतंककारी प्रभाव छोड़ती है जिसमें निहित प्रच्छन्न संकेत और अर्थ धूमिल अवधारणाएं प्रमाता की आस्था को विविध धरातलों पर सङ्क्रमित करती हैं। अभिनव ने प्रकारान्तर से वर्तमान चरित की प्रस्तुति का निषेध कर प्रमाता तथा नाटक के नायक के मानसिक अन्तराल को तीव्र करने का संकेत दिया है। इसी के समानान्तर रंगमंचीय उपकरण तथा प्रयोक्ता के द्वारा प्रस्तुत उन नाट्यविधियों का भी महत्त्व है जो नायक के मौलिक स्वरूप को आच्छादित कर प्रमाता तथा नायक के मध्य रागानुभूतिजन्य मानसिक अन्तराल को प्रेरित करते हैं।[3]

अतिप्राकृत तत्त्वों के सम्पर्क से प्रमाता की प्रकृति के उदात्त अंश गहनतर स्तर पर आन्दोलित होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वह तुच्छ क्षणिक संवेगों से मुक्त होकर मानव-जीवन के अतीन्द्रिय आदर्श की ओर उन्मुख हो रहा है। किसी एक लघु वर्ग अथवा व्यक्ति की छिद्रान्वेषी प्रवृत्ति से मुक्त हो कर वह एक बृहत्तर आदर्शवर्ग का प्रतिनिधि बन गया है। बाह्यत: करुणा अथवा दु:ख के स्मरण से प्रेरित संभावित विनाश की त्रासद छाया सम्पूर्ण परिवेश में मूर्त होती सी प्रतीत होती है, किन्तु अन्तिम परिणति चरम

---

१. Nicoll—The Theory of Drama (Delhi 1969) p. 103

२. वही, पृ० १०५

६. अभिनवभारती (दिल्ली विश्वविद्यालय) पृ० १९५

शान्ति की आनन्दमयी अनुभूति ही होती हैं।[1] काव्य की करुणा तथा त्रासद इतिवृत्त बाह्यतः लौकिक उद्विग्नता और चित्त की विशृंखलता के स्तर पर अभिव्यंजित से प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः यह करुणा आत्मा को विशद बना कर सम्पूर्ण त्रासद प्रभाव को आनन्दात्मक रस में पर्यवसित कर देती है।[2]

नायकीय गरिमा के साक्षात्कार से भी त्रासदी में एक विशिष्ट आनन्दानुभूति होती है। प्रमाता परिस्थितियों के चक्र में फँसे हुए भी हेमलेट जैसे नायक को देखकर इस विषय में आश्वस्त रहता है कि असद् एवं मृत्यु पर अन्तिम विजय नायक की ही होगी। यदि कार्डीलिया जैसे पात्र की मृत्यु भी होती है तो वह महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि उसका आत्मिक औदात्य मृत्यु को अस्तित्वहीन बना देता है। सीता का भूमि-प्रवेश उसके चारित्र्य के औदात्य की सापेक्षता में इतना यन्त्रणादायक नहीं रहता। उसकी गरिमा उसे देवत्व की कोटि में प्रतिष्ठित कर देती है और उसके प्रति करुणा हमें क्षुद्र लगती है।

प्रख्यात कथानक तथा साधारणीकरण

साधारणीकरण के लिए, अभिनव गुप्त ने संभावना-विरह-विघ्न के अभाव की अनिवार्यता की ओर इंगित करते हुए प्रकारान्तर से इस संदर्भ में प्रख्यात कथा-वस्तु की प्रासंगिकता का उल्लेख किया है। काव्यास्वाद में प्रथम विघ्न संभावना-विरह ही है जो प्रतिपत्ति में अयोग्यता से उत्पन्न होता है। संवेद्य वस्तु के संभव न मानने के कारण प्रमाता अपने संविद् का कथावस्तु में अन्तः प्रवेश नहीं करा पाता, फलतः ज्ञान की अनिर्णीत स्थिति तक ही उसकी संवेदना क्रियाशील रहती है, आत्म-विश्रान्ति तक नहीं पहुँच पाती। 'संवेद्यमसम्भाव्यमानः संवेद्य संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र

---

[1] समस्तपूर्वदु:ख-संचयसस्मरणप्राणितः सम्भाविततदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेदः। (अभिनवभारती, पृ० २२४)

[2] अश्रुपातादयश्च इतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते। तस्मात् रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।
(नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक (१९७१) पृ० ३४९)

विश्रान्तिरिति ।' वर्ण्य विषय के प्रति पाठक के मन में आश्वस्ति उत्पन्न करने के लिए लोक-सामान्य वस्तु की अभियोजना आवश्यक है । भावकों में हृदय-संवाद स्थापित करने के लिए प्रख्यात कथा-वस्तु की आवश्यकता की ओर भरत ने भी इंगित किया है—'प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकं चैव ।'[2] परवर्ती आचार्यों ने महाकाव्य की व्यापक परिभाषा में इतिहास-कथोद्भूत अथवा प्रख्यात इतिवृत्त को आवश्यक माना । यथा —'इतिहास-कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।[3] 'इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।'[4] प्रख्यात कथावृत्त की यह स्थिति साधारणीकरण के सर्वजन-संवेद्य धरातल का स्पर्श करती है । अभिनव का कथन है कि यदि अलोक सामान्य वस्तु भी कवि को प्रस्तुत करनी पड़े तो उसके लिए भी रामादि से सम्बद्ध इतिवृत्त का ही ग्रहण करना चाहिए । ऐसे वृत्त प्रमाता की चित्तवृत्ति में अपनी अखण्डित प्रसिद्धि के कारण बद्धमूल विश्वास को दृढ़ करते हैं । अतः असामान्य उत्कर्ष के उपदेश अथवा ज्ञान के लिए भी प्रख्यात-विषय वस्तु का ही निरूपण होना चाहिए ।[5] स्पष्टतः अभिनव गुप्त अपनी आस्था लोकोत्तर-चरित्रों से संबंधित प्रख्यात कथा-वस्तु में व्यक्त करते हैं, किन्तु लोक-सामान्य वस्तु की संवेद्यता को भी वे स्वीकार करते हैं । यह वैकल्पिक स्थिति अन्य आचार्यों को भी मान्य है । काव्य के आस्वाद के प्रतिमान के रूप में प्रख्यात कथा-वस्तु को प्रतिष्ठित करने का आग्रह अभिनव ने अनेक स्थलों पर व्यक्त किया है । प्रकरण की अपेक्षा नाटक की उत्कृष्टता भी वे इसी आधार पर प्रमाणित करते हैं । 'नाटकं प्रकरणादपि प्रधानं प्रसिद्ध्युपजीविनी हि कल्पना वस्तु-संभावना, अनुभवमूलत्वात् तस्याः'[6] शंकुक के अनुसार प्रख्यात कथावस्तु में

---

१. अभिनवभारती (दिल्ली-१९७३) पृ० ४७४

२. नाट्यशास्त्रम् १८/१० (सं० मधुसूदन शास्त्री) सं० २०३२, पृ० १४४२

३. दण्डी काव्यादर्श १/१५

४. साहित्यदर्पण ६/१७

५. अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहश्चोपायः । अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादिनियमेन निरूप्यते ।" (अभिनवभारती (उपरिवत्) पृ० ४७४)

६. नाट्यशास्त्र १८/१० की अभिनव भारती पृ० १४४२

भी ऐसे कथा-वृत्तों का ही ग्रहण आवश्यक है, जिनका नायक उदात्त और प्रख्यात हो; जबकि भट्टतौत के अनुसार प्रख्यात प्रतिपाद्य वस्तु का नायक स्वत: ही उदात्त होता है।[1] शंकुक का आग्रह वस्तुत: चारित्रिक उत्कर्ष पर है, जबकि भट्टतौत कथात्मक उत्कर्ष की ओर इंगित करते हैं। इस दृष्टि से वे अरस्तु के समान-धर्मा हैं, क्योंकि अनुभावन-अनुकीर्तन मूलत: कार्य-व्यापार से सम्बद्ध होता है।

अभिनव ने प्रख्यात इतिवृत्त के संदर्भ में तीन प्रसिद्धियों का उल्लेख किया है—वस्तुगत, विषयीगत तथा उन दोनों के मिश्रण से उद्भूत प्रख्यातोदात्तता। इसमें प्रतिपाद्य वस्तु यदि अत्यधिक प्रसिद्ध है तो देशकालादि के औचित्य की प्रतिष्ठा परम आवश्यक है। जैसे वत्सराज का कौशाम्बी से व्यतिरिक्त मालव पांचाल आदि में वर्णन वैरस्य उत्पन्न करता है।[2] **तत्र प्रसिद्धिखण्डनेन प्रतीतिविघातात्**।[3] इस संदर्भ में उन कारणों का पर्यालोचन आवश्यक हो जाता है, जो प्रख्यात कथा-वस्तु को साधारणीकरण की प्रेरक परिस्थितियों के स्तर पर प्रतिष्ठित करने में योग देते हैं। कहना न होगा कि इसका एक प्रमुख कारण मानव-चेतना की आदिम आकांक्षा में निहित है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रख्यात कथावस्तु की प्रासंगिकता और सार्थकता को इसी आधार पर विवेचित किया गया हैं।

प्रख्यात कथा-वस्तु प्रमाता के बद्धमूल भावों को पुष्ट करती है उसमें निहित मिथकीय तत्त्व आद्य-बिम्बों (आर्किटाइपल इमेजिज) को उद्बुद्ध करने में अधिक समर्थ होते हैं। अभिनव के अनुसार अपनी अखण्डित प्रसिद्धि के कारण ऐसे वृत्त बद्धमूल विश्वास से परिपुष्ट करते हैं **'अखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढ प्रत्ययप्रसरकारी'**[4] अभिनव के इस मन्तव्य में सत्य का अंश है। आधुनिक मिथकीय समीक्षा इसकी पुष्टि करती है। सार्वभौम आदिम आस्थाओं का अनुसंधान कर ऐसे इतिवृत्त मानव की चेतना को अधिक व्यापक स्तर पर आन्दोलित करते हैं। इसके कतिपय मनोवैज्ञानिक अन्त:सूत्र हैं।

---

[1] प्रख्याते भारतादौ यद्वस्तु तद्विषयोऽस्य, तत्रापि किञ्चिदप्रसिद्धं भवति, तन्निराकरणाय प्रख्यातोदात्तेति श्रीशंकुक:। एतत्तु विषयोऽस्येति इयता गतार्थमित्युपाध्याया:। (वही, पृ० १४४२)

[2] वही, पृ० १४४३

[3] वही, पृ० वही

[4] अभिनवभारती पृ० ४७४

प्रख्यात कथा·वस्तु क्रमशः एक ऐसे प्रच्छन्न आन्तरिक विधान के अन्दर गतिशील होती हुई कवि की सर्जन चेतना में रूपान्तरित होती है कि उस में प्रतीकात्मकता का अन्तः प्रवेश हो जाता है। यह प्रतीकात्मकता अथवा रूपकात्मकता एक विकासशील माध्यम से ही कवि की सर्जनात्मक आकांक्षा में मूर्त्त होती है। ऋग्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण की पुरूरवा-उर्वशी की कथा अनेक मिथकीय प्रतीकों के समावेश के अनन्तर ही कालिदास के विक्रमोर्वशीय में आकार ग्रहण करती है। मूलतः द्यावापृथिवी का प्रणय-मिथक स्वर्ग और पृथ्वी के मिलन का संकेत दे कर क्रमशः अध्यात्म और काम के रूपकात्मक विन्यास में मूर्त होता है। इस प्रकार ऐसे वृत्त ऐतिह्य बन्धनों से मुक्त हो कर क्रमशः प्रमाता की अखण्ड चेतना में अन्तर्भुक्त हो कर मानवता के विराट् रूपक में रूपान्तरित हो जाते हैं। प्रसाद यदि श्रद्धा, इडा और मनु के आख्यान में ऐतिहासिकता के अन्दर से मानवता के विराट् रूपक की ओर अग्रसर होने की संभावनाओं को व्यक्त करते हैं तो दिनकर पुरूरवा उर्वशी के मिथक को चिरन्तन नर-नारी की चरमाकांक्षा के रूप में विकसित करते हैं। ये मिथक मानव तथा देवत्व के सामरस्य मूलक चिन्तन की ओर इंगित करते हैं। नार्थाप फ्राइ का कथन है कि अन्योक्ति साहित्य की संरचना का अविभाज्य तत्त्व है।[1] जैसे जैसे हम मिथकीय संरचना की ओर अग्रसर होते हैं, उसकी पृष्ठ भूमि में प्रासंगिक और सार्थक नाटकीय तत्त्व उभरने लगते हैं।[2] ये तत्त्व हृदय-संवाद की भूमिका निर्मित करते हैं। यह कारण प्रख्यात वस्तु के परम्परित मिथकों, काव्य-रूढ़ियों तथा कविसमयों के अन्तर्भावित परिवेश की ओर इंगित करता है। यह परिवेश प्रमाता की चित्तवृत्ति में गहन स्तर पर सम्पृक्त होता है। प्रख्यात वस्तु में सामूहिक चेतना के विविध आयामी स्वरूप की वैश्विक अभिव्यक्ति होती है। पौराणिक कथावृत्त, व्रत, पर्व, विश्वास, लोकोक्तियों, देवी-देवताओं, शकुनों के विराट् जगत् के अन्दर से परिचय भरी नवीनता का आनन्द देता हुआ क्रमशः प्रमातृ चेतना में आकार ग्रहण करता है। उसमें चेतना एक विराट सीमा से दूसरी विराट् सीमा की ओर अतिक्रमण करती है।

---

२. Genuine allegory is a structural element in literature. (Northrop Frye) Anatomy of Criticism U.S.A. 1971 p 54)

३. Ibid. p. 325

प्रख्यात कथा में पौराणिक तथा ऐतिहासिक संदर्भ क्रमशः आद्य बिम्बों में पुनर्भावित होते हैं। आद्य प्ररूपों के केन्द्र में वैश्विक प्रतीक होते हैं, जो अधिक साधारणीकृत होते हैं और उनमें सम्प्रेषण की असीम क्षमता होती है। ये मानव की आकांक्षाओं और अपूर्ण आशाओं को मूर्त्त करते हैं, इन प्रतीकों के माध्यम से सर्जन-चेतना दमित कुण्ठाओं को वर्जना-मुक्त कर समाजोन्मुख करती है। प्रख्यात वस्तु मूलतः राजाओं के चरित्रों तक सीमित होती है। राजा का बिम्ब जन-चेतना में अन्तर्भुक्त विभिन्न युगों की गरिमाओं, मूल्यों तथा प्रतिबद्धताओं को अन्तः संयोजित करता है। उसके प्रति प्रमाता में एक साथ श्रद्धा रागासक्ति तथा विद्रोह चेतना का प्रच्छन्न स्पर्श करता हुआ रागतत्त्व प्रवाहित रहता है। 'वाच्यस्त्वया मद्वचनात स राजा' में प्रमातृ-चेतना के ये अनुषंग सहज ही ध्वनित हो उठते हैं। ये एक साथ बौद्धिक तथा रागात्मक प्रतिक्रियाओं के अन्दर से उस प्रतिदर्श का अन्तःअन्वेषण करते हैं जो पितृ मूर्त्ति[1] के समान प्रीति और भय को एक साथ उद्रिक्त करती है। एक स्तर पर प्रमाता रागात्मक आसक्ति से आविष्ट होता है तो दूसरे स्तर पर सजग बौद्धिक प्रतिक्रिया करता हुआ उसका निरन्तर प्रतिरोध भी करता है। पितृमूर्ति के स्तर पर राजा की परिकल्पना आदिम चेतना की उद्भूति है। उन दोनों की अभिन्न चेतना में उस आत्मचेतना का उद्भव होता हैं जो शक्ति के उस प्रथम प्रतीक को अपने व्यक्तित्व के अत्यन्त निकट और बहुत दूर अनुभव करता है। माड बाडकिन ने काव्य के आद्य प्रतिदर्शों का विवेचन करते हुए राजा, पिता के समीकरण को मानव के गहन स्तर से सम्बद्ध बताया है। कविता इस गहन स्तर में अन्तःप्रवेश कर इस बिम्ब को प्रतीकात्मक स्तर पर पुनरुज्जीवित करती[2] है। राग और विरक्ति की द्वैधी चेतना मानव के संस्कारों की ही परिणति है।

---

१. It is probably because, to the mind of the young child, the father appears of unlimited power that in the life-history of the individual imagination, the figures of father and king tend to coalesce.
(Maud Bodkin) Archetypal Patterns in Poetry, Oxford, 1971, p. 17

२. The figures of both father and king tend to retain within those deeper levels of the mind to which poetry may penetrate, something of the mana……(Ibid. p. 17)

आकस्मिक नहीं कि लव-कुश की यह प्रसिद्ध उक्ति प्रमाता की चेतना को परम्परा की दीर्घा से मुक्त दृष्टि देती है। उसके मूल में राजा और पिता के राग और स्पर्धा का बिम्ब अवचेतन स्तर पर विद्यमान है। यह बिम्ब नाटकीय विडम्बना का प्रभाव सम्मूर्तित करता है। 'क इह न गुणैस्तं राजानं जनो बहु मन्यते। तदपि खलु मे स व्याहारस्तुरंगमरक्षिणां।'[1] लव की यह द्विधा विभक्त मानसिकता क्रमशः उस भूमिका पर आरूढ़ हो जाती है, जिसमें राग से आच्छन्न स्वतन्त्र चैतन्य का विप्रतिपत्तिमूलक चैतन्य आविष्कृत होता है।

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीण्यपराङ्मुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः॥[2]

महिमभट्ट ने जिन्हें सम्प्रतिपत्तिमूलक एवं विप्रतिपत्तिमूलक समीक्षापद्धतियाँ कहा है प्रमाता की चेतना में यहाँ वे एकत्र समुदित हैं। 'तत्रैत्यस्य एकत्र सन्निवेशः अन्यत्रानुषंगः।'[3] प्रमाता की रागस्पर्धाकुल मानसिकता में एक सीमा तक औत्सुक्य का तत्त्व भी अनुस्यूत है जो रागस्पर्धा के द्वन्द्व चैतन्य की विश्रान्ति तक सक्रिय रहता है। यहाँ विक्षेप क्रमशः क्षोभ में, क्षोभ विस्तार में और विस्तार विकास में पर्यवसित होता जाता है। विक्षेप मूलतः चितवृत्ति की उपेक्षामूलक प्रतिक्रिया है। 'यदि नाम किञ्चिदस्ति वक्तव्यम् अथवा शान्तम्' में अंकुरित हो कर यह विक्षेप क्रमशः 'पुण्यानि तातचरितान्यपि यो न वेद' की स्पर्धा में खड़ा हो जाता है। पुनः 'तातापवादभिन्नमर्याद' जैसी उक्तियों से प्रेरित हो कर क्षोभ 'दृप्तानां दहनाय' से संक्रमण करता हुआ उस विस्तार भूमि पर पहुँचता है, जहाँ 'विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनः'[4] प्रमाता का विरोध शान्त पड़ जाता है। एक तीव्र करुणा उसे भावना प्रसाधन अथवा आत्म-परिष्कार की भूमि पर स्थित करती है। भट्टनायक

---

१. उत्तररामचरितम्, ५/२८ (काणे-१९६२), पृ० ११९
२. वही, ५/३४, पृ० १२०-२१
३. वही, घनश्याम-संजीवनी), पृ० १२१
४. उत्तररामचरितम्, ६/११, पृ० १२७

के शब्दों में यही परसंवित्ति की साक्षात्कारिता है जो संवेदनात्मक व्यंग्य से उद्भूत हो कर आत्मानुभव में पर्यवसित होती है।

संवेदनाख्यया व्यंग्यः परसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ।’[1]

प्रख्यात वस्तु जहाँ प्रमाता की चेतना से हृदय-संवाद स्थापित करती है, वहीं दूसरे स्तर पर कथा विकास में निर्णायक हस्तक्षेप की प्रत्याशा भी जगा सकती है। परम्परित मूल्य प्रख्यात नायक को समष्टि के स्तर पर प्रमाता से तादात्म्योन्मुख बनाते हैं। इसी के समानान्तर प्रमाता की निर्णय-चेतना समष्टि से निर्वासित उसके व्यक्तित्व की एकाकी अस्मिता को भी रेखांकित करती है। विद्रोह विद्रूप, परिहास की अनेक अन्तर्दशाओं के बीच उसका त्रासद अस्तित्व आकार ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में कवि प्रच्छन्नतः जन चेतना के काव्योचित प्रसुप्त भावों निर्णयों और आकांक्षाओं को ही मुखर करता है।[2]

राम-कथा के प्रख्यात माध्यम से युग-युग से जन-चेतना सनातन प्रश्नों का समाधान माँगती रही है। जिस प्रकार कुछ प्रश्न सनातन होते हैं, उसी प्रकार कुछ कथावृत्त और उनके केन्द्र में आकार ग्रहण करने वाले व्यक्ति भी सनातन होते हैं। राम-कथा का एक संदर्भ इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। शम्बूक-वध वाल्मीकि रामायण में ब्राह्मण धर्म के मूल्यों से अनुशासित है। प्रमाता की चेतना एक स्तर पर इस कृत्य का प्रतिरोध करती है तथा दूसरे स्तर पर इतका अर्थ हृदय में प्रविष्ट हो कर विनेय को विनीत भी करता है। राजा शब्द व्युत्पत्ति के द्वारा उस एकाकीपन को व्यंजित करता है, जिससे समग्र विश्व व्युत्पन्न होता है, किन्तु जो स्वयं में एकाकी है।[3] यह नृपति चरित्र हृदय-संवाद योग्य अवश्य है, किन्तु एक भिन्न स्तर पर। यहाँ राम स्वयं अनुताप दग्ध हैं, आत्म व्यंग्य के माध्यम से उनकी निर्वासित चेतना

---

[1] अभिनवभारती (दिल्ली-१९७३), पृ० ४६७

[2] ...the poet may devote himself to being a spokesman of his society, which means, as he is not addressing a second society, that a poetic knowledge and expressive power which is latent or needed in his society comes to articulation in him. (Northrop Frys), op. cit. p. 54

[3] यद्व्युत्पत्तिद्वारेण विश्वं व्युत्पन्नं। (नाट्यशास्त्रम् (२), पृ० १४४७

तथा युग-मूल्य के प्रति असहाय प्रतिबद्धता प्रमाता के हृदय से संवाद करती है :

> रे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
> जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।[1]

यह संदर्भ एक साथ प्रमाता के असन्तोष, अस्वीकृति और विद्रोह तथा प्रख्यात नायक की विवशता तथा मूल्य-निषेध को मूर्त करता है। पाठक राम के इस कृत्य का समर्थन नहीं करता, किन्तु उनके प्रति सहानुभूति के स्तर पर प्रतिबद्धता अनुभव करता है। इस प्रख्यात संदर्भ के माध्यम से वह युग-परिवेश, मूल्य-बोध और उससे सम्पृक्त वस्तु, नेता तथा रस का पुनरनुसंधान करता हैं। प्रमाता की चेतना का यह समुद्गम (उत्थान) तथा स्थगन (तिरोधान) हैं। 'समुद्गमस्थगनवद्व्युत्पादकव्युत्पाद्यभावात्तेन' इस संदर्भ में शंकुक का यह मत भी उल्लेखनीय है कि नृपतीनाम् में बहुवचन का प्रयोग आशय गर्भित है : **'विजिगीषुररिर्मध्यमोदासीनौ मित्रं मित्र मित्रमिति । एषां चरितमिति बहुवचनेन लभ्यते ।'**[2] वस्तुतः यह प्रख्यात प्रज्ञा-पुरुष के बहुआयामी व्यक्तित्व और उसके प्रति विभक्त प्रमाता की चेतना की अत्यन्त सटीक विवृति है। राम (राजा) के चरित्र से प्रमाता के हृदय-संवाद की इस भूमिका में विजिगीषा, स्पर्धा, ताटस्थ्य तथा माध्यस्थ्य के अन्तः सूत्र हैं। यहाँ 'रामस्य' पद में राम की व्यक्ति स्तर पर प्रतिष्ठा नहीं, समष्टि के स्तर पर उसकी चेतना का समुद्गम, स्थगन अर्थात् विस्फार और तिरोधान है। रामस्य में कैसा तीक्ष्ण आत्म व्यंग्य है। **'कृतम् राम सदृशं कर्म'** में यह आत्मोपालम्भ अधिक तीव्र हो जाता है। **निर्दयमिति यावत्।** यह निर्दयता क्रूरता नहीं, प्रख्यात व्यक्ति का क्रमिक निर्व्यक्तीकरण है, जिसकी ओर आर्तोद ने नव्य नाट्य-समीक्षा में स्पष्ट संकेत किया है। यह निर्दयता प्रमाता को मुक्ति-चेतना की ओर अग्रसर करती हैं। यही सत्त्वोद्रेक की भूमिका है।

काव्येतर वस्तु तथा साधारणीकरण

वैज्ञानिक, शास्त्रीय, ऐतिहासिक अर्थात् समग्र काव्येतर वाङ्मय का भी चरम उद्देश्य पाठकीय संवेदना के स्तर पर कृति के विचार अथवा अन्वयार्थ

---

१. उत्तररामचरितम्, २/१०, पृ० ४१

२. नाट्यशास्त्रम् (२), पृ० १४४८

का सम्प्रेषण ही है। अपने मानसिक एवं शास्त्रीय संस्कारों में भिन्नता होते हुए भी समग्र पाठक-वर्ग में शास्त्रीय कृति में निहित विचारों एवं तथ्यों के प्रति एक संवादी अनुक्रिया अवश्य होती है। अतः विचारणीय तथ्य यह है कि सामान्यीकरण (अथवा साधारणीकरण) की प्रक्रिया का स्वरूप काव्यानुभव में घटित होने वाली साधारणीकरण की प्रक्रिया से गुणात्मक स्तर पर किस अर्थ में भिन्न है? इस प्रक्रिया के विश्लेषण से पूर्व काव्य और विज्ञान की मूलभूत प्रकृति पर विचार कर लेना आवश्यक है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि इस प्रतिमान की सार्थकता कविता और विज्ञान के समीकरण पर भी अंशतः निर्भर हैं। कविता और विज्ञान दोनों में ही विचार-तत्त्व का आनुषंगिक योग रहता है। कविता में विचार भावतत्त्व के सहकारी बन कर आते हैं तथा भावों के आवर्त-विवर्त में एक गतिशील आवेगात्मक स्पन्दन प्रदान करते रहते है। प्रतिदान में विचार भी बाह्य वस्तुओं को अन्तर्भावित कर एक अनुचिन्तनात्मक प्रक्रिया में परिणत हो जाते हैं। यह अन्तर्भावन अथवा अनुचिन्तन एक प्रकार से वैयक्तिक स्तर पर सामष्टिक प्रतीकों का पुनरनुसंधान है जो कवि की अनुभवप्रक्रिया से गुजर कर उसका अनुभूत सत्य बनता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पण्डितराज जगन्नाथ के **भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसंधानात्मा** में सामष्टिक प्रतीकों की कवि के अनुभव संसार में गुणात्मक स्तर पर प्रतिफलित होने की ही व्याख्या निहित है।

कविता विचारों को रागात्मकता में परिवर्तित करती है, अर्थात् वह बाह्य परिवेश के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर परिवेश का पुनरनुसंधान करती है। विचारों के साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की वैकल्पिक संभावनाएँ इतनी संख्यातीत हैं कि उन्हें क्रमबद्ध कर, उनका परीक्षण, विश्लेषण संभव नही है। उन्हें वर्गीकृत कर निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचना तो और भी कठिन है। तद्विपरीत इतिहास में तथ्यों का अंकन और उनकी व्याख्या का क्षेत्र सीमित एवं विशिष्ट है, किन्तु सीमित घटनाओं एवं तथ्यों के आधार पर एकान्त निर्भ्रान्त सामान्य निष्कर्षों का निर्देश नहीं किया जा सकता। अशोक ने युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त हो कर अहिंसक वृत्ति स्वीकार कर ली थी, किन्तु ऐसे उदाहरण संख्या में अत्यल्प है। अतः उनके आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकालना सम्भव नही है। युद्ध के बीभत्स स्वरूप और उसकी अनिवार्यता के वैचारिक द्वन्द्व की संख्यातीत अर्थच्छायाएँ काव्य में निरूपित हुई हैं और की जा सकती हैं, किन्तु उनके आधार पर भी

वैचारिक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। फिर भी यह अनुभूति का विषय है कि काव्यात्मक अन्तर्भावन में वैचारिक अन्तर्विरोध लक्षित नहीं होता। वैचारिक द्वन्द्व का अवकाश विषय के वाह्य पक्ष में रहता है। कवि और सहृदय की चेतना, दोनों ही स्तरों पर संश्लिष्ट हो सकती है।

विज्ञान में तथ्य निर्भ्रान्त होते हैं तथा उनका वर्गीकरण सुनिर्दिष्ट होता है। उनकी संख्या अधिक, किन्तु निश्चित होती है। अतः निष्कर्षों को अमूर्त तथ्यों में परिवर्तित कर उनका प्रतीकन करना वैज्ञानिकों के लिए संभव है। तथ्यों की निर्भ्रान्तता का आशय यह है कि वस्तु की सत्ता तथा उसके प्रयोजन एवं प्रतिफलन के बीच संभावनाएँ अधिक हैं; एवं व्यापक स्तर पर पुनरावृत्त होती रहती हैं, जिनसे सामान्यीकरण में सरलता आ जाती है। विज्ञान में सामान्यीकरण की प्रक्रिया तार्किक स्तर पर गतिशील रहती है, जिसमें सामान्यों एवं सदृशताओं के आधार पर तथ्यों का वर्गीकरण कर उन्हें अवधारणाओं अथवा प्रत्ययों में परिवर्तित किया जाता है। यह प्रकारान्तर से अमूर्तन एवं प्रतीकीकरण की प्रक्रिया है, जिसके आधार पर सामान्य अथवा जातिगत प्रत्ययों का बोध होता है।[1] यह बोध-प्रक्रिया मूलतः विश्लेषणपरक एवं संज्ञानात्मक है, जो न तो प्रत्ययों को आवेगात्मक प्रतिक्रिया में रूपान्तरित करती है और न सांस्कृतिक, नैतिक अथवा सौंदर्यपरक मूल्य-स्तर पर उन्हें स्वीकार्य बनाती है। तद्विपरीत काव्य में देशकाल के बन्धन से मुक्त भाव का धूमाग्नि के व्याप्तिसंबंध[2] की भाँति सामान्यीकरण मात्र ही नहीं होता, प्रमाता में आवेगात्मक हृदय-संवाद भी घटित होता है।

'ग्रीवाभंगाभिरामं' के अभिदृश्य में प्रमाता देशकालातीत[3] स्थिति का बोध मात्र ही ग्रहण नहीं करता, आवेगात्मक अनुक्रिया भी अनुभव करता है। जिसमें भय साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, आंखों के सामने संचरित

---

१. Abstraetion is psychological process by which we become aware of universals.
(R. R. Dravid 'The problem of Universals in Indian Philosophy' Motilal Banarsidass-1972 p. 464)

२. तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्। अपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः। (नाट्यशास्त्रम्, अभिनवभारती, पृ० २७९)

३. मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपिहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वा-

सा प्रतीत होता है ।[1]

विज्ञान में सामान्यीकरण सदृशताओं की आवृत्ति पर आधृत है । एक सी घटनाएँ बार-बार प्रमाता के अनुभव क्षेत्र में आकर वर्गीकृत एवं सामान्यीकृत होती हैं । उन आवृत्तियों की बहुलता के परिज्ञान से वह सामान्यीकृत निष्कर्षों को ग्रहण कर विषय से तादात्म्य करता है ।[2] कहने का आशय यह है कि विज्ञान अनुभवों की उन एकरूपताओं से सम्बद्ध है जिन रूपों में वस्तुएँ घटित होती हैं । उनका लक्ष्य किसी चरम पुरुषार्थ अथवा आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं है ।[3] उनका सम्प्रेषित ज्ञान सीमित व्यक्तियों के सीमित प्रयोजनों की पूर्ति का माध्यम है, जो उसके परिज्ञान में रुचि रखते हैं, जब कि काव्य का साधारणीकरण परिमित नहीं, व्यापक है। बाणविद्ध क्रौंच की आर्त दशा पर करुणा से आर्द्र ऋषि की मानसिकता के साक्षात्कार से प्रमाता के किसी बाह्य प्रयोजन की पूर्ति नहीं हो सकती, किन्तु एक आवेग--प्राण प्रतिक्रिया में ढल कर यह अनुभूति उसके अन्तर्मन में मानव-करुणा की संख्यातीत गाथाओं को उद्बुद्ध कर देती है ।

काव्यानुभूति के विभिन्न स्तर

रस-बोध अथवा अभिरुचि का एक सामान्य स्तर होता है, जिसमें कुछ वस्तुएँ जनसामान्य को प्रीतिकर, अप्रीतिकर, सुस्वादु अथवा कटु

भावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम । (नाट्यशास्त्र, भाग-१, अभिनवभारती, पृ० २७९)

[1] साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानम् ।
(वही, पृ० वही)

[2] ...there are identical qualities and relations which recur over and again in our experience. In the same way, there are also resemblances ...which repeat themselves in innumerable instances. All these recurrences involve universals. (R.R. Dravid op. cit. p. 462-63)

[3] Most sciences are concerneed with certain uniformities of our experience with the ways in which certain classes of objects are found to exist, or with the ways in which certain classes of events are found to occur (J. S. Mackenzie) 'Manual of Ethics' London-1964 p. 4)

प्रतीत होती हैं। जीवन के स्थूल संदर्भों से लेकर सूक्ष्मतर मूल्यों में भी युग-बोध एवं परिवेश के परिवर्तन से सम्पृक्त, किन्तु एक सीमा तक चिरन्तन एकात्मता सी रहती है। परस्पर आक्षेपो के व्यूह में विरोधी राष्ट्र भी एक चिरन्तन सूक्ष्म मूल्य-चेतना का ही आधार लेते हैं। यथा-नागरिकों तथा सार्वजनिक चिकित्सालयों पर बम वर्षा नैतिक मूल्यों के विपरीत है, अतः जब एक राष्ट्र इस आधार पर दूसरे राष्ट्र पर आक्षेप अथवा प्रत्यारोप करता है, तो यह स्वीकार करना होगा कि इस कृत्य को मानव-विरोधी मूल्य मानने में दोनों ही राष्ट्रों का मतैक्य है। तात्कालिक व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए प्रच्छन्न रूप से वे इस विपरीत मूल्य को दुस्साहस के कारण अवश्य स्वीकार कर रहे हैं। काव्यानुभूति के केन्द्र में परिवर्तित परिवेश के सापेक्ष संदर्भ में प्रमाता चिरन्तन मूल्य-बोध का सौंदर्यानुभूति की चरम स्थिति के रूप में अनुसंधान करता है। उदाहरणार्थ-तारकासुर का प्रताप और ऐश्वर्य प्रमाता की चेतना में किसी सौंदर्य-मूल्य की प्रतिष्ठा के रूप में नहीं, मानव-मूल्यों को निरन्तर ध्वस्त करने वाली विपरीत मूल्य-चेतना के रूप में उभरता है। यथा—

'सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते।
नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम्॥
व्यावृत्तगतिरुद्याने कुसुमस्तेयसाध्वसात्।
न वाति वायुस्तत्पार्श्वं तालवृन्तानिलाधिकम्॥'[1]

प्रतिनायक का उत्कर्ष सौंदर्य-मूल्य की व्यापक चेतना के ही एक आयाम को उद्घाटित करता है और उस स्तर पर वह प्रमाता की चेतना में ग्राह्य बना रहता हैं, किन्तु जैसे ही उसकी मूल्य-चेतना व्यापक मानव-मूल्य-चेतना से टकराती है, एक विपरीत मूल्य में परिणत होकर सौंदर्य-बोध के सामान्य स्तर से स्खलित हो जाती है।

आस्वाद का एक स्तर सौंदर्य-मूल्य की एक विशिष्ट अथवा निजी प्रतिष्ठा से भी सम्बद्ध है। भयानक अथवा बीभत्स रसों के प्रति रस-बोध स्वाभाविक नही, अर्जित होता है। क्रूरता एव हिंसा के दृश्यों को कोई प्रमाता शृंगार के ललित दृश्यों से भी रुचिकर मान सकता है और मूल्य के स्तर पर वह शृङ्गार अथवा शान्त की श्रेष्ठता स्वीकार कर सकता है। कालिदास

---

[1] कुमारसंभव २/३४-३५ (कालिदास-ग्रन्थावली) पृ० २६२-६३

सा प्रतीत होता है।[1]

विज्ञान में सामान्यीकरण सदृशताओं की आवृत्ति पर आधृत है। एक सी घटनाएँ बार-बार प्रमाता के अनुभव क्षेत्र में आकर वर्गीकृत एवं सामान्यीकृत होती हैं। उन आवृत्तियों की बहुलता के परिज्ञान से वह सामान्यीकृत निष्कर्षों को ग्रहण कर विषय से तादात्म्य करता है।[2] कहने का आशय यह है कि विज्ञान अनुभवों की उन एकरूपताओं से सम्बद्ध है जिन रूपों में वस्तुएं घटित होती हैं। उनका लक्ष्य किसी चरम पुरुषार्थ अथवा आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं है।[3] उनका सम्प्रेषित ज्ञान सीमित व्यक्तियों के सीमित प्रयोजनों की पूर्ति का माध्यम है, जो उसके परिज्ञान में रुचि रखते हैं, जब कि काव्य का साधारणीकरण परिमित नहीं, व्यापक है। बाणविद्ध क्रौंच की आर्त दशा पर करुणा से आर्द्र ऋषि की मानसिकता के साक्षात्कार से प्रमाता के किसी बाह्य प्रयोजन की पूर्ति नहीं हो सकती, किन्तु एक आवेग--प्राण प्रतिक्रिया में ढल कर यह अनुभूति उसके अन्तर्मन में मानव-करुणा की संख्यातीत गाथाओं को उद्बुद्ध कर देती है।

काव्यानुभूति के विभिन्न स्तर

रस-बोध अथवा अभिरुचि का एक सामान्य स्तर होता है, जिसमें कुछ वस्तुएँ जनसामान्य को प्रीतिकर, अप्रीतिकर, सुस्वादु अथवा कटु

भावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्। (नाट्यशास्त्र, भाग-१, अभिनवभारती, पृ० २७९)

१. साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानम्।
(वही, पृ० वही)

२. ...there are identical qualities and relations which recur over and again in our experience. In the same way, there are also resemblances ...which repeat themselves in innumerable instances. All these recurrences involve universals. (R.R. Dravid op. cit. p. 462-63)

३. Most sciences are concerneed with certain uniformities of our experience with the ways in which certain classes of objects are found to exist, or with the ways in which certain classes of events are found to occur
(J. S. Mackenzie) 'Manual of Ethics' London-1964 p. 4)

प्रतीत होती हैं। जीवन के स्थूल संदर्भों से लेकर सूक्ष्मतर मूल्यों में भी युग-बोध एवं परिवेश के परिवर्तन से सम्पृक्त, किन्तु एक सीमा तक चिरन्तन एकात्मता सी रहती है। परस्पर आक्षेपो के व्यूह में विरोधी राष्ट्र भी एक चिरन्तन सूक्ष्म मूल्य-चेतना का ही आधार लेते हैं। यथा-नागरिकों तथा सार्वजनिक चिकित्सालयों पर बम वर्षा नैतिक मूल्यों के विपरीत है, अतः जब एक राष्ट्र इस आधार पर दूसरे राष्ट्र पर आक्षेप अथवा प्रत्यारोप करता है, तो यह स्वीकार करना होगा कि इस कृत्य को मानव-विरोधी मूल्य मानने में दोनों ही राष्ट्रों का मतैक्य है। तात्कालिक व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए प्रच्छन्न रूप से वे इस विपरीत मूल्य को दुस्साहस के कारण अवश्य स्वीकार कर रहे हैं। काव्यानुभूति के केन्द्र में परिवर्तित परिवेश के सापेक्ष संदर्भ में प्रमाता चिरन्तन मूल्य-बोध का सौंदर्यानुभूति की चरम स्थिति के रूप में अनुसंधान करता है। उदाहरणार्थ-तारकासुर का प्रताप और ऐश्वर्य प्रमाता की चेतना में किसी सौंदर्य-मूल्य की प्रतिष्ठा के रूप में नहीं, मानव-मूल्यों को निरन्तर ध्वस्त करने वाली विपरीत मूल्य-चेतना के रूप में उभरता है। यथा—

'सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते।
नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम्॥
व्यावृत्तगतिरुद्याने कुसुमस्तेयसाध्वसात्।
न वाति वायुस्तत्पार्श्वं तालवृन्तानिलाधिकम्॥'[1]

प्रतिनायक का उत्कर्ष सौंदर्य-मूल्य की व्यापक चेतना के ही एक आयाम को उद्घाटित करता है और उस स्तर पर वह प्रमाता की चेतना में ग्राह्य बना रहता हैं, किन्तु जैसे ही उसकी मूल्य-चेतना व्यापक मानव-मूल्य-चेतना से टकराती है, एक विपरीत मूल्य में परिणत होकर सौंदर्य-बोध के सामान्य स्तर से स्खलित हो जाती है।

आस्वाद का एक स्तर सौंदर्य-मूल्य की एक विशिष्ट अथवा निजी प्रतिष्ठा से भी सम्बद्ध है। भयानक अथवा बीभत्स रसों के प्रति रस-बोध स्वाभाविक नही, अर्जित होता है। क्रूरता एव हिंसा के दृश्यों को कोई प्रमाता शृंगार के ललित दृश्यों से भी रुचिकर मान सकता है और मूल्य के स्तर पर वह शृङ्गार अथवा शान्त की श्रेष्ठता स्वीकार कर सकता है। कालिदास

---

१. कुमारसंभव २/३४-३५ (कालिदास-ग्रन्थावली) पृ० २६२-६३

द्वारा अंकित ताड़का का यह चित्र अंशत: उसके सौंदर्य-बोध को तृप्त कर सकता है, किन्तु केन्द्रीय अनुभूति इस सौंदर्य-बोध को विपरीत मूल्य-चेतना के स्तर पर स्वीकार करेगी।

'राममन्मथशरेण ताडिता दु:सहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ।।'[1]

सामान्य सौंदर्यानुभूति बीभत्स में शृङ्गार अथवा शृङ्गार में बीभत्स की चेतना के विपरीत है होती। असामान्य चेतना इसका अपवाद हो सकती है, जिह आत्मपीडन एवं परपीडन में भी शृङ्गार रस की अनुभूति होती है। यदि सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो अभिरुचि अथवा रसानुभूति का यह स्थानान्तरण केन्द्रीय अनुभूति का ही साहचर्यगत विकास है। अगर प्रमाता ने अपनी अन्तश्चेतना अथवा अवचेतन में शृङ्गार रस को उत्कृष्ट रसानुभूति स्वीकार किया है तो मानना होगा कि आत्म विस्तार अथवा अहंकार की शुचिता की अनुभूति जो शृङ्गार रस की केन्द्रीय अनुभूति है, अहन्ता के विस्फोट और शुचिता से पलायन में स्थानान्तरित हो गई है। पीडन और आत्म पीडन की अनवरत अनुभूति चेतना में बद्ध मूल होकर क्रमश: प्रीतिकर प्रतीत होने लगती है, किन्तु यदि पीडन के आस्वाद की अर्जित अनुभूति से पूर्व शृंगार, हास्य, वीर अथवा बीभत्स एवं भयानक के दृश्य उसके समक्ष प्रस्तुत किए जाते तो वह द्वितीय वर्ग के क्रूर दृश्यों की अपेक्षा ललित एवं उदात्त दृश्यों में ही अपनी रुचि प्रदर्शित करता। ऐसे व्यक्तियों को भी कभी-कभी क्रूर दृश्यों से एकान्त विरक्ति हो जाती है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि उसकी आस्वाद प्रक्रिया भी स्वाभाविक नियमों के अन्तर्गत ही प्रभावित हुई है।[2]

वे संदर्भ हमें रागात्मकता से अनुप्राणित नहीं करते संज्ञानात्मक

---

[1] रघुवंश ११/२० (कालिदास-ग्रन्थावली) पृ० १३६

[2] He finds his palate affected in the natural manner and on the common principle. Thus the pleasure of all the senses of the sight even of the taste, the most ambiguous of the senses, is the same in all high and low learned and unlearned. (Burke) A philosophical enquiry in to the origin of our ideas of the sublime and the beautiful. p. 16)

स्तर पर सामान्यीकृत चेतना का बोध कराते हैं। यह सामान्यीकरण वैविध्य के मूल में निहित संवेदना के एकत्व की स्वीकृति है। लेखकीय अनुभूति के पाठक तक संक्रमित होने के मार्ग में विविधयुगीन सांस्कृतिक मनोवैज्ञानिक एवं पर्यावरणजन्य अनेक भिन्नता सूचक तत्त्व आ सकते हैं, फिर भी सर्जनात्मक चैतन्य का कुछ अंश अपरिवर्तनीय होता है, जिसका सहृदय अपनी मानसिकता में पुनः सर्जन करता है। यह अभिप्राय कवि और प्रमाता की मानसिकता से अंशत, जुड़ा रहकर इस अर्थ में भिन्न एवं वस्तुनिष्ठ होता है कि साक्षात्कार की विभिन्न मुद्राओं में भी एक प्रत्यभिज्ञानमूलक ऐक्य बना रहता है। हमरेल के अनुसार एक वस्तु भिन्न-भिन्न दैशिक एवं कालिक कोणों मे देखने पर भी अपने मूल स्वरूप को ही उद्घाटित करती है।[1] बोध की प्रक्रियाएँ भिन्न हो सकती है। कवि एवं प्रमाता की मानसिक क्रियाओं में रागात्मक संकल्पनात्मक चेतना भी भिन्न हो सकती है, किन्तु पदार्थ की वस्तुनिष्ठ सत्ता एकरूप होगी।[2]

साधारणीकरण की अवधारणा में प्रमातृगत रागात्मक एवं कल्पना (प्रतिमान) परक अनुभूतियों की व्यापकता स्वीकृत है। कल्पना मिथ्या की प्रेरिका अनुभूति नहीं है। यह सहज रागात्मक अनुभूति का परिष्कार और विकास है जो मानवमात्र के अनुभवों में व्यक्ति को सहभोक्ता बनाती है। यह हमारी जीवन-दृष्टि को व्यक्तिगत संकीर्णता से मुक्त तथा मानवीय सम्बन्धों के बाहरी आवरण को भेद कर उनके साथ हमारे यथार्थ मौलिक सम्बन्ध का साक्षात्कार कराती है।[3] अभिनव के शब्दों में यह प्रतिभान-परपर्याय मानसी साक्षात्कारात्मिका वृत्ति है, को प्रमातामात्र में एकधन संवादिता को प्रेरित करती है।

काव्याभाषा और साधारणीकरण

मानव की समग्र अनुभूति और भाव-सम्पदा ज्ञानाणुओं में परिणत होकर

---

[1] On Liteaary initention (Ed· Newton, Edinburg) 1976 p. 33.'

[2] वही, पृ० वही

[3] It is imagination that cleanses the scales from our eyes and awakens our senses to the real things that surround us (Robert Lind on poetry and modern man), pp. 82

शब्दाणुओं के द्वारा संवेद्य होती है । सम्पूर्ण विचार-लोक इन शब्दाणुओं का अर्थ विवर्त ही है ।[1] शब्दों में निहित अनुभूति बिम्बों से ही वक्ता के भाव-परिवेश का निर्माण होता है तथा शब्दों के ध्वनिबिम्बों से ही वह बाह्य जगत् के साथ अपने मानस-परिवेश का सम्बन्ध स्थापित करता है ।[3] यह ध्वनिबिम्ब प्रकाशित हो कर श्रोता के मानस में निहित वस्तु-प्रत्यय को उद्बुद्ध कर देते हैं । यथा—ग् ओ : ध्वनिबिम्ब सास्ना लंगूल ककुद खुर विषाण का समग्र प्रत्यय प्रकाशित करता है । प्रत्ययों का प्रकाशन शब्दों की मूल प्रकृति है । शब्द वक्ता की बुद्धि में आकार ग्रहण कराता है तथा श्रोता उसके क्रमिक बिम्ब का अनुसंधान करता है । यदि यह बिम्ब बाह्य वास्तविकता का संवादी नहीं होता, तो श्रोता उसे अप्रामाणिक मान लेता है । किन्तु बाह्य वास्तविकता एवं आभ्यंतर अनुभूति-बिम्ब में संवादिता का एक ऐसा भी स्तर होता है. जहाँ बाह्यार्थ की सत्यता के अभाव में भी बौद्धिक अर्थ ही बाह्यार्थ में पर्यवसित हो जाता है । यह अंशतः प्रमाता के अपने संस्कार एवं शास्त्राभ्यास पर भी निर्भर है कि वह विविध शास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों में एक शब्द के भिन्न-भिन्न अनुभूति-बिम्ब ग्रहण कर सके ।[4] इन सभी संदर्भों में अर्थ की शक्ति शब्दों से प्रतिनियत रहती है, जिससे शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध निर्देशक एवं निर्देशार्थों के मध्य बौद्धिक स्तर पर निर्धारित होता है । किन्तु जैसे ही वक्ता रागात्मकता से आविष्ट होकर पदार्थों से भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है एवं उस सम्बन्ध को शाब्दिक अभिव्यक्ति देता है तो शब्द और अर्थ के अन्तःसम्बन्ध में एक मानसिक अन्तराल आ जाता है तथा संकेतात्मक शब्द रागात्मक अर्थों में परिवर्तित हो जाते हैं । शास्त्रीय भाषा में शब्द और अर्थ की अनियतता

---

१. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भामते ।। (वा० प० १-१२३)

२. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थं भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।। (१-१)

३. यत्र ह्यभ्यन्तरार्थस्य बाह्यार्थेन सः शब्दः प्रमाणम् । (वैयाकरणसिद्धान्त-लघुमंजूषा पृ० ३१८)

४. वक्त्रन्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु ।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते ।। (वा० प० २/१३७)

बौद्धिक स्खलन की सूचक है तद्विपरीत काव्य में भाषा के रागात्मक स्तर पर वाचक और वाच्य के अन्तःसम्बन्ध की अधिकतम दूरी भी कवि के हृदयगत भावों की सम्प्रेषणीयता से प्रेरित होने के कारण महत्त्वहीन है।[1] मम्मट के शब्दों में 'एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते।'[2]

काव्य की भाषा का सत्य आन्तरिक अनिवार्यता पर आधृत होता है।[3] कल्पना जिसे सत्य रूप में अंगीकार करती है, वह सत्य ही होता है (कीट्स)। काव्य-सत्य का सम्बन्ध कवि के अनुभव जगत् की प्रामाणिकता से है। यदि काव्य में किसी विशिष्ट सत्य अथवा जीवन दर्शन का रागात्मक अनुसंधान हुआ है, तो भाषा में अतिशयता का गुण स्वतः आ जाएगा;[4] क्योंकि काव्य स्थूल तथ्यों के मूल में जिन जीवन-सत्यों का अनुसंधान करता है, वे अनिवार्यतः व्यावहारिक प्रयोजनीयता से जुड़ी बाह्य वास्तविकता का निरन्तर अतिक्रमण करते रहते हैं।

काव्य-भाषा का एक ध्रुव उन विशेषताओं स सम्बद्ध है, जो भावक के प्रति भावों की प्रेषणीयता को प्रखर बनाती हैं। भरत ने इस संदर्भ में भाषा के प्रतीकात्मक स्पन्दनों की ओर इंगित किया है। ये काव्य की माताएँ वृत्तियाँ हैं,[5] जो शब्दों में निहित गति और अभिनेयता को प्रत्यक्ष भावना के धरातल पर अनूदित करती है। अभिनव का कथन है कि यद्यपि अभिनेय तथा अनभिनेय दोनों में ही वृत्तियाँ संश्रित रहती हैं, तथापि प्रयोग-योग्यता के अनुरूप होने के कारण अभिनेय काव्य के प्रत्यक्ष भावन में ये अधिक योग देती हैं। प्रकारान्तर से यह कथन इस तथ्य की ओर भी इंगित करता है कि

---

१. For scientific language a difference in the references is itself failure: the end has not been attained. But for emotive language the widest differences in reference are of no importance if the further effects in attitude and emotion are of the required kind. (I. A. Richards 'Principles of Literary (Criticism' Allied Bombay P. 211)

२. काव्य प्रकाश (बालबोधिनी) पृ० २५६

३. एवं विधोऽर्थः युक्तिशून्यत्वेऽपि व्यंग्यस्य प्रतीतिमात्रपर्यवसायित्वात् सत्यासत्यनिरूपणं विनैव प्रकाशते। (का० प्र०, (बालचित्तानुरंजना) प्रयाग-१९७६, पृ० १९५)

४. विभाव्यते (काव्यालंकार २/५) पृ० ६२

५. सर्वेषामेव काव्यानां मातृकाः वृत्तयः स्मृताः। (ना० शा० १८/४)

काव्य-भाषा की प्रकृति भी अभिनेय अथवा मुद्रापरक है।[1] काव्य के शब्दों में एक आन्तरिक चेष्टा स्पन्दित रहती है, जिससे कवि का सम्पूर्ण भाव-परिवेश प्रतीकात्मक आचरण-सा करता प्रतीत होता है। शंकुक ने भाषा की अभिधेयता और अभिनेयता का बड़ा तर्क-संगत अन्तर स्पष्ट किया है। जब 'शोक' 'रति'' 'स्तम्भ' आदि शब्द अभिधान मात्र से रति, शोक आदि का बोध कराते हैं' तो वे काव्य-वस्तु को न तो प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित कर सकते हैं और न साक्षात् रसबोध ही करा सकते हैं।[1] तद्विपरीत शब्द जब स्वयं अपने अर्थ को अभिनीत कर उसे गति अथवा मुद्रा प्रदान करता है, तो वह वाचक की भाँति केवल अर्थ बोध मात्र में विश्रान्त नहीं हो जाता, अपितु केन्द्रीय भाव (स्थायिभाव) को अभिनेय बना कर प्रत्यक्ष अनुभूति का विशेष विषय बना देता है।[3] यह भाषा की अवगमन अथवा अभिनयन शक्ति है जो वाचक से भिन्न और विशिष्ट है[4] और जिसे अंग्रेजी नव्य समीक्षक ब्लेक मर ने भाषिक मुद्रा एवं कैनेथ बर्क ने काव्य-भाषा की प्रतीकात्मक क्रिया कहा है। यहाँ सन्दर्भ यह है कि वाचक के असफल होने पर कवि भाषिक मुद्रा का आश्रय लेता है। मुद्रा भाषा में तथा भाषा गति एवं स्पन्दन में परिणत हो जाती है।[5] मुद्राओं में परिणत हो कर शब्द अर्थ का वहन अथवा सचालन ही नहीं करते, उसका अतिक्रमण भी कर जाते है। अभिधापरक

---

१. प्रयोगं प्रयुज्यमानत्वात्प्रयोगयोग्यत्वमभिसन्धाय वृत्तिभ्यो विनिस्सृतमभिनेयकाव्यं प्रत्यक्षभावनायोग्यवृत्तिचतुष्टयाभिधायक:। (नाट्यशास्त्र, भाग-२ (सं० मधुसूदन शास्त्री) वाराणसी सं० २०३२, पृ० १४३७)

२. रति: शोक: इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति। (अभिनवभारती, दिल्ली-१९७३) पृ० ४४६)

३. स्थायिभावोऽभिनीयते न तूच्यते। (वही)

४. अवगमनशक्तिह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या। (वही, पृ० ४४८)

५. When the language of words fails we resort to the language of gesture. If we stop there, we stop with the puzzle. If we go on, and say that when the language of words most succeeds it becomes gesture in its words, R.P. Blackmur 'Language As Gesture' (Literary Criticism in America) New York-1957 p. 321)

शब्द भी जब भाषिक मुद्रा में परिणत होता है, तो वह स्वशब्दवाचकता से नियंत्रित नहीं रहता, उसमें सम्पूर्ण भाव-परिवेश को ध्वनित करने की अपूर्व क्षमता आ जाती है। एक उदाहरण के द्वारा यह तथ्य स्पष्ट किया जा सकता है। **'किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः'** (उ० रा० १/३८)

यहाँ 'विरह' अभिधेय है, किन्तु **'देवः उपस्थितः'** से अन्वित होकर प्रतीकात्मक आचरण करता हुआ भाषिक मुद्रा में रूपान्तरित हो जाता है। नियति की नाट्य-विडम्बना का यह सारभूत प्रभाव अगामी त्रासद स्थिति की भूमिका बन जाता है। आशय यह है कि शब्द की आन्तरिक शक्ति का स्पन्दन मूलतः प्रकरण से ही निर्धारित होता है। 'विरह' शब्द की यह मुद्रा सम्पूर्ण नाटकीय वस्तु में अभिव्याप्त है। यहाँ असह्य होने पर भी विरह से मुक्त नहीं रहा जा सकता। एक पैशाचिक छाया की तरह उसका आन्तरिक प्रभाव सम्पूर्ण नाटक पर मंडराता रहता है। भर्तृहरि ने प्रकारान्तर से से शब्द की इस मुद्रा को शब्दार्थ का तादात्म्य कहा है। **तादात्म्यमुपगम्यैव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः** (वा० प०)।

शब्द अर्थ में लीन होकर अपनी आन्तरिकता को विवृत करता है। एक शब्द-प्रतीक विशेष प्रकरण में किसी सामान्य क्रिया को भी अर्थवान बना सकता है। काव्य-भाषा की क्षमता जहाँ प्रमाता की अनुक्रिया को बाह्य संदर्भ मात्र में नियंत्रित न करके आभ्यन्तर विवृति की ओर उन्मुख करती है, वहाँ प्रमाता भी वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के द्वारा अतिशायित भावभूमि का अनुसंधान करके ही काव्यास्वाद की भूमिका की ओर उन्मुख हो सकता है। अभिनव के शब्दों में **काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः**।[1] काव्यात्मक वाक्यों में वाक्यार्थ प्रतिपत्ति के अनन्तर उन में निहित कालादि के विभाग का अतिक्रमण करके ही मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती हैं। अभिनव ने काव्यात्मक वाक्यों के संदर्भ में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकेत यह दिया है कि काव्य-वाक्य बाह्य वाक्यार्थ का अतिक्रमण कर कालातीत हो जाते हैं। वस्तुतः काव्यार्थ का कालातीत अस्तित्व ही साधारणीकरण की अपेक्षित भूमिका प्रस्तुत करता है। काव्य-वाक्यों में प्रसंग प्राप्त काल-योजना निहित रहती है, किन्तु जैसे ही वह भाषिक मुद्राओं में रूपायित हो कर मानस साक्षात्कार के स्तर पर अवतीर्ण होती है, कालिक अंश तिरोहित सा हो जाता है। यहाँ तक कि एक विशिष्ट

---

[1] अभिनवभारती, पृ० ४७०

काव्य-सदर्भ में शब्द की पुनरावृत्ति मात्र भी परिचित कालिक शब्द को अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत् के नियंत्रण से मुक्त कालातीत बना सकती है। मैकबैथ के 'टुमारो टुमारो एण्ड टुमारो' तथा लीयर के 'नेवर नेवर नेवर नेवर नेवर' में शब्दों की पुनरावृत्ति नितान्त परिचित कालवाची शब्दों को भी अखण्ड काल-चेतना में रूपान्तरित कर देती है।[1] यहाँ टुमारो और टुडे एक ही अखण्ड भाव चेतना के वैसे ही विवर्त प्रतीत होते हैं, जैसे 'एतत्पुनर्वनमहो कथमद्य दृष्टं यस्मिन्नभूम चिरमेव पुरा' में अतीत तथा वर्तमान एक ही अन्त: सूत्र से अन्वित हो कर कालातीत हो गए हैं।

भाषा और भावकत्व

सामान्य भाषा की अपेक्षा काव्य-भाषा निरपेक्ष सत्यों की वाहिका न हो कर उनकी अन्तर्भावित स्वरूप की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है अत: काव्य तथा नाट्य में जीवन और जगत् के सत्य कवि की कल्पनापरक संचेतना में निहित रागात्मक प्रतीकों से अन्वित हो कर प्रमाता की चेतना को व्यापक स्तर पर आन्दोलित करते हैं। भट्टनायक ने काव्य-भाषा की शक्ति को उस भावकत्व प्रक्रिया के अन्दर ग्रहण किया है, जहाँ शब्द वाच्य-वाचक के अन्त:-सम्बन्धों की नियतता से मुक्त हो कर काव्य-प्रतीकों में परिणत होते हैं तथा स्थूल इतिवृत्तात्मकता के आवरण में छिपे भाव-सत्य को उन्मीलित करते हैं।

'राम' शब्द की ऐतिहासिक अथवा पौराणिक वस्तु सत्ता है। सामान्य भाषा में उसका निश्चित अर्थ एवं व्यक्तिवाचक अस्तित्व है।[3] उसके वाचक और वाच्य (दशरथ-पुत्र, अवतार, राम कथा नायक इत्यादि के मध्य

---

1. To emphasize what has happened in these lines, and to indicate how words sometimes get out of mere verbal meaning when they become gesture, it may be suggested that Macbeth might have said today and today and today, and Lear said, Always, always always, always always, and much the same effect have transpired in either case. (R P. Blackmur 'op. cit. p. 322)

२. उत्तररामचरितम् २/२२, पृ० ४६

३. रामपदं दशरथकुलोद्भवकौशल्यास्नेहपात्रत्वं कथं न ध्वनेदिति (लोचन, पृ० १६८)

सुनिश्चित नियत सम्बन्ध है, किन्तु—

'रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते'।[1] में राम शब्द एक काव्य प्रतीक में परिणत हो जाता है।

यह शब्द परिस्थितियों के निःसहाय भोक्ता एवं एकान्त आत्मनिर्वासित व्यक्तित्व की पीड़ा, प्रवंचना[2], आत्म-व्यंग्य एवं विद्रूप की दारुण यंत्रणा को निरपेक्ष भाव से व्यक्त करता है। इसमें अतीत के आचरण के प्रति अनुताप, करुणा, अर्जित क्रूरता[3], शूद्र मुनि के वध के विषय में कर्तव्याकर्तव्य की द्वन्द्व-चेतना[4] मानसी-संघर्ष एवं आलोडन की संवेदना तथा परिवर्तित परिवेश में जीवन मूल्यों के उस संक्रमण की व्यंजना भी है, जिसमें वर्णाश्रम-धर्म के आश्रित शूद्रवध, रामायण की भाँति कवि नायक अथवा प्रमाता की द्वन्द्व-रहित चेतना का वाहक नहीं, अपितु उनकी सप्रश्न शंकित दृष्टि[5] का उन्मेष है। अतः आत्म-व्यंग्य और आत्म करुणा में रूपान्तरित हो कर राम शब्द राम के सीता-निर्वासन तथा शूद्र-वध जैसे कठोर कृत्यों के प्रति प्रच्छन्न प्रत्यक्ष सहृदयगत आक्रोश का उपशमन ही नहीं करता, कवि नायक और सहृदय की चेतना को उस विशेष अनुभव-खण्ड में संश्लिष्ट भी करता है। यहाँ वाचक वाच्य से मर्यादित नहीं है, संदर्भ प्रेरित वैकल्पिक संवेदनाओं की व्यापक भूमि तक विस्तृत है। भट्टनायक ने इसे समुचित गुणालंकार परिग्रहात्मक व्यापार कहा है, वहाँ अभिनव के अनुसार यह अभिधा से पृथक् व्यंजनात्मक ध्वनन व्यापार है[6]। इसमें अर्थ (अनुभूति) शब्द (अभिव्यक्ति) गौण हो जाते हैं तथा प्रमुखता उस विशिष्ट रूप की होती है, जो संवेगों के समीकरण का पर्याय है। आशय यह है कि शब्द और अर्थ उस विशिष्ट

---

१. उत्तररामचरितम् (काणे) २/१०, पृ० ४१

२. 'पटो'रित्यनेनछद्मनि परिददामि इत्येतद्विवक्षितम् उ०रा० (वीरराघव) पृ० ६६

३. योग्यं निर्दयमिति यावत् (उ० रा० (घनश्याम), पृ० ४१)

४. ननु तपस्विनि कथं खड्गम् विसृजामि इत्याशंकयाह रामस्येति। वही, पृ० ४१

५. वही, (इत्याशंकयाह), (पृ० वही)

६. वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यंजनात्मा ध्वननव्यापार एव। (सलोचन-ध्वन्यालोक पृ० १६६)

भावतत्व के प्रति स्वत: समर्पित होते हैं, उनकी एकान्त सत्ता भी विलुप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया में गुण तथा अलंकारों के औचित्य की इति-कर्तव्यता अन्वित होकर ही रसों को भावित करती है। अतः 'केन भावयेत' अर्थात् करण में ध्वनन व्यापार प्रतिष्ठित है। कहने का आशय यह है कि अभिनव व्यजना तथा भावना के वैभिन्न्य को केवल पारिभाषिक भेद के स्तर पर देखते हैं। काव्य-भाषा के धरातल पर दोनों की प्रक्रिया में विशेष अन्तर भी नहीं है। किन्तु व्यंजना में बौद्धिक समाहिति का पक्ष प्रखर है तो भावना में सांवेगिक समाहिति पर बल अधिक है। दोनों में ही कल्पना का योग है, किन्तु व्यजना में बुद्धि-तत्त्व और कल्पना के योग के कारण काव्यार्थ का क्षेत्र अधिक व्यापक एवं प्रभाव गहन हो जाता है। उदाहरणार्थ 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' की व्याख्या ध्वनिकार तथा लोचनकार इस प्रकार करते हैं—'इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यंग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्'[1]। अर्थात् यहाँ राम-मात्र का नहीं, अपितु व्यंग्य-धर्मों में परिणत दुःखसहिष्णु रूप राम (संज्ञी) का बोध हो रहा है। लोचनकार के अनुसार राज्य-निर्वासन इत्यादि अनेकानेक धर्मान्तर मात्र अभिधा व्यापार के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्धि एक साथ सब अर्थों को स्वीकार नहीं कर सकती।[2] आशय यह है कि व्यंजना एकमात्र निर्विकल्प अर्थ की साधना नहीं करती, उसमें इतर अनुषंगों का योग मिला रहता है, जो बौद्धिक व्यापार के उपशमन के अनन्तर ही सामरस्य की स्थिति ग्रहण कर सकते हैं। यह सामरस्य कल्पना और भावना की ही सहकारिता का परिणाम है। अत: भावकत्व और भोजकत्व से समीकृत हो कर ही भट्टनायक की अभिधा काव्यार्थ का बोध कराती एवं साधारणीकरण का मार्ग प्रशस्त करती है। तात्पर्य यह है कि भावना व्यंजना की बौद्धिक समाहिति को रागात्मक अनुसंधान के द्वारा अधिक सम्प्रेषणीय बनाती है। भट्टनायक की भावना में सामरस्य है, जिसमें काल्पनिक प्रतीतियाँ स्वतन्त्र नहीं रहती। प्रतीयमान अर्थ में विविध अनुभूतियों की चित्र-चर्वणा का अवकाश बना रहता

---

[1] ध्वन्यालोक (आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी-२०१९ वि०) पृ० ७१)।

[2] रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः व्यंग्यधर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्य-निर्वासनाद्यसङ्ख्येयम्। तच्चासङ्ख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम्। (सलोचन ध्वन्यालोक (जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा-१९६५) पृ० १७७)

है;[3] और प्रमाता एक न एक स्तर पर साधारणीकृत हो जाता है। यदि एक प्रमाता 'राम सीता के बिना कैसे जी सकेंगे' की अनुभूति का बोध करता है. तो दूसरा राज्य-त्याग, वन-गमन आदि की दुःखातिशयता का। तीसरा दुःखसहिष्णुत्व को लक्षणा से व्यंजित मान कर परदुःख की सहनशीलता के व्यंग्यार्थ का अनुभावन करता है और इस प्रकार राम की मानसिकता के विविध स्तरों से अथवा किसी एक स्तर से वह सम्पृक्त होता है।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ये विभिन्न व्यंग्यार्थ प्रमाता के संवेदनों से संश्लिष्ट होकर जहाँ अनेक आयामों में पुनरुद्भावित होते हैं वहाँ एक विशिष्ट अनुभूति-केन्द्र में समाहित होने की प्रत्याशा भी जगाते हैं। एक अनुभूति-केन्द्र से आकृष्ट होकर जब ये संवादी-विसंवादी चेतनाएं एक प्रत्ययात्मक संवेदन में ढलती है तो उनके स्पर्द्धामूलक समन्वय से उद्भूत एक रागात्मक संवेदन भी उनमें आकार ग्रहण करने लगता है। यह वस्तुतः एक स्थैतिक आयाम से जुड़े वस्तु सत्य की गत्यात्मक (धारावाही) भाव सत्य में परिणति की दिशा है। तथ्य यह है कि काव्यभाषा के रागात्मक अनुषंगों में समाहित होकर जहाँ वस्तु सत्य का मौलिक स्वरूप आच्छादित हो जाता है, वहाँ भाव-सत्य के किसी एक आयाम पर भी प्रमाता की बुद्धि संकेन्द्रित नहीं रह पाती। अतः आभ्यन्तर सत्य और बाह्य तथ्य के संघर्ष-समन्वत में तनाव का एक ऐसा बिन्दु आता है जहाँ निश्चय-अनिश्चय की संवेदना, वर्तमान और अतीत का कालिक बोध तथा स्वगत-परगत अस्तित्व की अनुभूति के द्वन्द्व एक दूसरे को अपदस्थ करते हुए से एक अविच्छिन्न संवेदनाधारा (साधारणीभावना) में परिणत हो जाते हैं। साधारणीकरण की उस भूमिका को प्रकारान्तर से अभिनव ने बराबर रेखांकित किया है जहाँ अभिव्यंजना के उपकरण काव्य के केन्द्रीय (वस्तु) सत्य पर निरन्तर दबाव डालते हैं। अपने मौलिक स्वरूप के आच्छादित हो जाने से ये दोनों ही तत्त्व देशकालातीत चेतना में परिणत होकर सम्पूर्ण भाव-परिवेश (विभाव) को साधारणीकृत कर देते हैं 'साधारणीभावना च विभावादिभिरिति' अभिनव का यह मन्तव्य काव्यानुभूति के क्षण में अभिव्यंजनात्मक उपकरणों के मौलिक (अभिधात्मक)

---

[3] प्रतीयमानं तु तदसङ्ख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति। (वही, पृ० वही)

स्वरूप के आच्छादन तथा काव्यबल से आरोपित एकायामी व्यंग्यार्थ के निषेध (अनिश्चय) की उस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का आख्यान है जो रेन्सम, ब्रुक्स और ऐलन टेट जैसे पाश्चात्य नव्य समीक्षकों को भी ग्राह्य है। काव्य के आभ्यन्तर वस्तु-सत्य तथा रचना-तन्त्र में निहित द्वन्द्व, विरोधाभास एवं तनाव की प्रक्रिया साधारणीकरण की विषयी निष्ठ व्याख्या को वस्तुनिष्ठ आधार देती हैं। भट्टनायक और अभिनव इस दिशा में बहुत दूर तक हमारी सहायता करते दिखाई देते हैं।

उपसंहार

समाहार एवं निष्कर्ष

समाहार

साधारणीकरण की अवधारणा साहित्य-शास्त्र की विशिष्ट उपलब्धि है । काव्यास्वाद के अनेक जटिल प्रश्नों के समाधान के स्तर पर इस अवधारणा से अत्यन्त मूल्यवान सूत्र प्राप्त हुए हैं, किन्तु संस्कृत तथा उसके परिप्रेक्ष्य में परवर्ती भारतीय काव्यशास्त्र में साधारणीकरण-सिद्धांत के क्रम-विकास के साक्षात्कार के अनन्तर यह निष्कर्ष भी अप्रत्याशित अथवा पूर्वाग्रह-प्रेरित नहीं रह जाता कि काव्य-बोध (जिसमें नाटक, कथा-साहित्य, चलचित्र आदि साहित्य की सभी विधाओं के आस्वाद की रागात्मक एवं बौद्धिक अनुक्रियाएँ समाहित हैं) के अनेकायामी संदर्भों को समाहित एवं व्याख्यायित करने के लिए अपेक्षाकृत एक व्यापकतर अवधारणा अपेक्षित है। यह साधारणीकरण के मौलिक स्वरूप से भिन्न अवधारणा तो न होगी, किन्तु परिवर्तित युग-बोध एवं परिवेश के अनुरूप विविध (परस्पर विरोधी भी) बोधों को आयत्त करने के कारण उसका स्वरूप विशिष्ट अवश्य होगा । इस सन्दर्भ में पूर्ववर्ती अवधारणाओं के समानान्तर काव्य-बोध के जटिलतर तथा एक सीमा तक गतिशील बिम्ब को रख कर देखना आवश्यक हो जाता है । निश्चय ही यहाँ हम स्वयं को साधारणीकरण की सम्पूर्णतः स्वीकृत अवधारणा के एकान्त विरोध में नहीं पायेंगे ।

इस परिप्रेक्ष्य में काव्य-बोध के अनेक-मुखी सन्दर्भों का पुनराकलन आवश्यक है । काव्य-बोध के आस्वाद में मात्र रागोद्रेक ही नहीं अपितु निरपेक्ष विवेक-चेतना, सापेक्ष निर्णय-क्षमता, ऊहापोहमूलक आलोचना-दृष्टि, जिज्ञासा, कुतूहल, प्रकृति-विरुद्ध मनोवृत्ति, प्रत्यभिज्ञानमूलक पूर्वानुभूत वस्तु के बोध का आह्लाद, निःसंगता एवं तल्लीनता की क्रमिक अनुभूति, प्रमेय-सिद्धि का आनन्द जैसी विविध अनुक्रियाएँ भी हो सकती हैं। समग्रतः

काव्य-बोध में ऐन्द्रिय रागोज्ज्वल चेतना से लेकर मनन-अनुचिन्तन एवं आध्यात्मिक उल्लास के त्रिविध अन्तराल समाहित हैं। स्वीकृत अवधारणा इनमें से कुछ को रस-विघ्न के अन्तर्गत परिभाषित कर सकती है, किन्तु उनकी प्रासंगिकता निर्विवाद है।

सहृदय प्रमाता का भी केवल रस-भोक्ता व्यक्तित्व ही नहीं होता, वह स्वयं समानधर्मा कृती काव्य-स्रष्टा, तत्त्वान्वेषी, सौष्ठवान्वेषी या रसज्ञ आलोचक भी हो सकता है। उसमें सुमनस् प्रेक्षक, सामाजिक, रसिक, पाठक अथवा श्रोता के विविध अन्तःसूत्र अन्वित हो सकते हैं। वह अनुभूति-परिवेश से काव्य-परिवेश का सीधा सम्बन्ध स्थापित करने वाला यथार्थ-द्रष्टा, मनोवैज्ञानिक समीक्षक अथवा काव्य की सूक्ष्म विवृतियों से अभिज्ञ परिनिष्ठित, सहृदय भी हो सकता है एवं सामान्य रस-भोक्ता की भाँति अनभिव्यक्त आनन्द भी ग्रहण कर सकता है।

सहृदय व्यक्ति-स्तर पर उपन्यास अथवा काव्य का पाठक, एकान्त कक्ष में दूरदर्शन-द्रष्टा, आकाशवाणी की ध्वनितरंगों का श्रोता, कवि-गोष्ठी का कवि-श्रोता, सामान्य श्रोता, समूह-गान का गायक श्रोता, स्वतन्त्र-व्यक्ति-श्रोता राजसभा के स्तुति पाठ का स्वयं राजा अथवा सामन्त श्रोता, अपने एकाकी गान का एकाकी श्रोता-परिश्रान्त पथिक, श्रम-परिहार के लिए गाये हुए गीत का आत्म-श्रोता-श्रमिक, युद्ध-गान का सामान्य श्रोता तथा कर्तव्योन्मुख सैनिक श्रोता हो सकता है। सबकी प्रतिक्रियाएँ तथा रागात्मक अन्तर्दशाएँ गुणात्मक स्तर पर अभिन्न नहीं हो सकतीं। समसामयिक काव्य के श्रोता अथवा पाठक की प्रतिक्रिया देशकाल की सीमा को अतिक्रान्त करने वाले क्लासिकी साहित्य के श्रोता अथवा पाठक से भिन्न हो सकती हैं।

सौंदर्य-वस्तु का वैविध्य उसके विशिष्ट माध्यम से भी अनुशासित है। काव्य, संगीत, चित्रकला, नृत्यकला, मूर्ति अथवा स्थापत्य कला अपने विशिष्ट अमूर्त अथवा मूर्त माध्यम के आधार पर भिन्न प्रतिक्रियाएँ उद्‌बुद्ध करती हैं। शब्दहीन प्रकृति, मानवीय आचरण के मौन सौंदर्य, शिशु के हास तथा विराट् जगत् के लौकिक सौंदर्य से जो तन्मयता एवं हृदय-संवाद की अनुभूति होती है, काव्यानुभूति अपने विशिष्ट शब्दार्थ के माध्यम के कारण उससे भिन्न अनुभूति जगाती है। काव्य की कथानक-प्रधान एवं आत्मपरक अनुभूति-प्रधान विधाओं के अतिरिक्त श्रव्य-दृश्य दिशाएँ भी है। उपन्यास,

नाट्य एवं काव्य का बोध समस्तरीय नहीं होता। समस्या-पूर्ति के श्रवण का आह्लाद प्रबन्ध काव्य के श्रवण के आह्लाद से भिन्न होगा। युगानुरूप काव्य-वस्तु तथा काव्य-शैली भी परम्परा तथा संस्कार से मुक्त होती अथवा जुड़ती है। अलकार-प्रधान युग में अनलंकृत काव्य तथा अनुभूति-प्रधान युग में चमत्कार-पूर्ण शैली का सम्प्रेषणात्मक मूल्य क्षीण होता है। प्राचीन अथवा नवीन काव्य की सम्प्रेषणीयता के आयाम समान नहीं हो सकते।

कथानायक का व्यक्तित्व भी एक आयामी अथवा विभाजित हो सकता है। उसके अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी व्यक्तित्व के मध्य अनेक अन्तराल हो सकते हैं। वह जासूसी उपन्यास का अप्रत्याशित-कर्म-कुशल जासूस, रोमानी उपन्यास का अतिरिक्त भाव-प्रवण, संवेदनशील युवक, निरुद्देश्य आवारा सैलानी, बायरन के काव्य का आदर्शरहित उन्मुक्त रसभोक्ता अथवा समय की गति का निर्धारक, ऐतिहासिक काव्य का अदम्य आवेग-प्राण युग-पुरुष भी हो सकता है। पाठकीय प्रतिक्रियाएँ उनके अनुरूप बौद्धिक तथा रागात्मक स्तरों पर अनेक रूपों में संक्रमित हो सकती हैं।

बाह्य यथार्थ भी पाठकीय प्रतिक्रियाओं को अनेक रूपों में परिभाषित करता है। युद्ध, शान्ति, धर्म, राष्ट्रीयता, जाति, लिंग, वय, व्यवसाय, कर्म, परम्परा, पीढ़ी-भेद, साम्प्रदायिक पक्षपात, मानवीय सम्बन्धों की स्वतन्त्रता एवं परतन्त्रता, यौन-मुक्तता की वस्तुगत स्थितियाँ सम्प्रेषणीयता की मर्यादा निर्धारित करती हैं। एक ही काव्य के विविध आयाम हो सकते हैं तथा एक ही प्रमाता के देश और काल के प्रेरक अन्त:सूत्रों से निर्मित अनेक व्यक्तित्व हो सकते हैं। काव्य के केन्द्रीय अन्त:सूत्र को ग्रहण करने से पूर्व वह अवान्तर संदर्भों में भी रसबोध कर सकता है, अत: कथासूत्र से अभिज्ञ, अनभिज्ञ प्रमाता के स्पन्दनों में सूक्ष्म भेद अवश्य होगा।

वैविध्य के आयाम और भी हैं जो प्रमाता की असफलता, तन्मयता एवं नि:संगता के विविध संदर्भों के अतिरिक्त कवि तथा काव्य-वस्तु के विशिष्ट सामान्यीकृत सन्दर्भों के द्वन्द्व से जुड़े हो सकते हैं। आलोचक प्रमाताओं की प्रतिक्रियाओं की विविधता इस विसंवादी चेतना का साक्ष्य देती है। कीट्स ने दुर्द्धर्ष समीक्षकों के व्यंग्य बाण सह कर अकाल मृत्यु का अभिशाप भोगा। भवभूति समान-धर्मा की आजीवन आकांक्षा करते रहे तथा बोदलेयर और गालिब को सम्प्रेषणीयता के स्तर पर पर उतरने के लिए अभिव्यंजना में दिशान्तरण के लिए बाध्य होना पड़ा। डी० एच० लारेंस ने अश्लीलता के

आरोप का दंश भोगा। काव्य तथा काव्येतर प्रतिमानों ने निरन्तर पाठकीय प्रतिक्रिया की दिशा निर्धारित की है। सर्जनात्मक प्रतिभा को भी उन प्रतिमानों के अनुरूप आत्म-संस्कार के लिए बाध्य होना पड़ा है।

युग-दर्शन की जीवन्त अभिव्यक्ति को काव्य की उत्कृष्टता का निकष माना गया, किन्तु परवर्ती काव्य-बोध ने टेनीसन के युग-दर्शन की अपेक्षा ब्राउनिंग की अन्तर्मुखी मनोवैज्ञानिक चेतना को अधिक व्यापक स्वीकृति प्रदान की। मृच्छकटिक एवं मुद्रा-राक्षस की यथार्थ युग-दृष्टि की अपेक्षा शाकुन्तलम् एवं उत्तररामचरितम् के तीव्र भाव-संवेगों की अन्तर्मुखी सक्रियता प्रमाता के भाव-केन्द्रों को अधिक गहन स्तर पर आलोडित करती रही है। यह बात भिन्न है कि आधुनिक युग की यथार्थमूलक समष्टि-चेतना को मृच्छकटिक का वैविध्यपूर्ण यथार्थ आधार-फलक अपनी रुचि के विशिष्ट अनुरूप प्रतीत होता है। तात्सताय का युद्ध और शान्ति उपन्यास अन्नाकैरनिना की अपेक्षा युग-जीवन की अधिक सशक्त अभिव्यक्ति देता है, किन्तु परवर्ती बोध अन्नाकैरनिना की उपेक्षा नहीं कर पाया। इसी क्रम में विराट् पात्रों के आचरण की उदात्तता एवं गरिमा उत्कृष्ट साहित्य का प्रतिमान बनी, किन्तु हैमिंग्वे काफ्का सार्त्र और कामू के नायकों ने औदात्य की परिभाषा परिवर्तित कर क्षुद्र मानव की जिजीविषा को प्रमाता के चेतना-केन्द्र में प्रतिष्ठित कर दिया। संस्कृत-नाटकों में देखें तो शाकुन्तलम् का दुष्यन्त, उत्तररामचरितम् के राम, उरुभंग का दुर्योधन अपनी मानव-सहज दुर्बलता में ही औदात्य को परिभाषित करते हैं।

सार्वभौम चेतना की उद्दीप्त करना उत्कृष्ट कृतित्व का प्रमाण माना गया है। कालिदास, शेक्सपियर की महानता उनकी सार्वभौम काव्य-चेतना पर ही आधृत है। तुलसी इसी विराट् मानव-चेतना के कारण महान् हैं, किन्तु परवर्ती काव्य-बोध ने भवभूति, मीर, सूर, कीट्स की आत्मानुभूतियों में जीवन की सूक्ष्म विवृतियों का अधिक आग्रह से संधान किया हैं। अश्लीलता अथवा शृङ्गार के अतिरंजन के विरुद्ध भी समीक्षकीय दृष्टि वक्र हुई है। कालिदास श्रीहर्ष एवं जयदेव के विरुद्ध मम्मट एवं पंडितराज जगन्नाथ ने नैतिक दृष्टि की अवमानना का आरोप लगाया, किन्तु युग-चेतना ने अपने सहज विलास तथा कुतूहल के कारण उनकी अनुभूति को व्यापक स्वीकृति दी।

अनुभूति की प्रामाणिकगा का साक्ष्य रहीम की कविता अधिक देती है। किन्तु, तुलसी अपनी परोपजीवी अभिव्यक्ति के बावजूद व्यापक चेतना को समीकृत करते हैं, और इसी स्तर पर सम्प्रेषणीयता के व्यापक आयामों को आयत्त करते हैं। भवभूति की अपेक्षा कालिदास पाठकीय संवेदना में अधिक व्यापक स्तर पर ग्राह्य हैं तथा मीर की आत्मानुभूति की व्यापक स्वीकृति के बावजूद ग़ालिब अपनी विदग्ध अभिव्यंजनाओं के कारण अधिक यशस्वी हुए।

आलोचक प्रमाता एक स्तर पर कवि के कृतित्व में निहित व्यक्ति-चेतना के अनुसंधान में बौद्धिक रस ग्रहण करता हुआ आत्मानुभूति की प्रखरता को काव्यप्रतिमान के स्तर पर व्याख्यायित करता है तो दूसरे स्तर पर वह कालिदास, शैक्सपीयर होमर एवं तालसताय के निर्वैयक्तिकता-मूलक सर्जनात्मक संदर्भ भी प्रस्तुत करता है। शैक्सपीयर, औथेलो एवं डेस्डीमोना दोनों को ही अपने व्यक्तित्व का समान अंश वितरित करता है। कालिदास राजसभा में एक-दूसरे के सम्मुख उपस्थित दुष्यन्त और शकुन्तला के भाव-बन्ध को समान निर्वैयक्तिकता से अंकित करते है। कवि की प्रतिभा की गरिमा वैयक्तिकता की प्रत्यक्ष सम्प्रेषणीयता में नहीं, निर्वैयक्तिक चेतना में है। रिचर्ड्स और इलियट ने कवि की वस्तु-निष्ठ दृष्टि एवं निर्वैयक्तिक साधना का समर्थन कर इस अवधारणा को आधुनिक साहित्य-शास्त्र में विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया है। भारतीय दृष्टि भी अंशत: कवि की अप्रतिबद्ध मौलिकता का स्तवन करती है। समष्टि और व्यष्टि के अन्त:सम्बन्ध की चिन्मय धारा सहृदयों के मध्य आनुभूतिक समानता का प्रेरणा उत्स है। अपने वैशिष्ट्यों से मुक्त हो कर वे समान धरातल पर एकात्म होते हैं।

साधारणीकरण का सम्भावित अन्त:सूत्र यही है। स्वीकृत अवधारणा इसी भूमि पर विविध सूत्रों को अन्तर्ग्रथित करती है। अत: उपर्युक्त विसंवादी अनुक्रियाओं को एक व्यापक अवधारणा के अन्तर्गत व्याख्यायित करने के लिए साधारणीकरण के सर्वस्वीकृत प्रतिमानों का पुनरवलोकन कर लेना अप्रासंगिक न होगा। काव्यानुभूति प्रमाता का मानस-प्रत्यक्ष अथवा आत्मास्वाद है। इससे तन्मयीभवन, चित्तवृत्ति की एकाग्रता, सम्पादित होती है। केन्द्रीय अनुभव अथवा स्थायी-भाव देशकाल के बन्धन से मुक्त हो कर भाव्यमान होता है। यह प्रतीति स्वगत-परगत प्रतीतियों से भिन्न निर्विघ्न प्रतीति है। स्थायिभाव व्यक्ति-संसर्ग से मुक्त हो जाता है तथा व्यक्तिश:

प्रतीति की अपेक्षा सामूहिक रसास्वाद अधिक आनन्दकर है। इसका आधार अनादि वासना है, जिसके कारण सामाजिकों को एकघनता की प्रतीति होती है। इसमें सीतादि विशेष कामिनी रूप में उपस्थित हो कर विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं। लौकिक अनुभूति के क्षण में जो अलौकिक पात्र और कार्य हमारी आत्म-परिधि से दूर एवं असामान्य प्रतीत होते हैं वे भी साधारणीकृत हो जाते हैं। काव्य में वर्णित पात्र विशेषतः आश्रय के साथ प्रमाता को तादात्म्य की अनुभूति भी होती है। विभाव भी देशकाल से निर्बन्ध होकर प्रमाता की स्व-पर की चेतना से मुक्त हो जाते हैं। सम्बन्ध-विशेष के स्वीकार अथवा परिहार-मूलक बोध के लुप्त हो जाने से दुष्यन्त जैसे आश्रय की चेष्टाएँ मात्र उसी से सम्बद्ध न रह कर सामान्य श्रृङ्गारी पुरुष की चेष्टाएँ प्रतीत होती हैं तथा शकुन्तला भी सामान्य प्रणयमुग्धा कामिनी में पर्यवसित हो जाती है। उनका देशकाल से अनुविद्ध वैशिष्ट्य तिरोहित हो जाता है तथा प्रमाता भी वैयक्तिक रागद्वेष से मुक्त हो कर एकात्म होता है। तादात्म्य भावना-विशेष के कारण कल्पित भी हो सकता है, जिसमें प्रमाता में, कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित होने के कारण, कल्पित शकुन्तला-विषयक रति आभासित होती है। आशय यह है कि प्रमाता तथा काव्य-वर्णित पात्रों की वैशिष्ट्य मुक्ति एक ऐसा केन्द्रीय तथ्य है जो उपर्युक्त अभिमतों में एकसूत्रता स्थापित करता है। प्रमाता के स्तर पर यह वैशिष्ट्य-मुक्ति रागद्वेष एवं मध्यस्थता पर आधारित वैयक्तिक मानसिकता का तिरोधान है, जिसे भट्टनायक ने निविडनिजमोहसंकटकारिणा इत्यादि पद-समुच्चयों से व्यक्त किया है तथा विभावों के स्तर पर विशिष्टता के तिरोधान की दिशा वस्तुनिष्ठ आधार को छोड़कर भाव-बिम्ब में पर्यवसान (सीतादि के कामिनीत्व में रूपान्तरण) की दिशा है। वस्तुतः यह स्थिति का अतिसरलीकरण है। मूल्यांकन के स्तर पर यह स्वीकृति अनेक कठिनाइयों की ओर इंगित करती है। मूलतः यह अवधारणा अलौकिक अमूर्तीकरण को केन्द्र में रख कर विकसित हुई है। किन्तु अलौकिक अथवा सार्वभौम प्रतिमान कृति की उत्कृष्टता को प्रमाणित नहीं करते। कालिदास भवभूति इत्यादि कवियों में लोकोत्तर प्रेषणीयता समान रूप से विद्यमान है, किन्तु वे किस प्रकार एक दूसरे से भिन्न हैं, इस विषय में यह सिद्धान्त अधिक सहायता नहीं करता। वस्तुतः यह विशुद्ध साहित्यिक प्रतिमान नहीं है, इसमें दर्शन की अवधारणाएँ अन्तर्भुक्त है, साथ ही सौंदर्यशास्त्रीय एवं

नैतिक अवधारणाओं का भी योग है। यही नहीं, कहीं-कहीं नैतिक अवधारणा अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठती है। आराध्यत्व अथवा पूज्य बुद्धि की प्राक्चेतना साधारणीकरण में अवरोध डालती है। भट्टनायक तथा पंडितराज जगन्नाथ ने स्पष्टतः अगम्यात्व के प्रतिबन्धन का सन्दर्भ उठा कर सौष्ठववादी अवधारणा को काव्येतर नैतिक संदर्भ में परिवर्तित कर दिया है। फिर भी इस सन्दर्भ में यह तथ्य अवश्य उल्लेखनीय है कि भट्टनायक द्वारा निर्मित नैतिक चेतना की सरलीकृत अवधारणा क्रमश: अधिक जटिल, सौष्ठववादी अवधारणाओं में अन्तर्भुक्त होती गई एवं अवधारणा को अधिक व्यापक आयाम मिला। पंडितराज ने अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान के अभाव का निवेश विभावकता की नियामक कोटि में करके मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का भी परिचय दिया है। क्रमश: सौष्ठववादी धारणाएँ अधिक प्रखर होती गयी तथा भट्टनायक की नैतिक वर्जना मूलक अन्तर्दृष्टि उनमें समाहित हो कर साधारणीकरण के अधिक व्यापक आयामों का आभास देने लगी। इस सन्दर्भ में इन अवधारणाओं का प्रत्यवलोकन भी कर लेना चाहिए जो भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त की स्थापित अवधारणाओं के विरोध में न जा कर भी अनेक अनालोचित पक्षों का प्रासंगिक समाधान प्रस्तुत करती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, यह परम्परा अधिक यथार्थ एवं व्यावहारिक संदर्भों से अन्वित है।

भट्टनायक ने स्वकान्ता-स्मृति के असंवेदन को साधारणीकरण के लिए अनिवार्य बताया है, किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह असम्भव है कि नाटकीय दृश्यों के साक्षात्कार अथवा काव्य-पाठ से प्रमाता की निजी अनुभूतियां उद्बुद्ध न हों। नाट्यदर्पणकार ने इस अनुभूति को सम्प्रेषणीयता के भिन्न माध्यम के स्तर पर व्याख्यायित किया है। लोक में नियतविषया रति विभावों के अविद्यमान होने पर स्मर्यमाण हो सकती है, उसमें व्यक्ति-विशेष की मूर्ति ही स्मृति में उद्वेलित होती है, किन्तु यह विशेष रति काव्य-भूमि में अनियतविषया होकर साधारणीकृत होती है, इस स्तर पर भी लौकिक तथा काव्यगत रसानुभूति में प्रकृतिगत अन्तर न रहने के कारण काव्यानुभूति भी स्मर्यमाण रूप में घटित हो सकती है। आचार्य शुक्ल ने काव्यास्वाद की यह कोटि भी निर्धारित की है कि जिसमें पाठक अथवा श्रोता की मनोवृति या संस्कार के कारण व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति अर्थात् आलम्बन रूप में प्रियतमा की प्रतिमूर्ति ही उद्बुद्ध होती है। विद्यानाथ भी इस प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे एक

और मनोवैज्ञानिक आयाम देते हैं। सामाजिक की स्मृति पर आरूढ़ अपने विशिष्ट व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित अभिलषित प्रेमास्पद अनुकार्य के वैशिष्ट्य को तिरोहित करके उभरने लगते हैं। इस प्रक्रिया में प्रथम स्तर पर मालती आदि विशिष्ट पात्र श्रृङ्गार रस की भूमिका में अवतीर्ण होते है। दूसरे स्तर पर उनके साक्षात्कार से प्रमाता के मन में प्रेमास्पद का बिम्ब उत्कीर्ण होता है; तथा तृतीय स्तर पर इस बिम्ब में संक्रमित हो कर नायक अथवा नायिका के वैशिष्ट्य का लोप हो जाने से उसका निर्विशेषीकरण अथवा साधारणीकरण हो जाता है, फलत: सामाजिक उस रति का आत्मस्थ रूप में आस्वाद करता है।

वस्तुत: यह प्रक्रिया स्वीकृत अवधारणा के एकान्त विरोध में नहीं है। स्वयं अभिनव दो विशिष्ट बिम्बों के अन्त:प्रतिबिम्बन में निर्विशेषीकरण की सम्भावना व्यक्त करते हैं। अनुकार्य कवि की काव्यानुभूति में प्रतिबिम्बित होकर विशिष्ट रूप में मूर्त होता है। नट भी अपने कलात्मक वैशिष्ट्य के द्वारा उसको मूर्त करता हैं। ये दो विशिष्ट बिम्ब सामाजिक की चेतना में अन्त: प्रतिबिम्बित होते हैं तथा वह सम्मुख उपस्थित नट को अपनी विशिष्ट कल्पना से अन्वित कर विशिष्ट व्यक्ति राम के रूप में ग्रहण करता है। इसी प्रकार अतीत और वर्तमान के दो विशिष्ट बिम्बों के प्रमाता की चेतना में समानान्तर स्तर पर उत्कीर्ण होने से क्रमश: वैशिष्ट्य की चेतना धूमिल पड़ने लगती है। राम की अतीत स्मृति तथा वर्तमानकालिक बोध परस्पर संघर्षरत हो कर उसे निर्विशिष्ट बना देते हैं। अभिनव ने साधारणीकरण की इस प्रक्रिया को देश और काल की विशिष्ट चेतना-मुक्ति के स्तर पर व्याख्यायित किया है, किन्तु साधारणीकरण के व्यापक आयामों का विवेचन करते समय इस केन्द्रीय सूत्र का विविध स्तरों पर उपयोग किया जा सकता है।

आधुनिक शब्दावली में दो विशिष्ट अनुभूतियों के अन्त:प्रतिबिम्बन से उद्भूत होने वाले निर्विशेषीकृत सार्वभौम तत्त्व का अनुसंधान इस प्रकार किया जा सकता है। कवि की अनुभूति एक विशिष्ट व्यक्तिगत अनुभूति होती है। कवि विशिष्ट बिम्बों के माध्यम से उसे आकार देता है। कवि की अनुभूति के समानान्तर प्रमाता के अनुभव-जगत् का भी विशिष्ट आयाम होता हैं। क्रमश: अभिव्यंजनागत उपकरणों से आच्छादित कवि की अनुभूति को वह द्वैधी चेतना के धरातल पर ग्रहण करता है। वह अनुभूति कवि की एकान्त निजी अनुभूति है, इसका बोध पीछे छूटने लगता है, किन्तु यह समग्रत:

अभिव्यंजनात्मक (कल्पित) अनुभूति है यह बुद्धि भी सुस्थिर नहीं रह पाती। कवि की विशिष्ट अनुभूति तथा प्रमाता की निजी विशिष्ट भाव-भूमि अभिव्यंजनात्मक उपकरणों के स्तर पर समीकृत हो कर क्रमशः साधारणीकृत होती है। अभिनव की केन्द्रीय अवधारणा इसका साक्ष्य देती है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य-बोध के स्वरूप को व्याख्यायित करने वाली अनेक अवधारणाएँ वैशिष्ट्य-मुक्ति के इसी धरातल पर केन्द्रित होती हैं। वाह्यतः उनमें भेद लक्षित होता है, किन्तु उनकी अंतरंग परिकल्पना में तत्त्व-चिन्तन की यही अन्तर्धारा गतिशील है। लोल्लट से ले कर सभी परवर्ती काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं में इस केन्द्रीय सूत्र का अनुसंधान किया जा सकता है। इस सूत्र के परिनिष्ठित विवेचन के लिए हमने प्राचीन काव्य-शास्त्र तथा नव्यालोचन की अवधारणाओं को समन्वित करके शास्त्रीय आधार पर परिभाषित करने का उपक्रम किया है। प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य के अनेकायामी स्वरूप को स्वायत्त करके ये सन्दर्भ काव्य-बोध के अनेकमुखी प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हैं। एक सार्थक और श्रेष्ठ अवधारणा का निकष वह ऐतिहासिक बोध है जो अतीत एवं वर्तमान की सर्जनात्मक अन्तश्चेतना को परिवेश एवं युगधर्म के अनुरूप प्रासंगिक बनाता है। विविध बोधों में अन्विति की अनिवार्यता असंदिग्ध है, किन्तु यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि वह अवधारणा आरोपित कुतूहल के स्थान पर सप्रश्नता को आमन्त्रित कर, पूर्वनिर्मित बोध या संस्कारों से मुक्ति दे कर, प्रमाता की जीवन-दृष्टि को बृहतर रचनात्मक संदर्भों के प्रति प्रतिबद्ध बनाये। साधारणीकरण की सरलीकृत व्याख्या इस दिशा में अवरोध उपस्थित कर सकती है। नव्य नाटक पात्र के किसी ऐसे एक आयामी व्यक्तित्व को उद्बुद्ध करने की अपेक्षा उसके अन्तरंग व्यक्तित्व में अनुविद्ध विसंवादी सूत्रों को अधिक उन्मीलित करते हैं। भट्टनायक की अवधारणा की सरलीकृत व्याख्या के अनुरूप उनके व्यक्ति वैशिष्ट्य के साधारणीकरण की समस्या यथावत् बनी रहती है। पात्रों का द्विधाग्रस्त व्यक्तित्व आधुनिक युग की कुण्ठित आत्म-निर्वासित मानसिकता की ही देन नहीं है, इसके मूल में मानव का चिरन्तन द्वैत व्यक्तित्व निहित है। राजतरंगिणी का राजा हर्षदेव अपने औद्धत्य, एवं औदात्य, मर्यादित एवं उच्छृंखल व्यक्तित्व के कारण प्रमाता की चेतना में ऋजु स्तर पर साधारणीकृत नहीं हो सकता।

उद्रिक्तशासनस्फूर्तिरुद्रिक्ताज्ञाक्षयक्षितिः ।
उद्रिक्तत्यागसंपत्तिरुद्रिक्तहरणग्रहा ।।

कारुण्योत्सेकसुभगा हिंसोत्सेकभयंकरी ।
सत्कर्मोत्सेकललिता पापोत्सेककलंकिता ।।

स्पृहणीया च वर्ज्या च वन्द्या निन्द्या च सर्वतः ।
निश्चोद्या त्रोपहास्या च काम्याशोच्या च धीमताम् ।।

आशास्या चापकीर्त्या च स्मार्या त्याज्या च मानसात् ।
हर्षराजाश्रया चर्चा कथा व्यावर्णयिष्यते ।। (कुलकम्)

नूनं स तैजसैरेव ससृजे परमाणुभिः ।
कुतोऽन्यथाऽभूत्प्रसवे दुष्प्रेक्ष्यो महतामपि ।।

न मर्त्येषु न देवेषु तद्वेषो दृश्यते क्वचित् ।
दानवेन्द्रेषु स प्राज्ञैः परमुत्प्रेक्ष्यते यदि ।।[1]

करुणा का आधिक्य, हिंसा की भीषणता, आचरण का लालित्य, पापाचार की बहुलता की द्वैत चेतना के कारण प्रमाता के भाव-बोध में स्पृहणीयता और वर्जनीयता, वन्दनीयता और निन्दनीयता, उपाहासास्पदता और कौतुकप्रदता, कमनीयता और शोचनीयता की विसंवादी अनुभूतियां समीकृत हो कर एक अद्भुत भाव-संवेग में परिणत हो जाती हैं। निश्चय ही प्रमाता अथवा आश्रय के स्तर पर सम्प्रेषण का ऋजु आयाम इसमें घटित नहीं होता। निर्विशेषीकरण का कोई सरलीकृत समाधान भी यहां उपयोगी नहीं है। कवि की अनुभूति अथवा आश्रय से तादात्म्यीकरण का प्रश्न भी यहाँ गौण रह जाता है। प्रमाता न एकान्त तन्मय हो पाता है और न निःसंग ही। अतः स्वीकृत अवधारणाओं की ऋजु रेखा की अपेक्षा उनके व्यापक समीकरण को आधार बनाना ही यहाँ युक्तिसंगत है। हर्ष की विशिष्ट प्रकृति साधारणीकरण में अवरोध उपस्थित नहीं करती। आनन्दवर्द्धन स्पष्टतः सामान्यीकृत वर्णन को सम्प्रेषण के अधिक अनुरूप नहीं मानते। कवि का स्वानुभूत होने के कारण काव्य-बिम्ब विशिष्ट तथा अनन्त होता है। कवि काव्य-विषय तो सामष्टिक चेतना के सामान्य बिम्बों से ही ग्रहण करता

---

[1] राजतरंगिणी, सप्तमस्तरंगः ८७०-८७५, (सं० रामतेज शास्त्री, काशी-१९६०) पृ० २४८-४९

है, किन्तु अभिव्यजना के स्तर पर उनका पुनरनुसंधान कर उन्हें विशिष्ट बना देता है। सहृदय जब अनुभव के निजी परिवेश के आधार पर उन बिम्बों को पुनरनुसधानित करता है तो वे अपने वैशिष्ट्य से मुक्त हो कर सामान्यीकृत संचेतना में परिवर्तित हो जाते हैं। लोल्लट भी अनुभूतियों के संश्लेषण की स्वीकृति के माध्यम से प्रमातृगत निर्वैयक्तिकता की जिस मनोभूमिका का आभास देते हैं, उसका निर्माण अनुसंधान के सूत्रों से ही हुआ है। प्रमाता की मनोभूमिका में अनुकार्य के बिम्ब में निहित सामष्टिक चेतना की जो पुनरुद्भावना होती है, वह मूलतः अनुकर्ता की उस द्वैत चेतना का ही प्रोद्‌मास है, तो एक स्तर पर अनुकार्य के सामष्टिक बिम्ब का अनुसंधान करती है तथा दूसरे स्तर पर प्रेक्षक की मनोभूमिका में भी अवतीर्ण होती है।

शंकुक भी विरुद्धबुद्धिजन्य रसानुभूति के स्वरूप की ओर इंगित करते हैं। चित्रतुरग-न्याय के आधार पर वे सामाजिक में विभावादि की कृत्रिमता की निषेध एवं स्वीकृतिपरक अनुभूति को व्याख्यायित करते हैं। चित्रगत अश्व प्रमाता के चित्त में स्थित आह्लादपरक अनुभूति में तभी समंजित हो सकता है, जबकि प्रयोजनातीत पूर्व ज्ञान के आधार पर उसका पुनरनुसंधान किया जाए। प्रेक्षक जैसे-जैसे अनुकर्ता में अवतरित अनुकार्य का अनुसंधान करता जाता है, वैसे-वैसे ही उसके विविध कोण प्रमाता की चेतना में अवतीर्ण होते जाते हैं। पात्र के इस अनेकमुखी व्यक्तित्व के क्रमिक अनुसंधान से ही नाटकीय तनाव की सृष्टि होती है तथा अनुसंधान का वृत्त प्रमाता की चेतना में पूर्ण होता है। शंकुक इसी तथ्य का पूर्वाभास देते हैं।

भट्टनायक का साधारणीकरणात्मा भावकत्व-व्यापार भी एकान्त रूढ़ अथवा गतिहीन अवधारणा नहीं है। यद्यपि इन अवधारणा का उपयोग पूर्व-निर्धारित स्थिर अथवा आदर्शीकृत चरित्रों की निर्विशेषीकृत अनुभूति के लिए किया गया है, किन्तु गतिशील चरित्रों के प्रति प्रमातृगत अनुक्रिया के विवेचन में भी इसकी सहायता अनिवार्य रूप से ली जा सकती है। यहाँ विभावादि के साधारणीकरण का आशय कृति की सर्जनात्मक संभावनाओं के अनुरूप चरित्र की उस गतिशील प्रकृति के उन्मीलन से है, जिसमें पात्र अपनी विशिष्ट संभावनाओं के अनुरूप क्रमशः अपनी प्रकृति को अर्जित एवं आचरण को परिभाषित करता है। अभिनव ने स्पष्टतः विशिष्टों के अन्तःप्रतिबिम्बन से

उद्भूत होने वाले निर्विशेषीकरण की अवधारणा में कृति के अनुरूप पात्र की सर्जनात्मक संभावनाओं के समानान्तर गतिशील प्रमाता के सामर्थ्य का बोध उद्भासित किया है। विश्वनाथ की साधारण्याभिमान की परिकल्पना भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें सामाजिक की ससीम मानसिकता में विराट् व्यापार के ग्रहण करने के सामर्थ्य को स्वीकृति दी गई है। इस प्रक्रिया में सामाजिक की ससीम मानसिकता में निःसीम चेतना की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा उद्भूत होती है। एक स्तर पर प्रमाता नायक अथवा पात्र की चेतना में अनुप्रविष्ट होता है, दूसरी ओर पात्र भी प्रमाता की चेतना के विविध स्तरों पर संक्रमित होने की प्रत्याशा जगाता है। रूपगोस्वामी ने भी विश्वनाथ की अवधारणा को स्वीकार किया है, किन्तु वे सामाजिक अथवा आस्वादयिता की विभावादि से समानुभूति के स्तर पर अपनी अवधारणा का विकास करते हैं। उनके अनुसार अर्वाचीन प्रमाता की अनुभूति का प्राचीन सामाजिकों के समान हो जाना ही साधारणीकरण है।

महिम ने भी प्रकारान्तर से साधारणीकरण की अवधारणा को ही अन्तः प्रतिबिम्बन सिद्धान्त के स्तर पर व्याख्यायित किया है। यह बात भिन्न है कि उन्होंने साधारणीकरण का उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार सहृदय का ग्रहणशील अन्तश्चेतन काव्यानुभूति ध्रुव है। अतः जो रति आदि भाव काव्यार्थ में उद्भिन्न होते हैं, उन के प्रतिबिम्ब प्रमाता के हृदय में संस्कार रूप में पूर्वतः विद्यमान रहते हैं, जो उनके साक्षात्कार से उद्बुद्ध हो जाते है। नाट्यदर्पणकार ने अन्ययोगव्यवच्छेद के सिद्धान्त का सूत्रपात कर रसानुभूति के इस प्रमुख सन्दर्भ कीं ओर ध्यान आकर्षित किया है कि काव्य नाटक में एक की अनुभूति दूसरे व्यक्ति की अनुभूति का निषेध नहीं करती, फलतः लोक में जो रसास्वाद विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित होता हैं, काव्य में साधारणीकृत होता है। व्यक्ति प्रमाता सामूहिक अनुभव-खण्ड का समान भोक्ता है। वह आयोगव्यवच्छेदेन उसका आस्वाद करता है। है। विभावन की प्रक्रिया के अन्दर वह पात्रों की मूल प्रकृति का क्रमशः अनुसंधान करता हुआ स्वयं को ही क्रमशः उद्घाटित करता चलता है।

उक्त अवधारणाओं के पर्यालोचन से कुछ अन्तःसूत्र ग्रहण किए जा सकते हैं यथा-लौकिक अनुभूति एक आयामी होती है। विविध अनुभूतियों से संश्लिष्ट हो कर यह निर्वैयक्तिक चेतना में रूपान्तरित हो जाती है। विभाव पात्रों के मौलिक स्वरूप को उपस्थित करते हैं तो संचारी भाव उनमें

वैविध्य का आयाम देते हैं संचारी और स्थायी का संश्लेष ही विभावों को प्रमाता की चेतना में निर्वैयक्तिक स्तर पर उपस्थित करता है । पात्र प्रमाता की चेतन में प्रकृतिमुक्त होकर आते हैं तथा पारस्थितिक प्रवाह में अपना विशिष्ट स्वरूप ग्रहण करते हैं। प्रमाता क्रमशः आत्मानुसंधान करता हुआ पात्रों कों अन्तश्चेतना में समाहित होता है। लोल्लट इस समाहिति को अनुभूति का संश्लेष, शंकुक विरुद्ध बुद्धियों का समन्वय, भट्टनायक स्थूल इतिवृत्त के मूल में निहित भाव-सत्य का अनुसंधान तथा अभिनव प्रमातृ चेतना का काव्यार्थ में आत्मानुप्रवेश कहते हैं। वस्तुतः इसकी केन्द्रीय अवधारणा पुनरनुसंधान की प्रक्रिया ही है जो उक्त सभी अवधारणाओं को अन्तर्भुक्त करती हुई काव्यबोध के बृहत्तर आयाम को परिभाषित करती है। इन सूत्रों के माध्यम से ही स्वीकृत अवधारणा के समानान्तर एक ऐसी व्यापक अवधारणा की परिकल्पना की जा सकती है जो आधुनिक मानसिकता के सन्दर्भ को भी व्याख्यायित कर सके। आधुनिक युग की सम्बन्धहीनता की यंत्रणा, आत्म-निर्वासित मनःस्थिति, मोह-भंग, अनिश्चय, अनिर्णय, एकाकीपन की यंत्रणा, मानवीय सम्बन्धों को एक सम्बोधनहीन स्थिति में परिणत कर देती हैं। प्रमाता काव्यार्थ के विभिन्न बिन्दुओं में से किसी एक स्तर पर संवादिता का अनुभव नहीं करता; वह समग्र एकात्मकता का नहीं' अनुभव-पुंजों को जीने का आकांक्षी है।

निष्कर्ष

विसंवादी पक्षों की समाहिति, अनुभूति की जटिलता में वृद्धि तथा सर्जनात्मक स्तर पर अनाकांक्षित तत्त्वों का सायास अनुसंधान प्रमाता के स्तर पर काव्य-बोध को एक विडम्बनापूर्ण बोध में परिवर्तित कर देता हैं। इस द्वन्द्वमयी स्थिति में अनुभूति सरलीकृत रूप में व्याख्यायित नहीं की जा सकती। नव्य साहित्य पूर्व निर्दिष्ट कलात्मक नियमों से ही नहीं, परिवर्तित युगबोध और परिवेश के अनुरूप नवीन कलामूल्यों से भी अनुशासित है। इस परिप्रेक्ष्य में साधारणीकरण की अवधारणा की सार्थकता और प्रासंगिकता पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा रखती है: पाश्चात्य और पौरस्त्य परम्पराओं से संस्कृत नव्य सर्जनात्मक चेतना के विश्लेषण के लिए अनिवार्यतः काव्यानुभूति की रागात्मक एवं बौद्धिक सम्प्रेषणीयता के आयामों को दृष्टि में रखना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि काव्यानुभव की सार्थकता अब

भी आत्म चेतना को बौद्धिकता के अतिरिक्त भार से मुक्त कर रागबोधात्मक अर्थवत्ता प्रदान करने में है, जिसके अभाव में काव्यानुभूति एक नि:संग यांत्रिक प्रक्रिया बन कर रह जाती है। जीवन के आन्तरिक और बाह्य निरर्थक बोध का प्रतिरोध उसी बौद्धिकता के शस्त्र से किया जा सकता है जिसके मूल में राग की अन्तर्धारा प्रवहमान है। इस परिप्रेक्ष्य में पुरातन तथा नव्य-साहित्य की अपेक्षाओं को काल के विकास-क्रम में गृहीत आधारभूत चिन्तन के आलोक में ही परखना प्रासंगिक है।

सर्जनात्मक अपेक्षाओं के अनेकायामी सन्दर्भ तथा साधारणीकरण के स्वीकृत प्रतिमानों को समानान्तर रख कर कुछ निष्कर्षों पर विचार किया जा सकता है। कवि का निजी विशिष्ट अनुभूति-परिवेश ही कवि-प्रतिभा की मौलिकता और क्षमता को प्रमाणित करता है, किन्तु मौलिकता परम्परा से एकान्त मुक्त नहीं होती। यह समष्टि-सत्य का कवि की प्रामाणिक अनुभूति के स्तर पर पुनरनुसंधान है। निश्चय ही प्रमाता भी अपना एक विशिष्ट मौलिक अनुभूति-परिवेश रखता है, किन्तु युग-युगान्त के संचित संस्कार और अनुभव-खण्ड आद्य बिम्बों के रूप में अबोध-पूर्व स्मृति-परिवेश का निर्माण करते हैं। प्रमाता की वृत्ति अनुकार्य की भावात्मक अनुक्रिया के मौलिक बिम्बों अथवा प्ररूपों में समष्टि सत्य का पुनरनुसंधान करती है। अत: राम अथवा कृष्ण के मौलिक स्वरूप का धूमिल बोध प्रजातीय बिम्बों के रूप में प्रमाता के समष्टिगत अवचेतन में निहित रहता है। उल्लेखनीय यह है कि कवि के अन्तश्चेतन में निहित आदर्श-बिम्ब जब उसके कृतित्व में प्रतिफलित हो कर मूर्त होता है तो क्रमश: उसकी वैयक्तिकता पीछे छूटने लगती है तथा वह बिम्ब मानवीय आदर्श की क्रियाशीलता में मूर्त होने के लिए मुक्त हो जाता है। राम कवि के कृतित्व में अभिव्यंजित हो कर कवि की अनुभूति के प्रतिरूप ही नहीं उसके अनुभव-खण्ड के सहभोक्ता बन जाते हैं। वे पारिस्थितिक द्वन्द्व की अपेक्षाओं के अनुरूप आचरण करते हैं। कवि अपनी अनुभूति और विचारों के अनुरूप उन्हें जो संवेदनाएं देता है, वे परिस्थितिगत अनुभूति के प्रवाह में गुणात्मक स्तर पर तीव्र, मध्यम या परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार कवि की वैयक्तिकता से मुक्त पात्र क्रमश: परिस्थितियों के आवर्त-विवर्त में अपनी अनुभूति अर्जित करता है। प्रमाता भी उसी के समानान्तर समष्टिगत सत्य का पुनरनुसंधान करता हुआ राग और विवेक के स्तर पर उनसे समीकृत होता है। इस संदर्भ में औचित्य की निर्णायक

भूमिका होती है। परिस्थिति विशेष में पात्रों का अपने मौलिक स्वरूप के अनुरूप व्यवहार औचित्य की विशिष्ट भूमिका है। प्रमाता के स्तर पर सीता को प्रणयमुग्धा कामिनी की भाँति आचरण करते हुए देखना एक प्रत्याशित भाव-दशा का ही साक्षात्कार है।

काव्यानुभूति के क्षण में कवि की विशिष्ट अनुभूति, अभिव्यंजनागत उपकरणों का वैशिष्ट्य तथा प्रमाता की निजी भाव-सृष्टि काव्य-बोध के वृत्त को पूर्ण करती है। यह वैशिष्ट्य एक स्तर पर अपना मौलिक अस्तित्व रखता है तथा दूसरे स्तर पर समष्टि चेतना का पुनरनुसंधान है। प्रमाता कवि के विशिष्ट अनुभूति परिवेश को इसी शब्दार्थमयी सृष्टि अर्थात् अभिव्यंजनात्मक उपादानों में उन्मीलित होते हुए देखता है। ये अभिव्यंजनात्मक उपादान सामान्य लोक जीवन से गृहीत कवि की अनुभूति को मानव-चेतना के अधिकाधिक व्यापक स्तरों पर संक्रमित करते हैं। ये उपकरण प्रमाता की चेतना से बाह्य परिवेश को उसकी चेतन परिधि में समाहित करने के लिए संघर्षरत रहते हैं। प्रमाता को चेतन स्तर पर उनका वरण करना है तथा अपनी अन्त: परिधि में परिभाषित करना है। मुख की सुन्दरता बाह्य जगत् का उपादान है। प्रमाता की अन्तश्चेतना पर उसका बिम्ब उभरता है। कमल भी बाह्य उपादान है, किन्तु वह अन्तश्चेतना में संस्कार के स्तर पर विद्यमान है। मुख उसके सम्पर्क में आते ही एक नये सन्दर्भ में आलोकित तथा एक नये स्तर पर परिभाषित होता है। लोक के सीमित परिवेश से निकल कर वह भाव जगत् की असीमित भूमि में संचरण के लिए मुक्त हो जाता है। जिसे भट्टनायक ने अलंकार-संस्कृति कहा है वह मूलत: जड़ का चैतन्यमय आह्लाद है। यह प्रस्तुत का अप्रस्तुत के स्तर पर अन्तर्भावन है, जो स्थूल इतिवृत्त (राम, सीता आदि के नामरूपात्मक जगत्) के मूल में निहित भाव-सत्य (कान्तात्व) का पुनरनुसंधान है।

इस प्रकार अन्त में हमारे सम्मुख दो अवधारणाएँ शेष रह जाती हैं—एक अवधारणा विभावन-प्रक्रिया से सम्बद्ध है, जिसमें प्रमाता स्वयं को काव्य-प्रक्रिया के माध्यम से उद्घाटित करता है। पात्र अभिव्यंजनात्मक अपेक्षाओं के अनुरूप अपनी मूल प्रकृति अर्जित करते हैं तथा प्रमाता उनके माध्यम से आत्मानुसंधान करता हुआ राग और विवेक के दुहरे स्तर पर तन्मय एवं नि:संग होता है। दूसरी अवधारणा वैशिष्ट्य-मुक्ति से सम्बद्ध है। कवि और प्रमाता—दोनों का विशिष्ट अनुभूति-परिवेश अभिव्यंजनात्मक

उपकरणों में अन्त: प्रतिबिम्बित होकर निर्विशिष्ट होता है। प्रमाता जब अभिव्यंजनात्मक उपकरणों में अध्यवसित कवि की अनुभूति का साक्षात्कार करता है तो एक स्तर पर वह उसे कवि की विशिष्ट अनुभूति की अपेक्षा समष्टि की अनुभूति के रूप में ग्रहण करता है तो दूसरे स्तर पर अभिव्यंजनात्मक उपकरणों को विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त कर भाव-सत्य की नि:सीम विवृतियों का भी अन्त:साक्षात्कार करता है। क्रमश: उसके विशिष्ट भाव-परिवेष में कवि की विशिष्ट अनुभूति तथा अभिव्यंजनात्मक माध्यम की विशिष्टता अन्त:प्रतिविम्बित होकर अपने वैशिष्ट्य से मुक्त साधारणीकृत होती हैं। प्रथम अवधारणा भट्टनायक की है, दूसरी अभिनवगुप्त की। प्रथम स्वरूप है द्वितीय इसकी प्रक्रिया। दोनों के मध्य अन्त: सूत्र यह है कि कवि के विशिष्ट अनुभूति-परिवेश के समानान्तर प्रमाता भी अपने अनुभूति-परिवेश का शब्दार्थमयी सृष्टि में निहित समष्टि सत्य का पुनरनुसंधान करता है। इस समष्टि-बोध के धरातल पर कवि काव्यार्थ तथा प्रमाता सहभोक्ता बनते हैं। कवि अपनी अनुभूति को अपने स्तर पर ग्रहण करता है, पात्र अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप उस अनुभूति को जीते और प्रतिक्रिया करते हैं, तथा प्रमाता उस अनुभव-खण्ड का अपने अनुभव-परिवेश के समानान्तर पुनरनुसंधान करता है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

१. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग : सम्पादक तथा अनुवादक रामलाल वर्मा। नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९५९ ई०।

२. अभिधावृत्तिमातृका : मुकुलभट्ट, सम्पादक - मंगेश रामकृष्ण तैलंग निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१६ ई०।

३. अभिनवभारती (प्रथम भाग) : अभिनवगुप्त, सम्पादक - रामकृष्ण कवि, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा, प्रथम सं० १९२६ ई०

४. अभिनवभारती (प्रथम भाग) : अभिनवगुप्त, सम्पादक - रामस्वामी शिरोमणि, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा, द्वितीय सं० १९५६ ई०।

५. (हिन्दी) अभिनवभारती : अभिनवगुप्त, भाष्यकार - आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी-विभाग, दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली प्रथम सं०, १९६० ई०।

६. अलंकारकौस्तुभ : कवि कर्णपूर गोस्वामी, वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी सीरीज, बंगाल, १९२६ ई०।

.७ अलंकार-महोदधि : नरेन्द्र प्रभ सूरि, ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९४२ ई०।

८. अलंकार-शेखर : केशव मिश्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीयावृत्ति, १९२६ ई०।

९. एकावली : विद्याधर, हैदराबाद, सं०, १९८१ ई०।

१०. उज्ज्वलनीलमणि : रूपगोस्वामी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२ ई०।

११. औचित्य-विचार-चर्चा : क्षेमेन्द्र, सम्पादक डा० मनोहरलाल गौड़, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़।

१२. काव्यप्रकाश : मम्मट (प्रदीप : गोविन्द ठक्कुर, उद्योत: नागेश), आन्दाश्रम संस्कृत-ग्रन्थावली, १९२९ ई०।

१३. काव्यप्रकाश : मम्मट, व्याख्याकार - आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय सं०, त्रि० सं० २०१८।

१४. काव्यप्रकाश : मम्मट (बालबोधिनी : वामन झलकीकर) भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, चतुर्थ सं० १९२१ ई०।

१५. काव्यप्रकाश (अन्य टीकाएं) संकेत : माणिक्यचन्द्र, विवेक - श्रीधर, सम्प्रदाय प्रकाशनी - श्री विद्या चक्रवर्तिक, दीपिका - चण्डीदास, साहित्यचूडामणि - श्री भट्ट गोपाल, बालचित्तानुरञ्जनी - नरहरि सरस्वती तीर्थ, सारबोधिनी -श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य, काव्यप्रकाश दर्पण: - विश्वनाथ, सुधासागरी-भीमसेन।

१६. काव्यप्रदीप : गोविन्द (वैद्यनाथ तत्सत्-टीका-सहित), काव्यमाला २४, निर्णयगसार प्रेस, बम्बई, तृतीयावृत्ति, १९३३ ई०।

१७. काव्यपरीक्षा : श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य, सम्पादिता - वैद्योपाह्व श्रीपरशुरामशर्मणा, मिथिलाविद्यापीठप्रधानेन, १९५६ ई०।

१८. (हिन्दी) काव्यमीमांसा : राजशेखर, व्याख्याकार - डा० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम सं० वि० सं० २०२१। तथा केदारनाथ सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६५ ई०

१९. काव्यविलास : चिरंजीव भट्टाचार्य, सरस्वती भवन टैक्स्ट्स, बनारस, १९२५ ई०।

२०. काव्यादर्श : दण्डी, व्याख्याकार - आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, वि० सं० २०१५।

२१. काव्यानुशासन : वाग्भट द्वितीय, काव्यमाला ४३, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, प्रथम सं० १९१५ ई०।

२२. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, विक्रमाब्द, १९६४ ई०।

२३. काव्यालंकार : भामह, भाष्यका देवेन्द्र शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, विक्रमाब्द २०१९।

२४. काव्यालंकार : रुद्रट, व्याख्याकार - डा० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० १९६५ ई०।

२५. काव्यालंकार-कारिका : रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा, वाराणसी, १९७७ ई० ।

२६. काव्यालंकारसारसंग्रह (लघुवृत्तिसमेतः) : उद्भट (प्रतिहारेन्दुराज), सम्पादक - नारायणदास बनहट्टी, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, प्रथम सं० १९२५ ई० । तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६६ ई० ।

२७. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : वामन, सम्पादक - डा० नगेन्द्र, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५४ ई० ।

२८. काव्येन्दु-प्रकाश : श्री कामराज दीक्षित, सम्पादक - बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६९ ई० ।

२९. चन्द्रालोक : जयदेव, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम सं० १९६६ ई० ।

३०. चमत्कारचन्द्रिका : विश्वेश्वर कविचन्द्र, सम्पादिका - डा (श्रीमती) पन्दिरि सरस्वती मोहन, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, १९७२ ई० ।

३१. दशरूपक (अवलोकसहित) : धनंजय (धनिक), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पंचम सं० १९४१ ई० ।

३२. (हिन्दी) दशरूपक : धनंजय, व्याख्याकार - डा० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय सं० वि० सं० २०१९ । तथा नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, (द्विवेदी), राजकमल, दिल्ली, १९७१ ।

३३. ध्वन्यालोक ('लोचन' सहित) : आनन्दवर्धन (अभिनवगुप्त), हिन्दी व्याख्याकार - जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम सं० वि० सं० २०२१ ।

३४. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, व्याख्याकार - आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम सं० वि० सं० २०१९ ।

३५. ध्वन्यालोक (टीकाएँ) बालप्रिया (रामषारक), तारावती : डा० रामसागर त्रिपाठी ।

३६. नाटकलक्षणरत्नकोश : सागरनन्दी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, प्रथम सं० १९७२ ई० ।

३७. (हिन्दी) नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र, प्रधान सम्पादक-डा० नगेन्द्र, हिन्दी-विभाग, दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम सं०, १९६१ ई० ।

३८. **नाट्यशास्त्र :** भरत, काव्यमाला ४२, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय सं० १९४३ ई० ।

३९. **नाट्यशास्त्र :** भरत, काशी संस्कृत सीरीज ६०, प्रकाशक - चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९२९ ई० ।

४०. **नाट्यशास्त्र (भाग १) :** भरत, अनुवादक - डा० रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम सं० १९६४ ई० ।

४१. **नाट्यशास्त्र :** (स०) मधुसूदन शास्त्री, (हिन्दू विश्वविद्यालय), १९७१

४२. **प्रतापरुद्रीय :** विद्यानाथ, मद्रपुरी संस्कृत विद्या समिति, मद्रास, १९७० ई० ।

४३. **प्रीतिसंदर्भ :** जीव गोस्वामी, कलकत्ता, १९०१ ई० ।

४४. **(हिन्दी) भक्तिरसामृतसिन्धु :** रूप गोस्वामी, सम्पादक - डा० विजयेन्द्र स्नातक, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम सं० १९६३ ई० ।

४५. **भक्तिरसामृतसिन्धु (दुर्गमसंगमनी) :** रूप गोस्वामी (जीवगोस्वामी), अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० सं १९८८ ।

४६. **भगवद्भक्तिरसायन :** मधुसूदन सरस्वती, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय काशी, वि० सं० १९८४ ।

४७. **भावप्रकाशन :** शारदातनय, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ोदा, द्वितीय सं०, वि० सं० १९६८ ई० ।

४८. **मन्दारमरन्दचम्पू :** श्रीकृष्ण कवि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२४ ई०

४९. **महाभारत (षष्ठ खण्ड) :** वेदव्यास, अनुवादक - पं० रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम', गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय सं०, वि० सं० २०२९ ।

५०. **रसगंगाधर :** पण्डितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय सं०, वि०सं० २०२७ तथा हिन्दू बिश्वविद्यालय, सं० ६०२०

५१. **रसकल्पद्रुम :** जगन्नाथ मिश्र, ओडिशा साहित्य एकादमी, १९६५ ई०

५२. **रसचन्द्रिका :** विश्वेश्वर पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, सिटी, १९२६ ई० ।

५३. **रसतरंगिणी :** भानुदत्त, अनुवादक - गोपालदत्त जोशी, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम सं० १९७४ ई० ।

५४. रसदर्शनम् : डा० रमेशचन्द्र शुक्ल, देववाणी-परिषद् दिल्ली, प्रथम सं०, आर ६, वाणी-विहार, नयी दिल्ली ११००५९, १९८२ ई० ।

५५. रसदीर्घिका : विद्याराम, सम्पादक - पं० गोपालनारायण बहुरा, राजस्थानपुरातत्त्वान्वेश५ मंदिर, जोधपुर, १९५९ ई० ।

३६. रसप्रदीप : प्रभाकर भट्ट, गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, १९२५ ई० ।

५७. रसमंजरी : भानुदत्त, श्रीहरिकृष्णनिबन्ध भवन, बनारस द्वितीय सं० वि० सं० २००८ ।

५८. रसमीमांसा : गंगाराम जडी, सम्पादक - डा० पुष्पेन्द्रकुमार शर्मा, श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, नई दिल्ली, १९७३-७४ ई० ।

५९. रसरत्नप्रदीपिका : अल्लराज, सम्पादक - रा०ना० दांडेकर, भारतीय विद्या भवन बम्बई, १९४५ ई० ।

६०. रसरत्नहार ('काव्यमाला' में संगृहीत) : शिवराम त्रिपाठी, निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय सं०, १९३० ई० ।

६१. रसविलास : भूदेव शुक्ल, पूना ओरिएण्टल हाऊस, १९५२ ई० ।

६२. रसविवेक (अपरनाम काव्यादर्श) : सौजन्यभूषणकवेरनुज, श्री तिरुमल, तिपरुति देवस्थान, तिरुपति, १९५६ ई० ।

६३. रसार्णवसुधाकर : शिगभूपाल, संस्कृत परिषद् सागर विश्वविद्यालय, सागर, १९६९ ई० ।

६४. शृङ्गारतिलक : रुद्रभट्ट, काव्यामाला ३, निर्णयसागर प्रेंस; बम्बई, १८९९ ई० ।

३५. शृङ्गारप्रकाश : भोजराज, कारोनेशन मुद्रणालय; मैंसूर, १९५५ ई० ।

६६. शृङ्गारार्णव चन्द्रिका : श्री विजयवर्णि विरचित, सम्पादक - डा० वामन महादेव कुलकर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, १९६९ ई० ।

६७. सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजराज, नारायण यन्त्र, कलकत्ता, द्वितीय सं० १८९४ ई० ।

६८. साहित्य-कौमुदी : विद्याभूषण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९७ ई० ।

६९. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, श्री शालग्रामशास्त्री कृत विमला व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, षष्ठ सं०, १९७० ई० ।

७३. साहित्यदर्पण (टीकाएँ) लोचन : अनन्तदास, विज्ञप्रिया - भट्टाचार्य महेश्वर, साहित्यदर्पणविवृति-रामचरण, साहित्यदर्पण-विवृतिपूर्ति-

श्री दुर्गा प्रसाद द्विवेदी, विमला-श्री जीवानन्द विद्यासागर, लक्ष्मी-आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री, शशिकला हिन्दी व्याख्या-डा० सत्यव्रतसिंह ।

७०. साहित्यबिन्दु : पं० छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर, प्रकाशक-मेहरचन्द लक्ष्मण दास, १९६१ ई० ।

७१. साहित्य मीमांसा : अज्ञातकर्तृक (अथवा मंखुक ?) अनन्तशयन ग्रन्थावलि, १९३४ ई० ।

७२. साहित्यसार : अच्युतराव, संशोधनकर्त्ता - पणशीकर वासुदेव शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९०६ ई० ।

७४. साहित्य सुधा सिन्धु : आचार्य विश्वनाथ देव, भारतीय विद्याप्रकाशन, दिल्ली, १९७८ ई० ।

७५. (हिन्दी, वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक, व्याख्याकार - आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली वि० वि० की ओर से आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, वि० सं० २०१२ ।

७६. (हिन्दी) व्यक्तिविवेक : महिमभट्ट, हिन्दी व्याख्याकार पं० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, वि० सं० २०२१ ।

७७. वाग्भटालंकार : वाग्भट प्रथम, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, वि० सं० २०१३ ।

७८. वीरतरंगिणी : चित्रधर, दरभंगा, १९६५ ई० ।

काव्यशास्त्रेतर संस्कृत-ग्रन्थ

१. अनर्घराघवम् : मुरारि, (सं० रामचन्द्र मिश्र), चौखम्बा, वाराणसी, १९६० ।

२. अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदास (सं० जीवानन्द भट्टाचार्य), कलकत्ता १९१४ ।

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम् : कालिदास (राघवभट्टकृतटीकया समेतम्) (सं० एम० आर० काले), गोपाल नारायण एण्ड कं०, बम्बई, १९२० ।

४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी : अभिनवगुप्त (सं० मधुसूदन कौल शास्त्री), काश्मीर-संस्कृत ग्रन्थावली, १९४३।

५. ईशादि नौ उपनिषद् : (सं० हरिकृष्णदास गोयन्दका), गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२९।

६. ईशावास्योपनिषद् : शांकर भाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१७।

७. उत्तररामचरितम् : भवभूति (घनश्याम कृत संजीवनी सहित) सं० पी०वी० काणे), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६२।

८ उत्तररामचरितम् : भवभूति (वीरराघवकृतया टीकया समेतम्) सं० जगदीश शास्त्री मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९४०।

९. ऋग्भाष्यसंग्रह : (सं० देवराज चानना), मुन्शीराम मनोहरलाल, देहली, १९६७।

१०. ऋग्वेद, यजुर्वेद अथर्ववेद (प्रकीर्ण उद्धरण)।

११ कादम्बरी : बाणभट्ट (सं० श्रीकृष्णमोहन शास्त्री), चौखम्बा, वाराणसी, १९६१।

१२. कामसूत्रम् : वात्स्यायनमुनि (सं० देवदत्त शास्त्री), चौखम्बा, वाराणसी, १९६४।

१३. कालिदास-ग्रन्थावली : (सं० रामप्रताप त्रिपाठी), किताब महल, इलाहाबाद, सं० २०२२।

१४. छान्दोग्योपनिषद् : (शांकर भाष्य सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२८।

१५. तंत्रवार्तिक : कुमारिल (उद्धरण, मीमांसा,—न्याय प्रकाश से)

१६. नागानन्दम् : श्रीहर्षदेव (सं० बलदेव उपाध्याय), चौखम्बा, बनारस, १९४८।

१७. निरुक्तम् : यास्काचार्य (सं० वैजनाथ काशिनाथ राजवाडे), भाण्डारकार प्राच्य-विद्या मन्दिर, १९४०।

१८. नैषधीयचरितम् : श्रीहर्ष (सं० नारायण राम आचार्य), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९५२

१९. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् : क्षेमराज (सं० जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय), काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११।

२०. **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** : क्षेमराज (सं० जयदेव सिंह), मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९७७ ।

२१. **प्रमाणवार्तिक** : धर्मकीर्ति (प्रकीर्ण उद्धरण) ।

२२. **प्रसन्नराघवम्** : जयदेव (सं० रमाशंकर त्रिपाठी), मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, १९७० ।

२३. **बृहदारण्यकोपनिषद्** : (शांकर भाष्य सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२९ ।

२४. **भासनाटकचक्रम्** : (सं० सी० आर० देवधर), ओरियण्टल बुक एजेंसी पूना, १९६२ ।

२५. **महाभाष्यम्** : पतंजलि (सं० पण्डित वेदव्रत), हरियाणा साहित्य संस्थान, झज्जर, १९६३ ।

२६. **मीमांसान्यायप्रकाश** : आपदेव (सं० महादेव शर्मा, नारायण राम आचार्य), निर्णयसागर १९४३ ।

२७क. **मृच्छकटिकम्, शूद्रक** : सं० जीवानन्द विद्यासागर, कलिकाता, १८८१

२७ख. **मुद्राराक्षसम्** : (मेरठ), १९६२ ।

२८. **राजतरंगिणी** : कल्हण (सं० रामतेज शास्त्री), पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९६० ।

२९. **योग-दर्शन** : पतंजलि सं० हरिकृष्णदास गोयन्दका), गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२८ ।

३०. **रत्नावली** : श्रीहर्षदेव (सं० रामचन्द्र मिश्र), चौखम्बा - संस्कृत सीरीज, बनारस, १९५३ ।

३१. **लघुकौमुदी** : वरदराज (सं० जैम्स आर० बैलेन्टाइन), मोतीलाल बनारसीदास, १८६७ ।

३२. **वाक्यपदीयम्** : भर्तृहरि (सं० सत्यकाम वर्मा), मुन्शीराम मनोहर लाल, नई दिल्ली, १९७० ।

३३. **विदुरनीति** : सं० हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२७ ।

३४. **वेणीसंहारम्** : भट्टनारायण (जगद्धरकृतया टिप्पण्या समेतम्), निर्णय सागर, शक सं० १८४६ ।

३५. **वेदान्तसार** : सदानन्द (सं० रामशरण त्रिपाठी शास्त्री) चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६८ ।

३६. श्रीमद्भगवद्गीता : शांकर भाष्य (सं० हरिकृष्णदास गोयन्दका), गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२८।

३७. श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण (प्रथम एवं द्वितीय भाग) : गीता प्रस, गोरखपुर, सं० २०२४ :

३८. शब्दकल्प-द्रुम (खण्ड २) : सं० राधाकान्ता देव, मोतीलाल बनारसीदास, १९६१।

३९. शैव-उपनिषद् : उपनिषद् ब्रह्मयोगी (सं० महादेव शास्त्री), अडयार, मद्रास, १९५०।

४०. सर्वदर्शन संग्रहः : श्री मन्माधवाचार्य (सं० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'), चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४।

४१. संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६।

४२. सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण (सं० डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९।

४३. सांख्यकारिका (तत्त्वकौमुदी सहित) : सं० रामशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७।

४४. सिद्धान्तकौमुदी : भट्टोजि दीक्षित (बाल मनोरमासहित), सं० शंकरराम शास्त्री, मद्रास, मैलापूर, १९२९।

४५. सुभाषित-रत्न : भाण्डागारम् (सं० नारायणराम आचार्य), निर्णय-सागर, बम्बई, १९५२।

४६. हनुमन्नाटकम् : सं० जगदीश मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९६७।

हिन्दी-मराठी-बंगला ग्रन्थ

१. अथातो सौंदर्य जिज्ञासा : रमेश कुंतल मेघ; मैकमिलन, दिल्ली, १९७७ ई०

२. अभिनव का रस-विवेचन : नगीनदास पारेख, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७४ ई०।

३. आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन : डा० मनोहर काले, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्रा०) लि०, बम्बई, १९७२ ई०।

४. **कला, कल्पना और साहित्य :** डा० सत्येन्द्र, साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा, सं० २०१३ ।

५. **कविता के नये प्रतिमान :** नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६८ ई० ।

६. **काव्यदर्पण :** पं० रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना-४, १९५५ ई० ।

७. **काव्य में अभिव्यंजनावाद :** लक्ष्मी नारायण सुधांशु, ज्ञानपीठ प्रा० लिमिटेड, पटना, सं० २००७ ।

८. **काव्यविचार :** सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, मित्र ओ घोष, कलकत्ता, द्वितीय मुद्रण, १९३६ ई० ।

९. **काव्यशास्त्र :** डा० भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, द्वितीय सं० १९६३ ई० ।

१०. **काव्य-शिल्प के आयाम :** सुलेख शर्मा, आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, १९७१ ई० ।

११. **काव्यालोक-:** डा० सुधीर कुमार दास गुप्ता, कलकत्ता, १९७२ ई० ।

१२. **काव्यालोचन :** द० के० केलकर, मनोहर ग्रन्थमाला प्रकाशन, पूना, तृतीय सं० १९५६ ई० ।

१३. **चिन्तामणि :** रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३९ ई० ।

१४. **तारसप्तक :** सम्पादक . सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय सं० १९६६ ई० ।

१५. **दूसरा सप्तक :** सम्पादक - सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली १९५१ ई० ।

१६. **नयी कविता और रस-सिद्धांत :** डा० सुन्दरलाल कथूरिया, विद्यार्थी प्रकाशन, दिल्ली, १९७७ ई० ।

१७. **नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ :** जगदीश गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७१ ई० ।

१८. **नये प्रतिमान : पुराने निकष :** लक्ष्मीकान्त वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६६ ई० ।

१९. **भवन्ती :** अज्ञेय, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९७२ ई० ।

२०. **भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा :** सम्पादक - डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९७६ ई० ।

२१. भारतीय काव्य सिद्धान्त : सम्पादक - आचार्य काका कालेलकर, डा० नगेन्द्र, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६९ ई० ।

२२. भारतीय समीक्षा : सम्पादक डा० नगेन्द्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९७५ ई० ।

२३. भारतीय साहित्य-शास्त्र : ग० त्र्यं० देशपांडे, पाप्युलर बुक डिपो, वम्बई, १९५८ ई० ।

२४. भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की भूमिका : फतहसिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९६७ ई० ।

२५. मध्यकालीन बोध का स्वरूप : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़, १९७० ई० ।

२६. मध्ययुगीन रस-दर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध : रमेश कुन्तल मेघ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १९६९ ई० ।

२७. महिम भट्ट : डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६८ ई० ।

२८. मार्क्सवाद और साहित्य : महेन्द्रचन्द्र राय, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी. १९५७ ई० ।

२९. रस और रसास्वादन : डा० हरद्वारी लाल शर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, शक संवत् १८८५ ।

३०. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन : डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, भारत प्रकाशन, अलीगढ़ प्रथम सं० १९६२ ई० ।

३१. रस प्रक्रिया : डा० शंकर देव अवतरे, दी मैकमिलन, दिल्ली, १९७५ ई० ।

३२. रस मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल, ना०प्र० सभा, काशी, सं० २०२३ ।

३३. रस-विमर्श : डा० के ना० नाटवे, विद्याधर हरि दामले, नवीन किताब खाना पुणे, १९४२ ई० ।

३४. रस-विमर्श : डा० राममूर्ति त्रिपाठी, विद्या मन्दिर, वाराणसी, प्रथम सं० १९६५ ई० ।

३५. रस-सिद्धान्त : डा० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, द्वितीय सं० १९६९ ई० ।

३६. रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र : निर्मला जैन, नेशनल, दिल्ली, १९६७ ।

३७. **रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन :** डा० गणपति चन्द्रगुप्त, नेशनल, १९७१

३८. **रससिद्धान्त का सामाजिक मूल्यांकन :** डा० (कु०) दुर्गा दीक्षित, पुणे विद्यापीठ १०७४ ई०।

३९. **रस सिद्धान्त की प्रमुख समस्याएँ :** डा० सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, १९७४ ई०।

४०. **रस-सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष :** डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, अजन्ता पब्लिकेशन, दिल्ली, १९७४ ई०।

४१. **रस सिद्धान्त (नए सन्दर्भ) :** नन्द दुलारे वाजपेयी, मैकमिलन, दिल्ली, १९७७ ई०।

४२. **रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण :** डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल, १९६० ।

४३. **समालोचक :** (सं) डा० रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सं० २०१४।

४४. **साधारणीकरण (एक शास्त्रीय अध्ययन) :** डा० रामलखन शुक्ल, साहित्य सदन, देहरादून, १९६७ ई०।

४५. **वाङ्मय-विमर्श :** पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दी-साहित्य-कुटीर, वाराणसी, चतुर्थ सं०, वि० सं० २०१४।

४६. **साहित्य कला :** डा० रामानन्द तिवारी 'भारती नन्दन', भारती पुस्तक मन्दिर, भरतपुर, १९७० ई०।

४७. **साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य :** डा० रघुवंश, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९६८ ई०।

४८. **साहित्य की समस्याएँ :** शिवदान सिंह चौहान, आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली, १९५९ ई०।

४९. **साहित्यशास्त्र :** डा० रामकुमार वर्मा, साकेत प्रकाशन, इलाहाबाद, १८५५ ई०।

५०. **साहित्य-सहचर :** आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नेवैद्य निकेतन, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी, १९६८ ई०।

५१. **साहित्यालोचन :** डा० श्यामसुन्दर दास, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, वि० सं० १९९९।

५२. **सिद्धान्त और अध्ययन :** गुलाबराय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९५१ ई०।

५३. स्वतन्त्र कलाशास्त्र (प्रथम भाग) : डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत, प्रथम सं०, १९६७ ई० ।

५४. हिन्दी-काव्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त : डा० सच्चिदानन्द चौधरी, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर १९६५ ई० ।

ENGLISH-BOOKS

1. Abrams, M.H.; A Glossary of Literary Terms; The Macmillan Company of India; 1978.
2. Bentley, Eric: The Life of Drama; Methuen and Co., Ltd., London, 1966.
3. Bosanquet, Bernard, A History of Aesthetics, London, 1922.
4. Boulton, Marjorie. The Anatomy of Drama; Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1960.
5. Brooks, Cleanth. The Well Wrought Urn; Methuen; London; 1968.
6. Burke, Kenneth; A Grammar of Motives, Prentice-Hall, New York, 1945.
7. Butcher, S.H., trans., Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, London, 1895.
8. Caudwell, Christopher, Illusion and Reality. New Delhi, 1959.
9. Chatterji, J.C.: Kashmir Shaivism; Srinagar, 1962.
10. David, I Grossvogel, Four Play wrights, Cornell University-1962.
11. Dravid, Raja Ram; The Problem of Universals in Indian Philosophy; Motilal Banarsidas, Delhi; 1972.
12. Esslin, Martin: The Theatre of the Absurd; London, 1962.
13. Frye, Northrop; Anatomy of Criticism : Princeton, 1957.
14. Gilbert, Katharine Everett and Kuhin. Helmut, A History of Esthetics, New York, 1939.
15. Gnoli, Raniero, The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, Varanasi, 1968.

16. Handy, And Westbrook; (Ed,) Twentieth Century Criticism; Light and Life Publishers, Delhi, 1976.
17. Indian Aesthetics And Art Activity; (Ed.) Indian Institute of Advanced Study; Simla; 1968.
18., Jowett, B., trans., The Dialogues of Plato, In 5 Vols., London, 1892.
19. Karnani, Chetan; Criticism, Aesthetics And Psychology, Arnold-Heinemann India 1977.
20. Mainkar, T.G; The Rgvedic Foundations of Classical Poetics; Ajanta Publications Indian. 1977.
21. Marx, Engels; On Literature and art; Progress Publishers, Moscow, 1978.
22. Maud. Bodkin; Archetypal Patterns in Poetry; Oxford University Press, London, 1971.
23. Mukherji, Ramaranjan, Literary Criticism in Ancient India, Calcutta, 1966.
24. Nicoll, Allardyce; The Theory of Drama; Doaba House, Delhi, 1969.
25. Nostrand van Albert D; (Ed.) Literary Criticism in America; The Liberal Arts Press, New York; 1957
26. Pandey, K.C-, Comparatative Aesthetics, Varanasi, 1959.
27. Paull; H M. Literary Ethics, 15, Bed Ford Street, Lpndon. 1928.
28. Philip, Hobsbaum; A Theory of Communication. Macmillan; 1970.
29. Rader, Melvin, A Modern Book of Aesthetics, New York, 1966.
30. Radha Krisanan, S., Indian Philosophy, London, 1958.
31. Richards. I.A., Coleridge on Imagination, London, 1934.
32. Richards, I.A. Ogden, C.K., And Wood, James, The Foundations of Aesthetics, London, 1922.
33. Sankaran, A., Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit or The Theories of Rasa and Dhvani, Delhi, 1973.
34. Santayana, George, The Sense of Beauty : Being The Outline of Aesthetic Theory, London, 1896.

35. Sastri, Kuppuswami, Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit : Research Institute, Madras; 1945.
36. Sivaraman, K; Saivism In Philosophical Perspective; Motilal Banarsidass, Delhi, 1973.
37. Slotoff, J. Walter: Dimensions of Literary Response: Cornell University Press London; 1970.
38. Styan, J.L.; The Dark Comedy; Cambridge University Press; 1968
Wellworth, G.E; The Theatre of Protest and Paradox; Berkley, 1964.
39. Tolstoy, Leo, What Is Art? trans. by Aylmer Maude, Londan, 1930.
40. Wimsatt, William Kurtz Jr., Ed., The Verbal Icon, Lexington, 1954.
41. Wimsalt And Brooks. Cleanth. Literary Criticism; A Short History. Calcutta, 1967.
42. Eliot, T.S., On Poetry and Poets, London, 1957.
43. Eliot, T.S., The Use of Poetry and The Use of Criticism, London, 1955.
44. Eliot, T.S., The Sacred Wood; Essays On Poetry and Criticism, New York, 1959.
45. Gardner Murphy—An Introduction to psychology; Oxford and publishing Co., Calcutta-1964.
46. Richards, Practical Criticism, New York, 1929.
47. Richards, Principles of Literary Criticism, New York, 1968.
48. Raghavan, V; The Number of Rasas The Adyar Library and Research Centre Adyar, Madras, 1967.
49. Raghavan, V; Bhoja's Srinagara Prakasa, Madras, 1963.
50. The Poetitical Works of Wordsworth, Ed. Thomas Hutchinson, London, 1956.
51. Smith and Parks. The great Critics, New York, 1951.
52. Woodworth, Contemporary Schools of Psyehology, Methuen, London, 1960.

●

देववाणी-परिषद्, दिल्ली

के

कतिपय पुरस्कृत प्रकाशन

१. **सुगमरामायणम्** : आचार्य रमेशचन्द्र शुक्ल (उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी के रु० १००० के तथा हरियाणा साहित्य अकादमी के अ० भा० गीता-पुरस्कार से सम्मानित संस्कृत महाकाव्य) ३५-००

२. **श्रीकृष्णचरितम्** : आचार्य रमेशचन्द्र शुक्ल (उ० प्र० संस्कृत अकादमी के रु० ३००० के विशेष पुरस्कार से सम्मानित) ३०-००

३. **भारतस्वातन्त्र्यसंग्रामेतिहासः** : डा० रमेशचन्द्र शुक्ल (उ० प्र० संस्कृत अकादमी के 'डा० गंगानाथ झा पुरस्कार रु० ५०००)' से सम्मानित संस्कृतभाषानिबद्ध इतिहास-ग्रन्थ) ३५-००

४. **कालिदास की कला और संस्कृति** : डा० देवीदत्त शर्मा (उ० प्र० संस्कृत अकादमी के रु० १००० के पुरस्कार से सम्मानित समीक्षा-ग्रन्थ) ६०-००

५. **भाति मे भारतम्** : डा० रमाकान्त शुक्ल (उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के रु० १००० के पुरस्कार से सम्मानित भारत की सांस्कृतिक सुषमा का उन्मीलन करने वाला हिन्दी-अंग्रेजी-अनुवादयुक्त संस्कृतकाव्य) ४०-००

६. **जय भारतभूमे !** : डा० रमाकान्त शुक्ल (उ० प्र० संस्कृत अकादमी द्वारा १००० रुपयों के पुरस्कार से सम्मानित संस्कृत काव्य) ३०-००

७. **स्फूर्तिसप्तशती** : डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी (उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के रु० ३००० के विशेष पुरस्कार से सम्मानित संस्कृत मुक्तक काव्य)। ३०-००

८. **पूर्णकुम्भः** : पं० विष्णुकान्त शुक्ल (उ०प्र० संस्कृत अकादमी के १००० रुपये के पुरस्कार से सम्मानित संस्कृत ललित-निबन्ध-संग्रह) २०-००

९. **अभिनवहनुमन्नाटकम्** : आचार्य रमेशचन्द्र शुक्ल (उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी के रु० १००० के पुरस्कार से सम्मानित संस्कृत नाटक) २०.००

वितरक

देववाणी-प्रकाशनम्, आर ६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

Distributors :

Devavani Prakashanam, R-6, Vani-Vihar, New Delhi-110059

श्रीमती गुप्ता

अलका

राजमणि त्रिपाठी
हंसराज [illegible]
१६-२-६५

श्याम शर्मा
१६.१.१९८५.

कविता गोयनका

उमाकांत अग्रवाल.

पंकज मल्होत्रा

यशोदानन्दन [illegible]

शीला गुप्ता

उपमा शर्मा
16/1/85

कृष्णा त्यागी

साधना कुलश्री

मन्जु साहनी

नन्दिनी शर्मा

अमिता गुप्ता

रजनी गुप्ता

मालविका किशोर

कुसुम [illegible]

प्रीतम शर्मा

अनीता ठाकुर

मिन्नी

सीमा

S. P. Narang

16. 1. 85